जीवराज जैन ग्रन्थमाला, हिन्दी-विभाग, पुष्प-३८

श्रावकाचार-संग्रह

(प्रस्तावना, कुन्दकुन्द श्रावकाचार, परिशिष्टयुक्त)

चतुर्थ भाग

पूर्व ग्रन्थमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विद्यमान ग्रन्थमाला सम्पादक
श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य पं० हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ
हीराश्रम, पो० साढूमल, जिला—ललितपुर (उ० प्र०)

प्रकाशक
सेठ लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष, जैनसंस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर (महाराष्ट्र)

मूल्य : तीस रुपया

वीर नि० सं० २५०५] वि० सं० २०३६ [ई० सन् १९७९
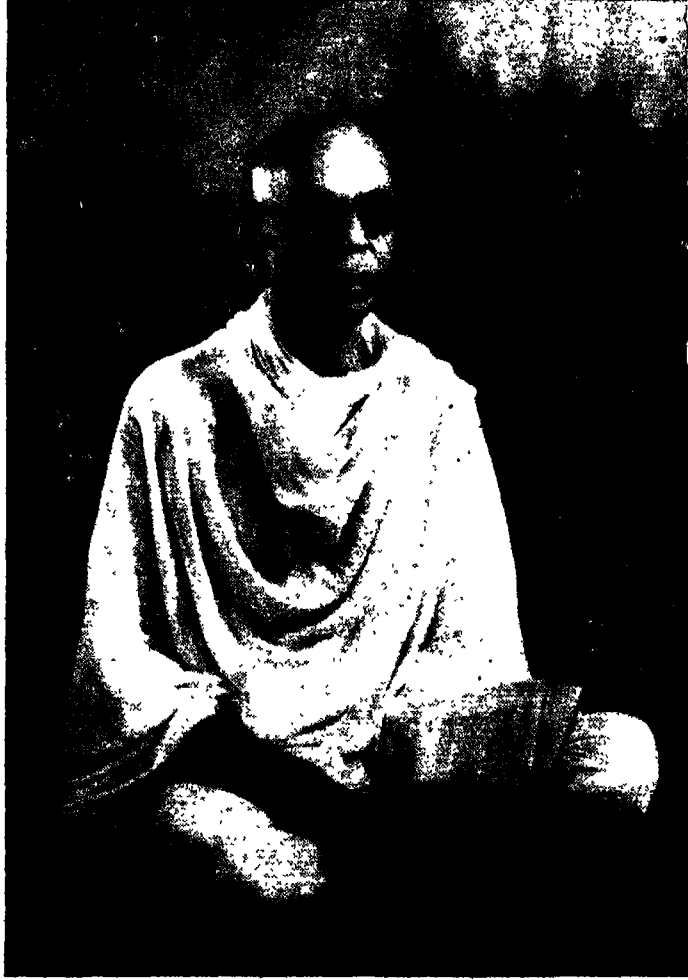
स्व. ब्र. जीवराज गौतमचन्द दोशी
स्व. रो. ता. १६-१-५७ (पौष शु. १५)

जीवराज जैन ग्रन्थमाला परिचय

सोलापूर निवासी स्व० ब्र० जीवराज गौतमचन्द दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्ममें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करे। तदनुसार उन्होंने देशका परिभ्रमणकर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियाँ इस बातकी संग्रह की, कि कौन-से कार्यमें सम्पत्तिका उपयोग किया जाये। स्फुट मतसंचय करलेनेके पश्चात् सन् १९४७ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथ (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानों-की समाज एकत्र की। और ऊहापोह पूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' नामकी संस्था स्थापनाकर उसके लिये रु० ३०,००० दानकी घोषणा कर दी।

उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,००० (दो लाख) रुपयों की अपनी संपूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी।

इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्यागकर दिनांक १६-१-१९५७ पौष सुदी १५को अत्यन्त सावधानीसे और समाधानोंसे समाधिमरणकी आराधना की।

इस संघके अन्तर्गत जीवराज जैन ग्रन्थमालाका संचालन चल रहा है। उसमेंसे आजतक हिन्दी विभागमें करीबन ३८ पुस्तकें तथा मराठी विभाग में ५४ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी ग्रन्थमालाका हिन्दी विभागका ३८ वाँ पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

बालचंद देवचंद शहा, मुंबई
मंत्री

आद्य निवेदन

श्रावकाचार-संग्रहके इस चतुर्थ भागमें तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्डमें सभी श्रावकाचारोंके आधार पर प्रस्तावना दी गई है। द्वितीय खण्डमें सानुवाद कुन्दकुन्द श्रावकाचार है और तृतीय खण्डमें परिशिष्ट है।

इस विभाजनका कारण यह है कि सभी श्रावकाचारोंके मुद्रणके पश्चात् प्रस्तावनाका मुद्रण कार्य प्रारम्भ हुआ, अतः उसके पृष्ठोंकी संख्या पृथक् रखी गयी है। परिशिष्ट-गत श्लोकानुक्रमणिका आदिकी पृष्ठ-संख्या पृथक् देनेके दो कारण रहे हैं—प्रथम तो यह कि श्लोकोंकी अनुक्रमणिकाका सम्बन्ध श्रावकाचार-संग्रहके प्रथम भागसे लगाकर चारों भागोंके श्लोकोंसे है। दूसरा कारण यह रहा है कि कुन्दकुन्दश्रावकाचारके मुद्रणके समय यह विचार हुआ कि यतः श्लोकानुक्रमणिका बहुत बड़ी है उसके मुद्रणमें अधिक विलम्ब न हो, अतः उसके साथ ही इसक भी मुद्रण प्रारम्भ करना पड़ा, जिससे उसकी पृष्ठ-संख्याको पृथक् रखना पड़ा। फिर भी आशातीत विलम्ब हो ही गया।

श्रावकाचार-संग्रहका पंचम भाग—जिसमें कि हिन्दी पद्यमय श्रीपदमकविका श्रावकाचार, श्री किशनसिंहजीका क्रियाकोप और पं० दौलतरामजीका क्रियाकोष संकलित है—गत वर्ष ही प्रकाशित हो गया था। इस चतुर्थ भागके मुद्रणका कार्य भी पंचम भागके मुद्रणके साथ ही प्रारम्भ किया गया था। पर इस चतुर्थ भागमें संकलित कुन्दकुन्दश्रावकाचारके ज्योतिष, वैद्यक, सामुद्रिक एवं सर्प-विष-विषयक प्रकरण मेरे लिए सर्वथा अपरिचित थे, उसके लिए लगातार छह मास तक बनारसके तत्तद्विषयके विशेषज्ञोंसे सम्बन्ध स्थापित कर उनके अनुवाद करनेमें आशातीत समय लगा। फिर भी कुछ स्थल संदिग्ध रह गये हैं, जिनका शब्दार्थ-मात्र करके रह जाना पड़ा है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि कुन्दकुन्दश्रावकाचारकी जो प्रति मिली, वह बहुत ही अशुद्ध थी और प्रयत्न करनेपर भी अन्य शास्त्र-भण्डारोंसे दूसरी प्रति प्राप्त नहीं हो सकी।

शास्त्र-भण्डारोंके सम्बन्धमें नहीं चाहते हुए भी दुःख-पूर्वक यह लिखनेको बाध्य होना पड़ रहा है कि इन भण्डारोंके स्वामी पत्रोंके उत्तरका भी कष्ट नहीं उठाते हैं। राजस्थानके शास्त्र-भण्डारोंकी बड़ी-बड़ी ग्रन्थ-सूचियाँ अनेक भागोंमें प्रकाशित हो गयी है, परन्तु जब किसी शास्त्रको उन भण्डारोंसे मंगाया जाता है, तो भेजना तो दूर रहा, पत्रका उत्तर तक भी नहीं देते हैं। अतः ग्रन्थ-सम्पादकको विवश होकर एक ही प्रतिके आधार पर ग्रन्थका सम्पादन और अनुवाद करना पड़ता है और इस कारण अशुद्धियाँ रहनेकी संभावना बनी रहती है। मेरा राजस्थानके शास्त्र-भण्डारोंके स्वामियोंसे नम्र-निवेदन है कि वे अपने मोहको छोड़कर जयपुरके महावीर-भवनमें सबको एकत्र कर रख देवें और महावीर-भवनके अधिकारी एक विद्वान्‌की नियुक्ति कर देवें—जो कि उनकी संभाल करते हुए समागत-पत्रोंका उत्तर एवं ग्रन्थ-प्रति भेजनेका कार्य करता रहे।

दि० २५।१२।१९७९
वाराणसी

विनम्र निवेदक
हीरालाल शास्त्री

प्रधान सम्पादकीय

जैनधर्म मूलमें निवृत्तिप्रधान है; क्योंकि मोक्षका प्रधानकारण निवृत्ति है। किन्तु गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिप्रधान होता है, प्रवृत्तिके बिना गृहस्थाश्रमका निर्वाह असंभव है। प्रवृत्ति अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। अच्छी प्रवृत्तिको शुभ और बुरी प्रवृत्तिको अशुभ कहते हैं। प्रवृत्तिके आधार तीन हैं— मन वचन और काय। इन तीनोंके द्वारा प्रवृत्ति किये जाने पर जो आत्माके प्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उसे योग कहते हैं। यह योग ही आत्मामें कर्मपुद्गलोंको लानेमें निमित्त बनता है। जबतक इसका विरोध न किया जाये तबतक जीव नवीन कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं होता। अतः मुमुक्षु श्रावक सबसे प्रथम अशुभ प्रवृत्तिसे विरत होकर शुभप्रवृत्तिका अभ्यासी बनता है। उसका यह अभ्यास ही श्रावकाचार कहलाता है। उसे ही आगममें व्रत कहा है। तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायके प्रारम्भमें कहा है—

'हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।'

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहसे विरतिका नाम व्रत है। वह व्रत दो प्रकारका है— अणुव्रत, महाव्रत। पाँचों पापोंका एक देश त्याग अणुव्रत है उसे जो पालता है वह श्रावक होता है। अतः श्रावकधर्मका मूल पाँच अणुव्रत हैं। इसीके साथ मद्य, मांस और मधुके त्यागको मिलाकर श्रावकके आठ मूलगुण प्रसिद्ध हुए। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें प्रथम पाँच अणुव्रत का ही वर्णन है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारहव्रत हैं। इनमेंसे प्रथम श्रावकके लिये पाँच अणुव्रतोंका पालन आवश्यक है। यही प्राचीन परिपाटी रही है। इनके प्रारम्भमें सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्चे देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा—सप्ततत्त्वकी श्रद्धा होना आवश्यक है। जब वही श्रावक प्रतिमारूप व्रत ग्रहण करता है तो दर्शन प्रतिमा और व्रतप्रतिमा धारण करता है दर्शन प्रतिमामें आठ अंगसहित सम्यग्दर्शन और व्रत प्रतिमामें निरतिचार बारह व्रत पालता है। किन्तु प्रतिमा रूप व्रत धारण करनेसे पूर्व साधारण श्रावक बननेकी स्थितिमें पाँच अणुव्रतोंका पालन करता है। यही प्राचीन पद्धति आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्र पाहुड तथा आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्डश्रावकाचारसे ज्ञात होती है। अतिचारोंका वर्णन साधारण श्रावकके लिये नहीं है व्रत-प्रतिमाधारीके लिये है। आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुडमें तो अतीचारोंका वर्णन नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रमें प्रतिमाओंका उल्लेख नहीं है किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमें दोनोंका कथन है। १५० (डेढ़ सौ) श्लोकोंमें निबद्ध रत्नकरण्ड यथार्थमें रत्नोंका करण्ड है। दिगम्बर परम्पराके श्रावकाचार-का वही मूल है। उसे आधार बनाकर उत्तरकालीन श्रावकाचारोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें किस प्रकार वृद्धि होती गई और श्रावकाचारोंका कलेवर बढ़ता गया। पाँच अणुव्रतोंका स्थान पाँच उदुम्बर फलोंको दे देनेसे तो श्रावकाचारका एक तरहसे प्राणान्त जैसा हो गया। पाँच अणुव्रतोंमें धार्मिकताके साथ नैतिकता समाविष्ट है। उनका पालक सच्चा श्रावक होता है। वह धार्मिक होनेके साथ अनैतिक नहीं हो सकता उसके व्यवहारमें सचाई, ईमानदारी होती है। किन्तु आज तो धार्मिकताका नैतिकताके साथ विछोह जैसा हो गया है।

धार्मिक कहा जाने वाला आजका धर्मात्मा केवल मन्दिरमें धर्मात्मा रहता है। उससे बाहर निकल-कर उसमें और अधर्मात्मा कहे जानेवालेमें कोई अन्तर नहीं है। आज कोरी भगवद्भक्ति ही धर्मके रूपमें शेष है, अन्याय अभक्ष्य और मिथ्यात्वका त्याग अब आवश्यक नहीं है।

रत्नकरण्डश्रावकाचारके पश्चात् नम्बर आता है पुरुषार्थसिद्धयुपाय का। वह अध्यात्मी अमृतचन्द्राचार्यकी कृति है और उसपर उनके अध्यात्मकी छाप सुस्पष्ट है। वह प्रारम्भमें जो चर्चा करते हैं वह श्रावकाचारके लिये उनकी अपूर्व देन है। प्रारम्भके १५ पद्य बहुमूल्य हैं, प्रत्येक श्रावकधर्मके पालकको उन सूत्रोंमें ग्रथित सत्यको सदा हृदयमें रखना चाहिये।

उन्होंने श्रावकाचारको 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' नाम देकर उसके महत्त्वको सुस्पष्ट कर दिया है।

१. निश्चय और व्यवहारको जानकर जो तात्त्विक रूपसे मध्यस्थ रहता है वही श्रावक देशनाके पूर्णफलको प्राप्त करता है।

२. पुरुष चैतन्यस्वरूप है वह अपने परिणामोंका कर्ता भोक्ता है। उसके परिणामोंको निमित्तमात्र करके पुद्गल स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमित होते हैं। जीव भी अपने चैतन्यात्मक भावरूप स्वयं ही परिणमन करता है किन्तु पौद्गलिक कर्म उसमें भी निमित्तमात्र होते हैं। इस प्रकार यह जीव कर्मकृत भावोंसे असमाहित होते हुए भी मूर्खजनोंको संयुक्तकी तरह प्रतीत होता है। यह प्रतीति ही संसारका बीज है।

३. अतः विपरीत अभिनिवेशको त्यागकर और निजआत्मतत्त्वका निश्चय करके उससे विचलित न होना ही पुरुषार्थ सिद्धिका उपाय है।

उक्त शब्दोंमें समयसारका सार भरा है जो प्रत्येक मुमुक्षुके लिये उपादेय है। श्रावकधर्मके पालनसे पूर्व उसका ज्ञान होना आवश्यक हे। किन्तु उत्तरकालीन किसी भी श्रावकाचारमें यह दृष्टि दृष्टिगोचर नहीं होती। धर्मका लक्ष्य जीवको कर्मबन्धनसे मुक्त करना है। किन्तु जो न आत्माको जानते हैं और न कर्मबन्धनको, वे धर्म धारण करके धर्मका परिहास कराते हैं। आदिकी तरह इस ग्रन्थका अन्त भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस तरहका श्रावकाचार यही एक मात्र है। आगेके श्रावकाचार तो लौकिक प्रभावोंसे प्रभावित हैं। उनमें लोकाचारकी बहुलता परिलक्षित होती है अन्तर्दृष्टिका स्थान बहिर्दृष्टिने ले लिया है। इसके लिये उत्तर कालमें आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी और पूज्यपादके नामपर रचे गये श्रावकाचारोंको देखना चाहिये। ये श्रावकाचार लोकाचारसे परिपूर्ण है और पाठकोंको प्रभावित करनेके लिये बड़े आचार्योंके नामसे उन्हें रचा गया है। अविवेकीजन उन्हें बड़े आचार्योंकी कृति मानकर उनपर विश्वास कर बैठते हैं और ठगाये जाते हैं।

श्रावकाचारोंका यह संग्रह, जो पाँच भागोंमें प्रकाशित किया गया है, इस दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। एकत्र सब श्रावकाचारोंको पाकर उनका स्वाध्याय करनेसे साधारण स्वाध्यायप्रेमीको भी यह ज्ञात हो सकेगा कि उत्तरोत्तर श्रावकाचारोंमें किस प्रकारका परिवर्तन होता गया है। और निवृत्तिको प्रधान माननेवाला जैनधर्म हिन्दूधर्मकी तरह एकदम प्रवृत्ति प्रधान बनता गया है। उसीका यह फल है कि आजके आचार्य, मुनि और आर्यिकाजन भी प्रवृत्तिप्रधान ही देखे जाते हैं। वे स्वयं पूजापाठोंमें उलझे रहते हैं और श्रावकोंको भी उन्हींमें उलझाये रखते हैं। यहाँतक

देखा जाता है कि वीतराग जिनेन्द्रदेवके उपासक सरागी देवोंके उपासक बन जाते हैं।

श्रावकाचारोंके सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने श्रावकाचारोंके संकलन और सम्पादनमें जो श्रम किया है उसका मूल्यांकन विज्ञ ही कर सकते हैं। उसकी प्रस्तावना तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है उसमें उन्होंने ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंके साथ श्रावकाचारकी प्रक्रिया पर भी विस्तारसे विचार किया है।

यह केवल श्रावकाचार नामके ग्रन्थोंका ही संकलन नहीं है किन्तु इसमें अन्य ग्रन्थोंमें चर्चित श्रावकाचार भी संकलित हैं पं० हीरालालजीने रत्नमालाको समन्तभद्राचार्यके शिष्य शिवकोटीकी मानकर प्राचीन बतलाया है किन्तु यह प्राचीन नहीं है यह उसके आन्तरिक अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है। इन श्रावकाचारोंके तुलनात्मक अध्ययनसे आचार सम्बन्धी अनेक बातें प्रकाशमें आती हैं। आचार्य सोमदेवके उपासकाध्ययनमें लोकाचारका प्रभाव परिलक्षित होता है उसीमें सर्वप्रथम पूजाकी विधि और फलोंके रससे भगवान्का अभिषेक देखनेमें आता है। उन्होंने स्वयं कहा भी है कि गृहस्थोंके दो धर्म होते हैं लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रित होता है। और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित होता है आदि। पं० हीरालालजीने अपनी प्रस्तावनामें इन सबपर अच्छा प्रकाश डाला है।

श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतमचन्दजी दोशी अपनी सब सम्पत्ति धर्मार्थ दे गये थे। उसीसे ग्रन्थमाला स्थापित की गई जिससे बराबर जैन ग्रन्थोंका प्रकाशन होता रहता है इस ग्रन्थमालाके अध्यक्ष सेठ लालचन्दजी तथा मंत्री सेठ बालचन्द देवचन्द शाह हैं, जो अतिवृद्ध होनेपर भी उत्साहपूर्वक ग्रन्थमालाका संचालन करते हैं। मैं उक्त महानुभावोंको धन्यवाद देते हुए सम्पादक पं० हीरालालजीका आभार मानता हूँ जिन्होंने रोगपीड़ित होते हुए भी इस वृद्धावस्था में इस महत् कार्यको पूर्ण किया। उनको साहित्यसेवा आजके विद्वानोंके लिये अनुकरणीय है।

कैलाशचन्द्र शास्त्री
ग्रन्थमाला सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्ट-सूची

■

सम्पादकीय-वक्तव्य

भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे सन् १९५२ में प्रकाशित वसुनन्दि श्रावकाचारकी प्रस्तावनामें मैंने श्रावकधर्मके प्रतिपादन-प्रकार, क्रमिक विकास और प्रतिमाओंका आधार आदि विषयोंपर पर्याप्त प्रकाश डाला था। उसके पश्चात् सन् १९६४ में भारतीय ज्ञानपीठसे ही प्रकाशित उपासका-ध्ययनकी प्रस्तावनामें उसके सम्पादक श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने श्रावकधर्मपर और भी अधिक विशद प्रकाश डाला है। अब इस प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहके चार भागोंमें संस्कृत-प्राकृतके ३३ श्रावकाचार और पाँचवें भागमें हिन्दी-छन्दोबद्ध तीन श्रावकाचार एवं क्रियाकोष संकलित किये गये हैं। उन सबके आधारपर प्रस्तावनामें किन-किन विषयोंको रखा जायगा, इसकी एक रूप-रेखा इस संग्रहके तीसरे भागके सम्पादकीय वक्तव्यमें दी गई थी। उसके साथ श्रावक-आचार एवं उसके अन्य कर्तव्योंपर भी प्रकाश डालनेकी आवश्यकता अनुभव की गई। अतः इस भागके साथ दी गई प्रस्तावनामें मूलगुणोंकी विविधता, 'अतीचार-रहस्य, पञ्चामृताभिषेक, यज्ञोपवीत, आचमन, सकलीकरण, हवन, आह्वानन, स्थापन, विसर्जन आदि अन्य अनेक विषयों-की चर्चा की गई है, जिसके स्वाध्यायशील पाठक जान सकेंगे कि इन सब विधि-विधानोंका समा-वेश श्रावकाचारोंमें कबसे हुआ है।

देव-दर्शनार्थ जिन-मन्दिर किस प्रकार जाना चाहिए, उसका क्या फल है? मन्दिरमें प्रवेश करते समय 'निःसही' बोलनेका क्या रहस्य है, इसपर भी विशद प्रकाश प्रस्तावनामें डाला गया है, क्योंकि 'निःसही' बोलनेकी परिपाटी प्राचीन है, हालाँकि श्रावकाचारोंमें सर्वप्रथम पं० आशाधरने ही इसका उल्लेख किया है। पर इस 'निःसही'का क्या अर्थ या प्रयोजन है, यह बात बोलने वालोंके लिए आज तक अज्ञात ही रही है। आशा है कि इसके रहस्योद्घाटनार्थ लिखे गये विस्तृत विवेचनको भी प्रबुद्ध पाठक एवं स्वाध्याय करनेवाले उसे पढ़कर वास्तविक अर्थको हृदयङ्गम करेंगे।

श्रावकके आचारमें उत्तरोत्तर नवीन कर्त्तव्योंको समावेश करके श्रावकाचार-निर्माताओंने यह ध्यान ही नहीं रखा कि दिन-प्रतिदिन हीनताको प्राप्त हो रहे इस युगमें मन्द बुद्धि और हीन शक्तिके धारक गृहस्थ इस दुर्वह श्रावकाचारके भारको वहन भी कर सकेंगे, या नहीं?

परवर्ती अनेक श्रावकाचार-रचयिताओंने मुनियोंके लिए आवश्यक माने जानेवाले कर्त्तव्यों-का भी श्रावकोंके लिए विधान किया। इसी प्रकार मुनियोंके लिए मूलाचारमें प्रतिपादित सामायिक-वन्दनादिके ३२-३२ दोषोंके निवारणका भी श्रावकों के लिए विधान कर दिया। कुछने तो प्राथ-मिक श्रावकके लिए इतनी पाबन्दियाँ लगा दी हैं कि साधारण गृहस्थको उनका पालन करना ही असंभव-सा हो गया है। इन सब बातोंपर विचार करनेके बाद प्रस्तावनाके अन्तमें आजके युगानु-रूप एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, जिसे पालन करते हुए कोई भी व्यक्ति अपनेको जैन या श्रावक मानकर उसका भलीभाँतिसे निर्वाह कर सकता है।

जो महानुभाव श्रावकके सर्वव्रतों एवं कर्तव्योंका भले प्रकारसे निर्वाह कर सकते हैं उनको पालन करनेके लिए हमारा निषेध नहीं है, प्रत्युत हम उनका अभिनन्दन करते हैं। तथा जो व्यक्ति जितना भी श्रावक-धर्मका पालन करें, हम उसका भी स्वागत करते हैं। आज नयी पीढ़ीमें आचार-विचारका उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है, उसकी रोक-थामके लिए यह आवश्यक है कि हम प्रौढ़ जन स्वयं आवश्यक जैनत्वका पालन करते हुए भावी पीढ़ीके लिए आदर्श उपस्थित करके उन्हें सन्मार्गपर चलानेका सत्-प्रयास करें। यह हमारा नम्र निवेदन है।

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमें पूर्व-प्रकाशित जिन-जिन श्रावकाचारोंका संकलन किया गया है, उनके सम्पादकों एवं अनुवादकोंका मैं बहुत आभारी हूँ, उन सबका उल्लेख 'प्रति-परिचय'में किया गया है।

आजसे पूरे १३ वर्ष पूर्व जीवराज ग्रन्थमालाके मानद मंत्री श्रीमान् सेठ बालचन्द देवचन्द शहा और स्व० डॉ० ए० एन्० उपाध्येने सभी श्रावकाचारोंके एकत्र संग्रहकी जो भावना व्यक्त की थी और जिसे मैंने यह विचार करके स्वीकार किया था कि 'ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन'का विशाल ग्रंथ-संग्रह इसके सम्पादनमें मेरा सहायक होगा। आज उसे कार्यरूपमें परिणत देखकर मुझे अपार हर्षका अनुभव हो रहा है और साथ ही महान् दुःखका भी संवेदन हो रहा है कि इस संग्रहका सुझाव देनेवाले और जीवराज ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादक डॉ० उपाध्ये साहब आज हमारे बीच नहीं हैं। यदि वे आज होते तो अवश्य ही परम सन्तोष व्यक्त करते।

इस संग्रहके सम्पादनमें उक्त सरस्वती भवनका मैंने भरपूर उपयोग किया है, इसके लिए मैं उसके संस्थापक ऐलक पन्नालालजी महाराजका जन्म-जन्मान्तरों तक ऋणी रहूँगा। मुझे सन् १९३१ में उनके चरण-सान्निध्यमें पूरे एक चतुर्मास तक रहनेका सौभाग्य तब प्राप्त हुआ था, जब कि मैं भा० व० दि० जैन महाविद्यालय ब्यावरमें धर्माध्यापक था और उनके लिए २-३ संस्कृत ग्रंथोंके अनुवाद करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था। यद्यपि उस समय तक ब्यावरमें उनके सरस्वती भवनकी शाखा स्थापित नहीं हुई थी, पर उन्होंने अपना भाव प्रकट करते हुए यह अवश्य कहा था कि जब भी यहाँ सरस्वती भवनकी शाखा स्थापित करूँगा, तब तुम्हें यहाँ नियुक्त करूँगा। दुःख है कि मैं उनके जीवन-कालमें ब्यावर नहीं पहुँच सका। फिर भी लगभग १४ वर्ष तक उक्त सरस्वती भवनके कार्य-भारको सँभालते हुए उनका सदा स्मरण बना रहा और इस संग्रहके सम्पन्न होनेके सुअवसरपर उनके चरणोंमें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। जैन समाजके धार्मिक धनिक वर्गमें सेठ चम्पालालजी रामस्वरूपजी रानी वालोंका घराना अग्रणी रहा है। मेरे ब्यावर रहनेके समय उनके परिवारवालों द्वारा उनकी नशियाँमें रहनेकी भरपूर सुविधा प्राप्त-कर मैं इस श्रावकाचारका सम्पादन सम्पन्न कर सका, उसके लिए मैं उनका और सरस्वती भवनके संचालकोंका कृतज्ञ हूँ।

ब्यावर सरस्वती भवनमें ताड़पत्रपर लिखित माघनन्दि श्रावकाचारकी एक प्राचीन प्रति है। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि यदि किसी प्रकार उसकी कनड़ी लिपिसे हिन्दी लिपि हो जाय तो उसे भी प्रस्तुत संग्रहमें संकलित कर लिया जाये। इसके लिए मूडबिद्रीके भट्टारकजीके साथ संस्थाके मंत्रीजीने लिखा-पढ़ी भी की और उनकी ओरसे आश्वासन भी मिला। परंतु नागरी

लिपि नहीं हो सकी। उक्त प्रतिको गत वर्षमें बनारस भी ले गया और वहाँ रहनेवाले कनड़ीके जानकार विद्वानोंके साथ संपर्क स्थापित कर उनसे बचानेका प्रयत्न भी किया। किन्तु प्राचीन कनड़ी लिपि होनेसे उन्हें भी बाँचनेमें सफलता मिली। वे केवल प्रारम्भका कुछ अंश बाँच सके, जो इस प्रकार है—

श्री शान्तिनाथाय नमः।

श्रीवीरं जिनमानम्य वस्तुतत्त्वोपदेशकम्।
श्रावकाचारसाराख्यं वक्ष्ये कर्णाटभाषया ॥ १ ॥

इन्तु मंगलाद्यर्थं विशिष्टदेवतानमस्कारमं माडि श्रावकाचारसारमन्दसाद्य यदि बिन्नेन…… ….।

इस उद्धरणसे यह तो ज्ञात हो सका है कि यह माघनन्दि-श्रावकाचारसार कनड़ी भाषामें ही रचा और कनड़ी लिपिमें ही लिखा गया है। यदि इसके सुननेका भी अवसर मिल जाता, तो उसकी विशेषताओंका भी उल्लेख प्रस्तावनामें कर दिया जाता। अन्तमें प्रस्तुत ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादकजीके परामर्शसे यही निर्णय किया गया कि जब कभी उसकी नागरी लिपि हो सकेगी, तब उसे ग्रंथमालासे प्रकाशित कर दिया जायेगा।

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहके पाँचों भागोंमेंसे सबसे अधिक कठिनाई मुझे इस भागमें संकलित कुन्दकुन्द श्रावकाचारके सम्पादनमें उसकी दूसरी प्रति अन्य किसी शास्त्र-भण्डारसे नहीं प्राप्त होनेके कारण हुई। ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावरकी एकमात्र प्रतिके आधारपर ही इसका सम्पादन करना पड़ा है। परन्तु यह प्रति बहुत ही अशुद्ध थी अतः ज्योतिष शास्त्रसे सम्बद्ध मूल-पाठोंके संशोधनमें हमें ज्योतिष-शास्त्रालंकार श्रीमान् पं० हरगोविन्दजी द्विवेदी, वाराणसीसे भर-पूर सहायता प्राप्त हुई है और ज्योतिष-प्रकरणवाले सभी श्लोकोंका हिन्दी अनुवाद भी उन्हींकी कृपासे संभव हो सका है। आपने लगातार चार मासतक अपना बहुमूल्य समय देकर हमें अनुगृहीत किया है। इसके लिए आपका जितना भी आभार माना जावे, वह कम ही रहेगा। वैद्यक शास्त्रसे और खासकर सर्प-विषयक प्रकरणके संशोधन और हिन्दी अनुवाद करनेमें श्रीमान् डॉ० रामावलम्ब शास्त्री, नव्यन्याय-व्याकरण-ज्योतिष-पुराणेतिहास-आयुर्वेदाचार्य प्राध्यापक एवं चिकित्सक संस्कृत आयुर्वेद कालेज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीका परम दुर्लभ साहाय्य प्राप्त हुआ है, उसके लिए हम उनके चिर ऋणी रहेंगे। प्रतिष्ठापाठ एवं प्रतिमा-निर्माण-प्रकरणके संशोधन एवं हिन्दी अनुवादमें हमें श्रीमान् बारेलालजी राजवैद्य एवं प्रतिष्ठाचार्य टीकमगढ़का परम सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। उक्त प्रकरणोंके सिवाय शेष समस्त ग्रन्थके मूल पाठोंके संशोधन और अर्थ-निर्णयमें हमारे परम-स्नेही श्रीमान् पं० अमृतलालजी शास्त्री साहित्य और दर्शनाचार्य, प्राध्यापक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से भर-पूर अति दुर्लभ साहाय्य प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं उनका चिर आभारी रहूँगा।

उक्त विद्वानोंके अतिरिक्त हमें ज्योतिष-वैद्यकसे सम्बद्ध अनेक श्लोकोंके संशोधन और अर्थ-स्पष्टीकरणमें श्री पं० सत्यनारायणजी त्रिपाठी, प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, श्री पं० विश्वनाथजी पाण्डेय, श्री डॉ० सहजानन्दजी आयुर्वेदाचार्य, श्री पं० अवधविहारीजी शास्त्री, रिटायर्ड प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसीका तथा श्री पं० गुलझारीलालजी आयुर्वेदाचार्य

उज्जैनका सहयोग मिला है। हस्त-रेखा-प्रकरणमें विमल जैन, दुर्गाकुण्ड, वाराणसीका सहयोग मिला है। इन सबका मैं बहुत आभारी हूँ।

परमपूज्य श्रद्धेय वयोवृद्ध श्री १०८ मुनि श्री समन्तभद्रजी महाराज द्वारा विगत दो वर्षोंमें पत्रोंके माध्यमसे एवं दो बार बाहुबलीमें प्रत्यक्ष चरण-सान्निध्यमे बैठकर प्रस्तावनाके मुख्य-मुख्य स्थलोंको सुनानेके अवसरपर सत्परामर्श और शुभाशीर्वादके साथ जो प्रेरणाएँ प्राप्त हुई हैं, उनके लिए मैं उनका जन्म-जन्मान्तरों तक ऋणी रहूँगा। उनके ही प्रोत्साहन और शुभाशीर्वादका यह सुफल है कि इस वर्ष अनेक बार मृत्युके मुखमें पहुँचनेपर भी मैं जीवित बच सका और प्रस्तुत प्रस्तावनाको लिखकर पूर्ण कर सका हूँ। उनके ही सुयोग्य शिष्य श्री० ब्र० पं० माणिकचन्द्रजी चबरे कारंजा और श्री० ब्र० पं० माणिकचन्द्रजी भिसीकर बाहुबलीका आभार किन शब्दोंमें व्यक्त करूँ, जिन्होंने प्रस्तावनाके प्राग्-रूपको आद्योपान्त सुनकर और आवश्यक संशोधन-सुझाव देकर अनुगृहीत किया है।

कुन्दकुन्द श्रावकाचारके सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थ हमें भारतीय ज्ञानपीठ काशीके ग्रन्थागार से प्राप्त हुए हैं, इसलिए मैं उसका और पं० महादेवजी चतुर्वेदी, व्याकरणाचार्यका आभारी हूँ।

पाठोंके संशोधन एवं अर्थ-भावार्थके स्पष्टीकरणमें विलम्ब होनेसे अनेक बार मेकप फर्मोंको तुड़ाकर नवीन मैटर जुड़वानेके कारण प्रेस-मालिक और उनके कम्पोजीटरोंको बहुत अधिक मुसीबतोंका सामना करना पड़ा है, फिर भी उन्होंने कभी किसी प्रकारका असन्तोष व्यक्त न करके सहर्ष मुद्रण-कार्यको किया है। इसके लिए मैं उन सबका बहुत आभारी हूँ।

गत वर्ष बनारस-प्रवासमें चार मासतक श्री पार्श्वनाथ जैन मन्दिर भेलूपुरकी धर्मशालामें ठहरनेकी सुविधा प्रदान करनेके लिए मैं उसके व्यवस्थापकोंका भी आभारी हूँ।

अन्तमें श्री जीवराज ग्रन्थमालाके मानद मंत्री वयोवृद्ध सेठ श्री बालचंद देवचंद शहा बम्बई और ग्रंथमालाके प्रधान सम्पादक श्रीमान् पं० कैलाशचंद्रजी सिद्धान्ताचार्य बनारसका बहुत आभारी हूँ जिन्होंने कि प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहके सम्पादन-प्रकाशनकी स्वीकृति और समय-समयपर सत्परामर्श देकर मुझे अनुगृहीत किया है।

प्रस्तावनाके लिखनेमें अत्यधिक विलम्ब होनेके कारण चिरकालतक प्रतीक्षा करनवाले पाठकोंके समुख मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। तथा उनसे मेरा विनम्र निवेदन है कि जहाँपर भी जिस किसी श्लोकके अर्थमें विपर्यास देखें उसको सुधारने और मुझे लिखनेकी कृपा करें। तथा प्रस्तावनामें जहाँ उन्हें असंगति प्रतीत हो उससे मुझे अवगत करावें।

रक्षाबन्धन, श्रावणीपूर्णिमा
वीर नि० सं० २५०६
वि० सं० २०३६।७।८।७९

जिनवाणी-चरण-सरोरुह-चञ्चरीक
हीरालाल शास्त्री
हीराश्रम साढूमल
जिला—ललितपुर (उ० प्र०)

श्रावकाचार-संग्रहके सम्पादनमें प्रयुक्त हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियोंका परिचय

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमें जिन श्रावकाचारोंका संग्रह किया गया है उनमें अधिकांश पूर्व प्रकाशित हैं, तो भी ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावरकी हस्तलिखित प्रतियोंका मूलके संशोधनमें उपयोग किया गया है। जिस-जिस श्रावकाचारका संशोधन भवनकी प्रतियोंसे किया गया है उनका परिचय इस प्रकार है—

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार—यद्यपि यह अनेकों बार विभिन्न स्थानोंसे मुद्रित हो चुका है। फिर भी इसका मिलान भवन की सं० १८९५ की हस्तलिखित प्रतिसे किया गया है। इसका क्रमांक ७४७ है। यह सटीक प्रति है। इसके ६१ पत्र हैं। आकार १२ × ६ इंच है और प्रतिपृष्ठ पंक्ति संख्या ११ और अक्षर संख्या ३६-३७ है।

इसका अनुवाद स्वतंत्र रूपसे किया गया है, फिर भी स्व० जुगलकिशोरजी मुख्तार लिखित अनुवादसे सहायता ली गई है।

२. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा—श्रीमद् राजचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित डा० ए० एन० उपाध्येसे सम्पादित और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीसे अनूदित मुद्रित प्रतिपरसे धर्मभावनाके अन्तर्गत श्रावकधर्मका वर्णन प्रस्तुत संग्रहमें संकलित किया गया है। फिर भी भवनकी सं० १८२२ की लिखित प्रतिसे उक्त गाथाओंका मिलान किया गया। इसका क्रमांक ४२८ है। पत्र सं० ५६ और आकार ११ × ६ इन्च है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ६ और प्रति पंक्ति अक्षर सं० ३५-३६ है।

३. महापुराण-गत श्रावकाचार—भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित एवं पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यसे सम्पादित-अनुवादित संस्करणपरसे उक्त श्रावकाचारका संकलन किया गया है। फिर भी अनेक संदिग्ध स्थलोंका निर्णय पं० लालारामजी शास्त्री द्वारा सम्पादित प्रति परसे, तथा भवनकी हस्तलिखित प्रतिपरसे किया गया है। इसका क्रमांक २०३ है। पत्र सं० ३२५ है। आकार १२ × ६॥ इंच है। प्रतिपृष्ठ पंक्ति सं० १५ और प्रति पंक्ति अक्षर सं० ३९-४० है। यह प्रति सं० १६६६ की लिखी और बहुत शुद्ध है।

४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय—यद्यपि यह अनेक स्थानोंसे प्रकाशित है तथापि राजचन्द्र ग्रंथ-मालासे प्रकाशित संस्करणके आधारपर मूलका संकलन किया गया है और अनुवाद उसीके आधार-पर स्वतंत्र रूपसे किया है। ब्यावर भवनकी प्रायः सभी प्रतियाँ सौ वर्षके भीतरकी लिखी हुई हैं, अतः उनसे कोई नवीन पाठ नहीं मिला है।

५. यशस्तिलक-गत उपासकाध्ययन—भारतीय ज्ञानपीठ दिल्लीसे प्रकाशित, एवं पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री से अनुवादित संस्करण परसे ही गद्यभागको छोड़कर श्लोकोंका प्रस्तुत संग्रहमें संकलन किया गया है। फिर भी अनेक संदिग्ध स्थलोंका निर्णय ब्यावर भवनकी हस्तलिखित प्रति

परसे किया गया है जो कि सं० १७१७ की लिखी और बहुत शुद्ध है। इसका क्रमांक २८६ है। पत्र सं० ३६४ है। आकार १०×४ इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ९ है और प्रति पंक्ति अक्षर सं० ४२-४३ है।

६. चारित्रसारगत श्रावकाचार—माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित मूल चारित्र-सारसे इसका संकलन किया गया है और संदिग्धपाठों का संशोधन ब्यावर भवन की हस्त लिखित प्रतिसे किया गया है जो कि सं० १५९८ की लिखी है। इसका क्रमांक ४३१ है। पत्र सं० ७५ है। आकार ११॥×४॥ इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ९ और अक्षर सं० ४०-४१ है। इसका अनुवाद स्वतंत्र रूपसे किया गया है।

७. अमितगति श्रावकाचार—अनन्तकीर्ति ग्रन्थमालासे प्रकाशित संस्करणपरसे मूल-भाग लिखा गया और उसका संशोधन ब्यावर भवनकी प्रतिसे किया गया जो सं० १९४९ की लिखी है। इसके अनुवादमें पं० भागचन्द्रजी रचित ढुंढारी भाषा वचनिकासे सहायता ली गई है।

८. वसुनन्दि श्रावकाचार—भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित मेरे द्वारा सम्पादित और अनुवादित संस्करणको ही प्रस्तुत संग्रहमें ज्यों-का-त्यों दे दिया गया है। इसका सम्पादन अनेक स्थानोंकी प्रतियोंसे किया गया था जिसका उल्लेख उक्त संस्करणमें किया है। फिर भी यह ज्ञातव्य है कि उस समय भी भवन की सं० १६५४ की लिखी हुई प्रतिपरसे इसकी प्रेस कापी की गयी थी। उसका क्रमांक ३६७ है। आकार ११×५ इंच है। पत्र सं० ४१ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ९ और अक्षर सं० २८-२९ है।

९. सावयधम्मदोहा—स्व० डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित एवं कारंजासे प्रकाशित मुद्रित प्रति प्रस्तुत संकलनमें आधार रही है, मूल दोहोंका संशोधन ब्यावर-भवनकी हस्तलिखित प्रतिसे किया गया है। जो कि सं० १६०९ की लिखी हुई है। इसका क्रमांक १०५४ है। पत्र सं० ९ है। आकार १२×६ इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० १४ है और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३९-४० हैं। इस प्रतिसे अनेक संदिग्ध एवं अशुद्ध पाठोंके शुद्ध करनेमें सहायता प्राप्त हुई है।

१०. सागारधर्मामृत—माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित संस्कृत टीका युक्त मूल ग्रंथ एवं पं० लालारामजी, पं० देवकीनन्दनजी और पं० मोहनलालजी काव्यतीर्थ के अनुवादोंके आधारसे इसका स्वतंत्र अनुवाद किया गया है। विशेषार्थके रूपमें जो विवेचन है उसमें संस्कृत टीका आधार रही है।

२१. धर्मसंग्रह श्रावकाचार—इसके सम्पादनमें पं० उदयलालजी काशलीवाल द्वारा सम्पादित और अनुवादित मुद्रित प्रति आधार रही है। इसके मूल भागका संशोधन ब्यावर-भवन-की प्रतिपरसे किया गया है जिसका क्रमांक ८६ है। आकार १४×८ इंच है। पत्र सं० १३० है। प्रति पृष्ठ पंक्ति १६ है और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ४७-४८ है। मुद्रित अनुवादको संशोधित पाठ-के अनुसार शुद्ध किया गया है और अनावश्यक भावार्थोंको छोड़ दिया गया है।

१२. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—इसका सम्पादन पं० लालारामजी द्वारा किये गये अनुवादके साथ मुद्रित शास्त्राकार प्रतिपरसे किया गया है। मूल पाठका संशोधन ब्यावर भवनकी

क्रमांक ४२७ की हस्तलिखित प्रतिसे किया गया है जो कि सं० १८२८ की लिखी है। इसका आकार ११ × ५॥ इञ्च है। पत्र सं० १८० है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ९ और पंक्ति अक्षर संख्या २९-३० है। ब्यावर भवनमें इसकी ६ प्रतियाँ हैं। पर उनमें यह सबसे अधिक प्राचीन और शुद्ध है।

१३. गुणभूषणश्रावकाचार—यद्यपि यह श्रावकाचार जैनमित्रके १८ वें वर्षके उपहारमें पं० पन्नालालजीके अनुवादके साथ वी० नि० २४५१ में प्रकाशित हुआ है पर उसके अन्तमें जो मूल भाग छपा है, वह बहुत अशुद्ध था और अनेक श्लोक अधूरे थे। उन्हें ब्यावर-भवनकी हस्तलिखित प्रतिपरसे शुद्ध करके प्रेस कापी तैयार की गई। भवनकी प्रतिका क्रमांक १६३ है। पत्र सं० २१ है। आकार ११ × ४। इञ्च है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ७ है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३०-३१ है यद्यपि इस प्रतिपर लेखनकाल नहीं दिया है, पर कागज स्याही और लिखावटसे ३०० वर्ष प्राचीन अवश्य है और बहुत शुद्ध है।

१४. धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार—यह मूल या अर्थके साथ पहिले कभी मुद्रित हुआ है यह मुझे ज्ञात नहीं। इसकी प्रेस कापी ब्यावर-भवनकी हस्तलिखित प्रतिसे की गई है जो सं० १७२८ की लिखी हुई है। इसकी पत्र सं० २६ है। आकार ११ × ४। इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ९ है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३२-३३ है। इसका अनुवाद मेरा ही किया हुआ है।

१५. लाटीसंहिता—यह मूल माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे और पं० लालारामजीके हिन्दी अनुवादके साथ भारतीय जैन सिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्तासे वी० नि० २४६४ में प्रकाशित है। इसके आधारपर ही प्रेसकापी तैयार की गई है। पर मूलका संशोधन ब्यावर-भवनकी हस्त-लिखित प्रतिसे किया गया है। इसपर लेखनकाल नहीं दिया है फिर भी यह लगभग २०० वर्ष पुरानी अवश्य है। इसके सम्यक्त्व प्रकरणवाले श्लोकोंका अनुवाद पं० मक्खनलालजी, पं० देवकीनन्दनजी और पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके द्वारा सम्पादित पंचाध्यायीके आधारपर किया गया है। तथा शेष भागका अनुवाद विस्तृत अंशको छोड़कर पं० लालारामजीके अनुवादपर-से ही किया गया है। ब्यावर-भवनकी हस्तलिखित मूल प्रतिका क्रमांक १९१ है। आकार १० × ४॥। इंच है। पत्र सं० ८८ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० ९ है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३३-३४ है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पूर्व मुद्रित प्रतिमेंसे प्रथम सर्गको छोड़ दिया गया है क्योंकि वह कथामुख ही है। धर्मका वर्णन दूसरे सर्गसे प्रारंभ होता है। अतः वहींसे यह प्रस्तुत संकलनमें संगृहीत है। प्रशस्ति अधिक बड़ी होनेसे परिशिष्टमें दी गई है।

१६. उमास्वामि श्रावकाचार—यह श्री शान्ति धर्म दि० जैन ग्रन्थमाला उदयपुरसे वीर नि० २४६५ में पं० हलायुधके हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हुआ है। इसके मूल भागका संशोधन ब्यावर-भवनकी हस्तलिखित प्रतिसे किया गया है जिसका क्रमांक १२९ है। पत्र सं० ७९ है। आकार १२ × ७ इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या १३ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३७-३८ है। यद्यपि यह सं० १९६६ की ही लिखित है तथापि शुद्ध है। इसका अनुवाद स्वतंत्र रूपसे मूलानु-गामी किया गया है।

१७. पूज्यपाद श्रावकाचार—इसका मूल या अनुवादके साथ कहींसे प्रकाशन हुआ है यह मुझे ज्ञात नहीं। ब्यावर-भवनकी हस्तलिखित प्रतिपरसे इसकी प्रेस कापी तैयार की गई और अनुवाद भी मेरा ही किया हुआ है। इसकी प्रतिका क्रमांक ७४३, पत्र सं० ३ और आकार १२ × ७। इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति सं० १२ है और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३५-३६ है। इसका लेखनकाल सं० १९६४ है। ब्यावर-भवनकी अन्य अपूर्ण प्रतियोंसे मूलके संशोधनमें सहायता मिली है।

१८. व्रतसार-श्रावकाचार—यह श्रावकाचार कहींसे भी अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। ब्यावर-भवनमें इसकी हस्तलिखित एक प्रति है। जिसका एक ही पत्र है। उसका आकार १३ × ७ इंच और श्लोक सं० २२ है। इसपर न तो इसके रचयिताका नाम ही है और न लेखन-काल ही दिया गया है। इसी प्रतिसे इसकी प्रतिलिपि की गई है। इसका अनुवाद मेरा ही है।

१९. व्रतोद्योतन श्रावकाचार—यह श्रावकाचार भी अभी तक कहींसे भी प्रकाशित नहीं था। इसकी ब्यावर-भवनमें एक प्रति थी जिसका क्रमांक १६४ है और आकार ११॥ × ८ इंच, पत्र स० २२, प्रति पृष्ठ पंक्ति-सं० १५ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३७-३८ है। इसीपरसे प्रेस कापी और अनुवाद किया गया। दुःख है कि इसे देखनेके लिए डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने आरा मँगाया था। पर उनके स्वर्गवास हो जानेसे प्रयत्न करनेपर भी यह प्रति वापिस नहीं आ सकी। यही सौभाग्य रहा कि मैं इसकी प्रेस कापी पहिले कर चुका था। इसका अनुवाद भी मेरा ही है।

इस श्रावकाचारके मूल पृष्ठका संशोधन बम्बईके ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन-की प्रतिके आधारपर किया गया। प्रयत्न करनेपर भी अन्य स्थानोंसे इसकी दूसरी प्रतियाँ प्राप्त नहीं हो सकीं।

बम्बई भवनकी प्रति प्रेस कापी कर लेनेके पश्चात् प्राप्त हुई। इसका आकार १०॥ × ४॥ इंच है। पत्र संख्या ३० है, प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३७-३८ है। बम्बई भवन अब उज्जैन स्थानान्तरित हो गया है। इसलिए इसका संकेत 'उ' किया गया है। यह विक्रम संवत् १८३४ की लिखी है जैसा कि इसकी अन्तिम पुष्पिकासे स्पष्ट है।

'वेदाग्निकर्मविधुसंयुतसंवत्सरेऽस्मिन् मासे मधौ सितसुभिन्नतरे तृतीयायां चारुपुस्तकमिदं वर वारके च चान्द्रेभके परिसमाप्तिमगात् कृताढ्यः। श्रोतृ-वाचकयो………'मंगलावली भूयात्'।

यह प्रति ब्यावर-भवनकी प्रतिकी अपेक्षा बहुत शुद्ध है और इसीके आधारपर अनेक संदिग्ध एवं अशुद्ध स्थल शुद्ध और निश्चित किये जा सके। पर छूटे हुए श्लोकोंकी पूर्ति इससे भी नहीं हो सकी। छूटे हुए श्लोकोंके संख्यांक २८५-२८६, तथा ४४४ और ४४५ है। पूर्वापर सम्बन्धको देखते हुए उक्त स्थलपर इन श्लोकोंका होना अत्यावश्यक है। अन्य शास्त्रोंके आधारपर उक्त श्लोकोंका हिन्दी अर्थ कर दिया गया है।

प्रस्तुत श्रावकाचारकी रचनामें संस्कृत व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ अनेक स्थलोंपर दृष्टि-गोचर होती हैं। यथा—'अनगार'के स्थानपर 'अनागार' (श्लोक ६) 'भगिनी'के स्थानपर 'भग्नी'

(श्लोक १५४-१५५) 'क्षमावान'के स्थानपर 'क्षमावान्' (श्लोक १७०) तथा 'मित्राणि'के स्थानपर 'मित्राः' (श्लोक ३४१) आदि।

कितने ही स्थलोंपर प्रयत्न करनेके बाद भी कोई शुद्ध पाठ ध्यानमें नहीं आनेपर (?) प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है। यथा—श्लोक २०, २८, ६०, ९१, १८८, २५८, २६०, २६९, २९४, ४०१, ४७४, ५२० आदि। इस प्रकारके स्थलोंपर प्रकरणके अनुसार अर्थकी संगति बैठाई गई है, पर वह सर्वथा संगत है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्लोक ४५८ में 'घटन्ति सर्वार्थसिद्धिं ते'का अर्थ यदि सर्वार्थसिद्धि विमान किया जाय तो वह आगमके विरुद्ध जाता है, क्योंकि शिक्षाव्रतोंका निरतिचार-पालक श्रावक सर्वार्थसिद्धिविमानमें उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः 'सर्व असर्थकी सिद्धिको प्राप्त करता है' ऐसा अर्थ किया गया है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार यह नाम ग्रन्थके आद्योपान्त अध्ययन करनेपर सार्थक प्रतीक होता है, क्योंकि श्रावकोंके आचार-विचारका तो प्रायः वही वर्णन है, जो कि अन्य श्रावकाचारोंमें पाया जाता है। पर इसमें प्रारम्भसे ही भावोंकी प्रधानता एवं उज्ज्वलतापर अधिक बल दिया गया है और भावोंकी विशुद्धिसे ही व्रतोंका उद्योत (प्रकाश) होता है। अतः यह व्रतोंका उद्योत करनेवाला श्रावकाचार समझना चाहिए।

२०. श्रावकाचारसारोद्धार—इसकी हस्तलिखित प्रति हमें श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजीकी कृपासे प्राप्त हुई, जो कि जयपुरके किसी भंडार की है। इसका आकार १२॥ × ५ इंच है। पत्र संख्या ३८ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ११ है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ५४-५५ है। इनके रचयिता श्रीपद्मनन्दी हैं। प्रतिके अन्तमें केवल इतना लिखा है—

'संवत् १५८० वर्षे शाके १४४५ प्रवर्तमाने' इससे यह ज्ञात नहीं होता है कि यह रचनाकाल है, अथवा प्रतिलेखनकाल।

चूँकि भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ९६ में दिये गये बलात्कारगण-उत्तरशाखा-कालपटके अनुसार भट्टारक पद्मनन्दीका समय सं० १३८५-१४५० है। इसके तीन शिष्य थे। उनमेंसे भ० शुभचन्द्र दिल्ली-जयपुर शाखाके, भ० सकलकीर्त्ति ईडर शाखाके और भ० देवेन्द्रकीर्त्ति सूरत शाखाके पट्टपर आसीन हुए। इनका क्रमसे समय इस प्रकार है—

१. भ० शुभचन्द्र सं० १४५०-१५०७।
२. भ० सकलकीर्त्ति सं० १४५०-१५१०।
३. भ० देवेन्द्रकीर्ति सं० १४५०-१४९३।

उक्त तीनोंके समयको देखते हुए यही ज्ञात होता है कि ऊपर जो समय दिया गया है, वह श्रावकाचार सारोद्धारकी प्रति लिखनेका समय है। इस श्रावकाचारकी रचना सं० १४५० के पूर्व ही हो चुकी थी, क्योंकि पट्टावलियोंके अनुसार भट्टारक पद्मनन्दीका समय वि० सं० १३८५ से १४५० सिद्ध होता है।

२१. भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययन—इसकी मूल प्रति किसी भी शास्त्र-भंडारसे प्राप्त नहीं हो सकी। किन्तु श्री क्षुल्लक स्वरूपानन्दजीके हाथसे लिखी प्रेस कापी उनकी कृपासे अवश्य प्राप्त हुई है। पर वह बहुत अशुद्ध थी और अनेक स्थानोंपर उन्होंने स्वयं नवीन पाठोंको

कल्पना करके उन्हें लाल स्याहीसे उसीपर लिखा था वे भी अधिकांश अशुद्ध थे। उनकी इस प्रेस कापीके आधारपर ही प्रस्तुत उपासकाध्ययनकी पाण्डुलिपि तैयार की गयी। जहाँ तक संभव हुआ, वहाँ तक अशुद्ध पाठोंको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया गया, फिर भी अनेक अशुद्ध पाठोंको प्रश्न वाचक चिह्न लगाकर ज्यों-का-त्यों रखा गया है। जैसे—

१. सागार-नागारसुधर्ममार्गम् (भा० ३ पृ० ३७३ श्लो० ५३)

२. भव्यो वरसम्यकत्वम् (,, पृ० ३८९ श्लोक २४५) आदि

३. प्रथम प्रतिमाका नाम कहीं 'दर्शनीक' और कहीं 'दर्शनिक' दिया है। (भा० ३ पृ० ३७३ श्लोक ५४, ५७ आदि)।

४. सन्धिके नियमोंका उल्लंघन तो अनेक स्थानोंपर पाठकोंको स्वयं ही दृष्टि-गोचर होगा।

५. प्रयत्न करने पर भी श्लोक १०२ के प्रथम और तृतीय चरणके अशुद्ध पाठोंको शुद्ध नहीं किया जा सका। अतः उन पदोंका अर्थ भी नहीं दिया गया है। (भा० ३ पृ० ३७७ श्लोक १०२)

इस उपासकाध्ययनके बीचका एक पत्र श्री क्षुल्लकजीको भी प्राप्त नहीं हुआ, अतः श्लोक ३१० से लेकर ३३९ तकके ४० श्लोक छूटे हुए हैं'। प्रकरणके अनुसार उनमें दानका वर्णन होना चाहिए।

उक्त त्रुटियोंके होनेपर भी प्रस्तुत संग्रहमें उसे स्थान देनेका कारण तद्गत कुछ विशेषताएँ हैं, जिनका अनुभव पाठकोंको उसका स्वाध्याय करनेपर स्वयं होगा।

इसके रचयिता श्री जिनदेव हैं। उन्होंने अपने नामका उल्लेख प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें स्वयं किया है और अपने इस उपासकाध्ययनको भट्टारक श्री जिनचन्द्रके नामसे अंकित किया है।

इस उपासकाध्ययनके अन्तमें श्री जिनदेवने अपनी प्रशस्ति दी है, २५ श्लोक होनेपर भी वह अपूर्ण है। क्षुल्लकजीको संभवतः प्रतिका अंतिम पत्र भी प्राप्त नहीं हुआ है। जो प्रशस्ति मिली है, उससे उनके विद्यागुरु यशोधर कवि ज्ञात होते हैं, जिनके प्रसादसे जिनदेवने आगम, सिद्धान्त, पुराण, चरित आदिका अध्ययन किया था। प्रशस्तिमें यशोधर कविका विस्तृत परिचय दिया गया है, किन्तु उसके अपूर्ण प्राप्त होनेसे जिनदेवके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

२२. पुरुषार्थानुशासन-गत श्रावकाचार—पं० गोविन्द-रचित पुरुषार्थानुशासन नामक यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। सरस्वती भवन ब्यावरकी क्रमांक ८० की हस्तलिखित प्रतिपरसे इसकी प्रेस कापी की गई। इसकी पत्र-संख्या ८६ और आकार १३ × ८। इंच है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या १५ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३७-३८ है। यह प्रति वि० सं० १९८४ की लिखी है और बहुत अशुद्ध है। इसका संशोधन बम्बई भवनकी प्रतिसे किया गया जो कि वि० सं० १८७६ की लिखी है और बहुत शुद्ध है। इसका आकार १० × ५ इंच है। पत्र-संख्या ६२, प्रति पृष्ठ पंक्ति १२ और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३३-३४ है।

पुरुषार्थानुशासनमें चारों पुरुषार्थोंका वर्णन है। उसमेंसे धर्म पुरुषार्थके अन्तर्गत जो श्रावक

धर्मका वर्णन है, वही प्रस्तुत संग्रहमें संकलित किया गया है। पूरा ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली या जीवराज-ग्रन्थमालासे प्रकाशित होनेके योग्य है।

२३. कुन्दकुन्द श्रावकाचार—इसकी एक मात्र प्रति सरस्वती भवन ब्यावरसे प्राप्त हुई है, जिसका क्रमांक ४१४ है। इसका आकार ११ × ४॥ इंच है। पत्र-संख्या ५० है। प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या १३ है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ४०-४१ है। पुष्ट कागजपर सुवाच्य अक्षरोंमें यह वि० सं० १९७० के माघ सुदी २ की लिखी हुई है, जिसे व्यास वनसीधर मच्छारामने लिखा है। प्रति जितनी सुवाच्य है, उतनी ही अशुद्ध है। इसके पाठोंका अधिकांश संशोधन अर्थको ध्यानमें रखकर किया गया है। फिर भी अनेक पाठ संदिग्ध रह गये हैं, उनके आगे (?) प्रश्नवाचक चिह्न लगाया गया है। इसका संकलन प्रस्तुत संग्रहके इसी चौथे भागमें किया गया है।

■

ग्रन्थ और ग्रन्थकार परिचय

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमें संकलित श्रावकधर्मका वर्णन करनेवाले आचार्योंका परिचय कालक्रमसे यहाँ दिया जाता है।

१. चरित्रपाहुड आचार्य—कुन्दकुन्द

इतिहासज्ञोंके मतसे, तथा मुनि आचारके साथ द्रव्यानुयोग अध्यात्मशास्त्र एवं पाहुडसूत्रोंके रचयिताके रूपमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य सर्वप्रथम ग्रन्थकार सिद्ध होते हैं। दिगम्बर-परम्परामें उनका स्थान सर्वोपरि है यह बात मंगलाचरणमें बोले जानेवाले इस मंगल-पद्यसे स्पष्ट है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

भगवान् महावीर और गौतम गणधरके पश्चात् उनका मंगलरूपसे स्मरण किया जाना ही उनकी सर्वोपरिताका द्योतक है।

यद्यपि इतिहासज्ञ उपलब्ध शिलालेखों आदिके आधार पर उनका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी निश्चित करते हैं, तथापि उनके द्वारा रचित बोधपाहुडके अन्तमें दी गई दो गाथाओंमें जब वे स्वयंको भद्रबाहु श्रुतकेवलीका शिष्य प्रकट करते हैं, तब उन्हें प्रथम शताब्दी मानना विचारणीय हो जाता है। ये दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥ ६२॥
बारस अंग वियाणं चउदसपुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊँ॥ ६२॥

प्रथम गाथामें सामान्यरूपसे भद्रबाहुका उल्लेख करनेपर कोई शंकाकार कह सकता था कि वे कौनसे भद्रबाहु हैं, उसके समाधानके लिए ही भद्रबाहुके लिए तीन विशेषण दूसरी गाथामें दिये गये हैं— १ द्वादशाङ्गवेत्ता, चतुर्दशपूर्ववेत्ता और श्रुतज्ञानी। इन तीन विशेषणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट है कि वे अपनेको पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहुका ही शिष्य घोषित कर रहे हैं।

श्रुतावतारकथामें श्रुतधरोंके पट्ट पर आसीन होनेवाले आचार्योंकी परम्पराके नाम दिये गये हैं, जब कि ये आचरण करानेवाली आचार्य-परम्पराके आचार्य थे। यह बात मूलाचारके रचयिताके रूपमें उनके नामान्तर 'वट्टकेराचार्य' से सिद्ध होती है। आचार्य कुन्दकुन्द मुनिसंघमें 'प्रवर्तक' पद पर आसीन थे और मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दीने 'वट्टओ संघपवट्टओ' अर्थात् जो संघका प्रवर्तक होता है उसे वर्तक कहा। वर्त्तकका ही प्राकृतरूप 'वट्टक' है और 'एलाचार्य' का प्राकृत रूप 'एरादूरिय' है। इन दोनों पदोंके संयोगसे वट्टकेरादूरिय वट्टकेराचार्य नाम प्रसिद्ध हो गया है। कुन्दकुन्दके पाँच नामोंमें एक नाम 'एलाचार्य' भी है। बाल-दीक्षित आचार्यको 'एलाचार्य' कहा जाता है, यह बात भी मूलाचारकी टीकासे ही सिद्ध है।

आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थकारोंमें प्राचीन होनेका एक सबल प्रमाण यह भी है कि जहाँ आ० गुणधरने पाँचवें पूर्वके तीसरे पाहुडका उपसंहार करके 'कसायपाहुड' की रचना की और आ० भूतबलि-पुष्पदन्तने दूसरे पूर्वगत 'कम्मपयडिपाहुड' का उपसंहार कर षट्खण्डागमकी रचना की है, वहाँ बारहवें दृष्टिवादके अनेकों पूर्वोका दोहन करके कुन्दकुन्दने अनेकों पाहुडोंकी रचना की है। प्रसिद्धि तो उनके द्वारा ८४ पाहुडोंके रचनेकी है, पर वर्तमानमें उनके द्वारा रचे हुए २०-२२ पाहुड तो उपलब्ध हैं ही। शुद्ध आत्मतत्त्वके निरूपणको देखते हुए 'समयसार' आठवें आत्मप्रवादपूर्वका सार प्रतीत होता है। इसी प्रकार पंचास्तिकाय अस्तिनास्ति प्रवादपूर्वका, नियमसार प्रत्याख्यान-पूर्वका और प्रवचनसार अनेक पूर्वोका सार ज्ञात होता है। मूलाचारको तो आ० वसुनन्दीने स्पष्ट रूपसे आचाराङ्गका उपसंहार कहा है। इस प्रकारसे कुन्दकुन्द द्वादशाङ्ग श्रुतमेंसे अनेक अंग और पूर्वके ज्ञाता सिद्ध होते हैं। अस्तु

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि आ० कुन्दकुन्दने आचारांगका उपसंहार करके मूलाचारकी रचना की है, तब उपासकाध्ययन अंगका उपसंहार करके किसी स्वतंत्र उपासकाध्ययनकी रचना क्यों नहीं की ? इसका उत्तर यह है कि उनके समयमें साधु लोग शिथिलाचारी होने लगे थे, और अपने आचारको भूल गये थे। उनको उनका जिन-प्रणीत मार्ग बतानेके लिए मूलाचार रचा। किन्तु उस समय श्रावक-लोग अपने कर्तव्योंको जानते थे एवं तदनुसार आचरण भी करते थे। अतः उनके लिए स्वतंत्र उपासकाध्ययनकी रचना करना उन्हें आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। केवल चारित्रपाहुडके भीतर चारित्रके सकल और विकल भेद करके मात्र ६ गाथाओंमें विकल चारित्रका वर्णन करना ही उचित जंचा। पहली गाथामें संयमाचरणके दो भेद कहकर बताया कि सागार सयमाचरण गृहस्थोंके होता है। दूसरी गाथामें ११ प्रतिमाओंके नाम कहे। तीसरीमें सागारसंयमा-चरणको पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप कहा। पश्चात् तीन गाथाओंमें उनके नाम गिनाये हैं। इन्होंने सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत माना है। देशावकाशिकव्रतको न गुणव्रतोंमें गिनाया है और न शिक्षाव्रतोंमें ही। इनके मतसे दिक्-परिमाण, अनर्थ-दंड-वर्जन और भोगोपभोग परिमाण ये तीन गुणव्रत हैं, तथा सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं। यहाँ यह विचारणीय कि मरणके अन्तमें की जानेवाली सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें किस दृष्टिसे कहा है ? और क्या इस चौथे शिक्षाव्रतकी पूर्तिके बिना ही श्रावक तीसरी आदि प्रतिमाओंका धारी हो सकता है ?

चारित्रपाहुड-गत उक्त गाथाएँ श्रावकाचार-संग्रहके तीसरे भागमें परिशिष्टके अन्तर्गत संकलित हैं।

आ० कुन्दकुन्द-रचित ८४ पाहुडोंकी प्रसिद्धि है। उनमेंसे आज २० उपलब्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. समयपाहुड (समयसार), २. पंचास्तिकायपाहुड (पंचास्तिकाय), ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. दंसणपाहुड, ६. चारित्तपाहुड, ७. सुत्तपाहुड, ८. बोधपाहुड, ९. भावपाहुड, १०. मोक्खपाहुड, ११. लिंगपाहुड, १२. सीलपाहुड, १३. बारस अणुवेक्खा, १४. रयणसार, १५. सिद्धभक्ति, १६. सुदभत्ति, १७. चारित्तभत्ति, १८. जोगिभत्ति, १९. आइरियभत्ति, २०. णिव्वाणभत्ति, २१. पंच गुरुभत्ति, २२. तित्थयरभत्ति। अनुपलब्ध परिकर्मसूत्र भी इनके द्वारा रचा गया कहा जाता है।

यतः पाहुड पूर्वगत होते हैं, अतः कुन्दकुन्द पूर्वोके एक देश ज्ञाता सिद्ध होते हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्र—आचार्य उमास्वाति

उमास्वाति-द्वारा संस्कृत भाषामें निबद्ध तत्त्वार्थसूत्रमें श्रावक धर्मका वर्णन सर्व-प्रथम दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें व्रतीको सबसे पहले माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होना आवश्यक बतलाया, जब कि स्वामि कार्त्तिकेयने दार्शनिक श्रावकको निदान-रहित होना जरूरी कहा है। इसके पश्चात् इन्होंने व्रतीके आगारी और अनगार भेद करके अणुव्रतीको आगारी बताया। पुनः अहिंसादि व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाओंका वर्णन किया[१] और प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतीचार बताये। इसके पूर्व न कुन्दकुन्दने अतीचारोंकी कोई सूचना दी है और न स्वामिकार्त्तिकेयने ही उनका कोई वर्णन किया है। तत्त्वार्थ सूत्रकारने अतीचारोंका यह वर्णन कहाँसे किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। अतीचारोंका विस्तृत वर्णन करने पर भी कुन्दकुन्द और कार्त्तिकेयके समान उमास्वातिने भी आठ मूल गुणोंका कोई वर्णन नहीं किया है, जिससे पता चलता है कि इनके समय तक मूल गुणोंकी कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की गई थी। तत्त्वार्थसूत्रमें ग्यारह प्रतिमाओंका भी उल्लेख नहीं है, यह बात उस दशामें विशेष चिन्ताका विषय हो जाती है, जब हम उनके द्वारा व्रतोंकी भावनाओंका और अतीचारोंका विस्तृत वर्णन किया गया पाते हैं। इन्होंने कुन्दकुन्द और कार्त्तिकेय प्रतिपादित गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नामोंमें भी परिवर्तन किया है। इनके मतानुसार दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंड-विरति ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास उपभोग-परिभोग परिमाण, अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। स्वामिकार्तिकेय-प्रतिपादित देशावकाशिकको इन्होंने गुणव्रतमें और भोगोपभोग-परिमाणको शिक्षाव्रतमें परिगणित किया है। सूत्रकारने मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंका भी वर्णन किया है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमें अहिंसादिव्रतोंकी भावनाओं, अतीचारों और मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओंके रूपमें तीन विधानात्मक विशेषताओंका, तथा अष्टमूलगुण और ग्यारह प्रतिमाओंके वर्णन नहीं करनेरूप दो अविधानात्मक विशेषताओंका दर्शन होता है।

समय-विचार

शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति श्री कुन्दकुन्दाचार्यके अन्वय या वंशमें हुए हैं। यथा—

१. तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रः स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः॥ १०॥

२. अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूचीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥ ११॥
(शिलालेख सं० भा० १ अभिले० १०८ पृ० २१०)

३. अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥
(शिलालेखसं० भा० १ अभिले० ४१ पृ० ४३)

---

१. कुछ विद्वान् इन भावनाओंको महाव्रतोंकी ही रक्षक मानते हैं। परन्तु लाटी-संहिताकारने उन्हें एक देशरूपसे अणुव्रतोंकी भी सयुक्तिक रक्षक सिद्ध किया है। (देखो—भाग ३ पृ० १०० श्लो० १८७ आदि)
—सम्पादक

अर्थात्—भद्रबाहु श्रुतकेवलीको वंश-परम्परामें जो यति (साधु) रूप रत्नमाला शोभित हुई, उसमें मध्यवर्ती मणिके समान प्रचण्ड तेजस्वी कुन्दकुन्द मुनीन्द्र हुए। उन्हींके पवित्र वंशमें सकलार्थवेत्ता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत शास्त्रसमूहको सूत्ररूपसे रचा। ये उमास्वाति गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। उनके समान उस कालमें समस्त तत्त्वोंका वेत्ता और कोई नहीं था।

उक्त शिलालेखोंसे उमास्वातिका कुन्दकुन्दाचार्यके अन्वयमें होना प्रकट होता है, किन्तु नन्दिसंघकी पट्टावलीमें उनको कुन्दकुन्दके पट्टपर वि० सं० १०१ में बैठनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस पट्टावलीके अनुसार उमास्वाति ४० वर्ष ८ मास आचार्य पदपर रहे हैं। उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और वि० सं० १४२ में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार उमास्वातिका समय विक्रमकी प्रथम शतीका अन्तिम चरण और दूसरी शतीका पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्रका श्रावकधर्म-प्रतिपादक उक्त सातवाँ अध्याय सानुवाद श्रावकाचार-सग्रहके तीसरे भागके परिशिष्टमें दिया गया है।

उमास्वातिकी अन्य रचनाका कोई उल्लेख अभी तक कहींसे नहीं मिला है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार—स्वामी समन्तभद्र

तत्त्वार्थसूत्रके पश्चात् श्रावकाचारपर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखनेवाले स्वामी समन्तभद्रपर हमारी दृष्टि जाती है, जिन्होंने रत्नकरण्डक रचकर श्रावकधर्म-पिपासु एवं जिज्ञासु जनोंके लिए सचमुच रत्नोंका करण्डक (पिटारा) ही उपस्थित कर दिया है। इतना सुन्दर और परिष्कृत विवेचन उनके नामके ही अनुरूप है।

रत्नकरण्डकमें कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है जो अपनी समता नहीं रखता। धर्मकी परिभाषा, सत्यार्थ देव,शास्त्र, गुरुका स्वरूप, आठ अंगों और तीन मूढ़ताओंके लक्षण, मदों के निराकरणका उपदेश, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका लक्षण, अनुयोगोंका स्वरूप, सयुक्तिक चारित्रकी आवश्यकता और श्रावकके बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओंका इतना परिमार्जित और सुन्दर वर्णन अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता।

श्रावकोंके आठ मूल गुणोंका सर्वप्रथम वर्णन हमें रत्नकरण्डमें ही मिलता है। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार पाँच अणुव्रत मूल गुण रूप और सात शीलव्रत उत्तर गुण रूप हैं और इस प्रकार श्रावकोंके मूल और उत्तर गुणोंकी सम्मिलित संख्या १२ है। परन्तु दिगम्बर परम्परामें श्रावकोंके मूलगुण ८ और उत्तर गुण १२ माने जाते है। स्वामिसमन्तभद्रने पाँच स्थूल पापोंके और मद्य, मांस, मधुके परित्यागको अष्टमूलगुण कहा है, परन्तु श्रावकके उत्तर गुणोंकी संख्याका कोई उल्लेख नहीं किया है। हाँ, परवर्त्ती सभी आचार्योंने उत्तरगुणोंकी संख्या १२ ही बताई है।

इसके अतिरिक्त समन्तभद्रने अपने सामने उपस्थित आगम-साहित्यका अवगाहन कर और उनके तत्त्वोंको अपनी परीक्षा-प्रधान दृष्टिसे कसकर बुद्धि-ग्राह्य ही वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके सम्मुख होते हुए भी उन्होंने देशावकाशिकको गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रत माना और भोगोपभोग परिमाणको चारित्रपाहुडके समान गुणव्रत ही माना। उनकी दृष्टि इस बातपर अटकी कि शिक्षाव्रत तो अल्पकालिक साधना रूप होते हैं, पर भोगोपभोगका परिमाण तो यम-

रूपसे यावज्जीवनके लिए भी होता है फिर उसे शिक्षाव्रतोंमें कैसे गिना जाय ! इसके साथ ही दूसरा संशोधन देशावकाशिकको प्रथम शिक्षाव्रत मानकर किया। उनकी तार्किक दृष्टि ने उन्हें बताया कि सामायिक और प्रोषधोपवासके पूर्व ही देशावकाशिका स्थान होना चाहिए, क्योंकि उन दोनोंकी अपेक्षा इसके कालकी मर्यादा अधिक है। इसके सिवाय उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित सल्लेखनाको शिक्षाव्रत रूपसे नहीं माना। उनकी तार्किक दृष्टिको यह जँचा नहीं कि मरणके समय की जानेवाली सल्लेखना जीवन भर अभ्यास किये जानेवाले शिक्षाव्रतोंमें कैसे स्थान पा सकती है ? अतः उन्होंने उसके स्थानपर वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रतको कहा। सूत्रकारने अतिथि-संविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा है, परन्तु उन्हें यह नाम भी कुछ संकुचित या अव्यापक जँचा, क्योंकि इस व्रतके भीतर वे जितने कार्योंका समावेश करना चाहते थे, वे सब अतिथि-संविभागके भीतर नहीं आ सकते थे। उक्त संशोधनोंके अतिरिक्त अतीचारोंके विषयमें भी उन्होंने कई संशोधन किये। तत्त्वार्थसूत्रगत परिग्रह परिमाणव्रतके पाँचों अतीचार तो एक 'अति-क्रमण' नाममें ही आ जाते हैं, फिर उनके पंचरूपताकी क्या सार्थकता रह जाती है, अतः उन्होंने उसके स्वतंत्र ही पाँच अतीचारोंका प्रतिपादन किया। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्रगत भोगोपभोग-परिमाणके अतीचार भी उन्हें अव्यापक प्रतीत हुए, क्योंकि वे केवल भोगपर ही घटित होते हैं, अतः इस व्रतके भी स्वतंत्र अतीचारोंका निर्माण किया और यह दिखा दिया कि वे गतानुगतिक या आज्ञा-प्रधान न होकर परीक्षाप्रधानी हैं। इसी प्रकार एक संशोधन उन्होंने ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचरोंमें भी किया। उन्हें इत्वरिकापरिगृहीतागमन और इत्वरिका-अपरिगृहीतागमनमें कोई खास भेद दृष्टिगोचर नहीं हुआ, क्योंकि स्वदार-सन्तोषीके लिए तो दोनों ही परस्त्रियाँ हैं। अतः उन्होंने उन दोनोंके स्थानपर एक इत्वरिका गमनको रखकर 'विटत्व' नामक एक और अतीचारकी स्वतंत्र कल्पना की, जो कि ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार होनेके सर्वथा उपयुक्त है।

श्रावकधर्मके प्रतिपादन करनेवाले आदिके दोनों ही प्रकारोंको हम रत्नकरण्डकमें अपनाया हुआ देखते हैं, तथापि ग्यारह प्रतिमाओंका ग्रन्थके सबसे अन्तमें वर्णन करना यह बतलाता है कि उनका झुकाव प्रथम प्रकारकी अपेक्षा दूसरे प्रतिपादन-प्रकारकी ओर अधिक रहा है।

अर्हत्पूजन को वैयावृत्यके अन्तर्गत वर्णन करना रत्नकरण्डकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसके पूर्व पूजनको श्रावक-व्रतोंमें किसीने नहीं कहा है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें, पाँच अणुव्रतोंमें, पाँच पापोंमें और चारों दानोंके देनेवालोंमें प्रसिद्धिको प्राप्त करनेवालोंके नामोंका उल्लेख भी रत्नकरण्डककी एक खास विशेषता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने श्रावक धर्मको पर्याप्त पल्लवित और विकसित किया और उसे एक व्यवस्थित रूप देकर भविष्यकी पीढ़ीके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

परिचय और समय

आचार्य समन्तभद्रके समयपर विभिन्न इतिहासज्ञोंने विभिन्न प्रमाणोंके आधारोंपर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। किन्तु स्वर्गीय जुगलकिशोर मुख्तारने उन सबका सयुक्तिक निरसन करके उन्हें विक्रमकी दूसरी शतीका आचार्य सिद्ध किया है और उनके इस मतकी डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनने अनेक युक्तियोंसे समर्थन किया है। स्व० मुख्तार साहबने स्वामी समन्तभद्रके इतिहासपर बहुत विशद प्रकाश डाला है।

रत्नकरण्डके अतिरिक्त आपकी निम्नांकित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, २. देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा), ३. स्तुति विद्या (जिनशतक), ४. युक्त्यनुशासन।

इनके सिवाय १. जीवसिद्धि, २. तत्त्वानुशासन, ३. प्रमाण पदार्थ, ४. गन्धहस्तिमहाभाष्य, ५. कर्मप्राभृतटीका और ६. प्राकृत व्याकरणके रचनेका भी उल्लेख मिलता है।

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामी कार्तिकेय

स्वामी कार्तिकेयने अनुप्रेक्षा नामसे प्रसिद्ध अपने ग्रन्थमें धर्म भावनाके भीतर श्रावक धर्मका विस्तृत वर्णन किया है। इनके प्रतिपादनकी शैली स्वतंत्र है। इन्होंने जिनेन्द्र उपदिष्ट धर्मके दो भेद बताकर संगासक्तों—परिग्रहधारी गृहस्थोंके धर्मके बारह भेद बताये हैं। यथा—१. सम्यग्दर्शनयुक्त, २. मद्यादि स्थूल-दोषरहित, ३. व्रतधारी, ४. सामायिकी, ५. पर्वव्रती, ६. प्रासुक आहारी, ७ रात्रिभोजन विरत, ८. मैथुन त्यागी, ९. आरम्भत्यागी, १०. संगत्यागी, ११. कार्यानुमोदविरत और १२. उद्दिष्टाहारविरत। इनमें प्रथम नामके अतिरिक्त शेष नाम ग्यारह प्रतिमाओंके हैं। यतः श्रावकको व्रत धारण करनेके पूर्व सम्यग्दर्शनका धारण करना अनिवार्य है अतः सर्वप्रथम उसे भी गिनाकर उन्होंने श्रावक-धर्मके बारह भेद बतलाये हैं और उनका वर्णन पूरी ८५ गाथाओं में किया है। जिनमेंसे २० गाथाओं में तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति, उसके भेद, उनका स्वरूप, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी मनोवृत्ति और सम्यक्त्वका माहात्म्य बहुत सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है, जैसा कि अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। तत्पश्चात् दो गाथाओं द्वारा दार्शनिक श्रावकका स्वरूप कहा है, जिसमें बताया गया है कि जो त्रस-समन्वित या त्रस-घातसे उत्पन्न मांस, मद्य और निंद्य पदार्थोंका सेवन नहीं करता, तथा दृढ़चित्त, वैराग्य-भावना-युक्त और निदान रहित होकर एक भी व्रतको धारण करता है, वह दार्शनिक श्रावक है। तदनन्तर उन्होंने व्रतिक श्रावकके १२ व्रतोंका बड़ा हृदयग्राही, तलस्पर्शी और स्वतंत्र वर्णन किया है, जिसका आनन्द इस ग्रन्थका अध्ययन करके ही लिया जा सकता है। उन्होंने कुन्दकुन्द-सम्मत तीनों गुणव्रतोंको तो माना है, परन्तु शिक्षाव्रतोंमें कुन्दकुन्द-स्वीकृत सल्लेखनाको न मानकर उसके स्थान पर देशावकाशिकको माना है। इन्होंने समन्तभद्रके समान अनर्थ दंडके पाँच भेद कहे हैं। स्वामिकार्त्तिकेयने चारों शिक्षाव्रतोंका विस्तारके साथ विवेचन किया है। सामयिक शिक्षाव्रतके स्वरूपमें आसन, लय, काल आदिका वर्णन द्रष्टव्य है। इन्होंने प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतमें उपवास न कर सकनेवालेके लिए एक भक्त, निर्विकृति आदि करनेका विधान किया है। अतिथि संविभाग शिक्षाव्रतमें यद्यपि चारों दानोंका निर्देश किया है, पर आहार दान पर खास जोर देकर कहा है कि एक भोजन दानके देने पर शेष तीन स्वतः ही दे दिये जाते हैं। चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रतमें दिशाओंका संकोच और इन्द्रिय विषयोंका संवरण प्रतिदिन आवश्यक बताया है। इसके पश्चात् सल्लेखनाके यथावसर करनेकी सूचना की गयी है। सामायिक प्रतिमाके स्वरूपमें समन्तभद्रके समान कायोत्सर्ग, द्वादश आवर्त, दो नमन और चार प्रणाम करनेका विधान किया है। प्रोषध प्रतिमामें सोलह पहरके उपवासका विधान किया है। सचित्त त्याग प्रतिमाधारीके लिए सर्व प्रकारके सचित्त पदार्थोंके खानेका निषेध किया है और साथ ही यह भी आदेश दिया है कि जो स्वयं सचित्तका त्यागी है उसे सचित्त वस्तु अन्यको खानेके लिए देना योग्य नहीं है, क्योंकि खाने

और खिलानेमें कोई भेद नहीं है। रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमाधारीके लिए कहा है कि जो चतुर्विध आहारको स्वयं न खानेके समान अन्यको भी नहीं खिलाता है वही निशि भोजन व्रती है। ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारीके लिए देवी, मनुष्यनी, तिर्यंचनी और चित्रगत सभी प्रकारकी स्त्रियोंकी मन, वचन, कायसे अभिलाषाके त्यागका विधान किया है। आरम्भविरत प्रतिमाधारीके लिए कृत, कारित और अनुमोदनासे आरम्भका त्याग आवश्यक बताया है। परिग्रह त्याग प्रतिमामें बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागनेका विधान किया है। अनुमतिविरतके लिए गृहस्थीके किसी भी कार्यमें अनुमतिके देनेका निषेध किया है। उद्दिष्टाहारविरतके लिए याचना-रहित और नवकोटि-विशुद्ध योग्य भोज्यके लेनेका विधान किया गया है। स्वामी कार्त्तिकेयने ग्यारहवीं प्रतिमाके भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे पता चलता है कि उनके समय तक इस प्रतिमाके दो भेद नहीं हुए थे।

स्वामिकार्त्तिकेयने अपने इस 'अणुवेक्खा' ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है, उससे उनके समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है, केवल इतना ही ज्ञात होता है कि स्वामिकुमारने यह ग्रन्थ जिन-वचनकी प्रभावना तथा अपने चंचल मनको रोकनेके लिए बनाया है। ये बारह अनुप्रेक्षाएँ जिनागमके अनुसार कही गयी हैं। जो इन्हें पढ़ता, सुनता और भावना करता है वह शाश्वत सुखको पाता है। कुमारकालमें दीक्षा ग्रहण करनेवाले वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और महावीर इन पाँच बालब्रह्मचारी तीर्थंकरोंकी मैं स्तुति करता हूँ।

परिचय और समय

उक्त प्रशस्तिसे केवल यही ज्ञात होता है कि इसके रचयिता स्वामीकुमार थे, वे बाल-ब्रह्मचारी रहे हैं, क्योंकि उन्होंने कुमारावस्थामें ही दीक्षा ग्रहण करनेवाले पाँच तीर्थंकरोंका अन्तमें स्तवन किया है। कार्त्तिकेयके अनेक पर्यायवाची नामोंमें एक नाम 'कुमार' भी है, सम्भवतः इसी कारण यह स्वामिकार्त्तिकेय-रचित प्रसिद्ध हुआ है। सर्वप्रथम इस नामका उल्लेख इसके संस्कृत-टीकाकार श्री श्रुतसागरने ही किया है।

इनका समय बहुत ऊहापोहके बाद श्री जुगलकिशोर मुख्तारने विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी प्रकट किया है।

स्वामीकुमार या कार्त्तिकेय द्वारा रचित किसी अन्य ग्रन्थका कहीं कोई उल्लेख अभीतक नहीं मिला है।

५. रत्नमाला—आ० शिवकोटि

आ० शिवकोटिने रत्नमाला नामक एक लघुकाय ग्रन्थकी रचना की है, जिसमें उन्होंने रत्नत्रय धर्मकी महत्ता बतलाते हुए भी श्रावकधर्मका ही प्रमुखतासे वर्णन किया है। सर्व प्रथम सम्यक्त्वकी महिमा बता कर वीतरागी देव, सत्प्रतिपादित शास्त्र और निरारम्भी दिगम्बर गुरुके श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहा है और बताया है कि प्रशम-संवेगादिवान्, तत्त्वनिश्चयवान् मनुष्य जन्म-जरातीत मोक्ष पदवीको प्राप्त करता है। पुनः श्रावकोंके १२ व्रतोंका उल्लेख कर दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरति और भोगोपभोगसंख्यान ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि-पूजन और मारणान्तिकी सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। इन्होंने समन्तभद्र-प्रतिपादित आठ

मूलगुणोंका उल्लेख कर कहा है कि पंच उदुम्बरोंके साथ तीन मकारका त्याग तो बालकों और मूर्खोंमें भी देखा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि यथार्थ मूलगुण तो पंच अणुव्रतोंके साथ मद्य, मांस और मधुके त्याग रूप ही हैं। इन आठ मूलगुणोंके धारणका महान् फल बतलाते हुए पाँचों स्थूल पापों और तीनों मकारोंके त्यागका विशद सुफल-दायक स्वरूप निरूपण किया है। व्यसनोंके त्यागका, रात्रिभोजन त्यागके सुफलका, पंचनमस्कार मंत्रके जपनेका, अष्टमी आदि पर्वोंमें सिद्धभक्ति आदि करनेका, त्रिकाल वन्दना-करनेका, एवं शास्त्रोक्त अन्य भी क्रियाओंके करनेका विधान करके बताया गया है कि व्रतोंमें अतीचार लगनेपर गुरु-प्रतिपादित प्रायश्चित्त लेना चाहिए। चैत्य और चैत्यालय बनवानेका साधुजनोंकी वैयावृत्य करनेका तथा सिद्धान्त ग्रन्थ एवं आचारशास्त्रके बाचने वालोंमें धन-व्यय करनेका, जीर्ण चैत्यालयोंके उद्धार करनेका और दीन-अनाथजनोंको भी दान देनेका विधान किया है।

परिचय और समय

रत्नमालाके प्रारम्भमें ही स्वामी समन्तभद्रका जिन शब्दोंमें स्मरण किया गया है और इसके अन्तिम पदमें जिस प्रकार श्लेष रूपसे 'शिवकोटि' पद दिया गया है, उससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस रत्नमालाके रचयिता शिवकोटि राजा स्वामी समन्तभद्रसे बहुत अधिक प्रभावित थे। समन्तभद्रके द्वारा चन्द्रप्रभजिनकी स्तुति करते हुए चन्द्रप्रभजिनबिम्ब प्रकट हुआ देखकर उससे प्रभावित एवं दीक्षित हुए शिष्यका उल्लेख जो शिलालेखोंमें, तथा विक्रान्त कौरव आदिमें पाया जाता है, उसके आधार पर प्रस्तुत रत्नमालाके रचयिता उन्हीं शिवकोटिके माननेमें कोई सन्देह नहीं रहता। श्री जुगलकिशोर मुख्तारने भी 'समन्तभद्रके इतिहासमें' इस तथ्यको स्वीकार किया है। (देखो पृष्ठ ९५-९६) इसलिए समन्तभद्रका जो विक्रमकी दूसरी शती समय है, वही शिवकोटिका भी समझना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शिवकोटिने समन्तभद्र और सिद्धसेनके सिवाय अन्य किसी भी आचार्यका स्मरण नही किया है।

शिवकोटिकी किसी अन्य रचनाका कहीं कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ है।

६. पद्मचरित—आ० रविषेण

जैन समाजमें पद्मपुराणसे प्रसिद्ध पद्मचरितकी रचना आ० रविषेणने की है। इसके चौदहवें पर्वमें श्रावक धर्मका वर्णन आया है, उसे प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागके परिशिष्टमें सानुवाद दिया गया है। यद्यपि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके रूपमें श्रावकके १२ व्रतोंका वर्णन किया गया है, तथापि उन्होंने अनर्थदंड विरति, दिग्व्रत और भोगोपभोग संख्यान ये तीन गुणव्रत, तथा सामायिक, प्रोषधानशन, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं। अन्तमें मद्य, मांस, मधु, द्यूत, रात्रिभोजन और वेश्यासंगमके त्यागका विधान किया है।

उनके इस संक्षिप्त वर्णनसे दो बातें स्पष्ट हैं—गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंकी विभिन्नता और मूलगुणों या सप्त व्यसनोंका कोई उल्लेख न करके मद्यादि छह निन्द्य कार्योंके त्यागका विधान। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय तक पंच उदुम्बर फलोंके भक्षणका, तथा द्यूत और वेश्यासंगमके सिवाय शेष व्यसनोंके सेवनका कोई प्रचार नहीं था। अथवा सात व्यसनोंमें तीन मकारोंके

परिगणित करने पर, तथा वेश्या सेवनमें परस्त्रीको भी ले लेनेपर छह व्यसनोंका निर्देश हो ही गया है। केवल आखेट (शिकार) खेलनेके स्थान पर रात्रिभोजनके त्यागकी प्रेरणा की है। इससे यह ज्ञात होता है कि उनके समयमें आखेट खेलनेकी प्रवृत्तिके स्थानमें रात्रिभोजनका प्रचार बढ़ रहा था, अतः उसके त्यागका विधान करना उन्होंने आवश्यक समझा।

परिचय और समय

आ० रविषेणने पद्मचरितकी रचना वीर निर्वाण सं० १२०३ में समाप्त की है। जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—

> द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
> जिनभास्करवर्धमानसिद्धेश्चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥
>
> (पद्मचरित पर्व १२३ श्लो १८२)

अर्थात्—भ० महावीरके मुक्त होनेके पश्चात् १२०३ वर्ष ६ मास बीतने पर मैंने पद्म नामक बलभद्र मुनिका यह चरित रचा।

उक्त आधार पर आ० रविषेणने वि० सं० ७३४ में पद्मचरित समाप्त किया। अतः उनका समय विक्रमकी आठवीं शतीका पूर्वार्ध निश्चित ज्ञात होता है।

पद्मचरितके अतिरिक्त आ० रविषेणकी अन्य रचनाका कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

७. वराङ्गचरित—आ० जटासिंहनन्दि

आचार्य जटासिंहनन्दिने 'वराङ्गचरित' नामके एक महाकाव्यकी रचना की है। उसके पन्द्रहवें सर्गमें श्रावकधर्मका वर्णन आया है, उसे ही प्रस्तुत संग्रहके परिशिष्टमें संकलित किया गया है। इसके प्रारम्भमें दयामयी धर्मसे सुखकी प्राप्ति बताकर उसके धारणकी प्रेरणा की गई है तथा गृहस्थोंको दुःखोंसे छूटनेके लिए व्रत, शील, तप, दान, संयम और अर्हत्पूजन करनेका विधान किया गया है। श्रावकके वे ही बारह व्रत कहे गये हैं जिन्हें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है। इसमें देवताकी प्रीतिके लिए, अतिथिके आहारके लिए, मंत्रके साधनके लिए, औषधिके बनानेके लिए और भयके प्रतीकारके लिए किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनेको अहिंसाणुव्रत कहा गया है। प्रातः और सायंकाल शरण, उत्तम और मंगल स्वरूप अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्मको नमस्कार पूर्वक उनके ध्यान करनेको, सर्व प्राणियोंपर समता भाव रखनेको, संयम धारणकी भावना करनेको और आर्त्त-रौद्रभावोंके त्यागको सामायिक व्रत कहा है। जीवनके अन्तमें सभी बहिरंग-अन्तरंग परिग्रहका त्यागकर और महाव्रतोंको धारण कर शरीर-त्यागको सल्लेखना शिक्षाव्रत कहा है। अन्तमें बताया है कि जो विधिसे उक्त व्रतोंका पालन करते हैं वे सौधर्मादि कल्पोंमें उत्पन्न होकर और वहाँसे आकर उत्तम वंशमें जन्म लेकर दीक्षित हो कर्म नष्ट कर परम पदको प्राप्त होते हैं।

परिचय और समय

यद्यपि वराङ्गचरितके अन्तमें आ० जटासिंहनन्दिने अपने परिचय और समयके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा है, तो भी उद्योतन सूरिने 'कुवलयमाला' में, जिनसेन प्रथमने 'हरिवंशपुराण' में और जिनसेन द्वितीयमें 'महापुराण' में इनका उल्लेख किया है, अतः ये उक्त आचार्योंसे पूर्ववर्ती

सिद्ध होते हैं। तदनुसार इनका समय विक्रमकी आठवीं-नवमी शताब्दीका मध्यवर्ती काल सिद्ध होता है।

वराङ्गचरितके अतिरिक्त इनकी अन्य किसी रचनाका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

८. हरिवंशपुराण—आ० जिनसेन प्रथम

आ० जिनसेन प्रथमने अपने हरिवंशपुराणके ५८वें सर्गमें श्रावकधर्मका वर्णन तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायको सामने रखकर तदनुसार ही किया है। हाँ इसमें पापोंका स्वरूप पुरुषार्थ सिद्धयुपायके समान बताकर अहिंसादि पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप कहा है। साथ ही रत्नकरण्ड श्रावकाचारके समान गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंका स्वरूप कहा है। भेद केवल इतना है कि तत्त्वार्थसूत्र-सम्मत ही गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेद कहे हैं। व्रतोंके अतीचार भी तत्त्वार्थसूत्र-सम्मत कहे हैं, परन्तु प्रत्येक अतीचारका स्वरूप भी संक्षेपसे दिया है। पाँचों अनर्थदण्डोंका स्वरूप रत्नकरण्डके समान कहा है। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके समान आठ मूलगुणोंका कोई उल्लेख नहीं किया है। किन्तु भोगोपभोग-परिमाण शिक्षाव्रतमें मद्य, मांस, मधु, द्यूत, वेश्यासेवन और रात्रिभोजनके त्यागका विधान अवश्य किया है। पाँचों व्रतोंकी भावनाएँ भी तत्त्वार्थसूत्रके सदृश कही हैं और मैत्री आदि भावनाओंका भी वर्णन किया है।

परिचय और समय

आ० जिनसेनने अपना हरिवंशपुराण शक सं० ७०५ में लिखकर पूर्ण किया है, अतः इनका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दीका मध्यभाग निश्चित है।

हरिवंशपुराण-गत उक्त श्रावकधर्मका वर्णन प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें परिशिष्टके अन्तर्गत दिया गया है।

९. महापुराण—आ० जिनसेन द्वितीय

आ० जिनसेनने अपने प्रसिद्ध महापुराणके भीतर ब्राह्मणोंकी सृष्टिका वर्णन और उनके क्रिया काण्डका विस्तृत निरूपण ३८, ३९ और ४० वें पर्वमें किया है। इन तीनों पर्वोका संकलन इस श्रावकाचार-संग्रहके प्रथम भागमें किया गया है।

दिग्विजयसे लौटनेके पश्चात् उनके (सम्राट् भरत चक्रवर्तीके) हृदयमें यह विचार जाग्रत हुआ कि मेरी सम्पत्तिका सदुपयोग कैसे हो। मुनिजन तो गृहस्थोंसे धन लेते नहीं हैं। अतः गृहस्थोंकी परीक्षा करके जो व्रती सिद्ध हुए, उनका दानमानादिसे अभिनन्दन किया और उनके लिए इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया। इज्या नाम पूजाका है। उसके नित्यमह, महामह, चतुर्मुखमह और कल्पद्रुममह भेद बता कर उसकी विधि और अधिकारी बताये। विशुद्धवृत्तिसे कृषि आदिके द्वारा जीविकोपार्जन करना वार्ता है, पुनः दत्तिके चार भेदोंका उपदेश दिया। और स्वाध्याय, संयम एवं तपके द्वारा आत्मसंस्कारका उपदेश देकर उनकी द्विज या ब्राह्मण संज्ञा घोषितकर और ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से चिन्हितकर उनके लिए विस्तारके साथ गर्भान्वयी दीक्षान्वयी और कर्त्रन्वयी क्रियाओंके करनेका जो उपदेश दिया, वही उक्त पर्वोमें आ० जिनसेनने निबद्ध किया है।

गर्भान्वयी क्रियाओंके ५३ भेदोंका विस्तृत वर्णन ३८ वें पर्वमें किया गया है। दीक्षान्वयी क्रियाओंका वर्णन ३९ वें पर्वमें किया गया है। व्रतोंका धारण करना दीक्षा है। यह व्रतोंका धारण अणुव्रत और महाव्रत रूपसे दो प्रकारका होता है। व्रत-धारण करनेके अभिमुख पुरुषकी क्रियाओं को दीक्षान्वयी क्रिया कहते हैं। इसके अवतार, वृत्तलाभ आदि आठ भेदोंका स्वरूप-निरूपणकर भरत सम्राट्ने इनका उद्देश्य कुलक्रमागत मिथ्यात्व छुड़ाकर सम्यक्त्वी और व्रती होना बताया। पुनः अतिनिकट भव्य पुरुषको प्राप्त होनेवाली कर्त्रन्वयी क्रियाओंका वर्णन किया। इनके अन्तर्गत सज्जातित्व, सद्-गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, आर्हन्त्य और निर्वृति (मुक्तिप्राप्ति) रूप सात परम स्थानोंका जो वर्णन चक्रवर्तीने किया उसे भी ३९ वें पर्वमें निबद्ध किया गया है।

सद्-गृहित्व क्रियाका वर्णन करते हुए यह आशंका की गई है कि कृषि आदि षट् कर्मोंसे आजीविका करनेवाले गृहस्थोंके हिंसा पापका दोष तो लगेगा ही। फिर उसकी शुद्धि कैसे होगी ? इसके उत्तरमें बताया गया कि पक्ष, चर्या और साधनके अनुष्ठानसे हिंसादि दोषोंकी शुद्धि होती है। सम्पूर्ण हिंसादि पापोंकी निवृत्तिका लक्ष्य रखना पक्ष कहलाता है। अहिंसादि व्रतोंका धारण करना चर्या है और जीवनके अन्तमें समाधिसे मरण करना अर्थात् संन्यास या सल्लेखनाको स्वीकार करना साधन है।

उपर्युक्त तीनों प्रकारकी क्रियाओंके जिन मंत्रोंका विधान आदि चक्रीने किया उनका वर्णन महापुराणके ४० वें पर्वमें निबद्ध किया गया है।

इस प्रकार बनाये गये ब्राह्मणका उपनयन संस्कार करते समय अणुव्रत, गुणव्रत और शीलादिसे संस्कार करनेका तथा व्रतावतरण क्रियाके समय मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बरके त्यागका उपदेश दिया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस सारे ब्राह्मण सृष्टिके समय श्रावकके व्रतोंका किञ्चिन्मात्र भी स्वरूप-निरूपण आ० जिनसेनने इन तीनों पर्वोंमेंसे कहीं पर भी नहीं किया है। ये तीनों ही पर्व क्रियाकाण्ड और उनके मंत्रोंसे भरे हुए हैं।

आ० जिनसेनके सामने उक्त क्रियाकाण्डके वर्णनका क्या आधार रहा है ? इस आशंकाका समाधान उन्होंने औपासिकसूत्र,[1] श्रावकाध्याय-संग्रह, आदिका उल्लेखकर किया है[2]।

परिचय और समय

आ० जिनसेनने जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ के फाल्गुन शुक्ल १० के दिन पूर्ण किया है और उसके पश्चात् महापुराणकी रचना की है। इससे महापुराणका रचनाकाल शक सं० ७६०-७७० के मध्य होना चाहिए। इस प्रकार इनका समय विक्रमकी नवीं शतीका उत्तरार्ध है।

आ० जिनसेन द्वितीयने महापुराणके अतिरिक्त कालिदासके प्रसिद्ध मेघदूत काव्यके पद्योंके पाद-पूर्तिके रूपमें 'पार्श्वभ्युदय' नामक एक महाकाव्यकी भी रचना की है। तथा गुणधराचार्य-विरचित सिद्धान्त ग्रन्थ कसायपाहुडके ऊपर वीरसेनाचार्य-द्वारा रचित जयधवला-टीकाके शेष अंशको आपने ही पूर्ण किया है, जो कि ४० हजार श्लोक प्रमाण है और जिससे वे सिद्धान्त ग्रन्थोंके महान् वेत्ता सिद्ध होते हैं।

---

१. महापुराण पर्व ३८ श्लोक ३४। भा० १, पृ० ३०।
२. „ „ „ ५०। „ „ ३३।

१०. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय—आ० अमृतचन्द्र

आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके अमरटीकाकार श्री अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपायकी रचना की है। इसमें उन्होंने बताया है कि जब यह चिदात्मा पुरुष अचल चैतन्यको प्राप्त कर लेता है, तब वह परम पुरुषार्थरूप मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए उन्होंने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका साङ्गोपाङ्ग अपूर्व विवेचन किया है। पुनः सम्यग्ज्ञानकी अष्टाङ्ग-युक्त आराधनाका उपदेश दिया। तदनन्तर सम्यक्चारित्रकी व्याख्या करते हुए हिंसादि पापोंकी सम्पूर्णरूपसे निवृत्ति करनेवाले यति और एकदेश निवृत्ति करनेवाले उपासकका उल्लेख कर हिंसा और अहिंसाके स्वरूपका जैसा अपूर्व वर्णन किया है, वह इसके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। उन्होंने बताया है कि किस प्रकार एक मनुष्य हिंसा करे और अनेक मनुष्य उस हिंसाके फलको प्राप्त हों, अनेकजन हिंसा करें और एक व्यक्ति उस हिंसाका फल भोगे। किसीकी अल्प हिंसा महाफलको देती है और किसीकी महाहिंसा अल्प फलको देती है इस प्रकार नाना विकल्पोंके द्वारा हिंसा-अहिंसाका विवेचन उपलब्ध जैन वाङ्मयमें अपनी समता नहीं रखता।

जो सम्पूर्ण हिंसाके त्यागमें असमर्थ हैं, उनके लिए एकदेश रूपसे उसके त्यागका उपदेश देते हुए सर्वप्रथम पाँच उदुम्बर और तीन मकारका परित्याग आवश्यक बताया और प्रबल युक्तियों से इनका सेवन करनेवालोंको महाहिंसक बताया और कहा कि इनका परित्याग करनेपर ही मनुष्य जैन धर्म धारण करनेका पात्र हो सकता है। 'धर्म, देवता या अतिथिके निमित्त की गई हिंसा हिंसा नहीं' इस मान्यताका अमृतचन्द्रने प्रबल युक्तियोंसे खंडन किया है। असत्य-भाषणादि शेष पापोंका मूल हिंसा ही है, अतः उसीके अन्तर्गत सर्व पापोंको घटाया गया है।

रात्रि भोजनमें द्रव्य और भावहिंसाका सयुक्तिक वर्णनकर अहिंसा व्रतीके लिए उसका त्याग आवश्यक बताकर गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंका सुन्दर वर्णनकर अन्तमें सभी व्रतोंके अतीचारोंका निरूपण किया है। पुनः 'समाधिमरण आत्मवध नहीं' इसका सयुक्तिक वर्णनकर मोक्षके कारणभूत १२ व्रतोंका, समता, वन्दनादि छह आवश्यकोंका, क्षमादि दशधर्मोंका, बाईस परीषहोंके सहनका उपदेश देकर कहा है कि जो व्यक्ति जितने अंशसे सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक् चारित्री होता है, उसके उतने अंशसे कर्म-बन्धन नहीं होता है। किन्तु जितने अंशमें उसके रागका सद्भाव रहता है, उतने अंशसे उसके कर्म-बन्धन होता है।

अन्तमें कहा गया है कि उद्यमके साथ मुनि पदका अवलम्बन करके और समग्र रत्नत्रयको धारणकर यह चिदात्मा कृतकृत्य परमात्मा बन जाता है। इस प्रकार चारों पुरुषार्थोंमें प्रधान मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिका इस ग्रन्थमें उपाय बताकर उसके नामकी सार्थकता सिद्ध की गई है।

श्वे० सम्प्रदायमें श्रावकधर्मका वर्णन करनेवाले दो ग्रन्थ प्रमुख हैं एक तो 'उपासकदशा सूत्र' जिसकी गणना ११ अंगोंमें की गई है, और जिसे गणधर-ग्रथित माना जाता है। और दूसरा ग्रन्थ है हरिभद्रसूरि-रचित 'सावयपण्णत्ती' या श्रावक प्रज्ञप्ति। इसकी स्वोपज्ञ संस्कृत विवृति भी है। उपासक दशाका वर्णन भ० महावीरके उपासकोंमें प्रधान आनन्द श्रावक आदिके व्रत-ग्रहण आदिके रूपमें है। किन्तु सावयपण्णत्तीमें श्रावकधर्मका क्रम-पूर्वक वर्णन है। जब हम पुरुषार्थ-सिद्धयुपायके विविध नय-गहन हिंसा-अहिंसाके विवेचनको सावयपण्णत्तीके हिंसा-अहिंसा-विषयक

वर्णनके साथ मिलान करके देखते हैं, तब यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि पुरुषार्थसिद्धयुपायके उक्त विवेचन पर सावयपण्णत्तीका स्पष्ट प्रभाव है। उक्त कथनकी पुष्टिमें अधिक उदाहरण न देकर केवल दो ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। यथा—

(१) सावयपण्णत्ती—अण्णे उ दुहियसत्ता संसारं परिअटंती पावेण।
वावाएयव्वा खलु ते तक्खवणट्ठया बिंति ॥१३३॥

पुरुषार्थसि०—बहुदुःखा संज्ञपिता प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इतिवासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

(२) सावयपण्णत्ती—सामाइयम्मि उ कए समणो -व सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसा सामाइयं कुज्जा ॥२९९॥

पुरुषार्थसि०—रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

पाठक रेखाङ्कित पदोंसे स्वयं ही समताका अनुभव करेंगे।

सावयपण्णत्तीके रचयिता हरिभद्रसूरि बहुश्रुत, प्रखर प्रतिभाके धनी एवं अनेकों संस्कृत-प्राकृत प्रकरणोंके रचयिता हैं। और उनका समय बहुत ऊहापोहके पश्चात् भट्टाकलंकदेवके समकालिक इतिहासज्ञोंने निश्चित किया है। 'विक्रमार्कशकाब्दीव' इत्यादि श्लोकके आधार कुछ विद्वान् 'विक्रमार्क' पदके आधार पर अकलंकका समय विक्रम संवत् ७०० मानते हैं और कुछ विद्वान् 'शकाब्दीय' पदके आधार पर उनका समय शकसंवत् ७०० मानते हैं। जो भी समय अकलंक देवका माना जाय, उसीके आधार पर वे अमृतचन्द्रसे पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं। अतः उनपर हरिभद्रकी सावयपण्णत्तीका प्रभाव होनेमें कोई असंगति नहीं है।

परिचय और समय

पुरुषार्थसिद्धयुपायके अनेक श्लोक जयसेनाचार्य-रचित 'धर्मरत्नाकर'में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं और जयसेनने उसे वि० सं० १०५५ में रचकर समाप्त किया है, इस आधार पर अमृतचन्द्र उनसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। पट्टावलीमें अमृतचन्द्रके पट्टारोहणका समय वि० सं० ९६२ दिया है। इस प्रकार उनका समय विक्रमकी दशवीं शताब्दी निश्चित है।

(देखो–तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा० पृ० ४०५)

पुरुषार्थसिद्धयुपाय यह आ० अमृतचन्द्रकी स्वतंत्र रचना है। इसके अतिरिक्त अभी हालमें 'लघुतत्त्वस्फोट' नामक अपूर्व ग्रन्थ और भी प्रकाशमें आया है। तत्त्वार्थसूत्रके आधार पर उसे पल्लवित करके तत्त्वसार रचा है। तथा आ० कुन्दकुन्दके महान् ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर गम्भीर टीकाएँ लिखी हैं. जिनका आज सर्वत्र स्वाध्याय प्रचलित है।

११. उपासकाध्ययन—सोमदेव

श्री सोमदेवसूरिने अपने प्रसिद्ध और महान् ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पूके छठे, सातवें और आठवें आश्वासमें श्रावकधर्मका बहुत विस्तारसे वर्णन किया है और इसलिए उन्होंने स्वयं ही उन आश्वासोंका 'उपासकाध्ययन' नाम रखा है। पाँचवें आश्वासके अन्तमें उन्होंने कहा है—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य ।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥

अर्थात्—यहाँ तकके ग्रन्थमें तो मैंने यशोधर राजाका चरित कहा। अब इससे आगे आगम-वर्णित उपासकाध्ययनको कहूँगा।

यद्यपि सोमदेवने यशोधर महाराजको लक्ष्य करके श्रावक-धर्मका वर्णन किया है, तथापि वह सभी भव्य पुरुषोंके निमित्त किया गया जानना चाहिए। इन्होंने धर्मका स्वरूप बताते हुए कहा कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो, वह धर्म है। गृहस्थका धर्म प्रवृत्तिरूप है और मुनिका धर्म निवृत्तिरूप होता है। पुनः सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्रको मोक्षका कारण बताकर उनका स्वरूप बतलाते हुए अन्य-मत-सम्मत मोक्षका स्वरूप बतलाते हुए प्रबल युक्तियोंसे उनका निरसन कर जैनाभिमत मोक्षका स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। सोमदेवने आप्त आगम और पदार्थोंके त्रिमूढतादि दोषोंसे विमुक्त और अष्ट अंगोंसे संयुक्त श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा। इस सन्दर्भमें आप्तके स्वरूपकी विस्तारके साथ मीमांसा करके आगम-वर्णित पदार्थोंकी परीक्षा की और मूढताओं-का उन्मथन करके सम्यक्त्वके आठ अंगोंका एक नवीन ही शैलीसे वर्णन कर प्रत्येक अंगमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंका चरित्र चित्रण किया। प्रस्तुत संकलनमें उनका कथा भाग छोड़ दिया गया है। इस आश्वासके अन्तमें सम्यक्त्वके भेदों और दोषोंका वर्णन कर सम्यक्त्वको महत्ता बतलायी और कहा कि सम्यक्त्वसे सुगति, ज्ञानसे कीर्त्ति, चारित्रसे पूजा और तीनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है।

दूसरे आश्वासमें तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको आठ मूलगुण बताते हुए कहा कि मांस-भक्षियोंमें दया नहीं होती, मद्य-पान करनेवालोंमें सत्य नहीं होता, तथा मधु और उदुम्बर-फलसेवियोंमें नृशंसताका अभाव नहीं होता। तदनन्तर श्रावकके १२ उत्तर गुणोंका नामोल्लेखकर पाँच अणुव्रतोंका स्वरूप और उनमें प्रसिद्ध पुरुषोंका वर्णन कर किया और कहा कि अहिंसाव्रतके रक्षार्थ रात्रि भोजन और अभक्ष्य वस्तु-भक्षणका त्याग आवश्यक है। इस प्रकरण-में उन्होंने यज्ञोंमें की जानेवाली पशु-बलिका कथानक देकर उसके दुष्परिणामको बताया। तत्पश्चात् तीनों गुणव्रतोंका निरूपण किया, जो अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी अपने आपमें पूर्ण और अपूर्व है।

तीसरे आश्वासमें चारों शिक्षाव्रतोंका वर्णन किया गया है। जिसमेंसे बहुभाग स्थान सामायिक शिक्षाव्रतके वर्णनने लिया है। सोमदेवने आप्तसेवा या देवसेवा सामायिक शिक्षाव्रत कहा है। अतएव उन्होंने इस प्रकरणमें स्नपन (अभिषेक),पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान, और श्रुतस्तव इन छह कर्त्तव्योंका करना आवश्यक बताकर उनका जैसा विस्तारसे वर्णन किया है, वैसा किसी श्रावकाचारमें नहीं मिलेगा।

यहाँ यह बात विचारणीय है कि जब समन्तभद्रने देवपूजाको चौथे वैयावृत्य शिक्षाव्रतके अन्तर्गत कहा है, तब सोमदेवने उसे सामायिक शिक्षा व्रतके अन्तर्गत क्यों कहा? आचार्य जिनसेनने इज्या (पूजा) के भेदोंका वर्णन करते हुए भी उसे किसी व्रतके अन्तर्गत न करके एक स्वतन्त्र कर्त्तव्यके रूपसे उसका प्रतिपादन किया है। देव-पूजाको वैयावृत्यके भीतर कहनेको समन्तभद्रकी दृष्टि स्पष्ट है, वे उसे देव-वैयावृत्य मानकर तदनुसार उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। पर सोमदेवके कथनके अन्तस्तलमें प्रवेश करनेपर ज्ञात होता है कि अन्य मतावलम्बियोंमें

४

प्रचलित त्रिसन्ध्या-पूजनका समन्वय करनेके लिए उन्होंने ऐसा किया है, क्योंकि सामायिकके त्रिकाल करनेका विधान सदासे प्रचलित रहा है। जैसा कि समन्तभद्र द्वारा सामायिक-प्रतिमाके वर्णनमें 'त्रिसन्ध्यमभिवन्दी' पद देनेसे स्पष्ट है।

पूजनके इस प्रकरणमें सोमदेवने उसकी दो विधियोंका वर्णन किया है—एक तदाकार मूर्तिपूजन विधि और दूसरी अतदाकार सांकल्पिक पूजन विधि। प्रथम विधिमें स्नपन और अष्ट-द्रव्यसे अर्चन प्रधान है और द्वितीय विधिमें आराध्यदेवकी आराधना, उपासना या भावपूजा प्रधान है। सामायिकका काल यतः तीनों सन्ध्याएँ हैं अतः उस समय गृहस्थ गृह-कार्योंसे निर्द्वन्द्व होकर अपने उपास्यदेवकी उपासना करे, यही उसकी सामायिक है। इस प्रकरणमें सोमदेवने त्रैकालिक सामायिककी भावना करते हुए कहा है—

> प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
> सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्त्तनकामितेन॥

अर्थात्—हे देव, मेरा प्रातःकालका समय तेरे चरणारविन्दके पूजन-द्वारा, मध्याह्नकाल मुनिजनोंके सम्मान करनेसे और सायंकाल तेरे आचरणके कीर्त्तनसे व्यतीत होवे।

(देखो भा० १ पृ० १८५ श्लो० ५२९)

सोमदेवके इस कथनसे एक और नवीन बात पर प्रकाश पड़ता है, वह यह कि उनकी दृष्टिमें प्रातःकाल मौन-पूर्वक पूजनको, मध्याह्नमें भक्ति पूर्वक दिये गये मुक्तिदानको और सायंकाल किये गये स्तोत्र-पाठ, तत्त्व-चर्चा, आप्त-चरित चिन्तन आदिको गृहस्थकी त्रैकालिक सामायिक मान रहे हैं।

अन्तमें शेष शिक्षाव्रतोंका वर्णन और ११ प्रतिमाओंका दो श्लोकोंमें नामोल्लेख कर अपने कथनका उपसंहार किया है। सोमदेवने पाँचवीं प्रतिमाका 'अकृषि। क्रिया' और आठवीं प्रतिमाका 'सचित्तत्याग' नाम दिया है। प्रचलित दि० परम्पराके अनुसार 'सचित्तत्याग पाँचवीं और कृषि आदि आरम्भोंका त्याग आठवीं प्रतिमा है' पर सोमदेवके तर्क-प्रधान चित्तको यह क्रम नहीं जँचा कि कोई व्यक्ति सचित्त भोजन और स्त्रीका परित्यागी होनेके पश्चात् भी कृषि आदि पापारम्भवाली क्रियाओंको कर सकता है? अतः उन्होंने आरम्भ त्यागके स्थान पर सचित्त त्यागको और सचित्त-त्यागके स्थानपर आरम्भ-त्याग प्रतिमाको गिनाया। श्वे० आचार्य हरिभद्रने भी सचित्तत्यागको आठवीं प्रतिमा माना है। सोमदेवके पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी दि० आचार्य-द्वारा उनके इस मतकी पुष्टि नहीं दिखायी देती हैं।

सोमदेवसूरिने पूजनके प्रकरणमें गृहस्थोंके लिए कुछ ऐसे कार्य करनेको कहा है जिन पर कि ब्राह्मण धर्मका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। जैसे—बाहिरसे आनेपर आचमन किये बिना घरमें प्रवेश करनेका निषेध और भोजनकी शुद्धिके लिए होम और भूतबलिका विधान।

(देखो—भा० १ पृ० १७२ श्लोक ४३७ तथा ४४०)

स्मृति ग्रन्थोंमें भोजनसे पूर्व होम और भूतबलिका विधान पाया गया है। भोज्य अन्नको अग्निमें हवन करना होम कहलाता है। तथा भोजनसे पूर्व प्रथम ग्रासको देवतादिके उद्देश्यसे निकालना बलि है। इनको स्मृतिकारोंने वैश्वदेव कहा है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि वैश्व-देवको नहीं करके यदि ब्राह्मण भोजन करता है, तो वह मूढ पुरुष नरक जाता है। यथा—

'अकृत्वा वैश्वदेवं तु यो भुंक्ते ना यदि द्विजः। स मूढो नरकं याति' (स्मृतिचन्द्रिका पृ० २१३)

किन्तु स्वयं सोमदेवको उक्त विधान जैन परम्परामें नहीं होनेसे खटकता रहा। इसलिए उसके बाद ही वे लिखते हैं—

एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रियाः।
दर्भ-पुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत् ॥४४१॥

अर्थात्—डाभ, पुष्प, अक्षत आदिके विधानके समान होम, भूतबलि आदि करनेसे न तो धर्म होता है और नहीं करनेसे न अधर्म ही होता है।

अन्तमें एक प्रकीर्णक-प्रकरण-द्वारा अनेक अनुक्त या दुरुक्त बातोंका स्पष्टीकरण कर सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनको समाप्त किया है।

समय और परिचय

यशस्तिलकचम्पूकी अन्तिम प्रशस्तिके अनुसार सोमदेव देवसंघके आचार्य यशोदेवके प्रशिष्य और नेमिदेवके शिष्य थे। 'स्याद्वादाचलसिंह', 'तार्किक चक्रवर्ती' वादीभपंचानन, वाक्-कल्लोल-पयोनिधि और कविकुल राजकुंजर आदि उपाधियोंसे वे विभूषित थे। इनके यशस्तिलकके सिवाय नीतिवाक्यामृत नामके दो अन्य ग्रन्थ भी मुद्रित हो चुके हैं। नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि इन्होंने 'षण्णवतिप्रकरण', 'महेन्द्र-मातलि-संजल्प' और 'युक्तिचिन्तामणिस्तव' नामक ग्रन्थोंकी भी रचनाकी थी, पर अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुए हैं।

सोमदेवने अपना यह उपासकाध्ययन शक सं० ८८१ में रचकर समाप्त किया है, तदनुसार इसका रचना-समय विक्रम सं० १०१६ है।

सोमदेवके द्वारा रचे गये उक्त यशस्तिलकचम्पूके सिवाय नीतिवाक्यामृत और अध्यात्म-तरङ्गिणी नामक दो ग्रन्थ और भी प्रकाशमें आ चुके हैं। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा रचे गये 'युक्तिचिन्तामणिस्तव', 'त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प', 'षण्णवतिप्रकरण' और 'स्याद्वादोपनिषद्' नामके ग्रन्थोंके भी उल्लेख मिलते हैं, जिनसे उनकी अपूर्व विद्वत्ताका पता चलता है। अकेला यशस्तिलक ही भारतीय संस्कृत-साहित्यमें अपूर्व ग्रन्थ है।

१२. अमितगतिश्रावकाचार—आचार्य अमितगति

आचार्य सोमदेवके पश्चात् संस्कृत साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य अमितगति हुए हैं। इन्होंने विभिन्न विषयोंपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। श्रावकधर्मपर भी एक स्वतन्त्र उपासका-ध्ययन बनाया है जो अमितगति-श्रावकाचार नामसे प्रसिद्ध है। इसमें १४ परिच्छेदोंके द्वारा श्रावक-धर्मका बहुत विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेदमें धर्मका माहात्म्य, दूसरेमें मिथ्यात्वकी अहितकारिता और सम्यक्त्वकी हितकारिता, तीसरेमें सप्ततत्त्व, चौथेमें आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और ईश्वर-सृष्टिकर्तृत्वका खंडन किया गया है। अन्तिम तीन परिच्छेदोंमें क्रमशः शील, द्वादश तप और बारह भावनाओंका वर्णन है। मध्यवर्ती परिच्छेदोंमें रात्रिभोजन, अनर्थदण्ड, अभक्ष्य भोजन, तीन शल्य, दान, पूजा और सामायिकादि षट् आवश्यकोंका वर्णन है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन एक ही परिच्छेदमें किया गया है और श्रावकधर्मके प्राणभूत ग्यारह प्रतिमाओंके वर्णनको तो एक स्वतन्त्र परिच्छेदकी भी आवश्यकता नहीं समझी गई है। मात्र ११ श्लोकोंमें बहुत ही साधारण ढंगसे उनका स्वरूप कहा गया है। स्वामी समन्तभद्रने भी एक-एक श्लोकके द्वारा ही एक-एक प्रतिमाका वर्णन किया है, पर वह सूत्रात्मक होते हुए भी बहुत विशद और गम्भीर है। प्रतिमाओंके नामोल्लेखनमात्र करनेका आरोप सोमदेवपर भी लागू है। इन्होंने प्रतिमाओंका वर्णन क्यों नहीं किया, यह बात विचारणीय है।

अमितगतिने सप्त व्यसनोंका वर्णन यद्यपि ४६ श्लोकोंमें किया है, पर बहुत पीछे। यहाँ तक कि १२ व्रत, समाधिमरण और ११ प्रतिमाओंका वर्णन करनेके पश्चात् स्फुट विषयोंका वर्णन करते हुए। क्या अमितगति वसुनन्दिके समान सप्त व्यसनोंके त्यागको श्रावकका आदि कर्तव्य नहीं मानते थे?

अमितगतिने गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नामोंमें उमास्वातिका और स्वरूप वर्णनमें सोमदेवका अनुसरण किया है। पूजनके वर्णनमें देवसेनका अनुसरण करते हुए भी अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। निदानके प्रशस्त-अप्रशस्त भेद, उपवासकी विविधता, आवश्यकोंमें स्थान, आसन, मुद्रा, काल आदिका वर्णन अमितगतिके श्रावकाचारकी विशेषता है। यदि संक्षेपमें कहा जाये तो पूर्ववर्ती श्रावकाचारोंका दोहन और उनमें नहीं कहे गये विषयोंका प्रतिपादन करना ही अमितगतिका लक्ष्य रहा है।

परिचय और समय

अमितगतिके प्रस्तुत श्रावकाचारके अतिरिक्त सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, सं० पंच संग्रह, आराधना, भावनाद्वात्रिंशिका ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। तथा इनके द्वारा रची गई चन्द्रप्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति और सार्धद्वयद्वीप प्रज्ञप्तिका भी उल्लेख मिलता है, पर अभी तक वे अप्राप्त हैं।

सुभाषितरत्नसंदोहकी रचना वि० सं० १०५० में और धर्मपरीक्षा वि० सं० १०७० में लिखकर समाप्त की है। प्रस्तुत श्रावकाचारके अन्तमें रचनाकाल नहीं दिया है, तो भी उक्त आधारसे विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध उनका समय सिद्ध है।

१३. चारित्रसार-गत-श्रावकाचार—चामुण्डराय

श्रीचामुण्डरायने मुनि और श्रावकधर्मके प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थोंका दोहन करके गद्य रूपसे संस्कृतभाषामें चारित्रसार नामके ग्रन्थकी रचना की है। उनमेंसे श्रावकधर्म-प्रतिपादक पूर्वार्ध प्रस्तुत संग्रहके प्रथम भागमें संगृहीत है।

चारित्रसारमें ग्यारह प्रतिमाओंके आधारपर श्रावकधर्मका वर्णन किया गया है। दर्शन प्रतिमाका वर्णन करते हुए एक प्राचीन पद्य उद्धृत करके बताया गया है कि सम्यक्त्व संसार-सागरमें निर्वाण द्वीपको जानेवाले भव्य सार्थवाहके जहाजका कर्णधार है। इस प्रतिमाधारीको सप्त भयोंसे मुक्त और अष्ट अंगोंसे युक्त होना चाहिए।

व्रत प्रतिमावालेको पंच अणुव्रतोंके साथ रात्रिभोजन त्याग नामके छठे अणुव्रतको धारण करनेका विधान करते हुए अपने कथनकी पुष्टिमें एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। अणुव्रतोंके

वर्णनमें अतिचारोंकी व्याख्या भी की है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतको शीलसप्तक कहा है। उनके नाम तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार हैं। पांच अनर्थ दण्डोंका वर्णन रत्नकरण्डकके आधारपर है।

बारह व्रतोंके वर्णनके पश्चात् कहा गया है कि हिंसादि पंच पापोंसे रहित पुरुषको द्यूत, मद्य और मांस-सेवनका अवश्य परिहार करना चाहिए। इन तीनोंके सेवन करके महा दुःख पाने-वालोंके कथानक भी दिये गये हैं।

सामायिकादि शेष प्रतिमाओंका वर्णन रत्नकरण्डके ही समान है। केवल छठी प्रतिमाका वर्णन दिवा ब्रह्मचारीके रूपमें किया गया है। ग्यारहवीं प्रतिमाके भेद न करके उसे एक शाटकधर, भिक्षाभोगी पाणिपात्रसे बैठकर खानेका विधान किया गया है। उसे रात्रि प्रतिमादि विविध तपका धारक और आतापनादि योगसे रहित होना चाहिए।

उक्त ग्यारह प्रतिमाओंके आधारपर श्रावकधर्मका वर्णन करनेके पश्चात् महापुराणके अनु-सार पक्ष, चर्या और साधनका वर्णन तथा सोमदेवके उपासकाध्ययनका श्लोक उद्धृतकर श्रावकके ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक इन चार आश्रमोंका वर्णनकर ब्रह्मचारीके उपनय, अवलम्ब, दीक्षा, गूढ और नैष्ठिकके रूपमें पाँच प्रकारोंका स्वरूप दिया गया है।

तदनन्तर महापुराणके अनुसार इज्या, वार्ता आदि षट् कर्तव्योंका वर्णनकर जिनरूपधारी भिक्षुओंके अनगार, यति, मुनि और ऋषि ये चार भेद बताकर उनके स्वरूपको भी कहा गया है। अन्तमें मारणान्तिकी सल्लेखनाका वर्णन किया गया है।

परिचय और समय

चामुण्डराय महाराज मारसिंह राजमल्ल द्वितीयके प्रधान मंत्री थे। इन्होंने अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्तकर 'वीरमार्तण्ड, रणरङ्गसिंह, समर धुरन्धर और वैरिकुल कालदण्ड' आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त की थीं। श्री अजितसेन और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीसे आगम और सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करके जो धार्मिक आचरण किया था उसके फलस्वरूप इन्हें 'सम्यक्त्वरत्नाकर', शौचा-भरण और सत्ययुधिष्ठिर' जैसी उपाधियोंसे अलंकृत किया गया था। इनकी कनड़ी मातृभाषा थी और उसमें उन्होंने 'त्रिषष्टिपुराण' रचा तथा संस्कृत भाषाके पारंगत विद्वान् थे, इसमें गद्य रूपसे श्रावक और मुनिधर्मके साररूप चारित्रसार लिखा।

चामुण्डरायने अपने उक्त पुराणको शक सं० ९०० में पूर्ण किया और श्रवणबेलगोलामें बाहुबलीकी संसार-प्रसिद्ध मूर्तिकी प्रतिष्ठा उसके तीन वर्ष बाद की। अतः इनका समय विक्रमकी दशवीं शतीका पूर्वार्ध निश्चित है।

१४. वसुनन्दि श्रावकचार—आचार्य वसुनन्दि

आचार्य वसुनन्दि आचारधर्म और सिद्धान्त ग्रन्थोंके महान् विद्वान् थे। इन्होंने मुनिधर्म-प्रतिपादक मूलाचारकी संस्कृत टीका रची और श्रावकधर्मका निरूपण करनेके लिए श्रावकाचार रचा। जो कि प्रस्तुत संग्रहके प्रथम भागमें संकलित है।

आचार्य वसुनन्दिने ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावकधर्मका वर्णन किया है। उन्होंने सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावकको सप्त व्यसनोंका त्याग आवश्यक बताकर व्यसनोंके दुष्फल-

का विस्तारसे वर्णन किया। बारह व्रतों और ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन गणधर-ग्रथित माने जाने-वाले श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्रके अनुसार किया गया है और उसकी गाथाओंका ज्यों-का-त्यों अपने श्रावकाचारमें संग्रह कर लिया है। उनकी विगत इस प्रकार है—

श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्र-गाथाङ्क					वसुनन्दि श्रावकाचार-गाथाङ्क		
१	दर्शन प्रतिमा	,,	,,	१	,,	,,	५७, २०५
२	व्रत प्रतिमा	,,	,,	२	,,	,,	२०७
३	सामायिक	,,	,,	३	,,	,,	२७५
४	प्रोषध	,,	,,	४	,,	,,	२८०
५	सचित्त त्याग	,,	,,	५	,,	,,	२९५
६	रात्रि भक्त	,,	,,	६	,,	,,	२९६
७	ब्रह्मचर्य	,,	,,	७	,,	,,	२९७
८	आरम्भव्यता	,,	,,	८	,,	,,	२९८
९	परिग्रह त्याग	,,	,,	९	,,	,,	२९९
१०	अनुमति त्याग	,,	,,	१०	,,	,,	३००
११	उद्दिष्ट त्याग	,,	,,	११	,,	,,	३०१

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि आचार्य वसुनन्दिने श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्रकी ग्यारहवीं गाथा छोड़ दी है, जो कि इस प्रकार है—

णवकोडीसु विसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भुज्जं।
जायणरहियं जोग्गं एयारस सावओ सो दु॥

अर्थात्—जो भिक्षावृत्तिसे याचना-रहित और नौ कोटिसे विशुद्ध योग्य भोजनको करता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक है।

इस गाथाको क्यों छोड़ दिया? इसका उत्तर यह है कि उन्हें इस प्रतिमाधारीके दो भेद बतलाना अभीष्ट था और उक्त गाथामें दो भेदोंका कोई संकेत नहीं है।

इस श्रावकाचारमें जिन-पूजन और जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठाका विस्तारसे वर्णन किया गया है और धनियाँके पत्ते बराबर जिनभवन बनवाकर सरसोंके बराबर प्रतिमा-स्थापनका महान् फल बताया गया है। इस कथनको परवर्ती अनेक श्रावकाचार-रचयिताओंने अपनाया है। भाव पूजनके अन्तर्गत पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका भी विस्तृत वर्णन किया गया है। अष्ट द्रव्योंसे पूजन करनेके फलके साथ ही छत्र, चमर और घण्टा-दानका भी फल बताया गया है। विनय और वैयावृत्य तप-का भी यथास्थान वर्णनकर श्रावकोंको उनके करनेकी प्रेरणा की गई है।

परिचय और समय

आचार्य वसुनन्दिने प्रतिष्ठा संग्रहकी रचना और मूलाचारकी टीका संस्कृतमें की, तथा प्रस्तुत श्रावकाचारको प्राकृतिक भाषामें रचा है, उससे सिद्ध है कि ये दोनों ही भाषाओंके विद्वान् थे। वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचारके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है उसके अनुसार उनके दादा गुरुने 'सुदंसणचरिउ' की रचना वि० सं० ११०० में पूर्ण की है। उन्होंने जिन शब्दोंमें अपने दादा गुरुका

प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है उससे यह ध्वनित होता है कि वे उनके सामने विद्यमान रहे हैं। अतः विक्रमकी बारहवीं शतीका पूर्वार्ध उसका समय जानना चाहिए।

१५. सावयधम्मदोहा—देवसेन या लक्ष्मीचन्द्र (?)

अपभ्रंश भाषामें रचित दोहात्मक इस ग्रन्थमें श्रावकधर्मका वर्णन संक्षेपमें सरल शब्दोंके द्वारा किया गया है। प्रारम्भमें मनुष्यभवकी दुर्लभता बताकर वीतराग देव, उनके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरुके श्रद्धानका उपदेश देकर ग्यारह प्रतिमारूप श्रावकधर्मका निर्देश किया गया है। प्रथम प्रतिमाधारीको पंच उदुम्बर और सप्तव्यसनके त्यागके साथ निर्दोष सम्यक्त्वका पालना आवश्यक है। इस प्रकारसे एक-एक दोहेमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन वसुनन्दिके समान ही किया गया है और उन्हींके समान ग्यारहवीं प्रतिमाका वर्णन दोनों भेदोंके साथ किया है।

तत्पश्चात् पाँच उदुम्बरफल और तीनों मकारोंके त्यागरूप आठ मूलगुणका वर्णन, अगालित जल-पानका निषेध, चर्मस्थित घृत-तेलादिका परिहार, पात्र-कुपात्रादिको दान देनेका फल, उपवासका माहात्म्य, इन्द्रिय-विषयों एवं कषायोंके जीतनेका उपदेश, चारों गतियोंके कर्म-बन्धोंका निरूपण और धर्म-धारण करनेका सुफल बताकर जिनेन्द्रदेवके अभिषेक-पूजन करनेकी प्रेरणा की गई है।

अन्तमें जिनालय, जिन-बिम्ब-निर्माणका उपदेश देकर जिन-मन्दिरमें तीन लोकके चित्र आदि लिखानेका फल बताकर 'अर्हं' आदि मंत्रोंके जाप-ध्यानकी प्रेरणाकर ग्रन्थ पूरा किया गया है। संक्षेपमें कहा जाय तो सरल शब्दोंमें वर्तमान कालके अनुरूप श्रावकधर्मका वर्णन कर 'सावय-धम्मदोहा' इस नामको सार्थक किया गया है। परवर्ती अनेक श्रावकाचारोंमें इसके अनेक दोहे उद्धृत किये गये हैं।

अभी तक इसके रचयिताका निर्णय नहीं हो सका है। दोहाङ्क २२४ के पश्चात् 'कारंजा' भण्डारकी एक प्रतिमें निम्न-लिखित एक दोहा अधिक पाया जाता है—

> इय दोहा बद्ध वयधम्मं देवसेणें उवदिट्ठु।
> लहु अक्खर मत्ताहीणयो पय सयण खमंतु॥

अर्थात्—इस प्रकार देवसेनने इस दोहा बद्ध श्रावकधर्मके व्रतोंका उपदेश दिया। इसमें लघु अक्षर और मात्रासे हीन जो पद हों उन्हें सज्जन क्षमा करें।

अनेक प्रतियोंके अन्तमें इसे श्री लक्ष्मीचन्द्र-रचित होनेका भी उल्लेख मिलता है।

यथा—पाटोदी जैनमन्दिर जयपुरकी प्रति जो वि० सं० १५५५ के कार्तिक सुदि १५ सोमवार-की लिखी है, तथा ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावरकी प्रति जो वि० सं० १६०९ के चैत्रवदि ९ रविवारकी लिखी है इन दोनोंमें स्पष्टरूपसे 'इति श्रावकाचार दोहकं लक्ष्मीचन्द्रकृतं समाप्तम्' लिखा है। भाण्डारकर रि० इं० पूनाकी एक प्रति जो वि० सं० १५९९ की लिखी है उसके अन्तमें लिखा है—'इति उपासकाचारे आचार्य लक्ष्मीचन्द्र विरचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि'।

किसी किसी प्रतिमें इसका कर्ता जोइन्दु या योगीन्द्र भी लिखा मिलता है। भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूनाकी एक सटीक प्रतिमें लिखा है—

'मूलं योगीन्द्रदेवस्य लक्ष्मीचन्द्रस्य पञ्जिका'

अर्थात् मूलग्रन्थ योगीन्द्र देवका और पंजिका लक्ष्मीचन्द्रकी है। यदि 'योगीन्द्र' पदको देवका विशेषण माना जावे तो इसे देवसेन-रचित माना जा सकता है, क्योंकि देवसेन-रचित भाव-संग्रहकी अनेक गाथाओंका और इसके अनेक दोहोंका परस्पर बहुत सादृश्य पाया जाता है। देवसेनने अपना दर्शनसार वि० सं० ९९० में बनाकर समाप्त किया है। अत: उनका समय विक्रमकी दशवीं शताब्दी निश्चित है।

१६. सागारधर्मामृत—पं० आशाधर

पण्डित-प्रवर आशाधरजीने अपनेसे पूर्ववर्ती समस्त दि० और श्वे० श्रावकाचार रूप समुद्रका मन्थन कर अपने 'सागारधर्मामृत' की रचना की है। किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य-द्वारा वर्णित कोई भी श्रावकका कर्तव्य इनके वर्णनसे छूटने नहीं पाया है। आपने श्रावकधर्मके प्रतिपादन करनेवाले तीनों प्रकारोंका एक साथ वर्णन करते हुए उनके निर्वाहका सफल प्रयास किया है। आपने सोमदेवके उपासकाध्ययन और नीतिवाक्यामृतका, तथा हरिभद्रसूरिकी श्रावक प्रज्ञप्तिका भरपूर उपयोग किया है। व्रतोंके समस्त अतीचारोंकी व्याख्या पर श्वे० आचार्योंकी व्याख्याका प्रभाव ही नहीं, बल्कि शब्दश: समानता भी है। उक्त कथनकी पुष्टिके लिए एक उद्धरण यहाँ दिया जाता है—

श्वे० उपासकदशासूत्र—थूलगमुसावायवेरमणं पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—कण्णालियं
गोवालियं भोमालियं णासावहारो कूडसक्खेसंधिकरणे।

इस सूत्रको हरिभद्रसूरिने इस प्रकारसे गाथाबद्ध किया है—

श्वे० सावयपण्णत्ती—थूलमुसावायस्स उ विरई दुच्चं स पंचहा होई।
कन्ना-गो-भुआलिय-नासहरण-कूडसक्खिज्जे ॥२६०॥

सागारधर्मामृत—कन्या-गो-क्ष्मालीक-कूटसाक्ष्य-न्यासापलापवत्।
स्यात् सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥ अ० ४ श्लो० ४० ॥

हरिभद्रसूरिकी श्रावकप्रज्ञप्तिके उत्तरार्धको सागारधर्मामृतके श्लोकके पूर्वार्धमें लिया गया है और चतुर्थ चरणमें रत्नकरण्डकके श्लोक ५५ के द्वितीय चरणको अपनाया गया है।

उक्त सावयपण्णत्तीपर हरिभद्रसूरिने स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी लिखी है, उसमें व्रतोंके अतीचारोंकी जैसी व्याख्या की गई है, और परवर्ती श्वे० हेमचन्द्र आदिने अतीचारोंका जिस रूपसे वर्णन किया है, उसे आशाधरजीने ज्यों का त्यों अपना लिया है। इसके लिए अचौर्य और ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतीचारोंकी व्याख्या खास कर अवलोकनीय है।

सप्त व्यसनोंके एवं अष्टमूलगुणोंके अतीचारोंका वर्णन सागारधर्मामृतके पूर्ववर्ती किसी भी श्रावकाचारमें नहीं पाया जाता। श्रावककी दिनचर्या और साधककी सल्लेखनाका वर्णन भी बहुत सुन्दर किया गया है। सागारधर्मामृत यथार्थमें श्रावकोंके लिए धर्मरूप अमृत ही है।

पं० आशाधरजीने सटीक सागारधर्मामृतके अतिरिक्त १. सटीक अनगारधर्मामृत, २. ज्ञान दीपिका पंजिका, ३. अध्यात्मरहस्य, ४. मूलाराधनाटीका, ५. इष्टोपदेशटीका, ६. भूपालचतुर्विंशति-

स्तोत्र टीका, ७. आराधनासार टीका, ८. अमरकोष टीका, ९. काव्यालंकार टीका, १०. सटीक सहस्रनामस्तवन, ११. सटीक जिनयज्ञकल्प, १२. क्रियाकलाप, १३. राजमतीविप्रलम्भ, १४. त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, १५. नित्यमहोद्योत, १६. रत्नत्रयविधान, १७. अष्टाङ्गहृदयोद्योतिनी टीका, १८. प्रमेयरत्नाकर और १९. भरतेश्वराभ्युदय काव्य।

इस प्रकार पं० आशाधरजीने विशाल परिमाणमें धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, वैद्यक, अध्यात्म, पूजन-विधान एवं काव्य-साहित्यका सर्जन किया है। उनकी उक्त रचनाओंसे उनके महान् पाण्डित्य-का परिचय मिलता है। उक्त ग्रन्थोंमेंसे प्रमेयरत्नाकर, भरतेश्वराभ्युदय आदि रचनाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं, जिनका अन्वेषण आवश्यक है।

पं० आशाधरजीने अनगारधर्मामृतकी प्रशस्तिमें उक्त ग्रन्थोंके रचे जानेकी सूचना दी है और उसकी स्वोपज्ञ टीका वि० सं १३०० में रचकर पूर्ण की है। संभवतः उनकी यही अन्तिम रचना है। अन्य रचनाएँ वि० सं० १२६१ से लेकर वि० सं० १३०० के मध्यमें हुई हैं। अतः उनका समय तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित रूपसे जानना चाहिए।

१७. धर्मसंग्रह श्रावकाचार—पं० मेधावी

अपने पूर्ववर्ती समन्तभद्र, वसुनन्दि और आशाधरके श्रावकाचारोंका आश्रय लेकर पं० मेधावीने अपने धर्मसंग्रह श्रावकाचारकी रचना की है, ऐसा उन्होंने प्रशस्तिके श्लोक २३ में स्वयं उल्लेख किया है। पर यथार्थमें आशाधरके सागारधर्मामृतके प्रत्येक श्लोकके कुछ शब्द बदलकर पूर्ण-रूपसे अनुकरण किया है। हाँ कहीं-कहीं स्थान-परिवर्तन अवश्य किया गया है। यथा—

(१) सागार० अ० २—धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम्।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत्॥ ६०॥

धर्मसं० श्रा० अ० ६—कुलवृत्तोन्नतिं धर्मसन्ततिं स्वेच्छया रतिम्।
देवादीष्टिं च वाञ्छन् सत्कन्यां यत्नात्सदा वहेत्॥ २०५॥

(२) सागार ध० अ० २—सुकलत्रं विना पात्रे भूहेमादिव्ययो वृथा।
कीटैर्दंदश्यमानेऽन्तः कोऽम्बुसेकाद् द्रुमे गुणः॥ ६१॥

धर्मसं० श्रा० अ० ६—धर्मपत्नीं विना पात्रे दानं हेमादिकं मुधा।
कीटैर्वाभुज्यमानेऽन्तः कोऽम्भः सेकाद् गुणो द्रुमे॥ २०६॥

उक्त दोनों उद्धृत श्लोकोंके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है, केवल शब्द-परिवर्तन एवं स्थान परिवर्तन ही किया गया है। इसी प्रकार दोनों ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेवाले संस्कृतपाठी पाठक सागारधर्मामृतका अनुसरण सर्वत्र देखेंगे।

प्रस्तुत श्रावकाचारका प्रारम्भ कथा-ग्रन्थोंके समान मगधदेश तथा श्रेणिक नरेशके वर्णनसे किया गया है और इसी वर्णनमें प्रथम अधिकार समाप्त हुआ है। दूसरे अधिकारमें वनपाल-द्वारा भ० महावीरके विपुलाचल पर पधारनेकी सूचना मिलने पर राजा श्रेणिकका भगवान्‌की वन्दनाको जानेका और समवशरणका विस्तृत वर्णन है। तीसरे अधिकारमें श्रेणिकका भगवान्‌की वन्दना-स्तुति करके मनुष्योंके कोठेमें बैठना और उपदेश सुनकर व्रत-नियमादिके विषयमें पूछने पर गौतम गणधर-द्वारा धर्मका उपदेश प्रारम्भ किया गया है। अतएव इस प्रस्तुत संग्रहमें उक्त तीन अधिकार

उपयोगी न होनेसे नहीं दिये गये हैं और चौथे अधिकारको प्रथम मानकर आगेके सब अधिकार दिये गये हैं। ग्रन्थकी प्रशस्ति बहुत विस्तृत होनेसे इस भागके परिशिष्टमें दी गई है।

यद्यपि इस श्रावकाचारका प्रारम्भ गौतम गणधरसे कराया गया है, तो भी पं० मेधावी उसका अन्त तक निर्वाह नहीं कर सके हैं', यह बात बीच-बीचमें दिये गये 'यथोक्तं पूर्वसूरिभिः' (अ० ४ श्लो० ७३) 'आशाधरोदित' (अ० ४ श्लो० १३१) 'एतद्ग्रन्थानुसारेण' (अ० ५ श्लो० ४) आदि वाक्योंसे सिद्ध है।

इसके प्रथम अधिकारमें सम्यक्त्व और उसके महत्त्वका वर्णन है। दूसरे अधिकारमें प्रथम दर्शन प्रतिमाका वर्णन और अष्टमूल गुणोंका निरूपण तथा काक-मांस-त्यागी खदिरसारका कथानक है। तीसरेमें पंच अणुव्रतोंका, चौथेमें गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका वर्णन कर आशाधर-प्रतिपादित दिनचर्याका निर्देश किया गया है।

पाँचवें अधिकारमें सामायिक प्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमाका वर्णन है। छठे अधिकारमें अणुव्रतोंके रक्षणार्थ समितियोंका, चार आश्रमोंका इज्या, वार्तादि षट्कर्मोंका, पूजनके नाम-स्थानादि छह्प्रकारोंका और दत्ति आदिका विस्तृत वर्णन है। सातवें अधिकारमें सल्लेखनाका वर्णन है।

सूतक-पातकका वर्णन सर्वप्रथम इसीमें मिलता है।

अन्तिम प्रशस्तिमें पंच परमेष्ठीका स्तवन और शान्ति-मंगल-पाठ बहुत सुन्दर एवं नित्य पठनीय हैं।

प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि ये अग्रवाल जातिके से उद्धरण और उनकी पत्नी भीषुहीके पुत्र तथा श्रीजिनचन्द्रसूरिके शिष्य थे। पं० मेधावीने इस श्रावकाचारका प्रारम्भ हिसारमें किया और समापन नागपुर (नागौर राजस्थान) में वि० सं० १५४१ की कार्तिककृष्णा १३ के दिन किया। अतः विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध इनका समय जानना चाहिए।

इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थके सिवाय किसी अन्य ग्रन्थकी रचना की, यह इनकी प्रशस्तिसे ज्ञात नहीं होता है।

१८. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—श्री सकलकीर्त्ति

आचार्य सकलकीर्त्ति संस्कृत भाषाके प्रौढ विद्वान् थे। इनके द्वारा संस्कृतमें रचित २९ ग्रन्थ और राजस्थानीमें रचित ८ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। मूलाचार प्रदीपमें मुनिधर्मका और प्रस्तुत श्रावकाचारमें श्रावक धर्मका विस्तारसे वर्णन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये आचार शास्त्रके महान् विद्वान् थे। सिद्धान्तसारदीपक, तत्त्वार्थसारदीपक, कर्मविपाक और आगमसार आदि करणानुयोग और द्रव्यानुयोगके ग्रन्थ हैं। शान्तिनाथ, मल्लिनाथ और वर्धमानचरित आदि प्रथमानुयोगके ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त पचपरमेष्ठिपूजा, गणधर वलयपूजा आदि अनेक पूजाएँ और समाधिमरणोत्साहदीपक आदिकी रचनाओंको करके इन्होंने अपनी बहुश्रुतज्ञताका परिचय दिया है।

प्रस्तुत श्रावकाचार संग्रहके द्वितीय भागमें इनका प्रश्नोत्तर श्रावकाचार संकलित है। इसकी श्लोक संख्या २८८० है और यह सभी श्रावकाचारोंसे बड़ा है। शिष्यके प्रश्न करनेपर उत्तर देनेके रूपमें इसकी रचना की गई है। इसके २४ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें धर्मकी

महत्ता, दूसरेमें सम्यग्दर्शन और उसके विषयभूत सप्त तत्त्वोंका एवं पुण्य-पापका विस्तृत वर्णन, तीसरेमें सत्यार्थ देव, गुरु, धर्म और कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका विस्तृत वर्णन है। चौथे परिच्छेदसे लेकर दशवें परिच्छेद सम्यक्त्वके आठों अंगोंमें प्रसिद्ध पुरुषोंके कथानक दिये गये हैं। ग्यारहवें परिच्छेदमें सम्यक्त्वकी महिमाका वर्णन है। तेरहवें परिच्छेदमें अष्टमूलगुण, सप्तव्यसन, हिंसाके दोषों और अहिंसाके गुणोंका वर्णनकर अहिंसाणुव्रतमें प्रसिद्ध मातंगका और हिंसा-पापमें प्रसिद्ध धनश्रीका कथानक दिया गया है। इसी प्रकार तेरहवें परिच्छेदसे लेकर सोलहवें परिच्छेदतक सत्यादि चारों अणुव्रतोंका वर्णन और उनमें प्रसिद्ध पुरुषों के तथा असत्यादि पापोंमें प्रसिद्ध पुरुषों-के कथानक दिये गये हैं। सत्तरहवें परिच्छेदमें तीनों गुणव्रतोंका वर्णन है। अठारहवें परिच्छेदमें देशावकाशिक और सामायिक शिक्षाव्रतका तथा उसके ३२ दोषोंका विस्तृत विवेचन है। उन्नीसवें परिच्छेदमें प्रोषधोपवासका और बीसवें परिच्छेदमें अतिथिसंविभागका विस्तारसे वर्णन किया गया है। इक्कीसवें परिच्छेदमें चारों दानोंमें प्रसिद्ध व्यक्तियोंके कथानक हैं। बाईसवें परिच्छेदमें समाधि-मरणका विस्तृत निरूपणकर तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी प्रतिमाका स्वरूप बताकर रात्रि भोजनके दोषोंका वर्णन किया गया है। तेसईवें परिच्छेदमें सातवीं, आठवीं और नवमी प्रतिमाका स्वरूप वर्णन है। चौबीसवें परिच्छेदमें दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाका वर्णन करके अन्तमें छह आवश्यकोंका निरूपण किया गया है।

परिचय और समय

'सकलकीर्त्ति रासके अनुसार इनका जन्म वि० सं० १४४३ में हुआ था। इनके पिताका नाम कर्मसिंह और माताका नाम शोभा था। ये हूमड़ जातिके थे और अणहिल्लपट्टणके रहनेवाले थे। इनका गृहस्थावस्थाका नाम पूर्नसिंह या पूर्णसिंह था।

जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १३ में प्रकाशित एक ऐतिहासिक पत्रके अनुसार सकलकीर्त्ति २६ वर्षकी अवस्थातक घरमें रहे। तत्पश्चात् संयम धारणकर ८ वर्षतक गुरुके पास सर्व शास्त्रोंको पढ़ा। वि० सं० १४९९ में आपका समाधिमरण हुआ। इस प्रकार उन्होंने ३४ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् जीवनके अन्तिम समयतक ग्रन्थ-रचना की और अनेक स्थानोंपर मूर्त्ति प्रतिष्ठाएँ कीं।

सकलकीर्त्तिने प्रत्येक श्रावकको अपने घरमें जिनबिम्बको स्थापित करनेका उपदेश देते हुए यहाँतक लिखा है—

यस्य गेहे जिनेन्द्रस्य बिम्बं न स्याच्छुभप्रदम्।
पक्षिगृहसमं तस्य गेहं स्यादतिपापदम्॥

अर्थात्—जिसके घरमें शुभ-फल-दायक जिनेन्द्रका बिम्ब नहीं है, उसका घर पक्षियोंके घोंसलेके समान और पाप-दायक है। (अ० २ श्लो० १८५)

उक्त पत्रसे इनका समय विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दी निश्चित है।

१९. गुणभूषण श्रावकाचार—श्री गुणभूषण

गुणभूषण-रचित श्रावकाचारका संकलन प्रस्तुत संग्रहके दूसरे भागमें किया गया है। इसके प्रथम उद्देशमें मनुष्यभव और सद्धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ बताकर सम्यग्दर्शन धारण करनेका उपदेश दिया गया है, तथा सम्यक्त्वके अंगों और भेदोंका और उसकी महिमाका वर्णन किया गया है। दूसरे उद्देशमें सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बताकर मतिज्ञान आदि पाँचों ज्ञानोंका वर्णन किया गया है।

तीसरे उद्देशमें चारित्रका स्वरूप बताकर विकल चारित्रका वर्णन ग्यारह प्रतिमाओंको आश्रय करके किया गया है। इसीके अन्तमें विनय, वैयावृत्य, पूजन और ध्यानके प्रकारोंका भी वर्णन है।

सप्ततत्त्वोंका, श्रावकके १२ व्रतोंका, ११ प्रतिमाओंका, विनय, वैयावृत्य, पूजनके भेद और पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका वर्णन वसुनन्दि-श्रावकाचारकी गाथाओंके संस्कृत छायानुवादके रूपमें श्लोकों द्वारा किया गया है, यह प्रथम भागके टिप्पणोंमें दिये गये गुणभूषण श्रावकाचारके श्लोकोंसे सिद्ध है।

कहीं-कहीं आशाधरके सागारधर्मामृतका भी अनुसरण स्पष्ट दिखता है। यथा—

(१) सागारध० अ० ३—सन्धातकं त्यजेत्सर्वं दधि-तक्रं द्व्यहोषितम्।
काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥ ११ ॥

गुण० श्राव० उ० ३—काञ्जिकं पुष्पितमपि दधितक्रं द्व्यहोषितम्।
सन्धातकं नवनीतं त्यजेन्नित्यं मधुव्रती ॥ १८ ॥

(२) सागारध० अ० ३—चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च।
सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते ॥ १२ ॥

गुणभू० श्राव० उ० ३—विशोध्याद्यात् फलसिम्बि द्विदलमुम्बरव्रतम्।
त्यजेत्स्नेहाम्बु चर्मस्थं व्यापन्नान्नं फलव्रती ॥ १७ ॥

(श्रावकाचार-संग्रह भाग २)

इस प्रकारसे पूर्व-रचित श्रावकाचारोंका अनुकरण करते हुए भी इसकी यह विशेषता है कि अपनी नवीन प्रत्येक बातको संक्षेपमें सुन्दर ढंगसे कहा गया है।

इस श्रावकाचारके प्रत्येक उद्देशके अन्तमें जो पुष्पिका दी गई है, उससे ज्ञात होता है कि गुणभूषणने अपने इस श्रावकाचारका नाम 'भव्यजन-चित्तवल्लभ श्रावकाचार' रखा है और इसे साधु (साहु) नेमिदेवके नामसे अङ्कित किया है।

परिचय और समय

इस श्रावकाचारके अन्तमें जो प्रशस्ति दी गई है, उससे ज्ञात होता है कि मूलसंघमें विनयचन्द्र मुनि हुए, उनके शिष्य त्रैलोक्यकीर्त्ति मुनि हुए और उनके शिष्य गुणभूषणने पुरपाट-वंशज सेठ कामदेवके पौत्र और जोमनके पुत्र नेमिदेवके लिए उसके त्याग आदि गुणोंसे प्रभावित होकर इस श्रावकाचारकी रचना की है। प्रशस्तिसे गुणभूषणके समयका कोई पता नहीं चलता है। पर ये वसुनन्दिसे पीछे हुए हैं : इतना निश्चित है।

२०. धर्मोपदेश पीयूषवर्ष श्रावकाचार—श्री ब्रह्मनेमिदत्त

इस श्रावकाचारका संकलन प्रस्तुत संग्रहके दूसरे भागमें किया गया है। इसमें पाँच अधिकार हैं। प्रथम अधिकारमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताकर उसके आठों अंगोंका, २५ दोषोंका और सम्यक्त्वके भेदोंका वर्णन है। दूसरे अधिकारमें सम्यग्ज्ञान और चारों अनुयोगोंका स्वरूप बताकर द्वादशाङ्ग श्रुतके पदोंकी संख्याका वर्णन है। तीसरेमें आठ मूल गुणोंका, चौथेमें बारह व्रतोंका वर्णनकर मंत्र-जाप, जिन-बिम्ब और जिनालयके निर्माणका फल बताकर ११ प्रतिमाओंका निरूपण किया गया है। पाँचवें अधिकारमें सल्लेखनाका वर्णनकर इसे समाप्त किया है।

श्री ब्रह्मनेमिदत्तने परिग्रह परिमाण व्रतके अतीचार स्वामी समन्तभद्रके समान ही कहे हैं। तथा रात्रिभोजन त्यागको छठा अणुव्रत कहा है।

इस श्रावकाचारमें ३५ गाथाएँ और श्लोक 'उक्तं च' कहकर उद्धृत किये गये हैं, जिनमें रत्नकरण्डक, वसुनन्दि श्रावकाचार, गो० जीवकाण्ड, सावयधम्मदोहा, यशस्तिलक, द्रव्यसंग्रह और एकीभाव स्तोत्रके नाम उल्लेखनीय हैं। सबसे अधिक उद्धृत दोहे सावयधम्मदोहाके हैं।

समय और परिचय

इस श्रावकचारकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि भट्टारक श्री विद्यानन्दिके पट्टपर भट्टारक मल्लिभूषण हुए। उनके शिष्य मुनि सिंहनन्दि हुए और उनके शिष्य ब्रह्मनेमिदत्तने इस श्रावकाचारकी रचना की।

भट्टारक सम्प्रदायके अनुसार भ० विद्यानन्दिका समय वि० सं० १४९९ से लगाकर १५३७ तक है और उनके शिष्य मल्लिभूषणका समय १५४४ से १५५५ तकका दिया गया है। अतः मल्लिभूषणके शिष्य सिंहनन्दिका समय उनके बादका ही होना चाहिए।

ब्रह्मनेमिदत्तकी इस श्रावकाचारके अतिरिक्त जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. आराधना कथाकोश, २. नेमिनाथ पुराण, ३. श्रीपालचरित, ४. सुदर्शनचरित, ५. रात्रिभोजन कथा, ६. प्रीतिंकर मुनिचरित, ७. धन्यकुमारचरित, ८. नेमिनिर्माण काव्य, ९. नागकुमार कथा, १०. मालारोहणी और ११. आदित्यवार व्रतरास।

यद्यपि ब्रह्मनेमिदत्तने उक्त श्रावकाचारके अन्तमें रचनाकाल नहीं दिया है, तथापि इन्होंने वि० सं० १५७५ में आराधना कथाकोश और वि० सं० १५८५ में नेमिपुराणको रचकर पूर्ण किया है। अतः उक्त भट्टारकपरम्पराके पट्टकालोंके साथ इनके समयका निर्णय हो जाता है। तदनुसार इनका समय विक्रमकी सोलहवीं शतीका उत्तरार्ध निश्चित रूपसे ज्ञात होता है। आराधना कथाकोशकी प्रशस्तिमें ब्रह्मनेमिदत्तने भ० मल्लिभूषणका गुरुरूपसे स्मरण किया है।

२१. लाटीसंहिता—श्री राजमल्ल

जैन सिद्धान्तके गम्भीर अभ्यासी श्री राजमल्लने लाटीसंहिताके प्रत्येक सर्गके अन्तमें जो पुष्पिका दी है, उसमें इसे 'श्रावकाचार अपर नाम लाटीसंहिता' दिया है, तो भी उनका यह श्रावकाचार लाटीसंहिताके नामसे ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। लाट देशमें प्रचलित गृहस्थ-धर्म या जैन आचार-विचारोंका संग्रह होनेसे इसका लाटीसंहिता नाम स्वयं राजमल्लजीने रखा है। जैसा कि इसकी प्रशस्तिके ३८ वें श्लोकके द्वितीय चरणसे स्पष्ट है।

'तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी'

अर्थात्—संघपति फामनने गृहस्थके योग्य इस लाटीसंहिताको निर्माण कराया।

लाटीसंहितामें ७ सर्ग हैं। उनमेंसे प्रथमसर्गमें वैराट नगर, अकबर बादशाह, काष्ठासंघी भट्टारक-वंश और उनके वंशधरों द्वारा बनाये गये जिनालय आदिका विस्तृत वर्णन है। प्रस्तुत संग्रहमें उपयोगी न होनेसे उसका संकलन नहीं किया गया है और द्वितीय सर्गको प्रथम मानकर सर्ग-संख्या दी गई है। प्रशस्ति बहुत बड़ी होनेसे इस भागके परिशिष्टमें दी जा रही है। इससे अनेक नवीन बातों पर प्रकाश पड़ेगा।

लाटीसंहिताके प्रथम सर्गमें अष्ट मूलगुणोंके धारण करने और सप्त व्यसनोंके त्यागका वर्णन है। दूसरे सर्गमें सम्यग्दर्शनका सामान्य स्वरूप भी बहुत सूक्ष्म एवं गहन-गाम्भीर्यसे वर्णन किया गया है। तीसरे सर्गमें सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका विस्तृत विवेचन है। चौथे सर्गमें अहिंसाणुव्रत-का विस्तृत वर्णन है। पंचम सर्गमें शेष चार अणुव्रतोंका और गुणव्रत-शिक्षाव्रतके भेदोंका और सल्लेखनाका वर्णन है। छठे सर्गमें सामायिकादि शेष प्रतिमाओंका और द्वादश तपोंका निरूपण किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि राजमल्लजीने श्रावकधर्मका वर्णन ११ प्रतिमाओंके आधार-पर ही किया है।

यद्यपि श्रावकव्रतोंका वर्णन परम्परागत ही है, तथापि प्रत्येक व्रतके विषयमें उठनेवाली शंकाओंको स्वयं उद्भावन करके उसका सयुक्तिक और सप्रमाण समाधान किया है।

लाटीसंहिताकारने व्रती श्रावकको घोड़े आदिकी सवारीका निषेध किया है। (देखो—
भा० ३ पृ० १०४, श्लोक २२४)

इन्होंने ही ग्यारहवीं प्रतिमावाले दोनों भेदोंको सर्वप्रथम, 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' नामोंसे उल्लेख किया। (भा० ३ पृ० २४६, श्लोक ५५)

प्राणियोंपर दया करना व्रतका बाह्यरूप है और अन्तरंगमें कषायोंका त्याग होना व्रतका अन्तरंगरूप है। (भा० ३, पृ० ८२ श्लोक ३८ आदि)

परिचय और समय

प्रस्तुत लाटीसंहिताके अतिरिक्त राजमल्लजीने जम्बूस्वामिचरित, अध्यात्मकमल मार्तण्ड और पिंगलशास्त्र रचा है। पंचाध्यायीकी रचनाका संकल्प करके भी वे उसे पूरा नहीं कर सके। उसके डेढ़ अध्यायको ही रच पाये। उसके भी श्लोकोंकी संख्या (७६८–११४५) १९१३ है। राजमल्लजी इसे कितना विशाल रचना चाहते थे, यह उनके प्रारम्भमें दिये 'ग्रन्थराज' पदसे स्पष्ट है। जब डेढ़ अध्यायमें ही लगभग दो हजार श्लोक हैं, तब पंचाध्यायी पूरी रचे जानेपर तो उसके श्लोकोंकी संख्या दश हजारसे ऊपर ही होती।

जम्बूस्वामिचरितकी रचना वि० सं० १६३२ के चैत कृष्णा अष्टमीके दिन समाप्त हुई है। अतः इनका समय विक्रमकी सत्तरहवीं शतीका मध्य भाग जानना चाहिए।

२२. उमास्वामिश्रावकाचार—उमास्वामी (?)

उमास्वामीके नाम पर किसी भट्टारकने इस श्रावकाचारकी रचना की है। तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी या उमास्वातिकी यह रचना नहीं है, क्योंकि इसको प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरणके बाद दूसरे श्लोक में कहा गया है कि मैं पूर्वाचार्य प्रणीत श्रावकाचारोंको भली भाँति-से देखकर इस श्रावकाचारकी रचना करूँगा। वह श्लोक इस प्रकार है—

पूर्वाचार्यप्रणीतानि श्रावकाध्ययनान्यलम्।
दृष्ट्वाऽहं श्रावकाचारं करिष्ये मुक्तिहेतवे ॥२॥

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीसे पहिले रचे गये किसी भी श्रावकाचारका अभी तक कहीं कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ है और इस उक्त श्लोकमें स्पष्ट रूपसे पूर्वाचार्य-प्रणीत श्रावकाचारों-

का उल्लेख है, अतः यह बहुत पीछे रचा गया है, जब कि उनके समय तक अनेक श्रावकाचार रचे जा चुके थे।

दूसरे इस श्रावकाचारमें पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, यशस्तिलक-उपासकाध्ययन, श्वे० योगशास्त्र, विवेकविलास और धर्मसंग्रह श्रावकाचारके अनेक श्लोक ज्योंके त्यों अपनाये गये हैं और अनेक श्लोक शब्द परिवर्तनके साथ रचे गये हैं। श्वे० योगशास्त्रके १५ खर कर्म वाले श्लोक भी साधारणसे शब्द-परिवर्तनके साथ ज्योंके त्यों दिये गये हैं। इन सबसे यह सिद्ध है कि यह तत्त्वार्थ-सूत्रकार-रचित नहीं है। किन्तु पं० मेधावी—जिन्होंने अपना धर्मसंग्रहश्रावकाचार वि० सं० १५४ में रच कर पूर्ण किया है—उनसे भी पीछे सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दीके मध्य किसी इसी नामधारी भट्टारकने रचा है, या अन्य नामधारी भट्टारकने रचकर उमास्वामीके नामसे अंकित कर दिया है, जिससे कि इसमें वर्णित सभी बातों पर प्राचीनताकी मुद्रा अंकित मानी जा सके। इस श्रावकाचारमें अन्य कितनी ही ऐसी बातें हैं, जिन परसे पाठक सहजमें ही इसकी अर्वाचीनताको स्वयं ही जान सकेंगे।

प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें इसके संकलनका उद्देश्य यह है कि पाठक स्वयं यह अनुभव कर सकें कि स्वामी समन्तभद्रके पश्चात् समय-परिवर्तनके साथ किस-किस प्रकारसे श्रावकके आचारमें क्या क्या वृद्धि होती रही है। यही बात पूज्यपाद और कुन्दकुन्दके नामसे अंकित श्रावकाचारोंके विषयमें भी समझनी चाहिए।

इस श्रावकाचारमें अध्याय विभाग नहीं है। प्रारम्भमें धर्मका स्वरूप बताकर सम्यक्त्वका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। पुनः देवपूजादि श्रावकके षट् कर्तव्योंमें विभिन्न परिमाणवाले जिनबिम्बके पूजनेके शुभ-अशुभ फलका वर्णन है। तथा इक्कीस प्रकार वाला पूजन, पंचामृताभिषेक, गुरूपास्ति आदि शेष आवश्यक, १२ तप और दानका विस्तृत वर्णन है। तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञानका वर्णन कर सम्यक् चारित्रके विकल भेदरूप श्रावकके ८ मूलगुणों और १२ उत्तर व्रतोंका, सल्लेखनाका और सप्त व्यसनोंके त्यागका उपदेश देकर इसे समाप्त किया गया है। ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें कहा है कि इस सम्बन्धमें जो अन्य ज्ञातव्य बातें हैं, उन्हें मेरे द्वारा रचे गये अन्य ग्रन्थमें देखना चाहिए। यथा—

इति वृत्तं यथोद्दिष्टं संश्रये षष्ठकेऽखिलम्।
चान्यन्मया कृते ग्रन्थेऽन्यस्मिन् द्रष्टव्यमेव च ॥४७७॥

पर अभी तक इनके द्वारा रचित किसी अन्य ग्रन्थका पता नहीं लगा है।

इस श्रावकाचारकी कुछ विशेष बातें—

१. सौ वर्षसे अधिक प्राचीन व्यंगित भी प्रतिमा पूज्य है। (भा० ३ पृ० १६१ श्लोक १०८)

२. प्रातः पूजन कपूरसे, मध्याह्नमें पुष्पोंसे और सायंकाल दीप धूप से करे। (भा० ३ पृ० १६३ श्लोक १२५-१२६)

३. फूलोंके अभावमें पीले अक्षतोंसे पूजन करे। (भा० ३ पृ० १६३ श्लोक १२९)

४. अभिषेकार्थ दूधके लिए गाय रखे, जलके लिए कूप बनवाये और पुष्पोंके लिए वाटिका (बगीची) बनवावे (भा० ३ पृ० १६३ श्लोक १३३)

५. प्रातःकालीन पूजन पाप विनाशक, मध्याह्निक पूजन लक्ष्मी-कारक और सन्ध्याकालीन पूजन मोक्ष-कारक है। (भा० ३ पृ० १६७ श्लोक १८१)

एक विचारणीय वर्णन

इस श्रावकाचारमें २१ प्रकारके पूजनके वर्णनमें आभूषण-पूजन और वसन-पूजनका भी उल्लेख किया गया है। यह स्पष्टतः श्वेताम्बर-परम्परामें प्रचलित मूर्त्ति पूजनका अनुकरण है। क्योंकि दिगम्बर-परम्परामें कभी भी वस्त्र और आभूषणोंसे पूजन करनेका प्रचार नहीं रहा है। सभी श्रावकाचारोंमेंसे केवल इसीमें इस प्रकारका वर्णन आया है, जो कि अत्यधिक विचारणीय है। (देखो भा० ३ पृ० १६४ श्लोक १३६)

इस श्रावकाचारमें तीसरे भागके पृष्ठ १६० परके श्लोक १०० से लेकर १०३ तकके ४ श्लोक श्वेताम्बरीय आचार दिनकरसे लिये गये ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। केवल भेद यह है कि इसमें सौवें श्लोकका पूर्वार्ध श्लोक १०३ के स्थान पर है इससे भी उपर्युक्त वस्त्र और आभूषण पूजनका वर्णन श्वेताम्बरीय पूजनके अनुकरणको सिद्ध करता है।

उमास्वामि-श्रावकाचारके अन्तमें आये श्लोकाङ्क ४६४ के 'सूत्रे तु सप्तमेऽप्युक्ताः पृथङ्-नोक्तास्तदर्थतः' इस पदसे, तथा श्लोकाङ्क ४७३ के 'गदितमतिसुबोधोपास्त्यकं स्वामिभिश्च' इस पदसे जो लोग इस श्रावकाचारका रचयिता सूत्रकार उमास्वामीको मानते हैं, सो यह उनका भ्रम है। इसके लिए निम्न-लिखित तीन प्रमाण पर्याप्त हैं—

१. प्रारम्भमें पूर्व-प्रणीत श्रावकाचारोंको देखकर रचनेका उल्लेख।

२. सोमदेवके उपासकाध्ययन, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि अनेक ग्रन्थोंके श्लोकोंका ज्योंका त्यों बिना नामोल्लेखके अपनाना।

३. श्रावकाचारसारोद्धारके दो सौ से अधिक श्लोकोंको अपना करके भी अन्तमें उसके श्लोकके २-३ पदोंका परिवर्तन करके अपने बनानेका उल्लेख करना। यथा—

इति दुरितदुरौघं श्रावकाचारसारं गदितमतिसुबोधोपास्त्यकं स्वामिभिश्च।
विनयभरनताङ्गाः सम्यगाकर्णयन्तु विशदमतिमवाप्य ज्ञानयुक्ता भवन्तु ॥४७६॥
(उमास्वामि श्रावकाचार भा० ३ पृ० १९१)

इति हतदुरितौघं श्रावकाचारसारं गदितमवधिलीलाशालिना गौतमेन।
विनयभरनताङ्गः सम्यगाकर्ण्य हर्षं विशदमतिरवाप श्रेणिकः क्षोणिपालः ॥३७४॥
(श्रावकाचारसारोद्धार, भा० ३ पृ० ३६८)

आचार्य पद्मनन्दीने अपने श्रावकाचार-सारोद्धारकी उत्थानिकामें जैसे श्रेणिकके प्रश्न पर गौतम-गणधरके द्वारा श्रावक-धर्मका वर्णन प्रारम्भ कराया है, उसी प्रकार ग्रन्थके अन्तमें उन्हीं श्रेणिकका उल्लेख करते हुए उसे समाप्त किया है, जो कि स्वाभाविक है।

उमास्वामि श्रावकाचारमें कोई अन्तिम प्रशस्ति नहीं है; तथा कुछ अनिरूपित विषयोंको अपने द्वारा रचित अन्य ग्रन्थमें देखनेका उल्लेख मात्र किया है। पर श्रावकाचारसारोद्धारमें पद्मनन्दीने विस्तृत प्रशस्ति दी है और जिसके लिए उसे रचा है उसका भी परिचय दिया है।

पद्मनन्दीने अपनी गुरु परम्पराका स्पष्ट उल्लेख किया है, पर उमास्वामी श्रावकाचारके रचयिताने न अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख किया है और न अपना ही कोई परिचय दिया है।

पट्टावलियोंमें भी श्रावकाचारके रचनेवाले उमास्वामीका कहीं कोई उल्लेख नहीं है, जब कि तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति या उमास्वामीका उल्लेख शिलालेखों तकमें पाया जाता है।

इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि यह श्रावकाचार किसी भट्टारकने इधर-उधरके अनेकों श्लोकोंको लेकर तथा बीच-बीचमें कुछ स्वयं रचित श्लोकोंका समावेश करके रचा है।

२३. पूज्यपाद-श्रावकाचार—श्रीपूज्यपाद

यह श्रावकाचार भी जैनेन्द्रव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके प्रणेता पूज्यपाद देवनन्दिका रचा हुआ नहीं है। किन्तु इस नामके किसी भट्टारक या अन्य विद्वान्‌का रचा हुआ है। ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवन ब्यावरमें इसकी दो प्रतियाँ है, जिसमें एक अधूरी है और दूसरीमें न कोई अन्तिम प्रशस्ति है और न प्रति-लेखन-काल ही दिया हुआ है। तो भी कागज-स्याही लिखावट आदिकी दृष्टिसे वह दो सौ वर्ष पुरानी अवश्य है।

इसमें कोई अधिकार विभाग नहीं है। श्लोक संख्या १०३ है। प्रारम्भमें सम्यक्त्वका स्वरूप और माहात्म्य बताकर आठ मूलगुणोंका वर्णन है। पुनः श्रावकके १२ व्रतोंका निरूपण करके सप्त व्यसनोंके त्यागका और कन्दमूलादि अभक्ष्य पदार्थोंके भक्षणका निषेध किया गया है। तत्पश्चात् मौनके गुण बताकर चारों प्रकारके दानोंको देनेका और दानके फलका विस्तृत वर्णन है। पुनः जिनबिम्बके निर्माणका, जिन-पूजन करने और पर्वके दिनोंमें उपवास करनेका फल बताकर उनके करनेकी प्रेरणा की गई है। अन्तमें रात्रि-भोजन करनेके दुष्फलोंका और नहीं करनेके सुफलोंका सुन्दर वर्णन कर धर्म-सेवन सदा करते रहनेका उपदेश दिया है क्योंकि कब मृत्युरूप यमराज लेनेको आ जावे। इस प्रकार संक्षेपमें श्रावकोचित सभी कर्तव्योंका विधान इसमें किया गया है।

इस श्रावकाचारमें महापुराण, यशास्तलक, उमास्वामि श्रावकाचार, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार आदिके श्लोकोंको 'उक्तं च' आदि न लिखकर ज्योंका त्यों अपनाया गया है और श्लोक ७८ में जिनसंहिताका स्पष्ट उल्लेख है, अतः यह उक्त श्रावकाचारोंसे पीछे रचा गया सिद्ध होता है। श्रावकाचारके नाते इसे प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें संकलित किया गया है।

भट्टारक-सम्प्रदायकी किसी भी शाखामें 'पूज्यपाद' नामके भट्टारकका कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया है, अतः निश्चितरूपसे इसका रचना-काल अज्ञात है। अनुमानतः यह सकलकीर्तिके प्रश्नोत्तर श्रावकाचारके पीछे रचा गया प्रतीत होता है।

२४. व्रतसार श्रावकाचार

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमें संकलित श्रावकाचारोंमें यह सबसे लघुकाय है। इसमें केवल २२ श्लोक हैं जिनमें दो प्राकृत गाथाएँ भी परिगणित हैं। इसके भीतर सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिका स्वरूप, समन्तभद्र-प्रतिपादित श्लोकके साथ अष्टमूलगुणोंका निर्देश, अभक्ष्य पदार्थोंके भक्षणका, अगालित जल-पानका निषेध, बारह व्रतोंका नामोल्लेख और हिंसक पशु-पक्षियोंको पालनेका निषेध किया गया है। रात्रि-भोजनको तत्त्वतः आत्मघात कहा गया है। सुख-दुःख, मार्ग, संग्राम

आदि सर्वत्र पंच नमस्कारमंत्रके पाठ करते रहनेका उपदेश देकर यात्रा, पूजा प्रतिष्ठा और जीर्ण-चैत्य-चैत्यालयादिके उद्धारकी प्रेरणाकर इसे समाप्त किया गया है।

इसके रचयिताने अपने नामका कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। पर इसे 'व्रतसार' नाम अन्तिम श्लोकमें अवश्य दिया है और कहा है कि जो इस 'व्रतसार' को शक्तिके अनुसार पालन करेगा, वह स्वर्गके सुखोंको भोगकर अन्तमें मोक्षको जायगा।

२५. व्रतोद्योतन श्रावकाचार—श्री अभ्रदेव

श्री अभ्रदेव-विरचित व्रतोद्योतन श्रावकाचार प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें संकलित है। यह अपने नामके अनुरूप ही व्रतोंका उद्योत करनेवाला श्रावकाचार है। ५४२ श्लोकवाले इस श्रावकाचारमें कोई अध्याय-विभाग नहीं किया गया है। प्रारम्भमें प्रातः काल उठकर शरीर-शुद्धिकर जिन-बिम्ब-दर्शन एवं पूजन करनेका उपदेश है। तत्पश्चात् रजस्वलास्त्रीके पूजन और गृह कार्य करनेका निषेध कर पूर्व भवमें मुनिनिन्दा करनेवाली स्त्रियोंका उल्लेख है। पुनः अभक्ष्य-भक्षण, कषायोंके दुष्फल, पंचेन्द्रिय-विषय और सप्त व्यसन-सेवनके दुष्फल बताकर कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष नवीन मुनिकी तीन दिन तक परीक्षा करके पीछे नमस्कार करे। तदनन्तर श्रावकके बारह व्रतोंका, सल्लेखनाका, ग्यारह प्रतिमाओंका और बारह भावनाओंका वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् पाक्षिक नैष्ठिक, साधकका स्वरूप-वर्णन कर परीषह सहने, समिति पालने, अनशनादि तपोंके करने और सोलह कारण भावनाओंके भानेका उपदेश दिया गया है। पुनः सम्यक्त्वके आठ अंगोंका, रत्नत्रय और क्षमादि दश धर्मोंका वर्णन कर आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि-की गई है। पुनः ईश्वरके सृष्टि कर्तृत्वका निराकरण कर जैन मान्यता प्रतिष्ठित की गई है। अन्तमें मिथ्यात्व आदि कर्म-बन्धके कारणोंका वर्णन कर अहिंसादि व्रतोंके अतिचारोंका, व्रतोंकी भावनाओं-का, सामायिकके बत्तीस और वन्दनाके बत्तीस दोषोंका वर्णन कर सम्यग्दर्शनकी महिमाका निरूपण किया गया है।

इस श्रावकाचारके विचारणीय कुछ विशेष वर्णन इस प्रकार हैं—

१. अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंका अर्थ	(भा० ३ पृ० २२७ श्लोक १९२)
२. अणु और परमाणुका स्वरूप	(,, २२८ ,, १९९)
३. जीवद्रव्यका स्वरूप	(,, ३ ,, २२९ श्लोक २०९)
४. पुलाक-बकुश आदिका स्वरूप	(,, २२९ ,, २१५)
५. पाक्षिक, नैष्ठिक, साधकका स्वरूप	(,, २३४ ,, २५९-६१)
६. अनशन तपका स्वरूप	(,, ३ ,, २३६ श्लोक २८२)

इस श्रावकाचारकी रचना कवित्वपूर्ण एवं प्रसादगुणसे युक्त है और महाकाव्योंके समान विविध छन्दोंमें इसकी रचना की गई है।

बौद्ध, नैयायिकादिके मतोंकी समीक्षासे ज्ञात होता है कि अभ्रदेव विभिन्न मत-मतान्तरोंके अच्छे ज्ञाता थे।

परिचय और समय

इस श्रावकाचारके अन्तिम श्लोकसे ज्ञात होता है कि बुध अभ्रदेवने इसे प्रवरसेन मुनिके आग्रहसे रचा है। ये प्रवरसेन मुनि कब हुए और अभ्रदेवका क्या समय है, इसका पता न डॉ०

नेमिचन्द्रशास्त्री-लिखित, 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' से ही चलता है और न जोहरापुरकर-सम्पादित 'भट्टारक-सम्प्रदाय' में ही उक्त दोनों नामोंका कहीं कोई उल्लेख है।

सरस्वती भवन ब्यावरकी हस्तलिखित प्रतिमें इसका लेखन-काल नहीं दिया गया है। किन्तु उदयपुरके दि० जैन अग्रवाल मन्दिरकी प्रतिमें लेखन काल १५९३ दिया हुआ है। उसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

'अथ संवत्सरेऽस्मिन् १५९३ वर्षे पौषसुदि २ आदित्यवारे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये ब्र० मानिक लिखापितं आत्मपठनार्थं परोपकाराय च।'

इस पुष्पिकासे इतना तो निश्चित है कि सं० १५९३ के पूर्व यह रचा गया है और इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि प्रवरसेन और अभ्रदेव इससे पूर्व ही हुए हैं।

प्रस्तुत श्रावकाचारके श्लोक २९३ में श्रुतसागरसूरिके उल्लेखसे सिद्ध है कि ये अभ्रदेव उनसे पीछे हुए हैं। श्रुतसागरका समय वि० सं० १५०२ से १५५६ तकका रहा है। अतः इनका समय वि० सं० १५५६ से १५९३ के मध्यमें जानना चाहिए।

२६. श्रावकाचार सारोद्धार—श्रीपद्मनन्दि

श्रीपद्मनन्दिका यह श्रावकाचार तीसरे भागमें संकलित है। मंगलाचरणमें सिद्धपरमात्मा, ऋषभजिन, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, वर्धमान, गौतमगणधर और सरस्वतीको नमस्कार कर आ० कुन्दकुन्द, अकलंक, समन्तभद्र, वीरसेन और देवनन्दिका बहुत प्रभावक शब्दोंमें स्मरण किया गया है।

प्रथम परिच्छेदमें पुराणोंके समान मगध देश, राजा श्रेणिक आदिका वर्णनकर गौतम गणधरके द्वारा धर्मका निरूपण करते हुए सम्यक्त्वके आठों अंगोंका वर्णन किया है। दूसरे परिच्छेदमें सम्यग्ज्ञानका केवल १२ श्लोकों द्वारा वर्णनकर अष्टाङ्गों द्वारा उपासना करनेका विधान किया गया है। तीसरे परिच्छेदमें चारित्रकी आराधना करनेका उपदेश देकर आठ मूलगुणोंका वर्णन करते हुए मद्य, मांसादिके सेवन-जनित दोषोंका विस्तृत वर्णन है। इस प्रकरणमें अमृतचन्द्रके नामोल्लेखके साथ पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। रात्रिभोजनके दोष बताकर उसका निषेधकर श्रावकके बारह व्रतोंका विस्तृत विवेचनकर सल्लेखना-विधिका वर्णन करते हुए 'समाधिमरण आत्मघात नहीं है' यह सयुक्तिक सिद्ध किया गया है। अन्तमें सप्त व्यसन-सेवनके दोषोंको बताकर उनके त्यागका उपदेश दिया गया है। इस श्रावकाचारमें श्रावककी ११ प्रतिमाओंके नामोंका उल्लेख तक भी नहीं किया गया है।

इसे श्रावकाचार-सारोद्धार नामसे प्रख्यात करते और अनेकों श्रावकाचारोंके श्लोकोंको 'उक्तं च' कहकर उद्धृत करते हुए भी 'अमृतचन्द्रसूरि' के सिवाय किसी भी श्रावकाचार रचयिताके नामका उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि रत्नकरण्डके और सोमदेवके उपासकाध्ययनके बीसों श्लोक इसमें उद्धृत किये गये हैं।

पं० मेधावीके समान इसमें भी श्रावकधर्मका उपदेश प्रारम्भ गौतम गणधरसे कराके बीच-बीचमें 'उक्तं च' कहकर अन्य ग्रन्थोंके उद्धरण देकर उसका निर्वाह पद्मनन्दि नहीं कर सके हैं।

रात्रिमें अशन-पानका निषेध करते हुए परमतके जो श्लोक दिये गये हैं, वे मननीय हैं। (देखो भा० ३ पृ० ३४१-३४२ श्लोक ९७ से ११९)

इस श्रावकाचारमें स्थल-विशेषोंपर जो सूक्तियाँ दी गई हैं, वे पठनीय हैं।

समय और परिचय

पद्मनन्दिने अपने इस श्रावकाचारको 'वासाधर' नामके किसी गृहस्थ-विशेषके लिए रचा है और उसीके नामसे अङ्कित किया है जैसे कि प्रत्येक परिच्छेदकी अन्तिम पुष्पिकाओंसे सिद्ध है। ये वासाधर लमेंचू जातिके थे यह अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। दूसरे परिच्छेदके प्रारम्भमें जो आर्शीर्वाद रूप पद्य दिया है, उससे ज्ञात होता है कि वासाधर जिनागमके वेत्ता, पात्रोंको दान देनेवाले, विनयी जीवोंके रक्षक, दयाशील और सम्यग्दृष्टि थे। पूरी प्रशस्ति इस भागके परिशिष्ट-में दी गई है।

प्रस्तुत श्रावकाचारके अन्तमें दी गई प्रशस्तिके अनुसार पद्मनन्दि श्रीप्रभाचन्द्रके शिष्य थे, इतना ही ज्ञात होता है। 'भट्टारक सम्प्रदाय' में विभिन्न आधारोंसे बताया गया है कि इनका पट्टाभिषेक वि० सं० १३८५ में हुआ। ये १५ वर्ष ७ माह १३ दिन घरपर रहे। पीछे दीक्षित होकर १३ वर्ष तक ज्ञान और चारित्रकी आराधना करते रहे। २९ वर्षकी अवस्थामें ये प्रभाचन्द्रके पट्ट-पर आसीन हुए और ६५ वर्ष तक पट्टाधीश बने रहे। इस प्रकार इनका समय विक्रमकी चौदहवीं शतीका पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

इन्होंने प्रस्तुत श्रावकाचारके सिवाय वर्धमानचरित, अनन्तव्रतकथा, भावनापद्धति और जीरापल्ली पार्श्वनाथ स्तवनकी रचना की है।

२७. भव्यधर्मोपदेश-उपासकाध्ययन—श्री जिनदेव

इस श्रावकाचारमें छह परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें भरत क्षेत्र, मगध देश और राजा श्रेणिकका वर्णन, भ० महावीरका विपुलाचलपर पदार्पण, राजा श्रेणिकका वन्दनार्थ गमन, धर्मो-पदेश श्रवण और इन्द्रभूति गणधर-द्वारा श्रावकधर्मका प्रारम्भ कराया गया है। गणधर देवने ११ प्रतिमाओंका निर्देशकर सर्वप्रथम दर्शन प्रतिमाका निरूपण किया, इस प्रतिमाधारीको निर्दोष अष्ट अङ्ग युक्त सम्यग्दर्शन धारण करनेके साथ अष्टमूल गुणोंका पालन, रात्रि-भोजन और सप्त व्यसन-सेवनका त्याग, आवश्यक बताया गया है। दूसरे परिच्छेदमें जीवादिक तत्त्वोंका वर्णन किया गया है। तीसरे परिच्छेदमें जीवतत्त्वका आयु, शरीर-अवगाहना, कुल, योनि आदिके द्वारा विस्तृत विवेचन किया गया है। चौथे परिच्छेदमें व्रत-प्रतिमाके अन्तर्गत श्रावकके १२ व्रतोंका और सल्लेखनाका संक्षिप्त वर्णन है, पाँचवें परिच्छेदमें सामायिक प्रतिमाके वर्णनके साथ ध्यान पद्धतिका वर्णन है। छठे परिच्छेदमें प्रोषध प्रतिमाका विस्तारसे और शेष प्रतिमाओंका संक्षेपसे वर्णन किया गया है। अन्तमें ग्रन्थ प्रशस्ति दी गई है।

इस श्रावकाचारकी कुछ विशेषताएँ

१. दर्शन प्रतिमाधारीको रात्रिभोजन और अगालित जलपानका त्याग आवश्यक बताते हुए कहा है कि मत्स्य पकड़नेवाला धीवर तो आजीविकाके निमित्तसे जीवघात करता है

किन्तु अगालित जल पीनेवाला बिना निमित्तके ही जीवघात करता है। (तृतीय भाग, पृ० ३७५ श्लोक ८५)

२. दर्शनाचारसे हीन स्ववंशज एवं स्वजातीय व्यक्तिके घरकी भोज्य वस्तु और भाण्डे बर्तनादि भी ग्राह्य नहीं हैं। (तृतीय भा० पृ० ३७७ श्लोक १०६)

३. प्रथम स्वर्ग, प्रथम नरक और सद्मावासी (भवनवासी) की जघन्य आयु 'अयुत' प्रमाण कही है, वह आगम-विरुद्ध है (तृतीय भाग, पृ० ३८८ श्लोक २२९)

४. देव-पूजनके पूर्व मुख शुद्धि और शरीर शुद्धि करके अपनेमें इन्द्रका संकल्पकर देव-प्रतिमाके स्थापनके बाद दिग्पालोंके आह्वान और क्षेत्रपाल-युक्त यक्ष-यक्षीका स्थापन और सकलीकरणका विधान किया गया है। (तृतीय भाग, ३९६ श्लोक ३४९-३५१)

परिचय और समय

इस श्रावकाचारके रचयिता श्री जिनदेव हैं, उन्होंने अपने नामका उल्लेख प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें स्वयं किया है और अपनी इस रचनाको भट्टारक जिनचन्द्रके नामसे अंकित किया है। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिसे जिनदेवका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। केवल उनके विद्यागुरु यशोधर कवि ज्ञात होते हैं। भट्टारक जिनचन्द्र सम्भवतः जिनदेवके दीक्षागुरु रहे हैं। यदि ये जिनचन्द्र पं० मेधावीके गुरु हैं, तो ये पं० मेधावीके समकालिक सिद्ध होते हैं। पं० मेधावीका समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दी है। और यदि ये जिनचन्द्र पं० मेधावीके गुरुसे भिन्न हैं, तो फिर जिनदेवका समय विचारणीय हो जाता है।

जिनदेवकी अन्य रचनाका अभी तक कोई पता नहीं लगा है।

२८. पंचविंशतिका गत श्रावकाचार—श्री पद्मनन्दी

आचार्य पद्मनन्दीकी पंचविंशतिका प्रसिद्ध है। उसका 'उपासक संस्कार' नामक प्रकरण प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें संकलित है। इसमें गृहस्थके देवपूजादि षट्कर्तव्योंका वर्णन करते हुए सामायिककी सिद्धिके लिए सप्त व्यसनोंका त्याग आवश्यक बताया गया है। तत्पश्चात् श्रावकके १२ व्रतोंके पालनेका, वस्त्र-गालित जल पीनेका और रात्रिभोजन-परिहारका उपदेश दिया गया है। विनयको मोक्षका द्वार बताकर विनय-पालनकी, दानहीन घरको कारागार बताकर दान देनेकी और दयाको धर्मका मूल बताकर जीव-दया करनेकी प्रेरणाकर बारह भावनाओंके चिन्तन और यथाशक्ति क्षमादि दश धर्मके पालनका उपदेश देकर इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

देशव्रतोद्योतन

यह भी उक्त पंचविंशतिकाका एक अध्याय है। इसमें सर्वप्रथम सम्यक्त्वी पुरुषकी प्रशंसा और मिथ्यात्वकी निन्दाकर सम्यक्त्वको प्राप्त करनेका उपदेश दिया गया है। तत्पश्चात् रात्रि-भोजन-त्याग, गालित-जलपान और बारह व्रत-पालनका उपदेश देकर देवपूजनादि कर्तव्योंको नित्य करनेकी प्रेरणा करते हुए चारों दानोंके देनेका उपदेश देकर कहा गया है कि दानसे ही गृहस्थापना सार्थक है और दान ही संसार-सागरसे पार करनेके लिए जहाजके समान है। दानके बिना गृहाश्रम पाषाणकी नावके समान है। अन्तमें जिनचैत्य और चैत्यालयोंके निर्माणकी प्रेरणा

करते हुए कहा है कि उनके होनेपर ही पूजन-अभिषेक आदि पुण्य कार्योंका होना संभव है। इस प्रकारसे संक्षेपमें श्रावकके कर्तव्योंका विधान इसमें किया गया है। इसे प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भाग-में संकलित किया गया है।

परिचय और समय

यद्यपि पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य हुए हैं। तथापि उनमें जंबूदीवपण्णत्तीके कर्त्ताको प्रथम और पंचविंशतिकाके कर्त्ताको द्वितीय पद्मनन्दी इतिहासज्ञोंने माना है और अनेक आधारोंसे छान-बीनकर इनका समय विक्रमकी बारहवीं शताब्दी निश्चित किया है।

इनकी रचनाओंका संग्रह यद्यपि पंचविंशतिकाके नामसे प्रसिद्ध है, तो भी उसमें ये २६ रचनाएँ संकलित हैं— १. धर्मोपदेशामृत, २. दानोपदेशन, ३. अनित्य पञ्चाशत्, ४. एकत्वसप्तति, ५. यतिभावनाष्टक, ६., उपासक संस्कार, ७. देशव्रतोद्योतन, ८. सिद्धस्तुति, ९. आलोचना, १०. सद्‌बोधचन्द्रोदय, ११. निश्चयपञ्चाशत्, १२. ब्रह्मचर्य-रक्षावर्ति, १३. ऋषभस्तोत्र, १४. जिन-दर्शनस्तवन, १५. श्रुतदेवतास्तुति, १६. स्वयम्भूस्तुति, १७ सुप्रभाताष्टक, १८. शान्तिनाथस्तोत्र, १९. जिनपूजाष्टक, २०. करुणाष्टक, २१. क्रियाकाण्डचूलिका, २२. एकत्वभावनादशक, २३. परमार्थविंशति, २४. शरीराष्टक, २५. स्नानाष्टक और २६. ब्रह्मचर्याष्टक।

इसमेंसे प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें छठी और सातवीं रचना संग्रहीत है।

२९. प्राकृत भावसंग्रह-गत श्रावकाचार—श्री देवसेन

आचार्य देवसेनने अपने भावसंग्रहमें चौदह गुणस्थानोंके आश्रयसे औपपादिक आदि भावोंके वर्णनके साथ प्रथम, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम गुणस्थानोंके स्वरूप आदिका विस्तृत वर्णन किया है। उसमेंसे प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें पाँचवें गुणस्थानका वर्णन संकलित किया गया है। प्रारंभ-में पंचम गुणस्थानका स्वरूप बताकर आठ मूलगुणों और बारह व्रतोंका निर्देश किया गया है। यतः आरम्भी-परिग्रही गृहस्थके आर्त-रौद्रध्यानकी बहुलता रहती है, अतः उसे धर्म-ध्यानकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना आवश्यक बताकर उसके चारों भेदोंका निरूपण किया गया है। पुनः धर्मध्यानके सालम्ब और निरालम्ब भेद बताकर और गृहस्थके निरालम्ब ध्यानकी प्राप्ति असंभव बताकर पंचपरमेष्ठी आदिके आश्रयसे सालम्ब ध्यान करनेका उपदेश दिया गया है। इस सालम्ब ध्यानके लिए देवपूजा, जिनाभिषेक, सिद्धचक्र यंत्र, पंचपरमेष्ठी यंत्र आदिकी आराधना करनेका विस्तृत वर्णन किया गया है। तदनन्तर श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन करते हुए दानके भेद, दानका फल, पात्र-अपात्रका निर्णय और पुण्यके फलका विस्तारसे वर्णन कर अन्तमें भोगभूमिके सुखोंका वर्णन किया गया है।

देव-पूजनके वर्णनमें शरीर शुद्धि, आचमन और सकलीकरणका विधान है। अभिषेकके समय अपनेमें इन्द्रत्वकी कल्पनाकर और शरीरको आभूषणोंसे मंडित कर सिंहासनको सुमेरु मानकर उसपर जिन-बिम्बको स्थापन करने, दिग्पालोंका आह्वान करके उन्हें पूजन-द्रव्य आदि यज्ञांश प्रदान करनेका भी विधान किया गया है। इसी प्रकरणमें पूजनके आठों द्रव्योंके चढ़ानेके फलका भी वर्णनकर पूर्वमें आहूत देवोंके विसर्जनका निर्देश किया गया है।

परिचय और समय

देवसेनने भावसंग्रहकी अन्तिम प्रशस्तिमें रचना-काल नहीं दिया है किन्तु दर्शनसारके अन्तमें दी गई प्रशस्तिके अनुसार उसे वि० सं० ९९० में रच कर पूर्ण किया है। कुछ इतिहासज्ञ भावसंग्रहके कर्ता देवसेनको दर्शनसारके कर्तासे भिन्न मानते हैं। किन्तु श्वेताम्बर-मतकी उत्पत्ति-वाली दोनों ग्रन्थोंकी समानतासे दोनोंके रचयिता एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें 'अतो गाथाषट्कं भावसंग्रहात्' लिखकर 'संकाइदोसरहियं' आदि छह गाथाओंको उद्धृत कर अपने श्रावकाचारका अंग बनाया है, इससे भावसंग्रह वसुनन्दिसे पूर्व-रचित सिद्ध है। वसुनन्दीका समय विक्रमकी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीका मध्यकाल है अतः दर्शनसारके कर्ता देवसेन ही भावसंग्रहके कर्ता सिद्ध होते हैं। इनके द्वारा रचित १ दर्शनसार, २ भाव-संग्रह, ३ आराधनासार, ४ तत्त्वसार, ५ लघुनयचक्र और ६ आलाप पद्धति ये छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इतिहासज्ञ विद्वान् देवसेन-द्वारा रचित ग्रन्थोंका रचना-काल वि० सं० ९९० से लेकर वि० सं० १०१२ तक मानते हैं, अतः इनका समय विक्रमकी दशवीं शतीका अन्तिम चरण और ग्यारहवीं शतीका प्रथम चरण सिद्ध होता है।

३०. संस्कृत भावसंग्रह-गत श्रावकाचार—पं० वामदेव

देवसेनके प्राकृत भावसंग्रहका आधार लेकर पं० वामदेवने संस्कृत भावसंग्रहकी रचना की है। उसके पंचम गुणस्थानवाले वर्णनको प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें संकलित किया गया है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें ग्यारह प्रतिमाओंके आधार पर श्रावकधर्मका वर्णन किया गया है। सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत जिन-पूजनका विधान और उसकी विस्तृत विधिका वर्णन प्राकृत भाव संग्रहके ही समान किया गया है। अतिथिसंविभागव्रतका वर्णन दाता, पात्र, दान विधि और देय वस्तुके साथ विस्तारसे किया गया है। तीसरी प्रतिमाधारीको 'यथाजात' होकर सामायिक करनेका विधान किया गया है। शेष प्रतिमाओंका वर्णन परम्पराके अनुसार ही है। प्रतिमाओंके वर्णनके पश्चात् देवपूजा-गुरूपास्ति आदि षट् कर्तव्योंका, पूजाके भेदोंका, चारों दानोंका वर्णन कर भोगभूमिके सुखोंका वर्णन किया गया है और बताया गया है कि भद्र मिथ्यादृष्टि जीव अपने दानके फलानुसार यथा योग्य उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियों एवं कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं। अन्तमें पुण्योपार्जन करते रहनेका उपदेश दिया गया है।

प्राकृत भावसंग्रहमें पंचम गुणस्थानका वर्णन जहाँ २५० गाथाओंमें किया गया है, वहाँ इस संस्कृत भावसंग्रहमें १७९ श्लोकोंमें ही किया गया है, यह भी इसकी एक विशेषता है। प्रतिमाओंके वर्णन पर रत्नकरण्डके अनुसरणका स्पष्ट प्रभाव है, पर इसमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके दो भेदोंका उल्लेख किया गया है। प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भावसंग्रहोंमें व्रतोंके अतीचारोंका कोई वर्णन नहीं है।

परिचय और समय

सं० भावसंग्रहकी प्रशस्तिके अनुसार पं० वामदेव मुनि लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य थे। वामदेवने अपने समयका कोई उल्लेख नहीं किया है पर इनके द्वारा रचित 'त्रैलोक्य-दीपक' की जो प्रति योगिनीपुर (दिल्ली) में लिखी गई है उसमें लेखनकाल वि० सं० १४३६ दिया हुआ है, अतः इससे पूर्वका ही इनका समय सिद्ध होता है।

संस्कृत भावसंग्रहके अतिरिक्त इन्होंने १ प्रतिष्ठासूक्ति संग्रह, २ त्रैलोक्य-दीपक, ३ त्रिलोकसार पूजा, ४ तत्त्वार्थसार, ५ श्रुतज्ञानोद्यापन और ६ मन्दिरसंस्कार पूजन नामक ६ ग्रन्थोंको भी रचा है।

त्रैलोक्यदीपककी प्रशस्तिके अनुसार पं० वामदेवका कुल नैगम था। नैगम या निगम कुल कायस्थोंका है। इससे ये कायस्थ जातिके प्रतीत होते हैं।

३१. रयणसार—आचार्य कुन्दकुन्द (?)

कुछ इतिहासज्ञ विद्वान् रयणसारको आचार्य कुन्दकुन्द-रचित नहीं मानते हैं, किन्तु अभी वीर निर्वाण महोत्सवपर प्रकाशित और डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार ताड़पत्रीय प्रतिके आधारपरसे कुन्दकुन्द-रचित ही सिद्ध किया गया है। परम्परासे भी वह इनके द्वारा ही रचित माना जाता है। इसमें रत्नत्रयधर्मका वर्णन करते हुए श्रावक और मुनिधर्मका वर्णन किया गया है, उसमेंसे प्रस्तुत संग्रहमें केवल श्रावकधर्मका वर्णन ही संकलित किया गया है।

इसके प्रारम्भमें सुदृष्टि और कुदृष्टिका स्वरूप बताकर सम्यग्दृष्टिको आठ मद, छह अनायतन, आठ शंकादि दोष, तीन मूढ़ता, सात व्यसन, सात भय और पाँच अतीचार इन चवालीस दोषोंसे रहित होनेका निर्देश किया गया है। आगे बताया गया है कि दान, शील, उपवास और अनेक प्रकारका तपश्चरण यदि सम्यक्त्व सहित हैं, तो वे मोक्षके कारण हैं, अन्यथा वे दीर्घ संसारके कारण हैं। श्रावकधर्ममें दान और जिन-पूजन प्रधान हैं और मुनिधर्ममें ध्यान एवं स्वाध्याय मुख्य हैं। जो सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तिके अनुसार जिन-पूजन करता है और मुनियोंको दान देता है, वह मोक्षमार्गपर चलनेवाला और श्रावकधर्मका पालनेवाला है। इससे आगे दानका फल बताकर कहा गया है कि जिस प्रकार माता गर्भस्थ बालकी सावधानीसे रक्षा करती है, उसी प्रकारसे निरालस होकर साधुओंकी वैयावृत्य करनी चाहिए। इससे आगे जो वर्णन है उसका सार इस प्रकार है—जीर्णोद्धार, पूजा-प्रतिष्ठादिसे बचे हुए धनको भोगनेवाला मनुष्य दुर्गतियोंके दुःख भोगता है। दान-पूजादिसे रहित, कर्तव्य-अकर्तव्यके विवेकसे हीन एवं क्रूर-स्वभावी मनुष्य सदा दुःख पाता है। इस पंचम कालमें मिथ्यात्वी श्रावक और साधु मिलना सुलभ है, किन्तु सम्यक्त्वी श्रावक और साधु मिलना दुर्लभ है। इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त अज्ञानीकी अपेक्षा इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है। गुरुभक्ति-विहीन अपरिग्रही शिष्योंका तपश्चरणादि ऊसर भूमिमें बोये गये बीजके समान निष्फल है। उपशमभाव पूर्वोपार्जित कर्मका क्षय करता है और नवीन कर्मोंका आस्रव रोकता है। मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षकी प्राप्तिके लिए नाना प्रकारके शारीरिक कष्टोंको सहन करता है, परन्तु मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता। फिर मोक्ष कैसे पा सकता है? इस प्रकार रत्नत्रयधर्ममें सारभूत सम्यग्दर्शनका माहात्म्य बतलाकर इस ग्रन्थका 'रयणसार'-(रत्नसार) यह नाम सर्वथा सार्थक रखा गया है।

अभी तक किसी भी आधारसे रयणसारको अन्य आचार्य-रचित होना प्रमाणित नहीं हुआ है, अतः उसे कुन्दकुन्द-रचित माननेमें कोई बाधा नहीं है। समयसार प्रवचनसार आदिसे पूर्वकी यह उनकी प्रारम्भिक रचना होनी चाहिए।

३२. पुरुषार्थानुशासन-गत श्रावकाचार—पं० गोविन्द

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका वर्णन कर उन्हें किस प्रकारसे पालन करना चाहिए, इसका अनुशासन करनेसे ग्रन्थका 'पुरुषार्थानुशासन' यह नाम सर्वथा सार्थक है। इसमें धर्म पुरुषार्थका वर्णन श्रावक और मुनिके आश्रयसे किया गया है। उसमेंसे श्रावकके आश्रयसे किये गये धर्मका संकलन प्रस्तुत संग्रहके तीसरे भागमें किया गया है।

पुरुषार्थानुशासनमें अध्याय या परिच्छेदके स्थान पर 'अवसर' नामका प्रयोग किया है। प्रथम 'अवसर' में चारों पुरुषार्थोंकी विशेषताओंका दिग्दर्शन है और दूसरे 'अवसर' में पुराणोंके समान राजा श्रेणिकका भ० महावीरके वन्दनार्थ आने और 'मनुष्य जन्मकी सार्थकताके लिए किस प्रकारका आचरण करना चाहिए', इस प्रकारका प्रश्न पूछनेपर गौतम गणधर-द्वारा पुरुषार्थोंके वर्णनरूप कथा-सम्बन्धका वर्णन है। अतः इन दो को छोड़ कर तीसरे 'अवसर' से छठे 'अवसर' का अंश संगृहीत है। जिसका सार इस प्रकार है—

तीसरे अवसरमें—धर्मका स्वरूप और फल बताकर ११ प्रतिमाओंके आधार पर श्रावक धर्मका वर्णन, सभी व्रतों और शीलोंमें सम्यग्दर्शनकी प्रधानता, देव-शास्त्र-गुरु और धर्मका स्वरूप, सम्यक्त्वका स्वरूप और भेदोंका वर्णन, आठों अंगोंका वर्णन और २५ दोषोंका वर्णन कर अन्तमें सम्यक्त्वकी महिमाका वर्णन दर्शनप्रतिमामें किया गया है।

चौथे अवसरमें—आठों मूलगुणोंका वर्णन कर मद्य-मांसादिके सेवनके दोषोंका विस्तृत निरूपण, सप्त व्यसनोंके दोष बताकर उनके त्यागका उपदेश, रात्रि-भोजनकी निन्द्यताका वर्णन, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और भोगोपभोग एवं अतिथिसंविभाग इन दो शिक्षा व्रतोंका वर्णन व्रतप्रतिमाके अन्तर्गत किया गया है।

पाँचवें अवसरमें—सामायिक प्रतिमाके अन्तर्गत सामायिकका स्वरूप बताकर उसे द्रव्य, क्षेत्रादिकी शुद्धि-पूर्वक करनेका विधान है। इसके बत्तीस दोष बताकर उनसे रहित ही सामायिक करनेका उपदेश देकर पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत धर्मध्यानका विस्तृत निरूपण कर उनके चिन्तनका विधान किया गया है।

छठे अवसरमें चौथी प्रोषधप्रतिमासे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तककी ८ प्रतिमाओंका बहुत सुन्दर एवं विशद वर्णन किया गया है। अनुमति त्यागी किस प्रकारके कार्योंमें अनुमति न दे, और किस प्रकारके कार्योंमें देवे, इसका विस्तृत वर्णन पठनीय है। ग्यारहवीं प्रतिमाका वर्णन बिना भेदके ही किया गया है। अन्तमें समाधिमरणका निरूपण कर श्रावक धर्मका वर्णन समाप्त किया गया है।

परिचय और समय

पुरुषार्थानुशासनके अन्तमें ग्रन्थकारने जो बृहत्प्रशस्ति दी है, उससे ज्ञात होता है कि मूल संघमें भट्टारक श्री जिनचन्द्र, उनके पट्टपर मलयकीर्त्ति और उनके पट्ट पर कमलकीर्त्ति आचार्य हुए। उनके समयमें कायस्थोंके माथुर वंशमें श्री अमर सिंह हुए। उनके पुत्र लक्ष्मण हुए। उन्होंने अग्रवाल जातिके गार्ग्य गोत्रोत्पन्न पं० गोविन्दसे इस पुरुषार्थानुशासन नामक ग्रन्थकी रचना करायी है।

प्रशस्तिगत वे पद्य इस प्रकार हैं—

तस्यानेकगुणस्य शस्यधिषणस्यामर्त्यसिंहस्य स
ख्यातः सूनुरभूत् प्रतापवसतिः श्री लक्ष्मणाख्यः क्षितौ।
यं वीक्ष्येति वितर्क्यते सुकविभिर्नीत्वा तनुं मानवीं
धर्मोऽयं नु नयोऽथवाऽथ विनयः प्राप्तः प्रजापुण्यतः॥ १८॥

यशो यैर्लक्ष्मणस्यैणलक्ष्मणाऽत्रोपमीयते।
शङ्के न तत्र तैः साक्षाच्चिल्लाक्षैर्लक्ष्म लक्षितम्॥ १९॥

स नय-विनयोपेतैर्वाक्यैर्मुहुः कविमानसं
सुकृत-सुकृतापेक्षो दक्षो विधाय समुद्यतम्।
श्रवणयुगलस्याऽऽत्मीयस्यावतंसकृते
कृतीस्तु विशदमिदं शास्त्राम्भोजं सुबुद्धिरकारयत्॥ २१॥

अथाऽस्त्यग्रोतकानां सा पृथ्वी पृथ्वीव सन्ततिः।
सच्छायाः सफला यस्यां जायन्ते नर-भूरुहाः॥ २२॥

गोत्रं गार्ग्यमलञ्चकार य इह श्रीचन्द्रमाश्चन्द्रमो-
बिम्बास्यस्तनयोऽस्य धीर इति तत्पुत्रश्च होंगाभिधः।
देहे लब्धनिजोद्भवेन सुधियः पद्मश्रियस्तस्त्रियो
नव्यं काव्यमिदं व्यधायि कविनाऽर्हत्पादपद्मालिना॥ २३॥

(१. पदादिवर्णसंज्ञेन गोविन्देन)

इसी कारण पं० गोविन्दने इसे श्री लक्ष्मणके नामसे अंकित किया है'। जैसा कि 'अवसर' के अन्तमें पाई जानेवाली पुष्पिकाओंसे स्पष्ट है—

इति श्री पंडित गोविन्द-विरचिते पुरुषार्थानुशासने कायस्थमाथुरवंशावतंस
श्री लक्ष्मणनामाङ्किते गृहस्थधर्मोपदेशाख्योऽयं षष्ठोऽवसरः॥ ६॥

'भट्टारक-सम्प्रदायमें 'मलयकीर्त्ति' नामके दो भट्टारकोंका उल्लेख है। एक वे जिन्होंने वि० सं० १५०२ में एक मंत्रको लिखाया और वि० सं० १५१० में एक मूर्त्ति प्रतिष्ठित करायी। दूसरे वे जिनके पट्टशिष्य नरेन्द्रकीर्त्तिने पिरोजसाहकी सभामें समस्या पूर्ति करके जिनमन्दिरके जीर्णोद्धार करानेकी अनुज्ञा प्राप्त की। पिरोज साह या फिरोज शाहने वि० सं० १४९३ में दिल्ली-के समीप फेरोजाबाद बसाया था। इस प्रकार दोनों ही मलयकीर्त्ति इसीके बाद हुए सिद्ध होते हैं। संभवतः दूसरे मलयकीर्तिके दूसरे शिष्य कमलकीर्त्ति हुए हैं, उनके समयमें पुरुषार्थानुशासन रचा गया है, अतः पं० गोविन्दका समय विक्रमकी सोलहवीं शतीका पूर्वार्ध जानना चाहिए।

३३. कुन्दकुन्द-श्रावकाचार—स्वामी कुन्दकुन्द

यद्यपि प्रस्तुत श्रावकाचारके रचयिताने प्रथम उल्लासके अन्तमें दी गई पुष्पिकामें अपनेको श्री जिनचन्द्राचार्यका शिष्य स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया है और ग्रन्थारम्भके तीसरे श्लोकमें 'वन्दे जिनविधुं गुरुम्' लिखकर अपने गुरु जिनचन्द्रको वन्दन किया है, तथापि प्रस्तुत श्रावकाचार-के रचयिता दि० सम्प्रदायमें गौतम गणधरके बाद स्मरण किये जानेवाले 'कुन्दकुन्द' नहीं है। यह

निश्चित रूपसे कहा जा सकता है। इसके प्रमाणमें प्रस्तुत ग्रन्थके अनेक उल्लेख उपस्थित किये जा सकते हैं। उनमेंसे कुछको यहाँ दिया जाता है।

(१) सर्व शास्त्रोंसे कुछ सारको निकालकर अपने तथा दूसरोंके लिए पुण्य-सम्पादनार्थ इस संक्षिप्त श्रावकाचारको प्रारम्भ करना। (प्र० उ० श्लोक ८-९)

(२) पृथ्वी, जल आदिका पाँच तत्त्वोंके रूपमें उल्लेख। (प्र० उ० श्लोक २४-४३)

(३) विभिन्न प्रकारके वृक्षोंकी दातुनोंके विभिन्न गुणोंका उल्लेख। (प्र० उ० श्लोक ६३-६६)

(४) मनुस्मृति आदिके श्लोकोंके उद्धरण। (प्र०उ० श्लोक ८५-८६ आदि)

(५) खड्गासन और पद्मासन जिन-प्रतिमाओंके मान-प्रमाण आदिका विधान (प्र० उ० श्लोक १२१-१३२)

(६) हीनाधिक अंग और विभिन्न दृष्टिवाली प्रतिमा-पूजनके दुष्फलोंका वर्णन। (प्र० उ० १३८-१४४ तथा १४९-१५०)

(७) भूमि-परीक्षा। (प्र० उ० श्लोक १५३-१७०)

(८) प्रतिमा-काष्ठ-पाषाण-परीक्षा। (प्र० उ० श्लोक १७७-१८२)

(९) स्नान करनेके लिए तिथि, वार और नक्षत्रादिका विचार। (द्वि० उ० श्लोक १-१४)

(१०) क्षौर कर्मके लिए तिथि, वार और नक्षत्रादिका विचार। (द्वि० उ० श्लोक १५-२०)

(११) नवीन वस्त्र पहिरनेमें तिथि, वार और नक्षत्रादिका विचार। (द्वि० उ० श्लोक २२-२६)

(१२) ताम्बूल भक्षणके गुणगान। (द्वि० उ० श्लोक ३५-४०)

(१३) खेती करने और पशु पालनेका विधान। (द्वि० उ० श्लोक ४६-४९)

(१४) व्यापारियोंके हस्ताङ्गुलि संकेतोंका वर्णन। (द्वि० उ० श्लोक ५२-५९)

(१५) स्वामी और सेवकका स्वरूप बताकर स्वामि-सेवाका विधान। (द्वि० उ० श्लोक ७७-१०५)

(१६) मध्याह्न-कालकी पूजाके पश्चात् अपने घरके देवोंके लिए एवं अन्य देवोंके लिए पात्रमें रखकर अन्नादि समर्पणका विधान। (तृ० उ० श्लोक ८)

(१७) अतिथिको दान देनेके प्रकरणमें अजैन ग्रन्थका उद्धरण। (तृ० उ० श्लोक १६)

(१८) भोजनानन्तर मुखशुद्धिके प्रकरणमें महाभारतके श्लोकका उद्धरण। (तृ० उ० श्लोक ५४)

(१९) पुरुषके शारीरिक शुभाशुभ लक्षणोंका विस्तृत वर्णन। (पं० उ० श्लोक १०-८६)

(२०) वधूके शारीरिक शुभाशुभ लक्षणोंका विस्तृत वर्णन। (पं० उ० श्लोक ८७-११०)

(२१) विषकन्या का वर्णन। (पं० उ० श्लोक १२१-१२६)

(२२) विभिन्न ऋतुओंमें स्त्री-सेवनके कालका विधान और वात्स्यायन तथा वाग्भट्टका उल्लेख। (पं० उ० श्लोक १४४-१४६)

(२३) ऋतुकालमें स्त्री-सेवनका विधान। (पं० उ० श्लोक १७८-१८३)

(२४) शरीरमें वीर्यवृद्धिके लिए वृष्ययोगका निरूपण। (प० उ० श्लोक २००-२०१)

(२५) छहों ऋतुओंके आहार-विहारादिका वर्णन। (पूरा छठा उल्लास)

(२६) अर्थोपार्जनकी प्रेरणा। (पूरा सातवाँ उल्लास)

(२७) गृहस्थजीवनमें आवश्यक देशाटक, शकुन अपशकुन, गृह-निर्माण, वास्तु-शुद्धि, आय-ज्ञान, गुरु-शिष्य-लक्षण, लौकिक शास्त्रोंके अध्ययनकी प्रेरणा, संगीत और कामशास्त्रकी उपयोगिता, सर्पोंके भेद, स्वरूप और उनके विषादिका विस्तृत वर्णन आदि। (अष्टम उल्लास श्लोक १-२४०)।

(२८) विवेकपूर्वक वचनोच्चारण, निरीक्षण-प्रकार और गमनादिक वर्णन। अष्टम उ० श्लोक ३०६-३५०)

इस प्रकारके वर्णन प्रसिद्ध समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थोंके प्रणेता श्री कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा किया जाना कभी संभव नहीं है। भट्टारकोंको उनके भक्त लोग 'स्वामी' शब्दसे अभिहित करने लगे थे, अतः यही जान पड़ता है कि इस श्रावकाचारकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यके नामपर किसी भट्टारकके द्वारा की गई है।

इसके रचयिता जैनदर्शन और धर्मसम्बन्धी अध्ययन बिलकुल साधारण-सा प्रतीत होता है, इसका अनुभव 'षट्दर्शन विचार' शीर्षकके अन्तर्गत जैनदर्शनके वर्णनसे पाठकोंको स्वयं होगा। जहाँपर कि पुण्यका अन्तर्भाव संवरतत्त्वमें किया गया है। (भा० ४ पृ० ९७ श्लोक २४९)

प्रसिद्ध कुन्दकुन्दाचार्यने अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध समयसारके प्रारम्भमें ही 'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा' कहकर जिस काम-भोग-बन्धकथाको त्यागकर शुद्ध आत्माका निरूपण अपने समयसारमें किया है उनसे इस प्रकार अर्थ और कामपुरुषार्थका वर्णन होना सम्भव नहीं है।

दूसरे आचार्य कुन्दकुन्दके सभी ग्रन्थ प्राकृत भाषामें रचित हैं और उनकी गाथाएँ परवर्ती अनेक आचार्योंके द्वारा अपने-अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत पायी जाती हैं। परन्तु प्रस्तुत श्रावकाचारका एक भी श्लोक किसी ग्रन्थमें उद्धृत नहीं पाया जाता है।

तीसरे आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंमें किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थोंसे कुछ भी उद्धरण देनेका उल्लेख नहीं किया है, जबकि प्रस्तुत श्रावकाचारमें स्पष्ट शब्दोंके द्वारा सर्वशास्त्रोंके सारको निकालकर अपने ग्रन्थ-निर्माण करनेका उल्लेख किया है। उनके इस कथनका जब पूर्व-रचित जैन ग्रन्थोंके साथ मिलान करते हैं, तब किसी भी पूर्व-रचित जैन ग्रन्थसे सार लेकर ग्रन्थका रचा जाना सिद्ध नहीं होता है, प्रत्युत अनेक जैनेतर ग्रन्थोंका सार लेकर प्रस्तुत ग्रन्थका रचा जाना ही सिद्ध होता है।

चौथे आचार्य कुन्दकुन्दने अपने चारित्र पाहुडमें ग्यारह प्रतिमाओंका नाम-निर्देश करके श्रावकधर्मके १२ व्रतोंका केवल नामोल्लेखमात्र करके वर्णन किया है, जबकि प्रस्तुत सम्पूर्ण

श्रावकाचारमें कहींपर भी न ग्यारह प्रतिमाओंका नामोल्लेख है और न स्पष्टरूपसे कहींपर भी श्रावकोंके अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप बारह व्रतोंका ही निर्देश किया गया है।

पाँचवें आचार्य कुन्दकुन्दने अपने अध्यात्म ग्रन्थोंमें पापके समान पुण्यको भी हेय बताकर उसके त्यागका ही उपदेश किया है, जब प्रस्तुत श्रावकाचारमें स्थान-स्थानपर पुण्यके उपार्जनकी प्रेरणा पायी जाती है।

इन सब कारणोंसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रस्तुत श्रावकाचार प्रसिद्ध आचार्य कुन्द-कुन्दके द्वारा नहीं रचा गया है। किन्तु परवर्ती किसी कुन्दकुन्द-नामधारी व्यक्तिके द्वारा रचा गया है।

■

प्रस्तावना

१. सम्यग्दर्शन

श्रावकधर्मका ही नहीं, अपितु मुनिधर्मका भी मूल आधार सम्यग्दर्शन ही है। इसलिए सभी श्रावकाचारोंमें सर्व प्रथम इसीका वर्णन किया गया है। किन्तु इसके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने जिस प्रकारसे उस पर प्रकाश डालकर धर्म-धारकोंका उद्बोधन किया है, और सरल एवं विशद रीतिसे उसका वर्णन किया है, वह अनुपम एवं अनुभव-पूर्ण है। उनके जीवनमें जो उतार-चढ़ाव आया और जैसी घटनाएँ घटीं, उन सब पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने सम्यग्दर्शनका स्वरूप, उसके अंग और दोष बताकर उसे निर्दोष पालन करनेकी प्रेरणा करते हुए सम्यक्त्वकी महिमा बतानेके साथ किसी भी प्रकारके गर्व करनेवालों पर जो प्रहार किया है, वह सचमुच अद्वितीय है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने पूर्ववर्ती कुन्दकुन्दाचार्यके समान न निश्चय सम्यक्त्वकी चर्चा की, और न उमास्वातिके समान तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्वका निरूपण किया। किन्तु परमार्थ स्वरूप आप्त (देव) तत्प्रतिपादित आगम और निर्ग्रन्थ गुरुओंका तीन मूढ़ताओं और आठ मदोंसे रहित एवं आठ अंगोंसे युक्त होकर श्रद्धान करनेको सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ 'आप्त' पद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि उसके स्थान पर 'देव' शब्द कहते, तो स्वर्गादिके देवोंका ग्रहण संभव था, यदि 'ईश्वर' का प्रयोग करते तो उससे शश्वत्कर्म-विमुक्त अनादिनिधन माने जानेवाले सनातन परमेश्वर या 'महेश्वर' आदिका ग्रहण संभव था। और यदि इसी प्रकारके किसी अन्य शब्दको कहते तो उससे अवतार लेनेवाले, सृष्टि-(जन्म) और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिका ग्रहण संभव था। अतः उन सबका व्यवच्छेद करनेके लिए उन्होंने 'आप्त' पदका प्रयोग किया। इस आप्तके स्वरूपमें प्रयुक्त उत्सन्न-दोष (वीतराग) सर्वज्ञ और आगमेशी (सार्व, शास्ता या हितोपदेशी) ये तीनों ही विशेष विशेषण अपूर्व हैं। 'उत्सन्न दोष' इस पदसे सभी रागी-द्वेषी, जन्म-मरण करनेवाले एवं क्षुधा-पिपासादि दोषोंसे युक्त सभी प्रकारके देवोंका निराकरण किया गया है, 'सर्वज्ञ' पदसे अल्पज्ञानियोंका और 'आगमेशी' पदसे स्वकल्पित या कपोल-कल्पित शास्त्रज्ञोंका निराकरण कर यह प्रकट किया है कि जो सार्व अर्थात् सर्व प्राणियोंके हितका उपदेशक हो, वही आप्त हो सकता है इन तीन विशिष्ट गुणोंके बिना 'आप्तता' संभव नहीं है। यह 'आप्त' पद उन्हें कितना प्रिय था, कि उसकी मीमांसा स्वरूप देवागमस्तोत्र नामसे प्रसिद्ध 'आप्तमीमांसा' की रचना की है।

आगम या शास्त्रके लक्षणको बतलाते हुए कहा है कि जो आप्त-प्रणीत हो, वादी या प्रतिवादीके द्वारा अनुल्लंघनीय हो, प्रत्यक्ष-अनुमानादि किसी भी प्रमाणसे जिसमें विरोध या बाधा न आती हो, प्रयोजनभूत तत्त्वोंका उपदेशक हो और कुमार्गोंका उन्मूलन करनेवाला हो, ऐसा हितोपदेशी शास्तारूप आप्तके द्वारा कथित शास्त्र ही आगम कहला सकता है, इसके विपरीत जिसके प्रणेताका ही पता नहीं, ऐसे हिंसा-प्रधान वेदादिको आगम नहीं माना जा सकता।

गुरुका स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो इन्द्रियोंके विषयोंसे निस्पृह हो, आरम्भ और परिग्रहसे रहित हो, तथा ज्ञान, ध्यान और तपमें संलग्न रहता हो। उक्त विशेषणोंसे सभी प्रकार-के ढोंगी, विषय-भोगी, आरंभी, परिग्रही और ज्ञान-ध्यानसे रहित मूढ साधुओंका निराकरण किया गया है।

इस प्रकारके आप्त, आगम और साधुओंकी श्रद्धा भक्ति, रुचि या दृढ़ प्रतीतिको सम्यक्त्वका स्वरूप बताकर स्वामी समन्तभद्रने उसके आठों अंगोंका स्वरूप और उनमें ख्याति-प्राप्त प्रसिद्ध पुरुषोंके नाम कहे और साथ ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि जैसे एक अक्षरसे भी हीन मंत्र सर्प-विषको दूर करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार एक भी अंगसे हीन सम्यक्त्व भी संसारकी परम्पराको काटनेमें समर्थ नहीं है।

एक-एक अंगकी इस महत्ता पर उन लोगोंका ध्यान जाना चाहिए—जो कि पर-निन्दा और आत्म-प्रशंसा करते हुए भी स्वयंको सम्यग्दृष्टि मानते हैं। स्वामी समन्तभद्रने आठ मदोंका वर्णन करते हुए दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि जो व्यक्ति ज्ञान, तप आदिके मदावेशमें दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंकी निन्दा तिरस्कार या अपमान करता है, वह उनका नहीं, अपितु अपने ही धर्म-का अपमान करता है, क्योंकि धार्मिक जनोंके बिना धर्म रह नहीं सकता। जो जाति और कुलकी उच्चतासे दूसरे हीन जाति या कुलमें उत्पन्न हुए जनोंकी निन्दा या अपमान करते हैं उन्हें फट-कारते हुए कहा—केवल सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको भी गणधरादिने देव जैसा उच्च कहा है। जैसे भस्माच्छादित अंगार अपने आन्तरिक तेजसे सम्पन्न रहता है। भले ही भस्मसे ढके होनेसे उसका तेज लोगोंको बहिर न दिखे। सम्यक्त्व जैसे आत्मिक अन्तरंग गुणका कोई बाह्य रूप-रंग नहीं कि जो बाहिरसे देखनेमें आवे।

इस वर्णनसे उनके भस्मक व्याधि-कालके अनुभव परिलक्षित होते हैं, जब कि उस व्याधिके प्रशमनार्थ विभिन्न देशोंमें विभिन्न वेष धारण करके उन्हें परिभ्रमण करना पड़ा था और लोगोंके मुखोंसे नाना प्रकारकी निन्दा सुनना पड़ी थी। पर वे बाह्य वेष बदलते हुए भी अन्तरंगमें सम्यक्त्वसे सम्पन्न थे।

जाति और कुलके मद करनेवालोंको लक्ष्य करके कहा—जाति-कुल तो देहाश्रित गुण हैं। जीवन-भर उच्च गोत्री बना देव भी पापके उदयसे क्षण भरमें कुत्ता बन जाता है, और जीवन-भर नीच गोत्र वाला कुत्ता भी मर कर पुण्यके उदयसे देव बन जाता है।

सम्यक्त्वकी महत्ता बताते हुए उन्होंने कहा—यह सम्यग्दर्शन तो मोक्षमार्गमें कर्णधार है, इसके बिना न कोई भव-सागरसे पार ही हो सकता है और न ज्ञान-चारित्ररूप वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल-प्राप्ति ही हो सकती है। सम्यक्त्व-हीन साधुसे सम्यक्त्व युक्त गृहस्थ मोक्षमार्गस्थ एवं श्रेष्ठ है। तीन लोक और तीन कालमें सम्यक्त्वके समान कोई श्रेयस्कर नहीं और मिथ्यात्वके समान कोई अश्रेयस्कारी नहीं है। अन्तमें पूरे सात श्लोकों द्वारा सम्यग्दर्शनकी महिमाका वर्णन करते हुए उन्होंने बताया—इसके ही आश्रयसे जीव उत्तरोत्तर विकास करते हुए तीर्थंकर बनकर शिव पद पाता है।

कुन्दकुन्द स्वामीके सभी पाहुड सम्यक्त्वकी महिमासे भरपूर हैं, फिर भी उन्होंने इसके लिए एक दंसणपाहुडकी स्वतंत्र रचनाकर कहा है कि दर्शनसे भ्रष्ट ही व्यक्ति वास्तविक भ्रष्ट है,

चारित्र-भ्रष्ट हुआ नहीं, क्योंकि दर्शन-भ्रष्ट निर्माणपद नहीं पा सकता। दर्शन-विहीन व्यक्ति वन्दनीय नहीं है, सम्यक्त्वरूप जलका प्रवाह ही कर्म-बन्धका विनाशक है, धर्मात्माके दोषोंको कहनेवाला स्वयं भ्रष्ट है, सम्यक्त्वसे ही हेय-उपादेयका विवेक प्राप्त होता है, सम्यक्त्व ही मोक्ष-महलका मूल एवं प्रथम सोपान है।

सम्यक्त्व-विषयक उक्त वर्णनको प्रायः सभी परवर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंने अपनाया फिर भी कुछने जिन नवीन बातोंपर प्रकाश डाला है, उनका उल्लेख करना आवश्यक है।

स्वामी कार्तिकेयने सम्यक्त्वके उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भेदोंका स्वरूप कहकर बताया कि आदिके दो सम्यक्त्वोंको तो यह जीव असंख्य बार ग्रहण करता और छोड़ता है, किन्तु क्षायिकको ग्रहण करनेके बाद वह छूटता नहीं और उसी तीसरे और चौथे भवमें निर्वाण पद प्राप्त कराता है। इन्होंने वीतराग देव, दयामयी धर्म और निर्ग्रन्थ गुरुके माननेवालेको व्यवहार सम्यग्-दृष्टि और द्रव्योंको और उनकी सर्व पर्यायोंको निश्चयरूपसे यथार्थ जानता है, उसे शुद्ध सम्यग्-दृष्टि कहा है। सम्यक्त्व सर्व रत्नोंमें महा रत्न है, सर्व योगोंमें उत्तम योग है, सर्व ऋद्धियोंमें महा ऋद्धि और यही सभी सिद्धियोंको करनेवाला है। सम्यग्दृष्टि दुर्गतिके कारणभूत कर्मका बन्ध नहीं करता है और अनेक भव-बद्ध कर्मोंका नाश करता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने बताया कि मोक्ष-प्राप्तिके लिए सर्वप्रथम सभी प्रयत्न करके सम्यक्त्व-का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि इसके होनेपर ही ज्ञान और चारित्र होते हैं। इन्होंने जीवादि तत्त्वोंके विपरीताभिनिवेश-रहित श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा। निर्विचिकित्सा अंगके वर्णनमें यहाँ तक कहा कि इस अंगके धारकको मल-मूत्रादि को देखकर ग्लानि नहीं करनी चाहिए। उपगूह-नादि शेष चार अंगोंका स्व और परकी अपेक्षा किया गया वर्णन अपूर्व है।

सोमदेवसूरिने अपने समयमें प्रचलित सभी मत-मतान्तरोंकी समीक्षा करके उनका निरसन कर सत्यार्थ आप्त, आगम और पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यक्त्व और अश्रद्धानको मिथ्यात्व कहा। सम्यक्त्वके सराग-वीतरागरूप दो भेदोंका, उपशमादिरूप तीन भेदोंका और आज्ञा, मार्ग आदि दश भेदोंका वर्णनकर उसके २५ दोषोंको बतलाकर आठों अंगोंका वर्णन प्रसिद्ध पुरुषोंके विस्तृत कथाओंके साथ किया। प्रस्तुत संग्रहमें कथा भाग छोड़ दिया गया है।

चामुण्डरायने जिनोपदिष्ट मोक्षमार्गके श्रद्धानको सम्यक्त्वका स्वरूप बतलाकर सम्यक्त्वी जीवके संवेग, निर्वेग, आत्मा-निन्दा, आत्म-गर्हा, शमभाव, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य गुणोंका भी निरूपण किया।

आ० अमितगतिने अपने उपासकाचारके दूसरे अध्यायमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति, और उसके भेदोंका विस्तृत स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण उपेक्षाभाव है और सराग सम्यक्त्वका लक्षण प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावरूप है। इनका बहुत सुन्दर विवेचन करते हुए सम्यक्त्वके श्रद्धा भक्ति आदि आठ गुणोंका वर्णनकर अन्तमें लिखा है कि जो एक अन्तर्मुहूर्तको भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते हैं वे भी अनन्त संसारको सान्त कर लेते हैं।

आ० वसुनन्दिने सम्यक्त्वका स्वरूप बताकर कहा है कि उसके होनेपर जीवमें संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशमभाव, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण प्रकट होते हैं। वस्तुतः सम्यक्त्वी पुरुषकी पहिचान ही इन आठ गुणोंसे होती है।

सावयधम्मदोहाकारने सम्यक्त्वकी महिमा बताते हुए लिखा है कि जहाँ पर गरुड बैठा हो, वहाँ पर क्या विष-धर सर्प ठहर सकते हैं, इसी प्रकार जिसके हृदयमें सम्यक्त्वगुण प्रकाशमान है, वहाँ पर क्या कर्म ठहर सकते हैं ? अर्थात् शीघ्र ही निर्जीर्ण हो जाते हैं।

पं० आशाधरने सम्यक्त्वकी महत्ता बताते हुए कहा है कि जो व्यक्ति सर्वज्ञकी आज्ञासे 'इन्द्रिय-विषय-जनित सुख हेय है और आत्मिक सुख उपादेय है' ऐसा दृढ़ श्रद्धान करते हुए भी चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे वैषयिक सुखोंका सेवन करता है और दूसरोंको पीड़ा भी पहुँचाता है, फिर भी इन कार्योंको बुरा जानकर अपनी आलोचना, निन्दा और गर्हा करता है, वह अविरत सम्यक्त्वी भी पाप-फलसे अतिसन्तप्त नहीं होता है। जैसे कि चोरीको बुरा कार्य माननेवाला भी चोर कुटुम्ब-पालनादिसे विवश होकर चोरीको करता है और कोतवालके द्वारा पकड़े जानेपर तथा मार-पीटसे पीड़ित होनेपर अपने निन्द्य कार्यकी निन्दा करता है तो वह भी अधिक दण्डसे दण्डित नहीं होता है।

पं० मेधावीने उक्त बातका उल्लेख करते हुए लिखा है कि एक मुहूर्तमात्र भी सम्यक्त्वको धारण कर छोड़नेवाला जीव भी दीर्घकाल तक संसारमें परिभ्रमण नहीं करता। साथ ही यह भी कहा है कि आठ अंगों और प्रशम-संवेगादि भावोंसे ही सम्यक्त्वीकी पहिचान होती है।

आ० सकलकीर्तिने लिखा है कि सम्यक्त्वके बिना व्रत-तपादिसे मोक्ष नहीं मिलता। गुणभूषणने भी समन्तभद्रादिके समान सम्यक्त्वका वर्णन कर अन्तमें कहा है कि जिसके केवल सम्यक्त्व ही उत्पन्न हो जाता है, उसका नीचेके छह नरकोंमें, भवत्रिक देवोंमें, स्त्रियोंमें, कर्मभूमिज तिर्यंचों एवं दीन-दरिद्री मनुष्योंमें जन्म नहीं होता।

पं० राजमल्लजीने सम्यक्त्वका जैसा अपूर्व सांगोपांग सूक्ष्म वर्णन किया है वह श्रावकाचारोंमें तो क्या, करणानुयोग या द्रव्यानुयोगके किसी भी शास्त्रमें दृष्टि-गोचर नहीं होता। सम्यक्त्व-विषयक उनका यह समग्र विवेचन पढ़कर मनन करनेके योग्य है। प्रशम-संवेगादि गुणोंका विशद वर्णन करते हुए लिखा है कि ये बाह्य दृष्टिसे सम्यक्त्वके लक्षण हैं। यदि वे सम्यक्त्वके बिना हों तो उन्हें प्रशमाभास आदि जानना चाहिए।

उमास्वामि-श्रावकाचारमें रत्नकरण्डक, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि पूर्व-रचित श्रावकाचारोंके अनुसार ही सम्यग्दर्शन, उसके अंगोंका भेद, महिमा आदिका वर्णन करते हुए लिखा है कि हृदय-स्थित सम्यक्त्व निःशंकितादि आठ अंगोंसे जाना जाता है। इस श्रावकाचारमें प्रशम, संवेग आदि गुणोंके स्वरूपका विशद वर्णन किया गया है और अन्तमें लिखा है कि जिसके हृदयमें इन आठ गुणोंसे युक्त सम्यक्त्व स्थित है, उसके घरमें निरन्तर निर्मल लक्ष्मी निवास करती है।

पूज्यपाद श्रावकाचारमें कहा है कि जैसे भवनका मूल आधार नींव है उसी प्रकार सर्व व्रतोंका मूल आधार सम्यक्त्व है। व्रतसार श्रावकाचारमें भी यही कहा है। व्रतोद्योतन श्रावकाचार में कहा है कि सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, समिति और गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र धारण करना निरर्थक है। श्रावकाचारसारोद्धारमें तो रत्नकरण्डके अनेक श्लोक उद्धृत करके कहा है कि एक भी अंगसे हीन सम्यक्त्व जन्म-सन्ततिके छेदनेमें समर्थ नहीं है। पुरुषार्थानुशासनमें कहा है कि सम्यक्त्वके बिना दीर्घकाल तक तपश्चरण करनेपर भी मुक्तिकी प्राप्ति संभव नहीं है। इस प्रकार सभी श्रावकाचारोंमें सम्यक्त्वकी जो महिमाका वर्णन किया गया है उसपर रत्नकरण्डका स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी समन्तभद्रने तो सम्यक्त्वके आठों अंगोंमें प्रसिद्धि-प्राप्त पुरुषोंके नामोंका केवल उल्लेख ही किया है, पर सोमदेव और उनसे परवर्ती अनेक आचार्योंने तो उनके कथानकोंका विस्तारसे वर्णन भी किया है।

उपर्युक्त सर्व कथनका सार यह है कि प्रत्येक विचार-शील व्यक्तिको धर्मके मूल आधार सम्यक्त्वको सर्व प्रथम धारण करनेका प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए गुरूपदेश-श्रवण और तत्त्व-चिन्तन-मननसे आत्म-श्रद्धाकी प्राप्ति आवश्यक है।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेपर नरक, तिर्यंच और मनुष्य गतिका आयु-बन्ध न होकर देवगतिका ही आयु-बन्ध होता है। यदि मिथ्यात्वदशामें आयु-बन्ध नरकादि गतियोंका हो भी गया हो तो सातवें नरककी ३३ सागरकी भी आयु-घटकर प्रथम नरककी रह जाती है। नरक-आयुकी इतनी अधिक कमी कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि सम्यक्त्वी जीव प्रतिदिन प्रति समय जो अपने किये हुए खोटे कार्यकी निन्दा, गर्हा और आलोचना किया करता है, उसका ही यह सुफल होता है कि वह पूर्व-बद्ध तीव्र अनुभाग और अधिक स्थितिवाले कर्मोंको मन्द अनुभाग और अल्प स्थितिवाला कर देता है। अतः प्रत्येक विवेकी पुरुषको प्रति दिन अपने द्वारा किये गये पाप-कार्यौंकी आलोचना, निन्दा और गर्हा करते रहना चाहिए। सम्यक्त्वी पुरुषके आत्म-निन्दा और गर्हा ये गुण माने गये हैं। इनके द्वारा ही अविरत सम्यक्त्वी पुरुष भी प्रति समय असंख्यात-गुणी कर्म-निर्जरा करता रहता है।

२. उपासक या श्रावक

गृहस्थ व्रतीको उपासक, श्रावक, देशसंयमी, आगारी आदि नामोंसे पुकारा जाता है। यद्यपि साधारणतः ये सब पर्यायवाची नाम माने गये हैं, तथापि यौगिक दृष्टिसे उनके अर्थोंमें परस्पर कुछ विशेषता है। यहाँ क्रमशः उक्त नामोंके अर्थोंका विचार किया जाता है।

'उपासक' पदका अर्थ उपासना करनेवाला होता है। जो अपने अभीष्ट देवकी, गुरुकी, धर्मकी उपासना अर्थात् सेवा, वैयावृत्य और आराधना करता है, उसे उपासक कहते हैं। गृहस्थ मनुष्य वीतराग देवकी नित्य पूजा-उपासना करता है, निर्ग्रन्थ गुरुओंकी सेवा-वैयावृत्यमें नित्य तत्पर रहता है और सत्यार्थ धर्मकी आराधना करते हुए उसे यथाशक्ति धारण करता है, अतः उसे उपासक कहा जाता है।

'श्रावक' इस नामकी निरुक्ति इस प्रकार की गई है:—

'श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः,
तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः,
तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः
ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति।' (अभिधानराजेन्द्र 'सावय' शब्द)

इसका अभिप्राय यह है कि 'श्रावक' इस पदमें तीन शब्द हैं। इनमेंसे 'श्रा' शब्द तो तत्त्वार्थ-श्रद्धानकी सूचना करता है, 'व' शब्द सप्त धर्म-क्षेत्रोंमें धनरूप बीज बोनेकी प्रेरणा करता है और 'क' शब्द क्लिष्ट कर्म या महापापोंको दूर करनेका संकेत करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर 'श्रावक' यह नाम निष्पन्न हो जाता है।

कुछ विद्वानोंने श्रावक पद का इस प्रकारसे भी अर्थ किया है:—

अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामागारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः।—श्रावकधर्म प्र० गा० २

अर्थात् जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओंसे गृहस्थ और मुनियोंके आचार धर्मको सुने, वह श्रावक कहलाता है।

कुछ विद्वानोंने इसी अर्थको और भी पल्लवित करके कहा है:—

> श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
> कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

अर्थ—जो श्रद्धालु होकर जैन शासनको सुने, दीन जनोंमें अर्थको तत्काल वपन करे अर्थात् दान दे, सम्यग्दर्शनको वरण करे, सुकृत और पुण्यके कार्य करे, संयमका आचरण करे उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।

उपर्युक्त सर्व विवेचनका तात्पर्य यही है कि जो गुरुजनोंसे आत्म-हितकी बातको सदा सावधान होकर सुने, वह श्रावक कहलाता है[1]।

अणुव्रतरूप देश संयमको धारण करनेके कारण देशसंयमी या देशविरत कहते हैं। इसीका दूसरा नाम संयतासंयत भी है क्योंकि यह स्थूल या त्रसहिंसाकी अपेक्षा संयत है और सूक्ष्म या स्थावर हिंसाकी अपेक्षा असंयत है। घरमें रहता है, अतएव इसे गृहस्थ, सागार, गेही, गृही और गृहमेधी आदि नामोंसे भी पुकारते हैं। यहाँ पर 'गृह' शब्द उपलक्षण है, अतः जो पुत्र, स्त्री, मित्र, शरीर, भोग आदिसे मोह छोड़नेमें असमर्थ होनेके कारण घरमें रहता है उसे गृहस्थ सागार आदि कहते हैं।

३. उपासकाध्ययन या श्रावकाचार

उपासक या श्रावक जनोंके आचार-धर्मके प्रतिपादन करनेवाले सूत्र, शास्त्र या ग्रन्थको उपासकाध्ययन-सूत्र, उपासकाचार या श्रावकाचार नामोंसे व्यवहार किया जाता है। द्वादशांग श्रुतके बारह अंगोंमें श्रावकोंके आचार-विचारका स्वतन्त्रतासे वर्णन करनेवाला सातवाँ अंग उपासकाध्ययन माना गया है। आचार्य वसुनन्दिने तथा अन्य भी श्रावकाचार रचयिताओंने अपने ग्रन्थका नाम उपासकाध्ययन ही दिया है।

स्वामी समन्तभद्रने संस्कृत भाषामें सबसे पहले उक्त विषयका प्रतिपादन करनेवाला स्वतन्त्र ग्रन्थ रचा और उसका नाम 'रत्नकरण्डक' रक्खा। उसके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने अपनी टीकामें और उसके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें 'रत्नकरण्डकनाम्नि उपासकाध्ययने' वाक्यके द्वारा 'रत्नकरण्डक नामक उपासकाध्ययन' ऐसा लिखा है। इस उल्लेखसे भी यह सिद्ध है कि

---

१. परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवजुत्तो।
अइतिव्वकम्मविगमा सुक्कोसो सावगो एत्थ॥—पंचा० १ विव०
अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्परं समाचारमनुप्रभातम्।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥—(अभिधानराजेन्द्र, 'सावय' शब्द)

श्रावक-धर्मके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको सदासे उपासकाध्ययन ही कहा जाता रहा है। पीछे लोग अपने बोलनेकी सुविधाके लिए श्रावकाचार नामका व्यवहार करने लगे।

आचार्य सोमदेवने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ यशस्तिलकके पाँचवें आश्वासके अन्तमें 'उपासकाध्ययन' कहनेकी प्रतिज्ञा की है। यथा—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥

अर्थात् इस पाँचवें आश्वास तक तो मैंने महाराज यशोधरका चरित कहा। अब इससे द्वादशांग-श्रुत-पठित उपाकाध्ययनको कहूँगा।

दिगम्बर-परम्परामें श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाले जितने श्रावकाचार हैं, उन सबका संकलन प्रस्तुत संग्रहमें कर लिया गया है। उसके अतिरिक्त स्वामिकात्तिकेयानुप्रेक्षाकी धर्मभावनामें, तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्याय, आदिपुराणके ३८, ३९, ४०वें पर्वमें, यशस्तिलकके ६, ७, ८वें आश्वासमें, तथा प्रा० सं० भावसंग्रहमें भी श्रवकधर्मका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। उनका भी संकलन प्रस्तुत संग्रहमें है। श्वेताम्बर-परम्परामें उपासकदशासूत्र, श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

४. श्रावकधर्म-प्रतिपादनके प्रकार

उपलब्ध जैन वाङ्मयमें श्रावक-धर्मका वर्णन तीन प्रकारसे पाया जाता है :—

१. ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर।
२. बारह व्रत और मारणान्तिकी सल्लेखनाका उपदेश देकर।
३. पक्ष, चर्या और साधनका प्रतिपादन कर।

(१) उपर्युक्त तीनों प्रकारोंमेंसे प्रथम प्रकारके समर्थक या प्रतिपादक आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्त्तिकेय और वसुनन्दि आदि रहे हैं। इन्होंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर ही श्रावक-धर्मका वर्णन किया है। आ० कुन्दकुंदने यद्यपि श्रावक-धर्मके प्रतिपादनके लिए कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या पाहुडकी रचना नहीं की है, तथापि चारित्र-पाहुडमें इस विषयका वर्णन उन्होंने गाथाओं द्वारा किया है। यह वर्णन अति संक्षिप्त होनेपर भी अपने-आपमें पूर्ण है और उसमें प्रथम प्रकारका स्पष्ट निर्देश किया गया है। स्वामी कात्तिकेयने भी श्रावक धर्मपर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा है, पर उनके नामसे प्रसिद्ध 'अनुप्रेक्षा' में धर्मभावनाके भीतर श्रावक धर्मका वर्णन बहुत कुछ विस्तारके साथ किया है। इन्होंने भी बहुत स्पष्ट रूपसे सम्यग्दर्शन और ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर ही श्रावक धर्मका वर्णन किया है। स्वामिकात्तिकेयके पश्चात् आ० वसुनन्दिने भी उक्त सरणिका अनुसरण किया। इन तीनों ही आचार्योंने न अष्ट मूल गुणोंका वर्णन किया है और न बारह व्रतोंके अतीचारोंका ही। प्रथम प्रकारका अनुसरण करनेवाले आचार्योंमेंसे स्वामिकात्तिकेयको छोड़कर शेष सभीने सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत माना है।

उक्त तीनों प्रकारोंमेंसे यह प्रथम प्रकार ही आद्य या प्राचीन प्रतीत होता है, क्योंकि धवला और जयधवला टीकामें आ० वीरसेनने उपासकाध्ययन नामक अंगका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

१. उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारस लक्ख-सत्तरि सहस्सपदेहिं 'दंसण वद'......इदि

एक्कारसवि उवासगाणं लक्खणं तेसिं च वदारोवणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि। (षट्खंडागम धवलाटीका भा० १ पृ० १०२)

२. उवासयज्झयणं णाम अंगं दंसण-वय-सामाइय-पोसहोववास-सचित्त-रायिभत्त बंभारंभ-परिग्गहाणुमणुद्दिट्ठणामाणमेकारसण्हमुवासयाणं धम्ममेक्कारसविहं वण्णेदि (कसायपाहुड जयधवला-टीका भा० १ पृ० १३०)

अर्थात् उपासकाध्ययननामा सातवाँ अंग, दर्शन, व्रत, सामायिक आदि ग्यारह प्रकारके उपासकोंका लक्षण, व्रतारोपण आदिका वर्णन करता है।

स्वामिकार्त्तिकेयके पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवालोंमें आ० वसुनन्दि प्रमुख हैं।[१] इन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें उसी परिपाटीका अनुसरण किया है, जिसे कि आ० कुन्दकुन्द और स्वामिकार्त्तिकेयने अपनाया है।

स्वामिकार्त्तिकेयने सम्यक्त्वकी विस्तृत महिमाके पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओंके आधार पर बारह व्रतोंका स्वरूप निरूपण किया है। पर वसुनन्दिने प्रारम्भमें सात व्यसनोंका और उनके दुष्फलोंका खूब विस्तारसे वर्णन कर मध्यमें बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओंका, तथा अन्तमें विनय, वैयावृत्य, पूजा, प्रतिष्ठा और दानका वर्णन भी विस्तारसे किया है। इस प्रकार प्रथम प्रकार प्रतिपादन करनेवालोंमें तदनुसार श्रावक धर्मका प्रतिपादन क्रमसे विकसित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

(२) द्वितीय प्रकार अर्थात् बारह व्रतोंको आधार बनाकर श्रावकधर्मका प्रतिपादन करने-वाले आचार्योंमें उमास्वाति और समन्तभद्र प्रधान हैं। आ० उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें श्रावक-धर्मका वर्णन किया है। इन्होंने व्रतीके आगारी और अनगारी भेद करके अणुव्रतधारीको आगारी बताया और उसे तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप सप्त शीलसे सम्पन्न कहा[२]। आ० उमास्वातिने ही सर्वप्रथम बारह व्रतोंके पाँच-पाँच अतीचारोंका वर्णन किया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने अतीचारोंका यह वर्णन कहाँसे किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके निर्णयार्थ जब हम वर्तमानमें उपलब्ध समस्त दि० श्वे० जैन वाङ्मयका अवगाहन करते हैं, तब हमारी दृष्टि उपासकदशा सूत्र पर अटकती है। यद्यपि वर्तमानमें उपलब्ध यह सूत्र तीसरी वाचना-के बाद लिपि-बद्ध हुआ है, तथापि उसका आदि स्रोत तो श्वे० मान्यताके अनुसार भ० महावीरकी वाणीसे ही माना जाता है। जो हो, चाहे अतीचारोंके विषयमें तत्त्वार्थसूत्रकारने उपासकदशासूत्र-का अनुसरण किया हो और चाहे उपासकदशासूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रका, पर इतना निश्चित है कि दि० परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रसे पूर्व अतीचारोंका वर्णन किसीने नहीं किया।

तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशासूत्रमें एक समता और पाई जाती है और वह है मूलगुणोंके न वर्णन करनेकी। दोनों ही सूत्रकारोंने आठ मूलगुणोंका कोई वर्णन नहीं किया है। यदि कहा जाय कि तत्त्वार्थसूत्रकी संक्षिप्त रचना होनेसे अष्टमूलगुणोंका वर्णन न किया गया होगा, सो माना

---

१. यद्यपि अमितगतिने भी ११ प्रतिमाओंका वर्णन किया है, पर श्रावकके व्रतोंके वर्णनके पश्चात् किया है। ११ प्रतिमाओंके आधार पर नहीं किया है।—सम्पादक

२. देखो तत्त्वार्थ० अ० ७, सू० १८-२१।

नहीं आ सकता। क्योंकि जब सूत्रकार एक-एक व्रतके अतीचार बतानेके लिए पृथक्-पृथक् सूत्र बना सकते थे, अहिंसादि व्रतोंकी भावनाओंका भी पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते थे, तो क्या अष्टमूलगुणोंके लिए एक भी सूत्रको स्थान नहीं दे सकते थे? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके साथ ही सूत्रकारने श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका भी कोई निर्देश नहीं किया? यह भी एक दूसरा विचारणीय प्रश्न है।

तत्त्वार्थसूत्रसे उपासकदशासूत्रमें इतनी बात अवश्य विशेष पाई जाती है कि उसमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन १२ व्रतोंके सातिचार वर्णनके पश्चात् और सल्लेखना धारण करनेके पूर्व किया है। इस उपासकदशासूत्रमें वर्णित दशों ही श्रावकोंने बारह व्रतोंको जीवनके अधिकांश भागमें पालकर समाधिमरणसे पूर्व ही ११ प्रतिमाओंका पालन कर सल्लेखना स्वीकार की है। उक्त उपासकदशासूत्रमें कुन्दकुन्द या स्वामिकार्त्तिकेयके समान प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका वर्णन नहीं किया गया है। किन्तु एक नवीन ही रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है। जो इस प्रकार है :—

आनन्द नामक एक बड़ा धनी सेठ भ० महावीरके उपदेशसे प्रभावित होकर विनयपूर्वक निवेदन करता है कि भगवन्, मैं निर्ग्रन्थ प्रवचनकी श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ और वह मुझे सर्व प्रकारसे अभीष्ट एवं प्रिय भी है। भगवान्के दिव्य-सान्निध्यमें जिस प्रकार अनेक राजे-महाराजे और धनाढ्य पुरुष प्रव्रजित होकर धर्म-साधन कर रहे हैं, उस प्रकारसे मैं प्रव्रजित होनेके लिए अपनेको असमर्थ पाता हूँ। अतएव भगवन्, मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकारके गृहस्थ धर्मको स्वीकार करना चाहता हूँ।'[1] इसके अनन्तर उसने क्रमशः एक-एक पापका स्थूल रूपसे प्रत्याख्यान करते हुए पाँच अणुव्रत ग्रहण किये और दिशा आदिका परिमाण करते हुए सात शिक्षाव्रतोंको ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने घरमें रहकर बारह व्रतोंका पालन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत किये। पन्द्रहवें वर्षके प्रारम्भमें उसे विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने जीवनका बड़ा भाग गृहस्थीके जंजालमें फँसे हुए निकाल दिया है। अब जीवनका तीसरा पन है, क्यों न गृहस्थीके संकल्प-विकल्पोंसे दूर होकर और भ० महावीरके पास जाकर मैं जीवन-का अवशिष्ट समय धर्म-साधनमें व्यतीत करूँ? ऐसा विचार कर उसने जातिके लोगोंको आमन्त्रित करके उनके सामने अपने ज्येष्ठ पुत्रको गृहस्थीका सर्व भार सौंप कर सबसे बिदा ली और भ० महावीरके पास जाकर उपासकोंकी 'दंसणपडिमा' आदिको स्वीकार कर उनका यथाविधि पालन करने लगा। एक-एक 'पडिमा' को उस-उस प्रतिमाकी संख्यानुसार उतने-उतने मास तक पालन करते हुए आनन्द श्रावकने ग्यारह पडिमाओंके पालन करनेमें ६६ मास अर्थात् ५॥ वर्ष व्यतीत किये। तपस्यासे अपने शरीरको अत्यन्त कृश कर डाला। अन्तमें भक्त-प्रत्याख्यान नामक

---

१. सद्दहामि णं भंते, णिग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते, णिग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते, णिग्गंथं पावयणं। एवमेयं भंते, तहमेयं भंते, अवितहमेयं भंते, इच्छियमेयं भंते, पडिच्छियमेयं भंते, इच्छिय-पडिच्छियमेयं भंते, से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु जहा णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए बहवे राईसर तलवर-मांडविक-कोडुम्बिय-सेट्ठि-सत्थवाहप्पभिइया मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवाल-सविहं गिहिधम्मं पडिवज्जस्सामि। उपासकदशासूत्र अ० १ सू० १२।

संन्यासको धारण कर समाधिमरण किया और शुभ परिणाम या शुभ लेश्याके योगसे सौधर्म स्वर्गमें चार पल्योपमकी स्थितिका धारक महर्द्धिक देव उत्पन्न हुआ।[1]

इस कथानकसे यह बात स्पष्ट है कि जो सीधा मुनि बननेमें असमर्थ है, वह श्रावकधर्म धारण करे और घरमें रहकर उसका पालन करता रहे। जब वह घरसे उदासीनताका अनुभव करने लगे और देखे कि अब मेरा शरीर दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहा है और इन्द्रियोंकी शक्ति घट रही है, तब घरका भार बड़े पुत्रको संभलवाकर और किसी गुरु आदिके समीप जाकर क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओंका निश्चल अवधि तक अभ्यास करते हुए अन्तमें या तो मुनि बन जाय, या संन्यास धारण कर आत्मार्थको सिद्ध करे।

तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि ऐसी कोई सीधो बात नहीं कही गई है, पर सातवें अध्यायका गम्भीर अध्ययन करनेपर निम्न सूत्रोंसे उक्त कथनकी पुष्टिका संकेत अवश्य प्राप्त होता है। वे सूत्र इस प्रकार हैं :—

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥ तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७।

इनमेंसे प्रथम सूत्रमें बताया गया है कि अगारी या गृहस्थ पंच अणुव्रतका धारी होता है। दूसरे सूत्रमें बताया गया है कि वह दिग्व्रत आदि सात शीलोंसे सम्पन्न भी होता है। तीसरे सूत्रमें बताया गया है कि वह जीवनके अन्तमें मारणान्तिकी सल्लेखनाको प्रेमपूर्वक धारण करे।

यहाँ पर श्रावकधर्मका अभ्यास कर लेनेके पश्चात् मुनि बननेकी प्रेरणा या देशना न करके सल्लेखनाको धारण करनेका ही उपदेश क्यों दिया? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर यही है कि जो समर्थ है और गृहस्थीसे मोह छोड़ सकता है, वह तो पहले ही मुनि बन जाय। पर जो ऐसा करनेके लिए असमर्थ है, वह जीवन-पर्यन्त बारह व्रतोंका पालन कर अन्तमें संन्यास या समाधिपूर्वक शरीर त्याग करे।

इस संन्यासका धारण सहसा हो नहीं सकता, घरसे, देहसे और भोगोंसे ममत्व भी एकदम छूट नहीं सकता, अतएव उसे क्रम-क्रमसे कम करनेके लिए ग्यारह प्रतिमाओंकी भूमिका तैयार की गई प्रतीत होती है. जिसमें प्रवेश कर वह सांसारिक भोगोपभोगोंसे तथा अपने देहसे भी लालसा, तृष्णा, गृद्धि, आसक्ति और स्नेहको क्रमशः छोड़ता और आत्मिक शक्तिको बढ़ाता हुआ उस दशाको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जिसे चाहे साधु-मर्यादा कहिये और चाहे सल्लेखना। यहाँ यह आशंका व्यर्थ है कि दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं, उन्हें एक क्यों किया जा रहा है? इसका उत्तर यही है कि भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरणका उत्कृष्ट काल बारह वर्षका माना गया है, जिसमें ग्यारहवीं प्रतिमाके पश्चात् संन्यास स्वीकार करते हुए पाँच महाव्रतोंको धारण करने पर वह साक्षात् मुनि बन ही जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशासूत्रके वर्णनसे निकाले गये उक्त मथितार्थकी पुष्टि स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्ड-श्रावकाचारसे भी होती है। जिन्होंने मननके साथ रत्नकरण्डकका अध्ययन किया है, उनसे यह अविदित नहीं है कि कितने अच्छे प्रकारसे आचार्य समन्तभद्रने यह प्रतिपादन

१. देखो उपासकदशा सूत्र, अध्ययन १ का अन्तिम भाग।

किया है कि श्रावक बारह व्रतोंका विधिवत् पालन करके अन्तमें उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, रोग आदि निष्प्रतीकार आपत्तिके आ जानेपर अपने धर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनाको धारण करे।[1] सल्लेखनाका क्रम और उसके फलको अनेक श्लोकों द्वारा बतलाते हुए उन्होंने अन्तमें बताया है कि इस सल्लेखनाके द्वारा वह दुस्तर संसारसागरको पार करके परम निःश्रेयस—मोक्षको प्राप्त कर लेता है, जहाँ न कोई दुःख है, न रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक आदिक। जहाँ रहनेवाले अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख-आनन्द, परम सन्तोष आदिका अनन्त काल तक अनुभव करते रहते हैं। इस समग्र प्रकरणको और खास करके उसके अन्तिम श्लोकोंको देखते हुए एक बार ऐसा प्रतीत होता है मानों ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका उपसंहार करके उसे पूर्ण कर रहे हैं। इसके पश्चात् ग्रन्थके सबसे अन्तमें एक स्वतन्त्र अध्याय बनाकर एक-एक श्लोकमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप-वर्णनकर ग्रन्थको समाप्त किया गया है। श्रावक-धर्मका अन्तिम कर्त्तव्य समाधिमरणका सांगोपांग वर्णन करनेके पश्चात् अन्तमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करना सचमुच एक पहेली-सी प्रतीत होती है और पाठकके हृदयमें एक आशंका उत्पन्न करती है कि जब समन्तभद्रसे पूर्ववर्त्ती कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका वर्णन किया, तब समन्तभद्रने वैसा क्यों नहीं किया? और क्यों ग्रन्थके अन्तमें उनका वर्णन किया? पर उक्त आशंकाका समाधान उपासकदशाके वर्णनसे तथा रत्नकरण्डकके टीकाकार द्वारा प्रतिमाओंके वर्णन के पूर्व दी गई उत्थानिकासे भली भाँति हो जाता है, जहाँ उन्होंने लिखा है—

'साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशङ्क्याह।

अर्थात्—सल्लेखनाका अनुष्ठान करनेवाले श्रावककी कितनी प्रतिमा होती है, इस आशंकाका उत्तर देते हुए ग्रन्थकारने आगेका श्लोक कहा।

(३) श्रावक धर्मके प्रतिपादनका तीसरा प्रकार पक्ष, चर्या और साधनका निरूपण है। इस मार्गके प्रतिपादन करनेवालोंमें हम सर्वप्रथम आचार्य जिनसेनको पाते हैं। आचार्य जिनसेनने यद्यपि श्रावकाचार पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा है, तथापि उन्होंने अपनी सबसे बड़ी कृति महापुराणके ३९-४० और ४१वें पर्वमें श्रावक धर्मका वर्णन करते हुए ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति, उनके लिए व्रत-विधान, नाना क्रियाओं और उनके मन्त्रादिकोंका खूब विस्तृत वर्णन किया है। वहीं पर उन्होंने पक्ष, चर्या और साधनरूपसे श्रावक-धर्मका निरूपण इस प्रकारसे किया है—

स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्।
हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम्॥ १४३॥
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसंगतिः।
तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता॥ १४४॥
अपि चैषां विशुद्धयंगं पक्षश्चर्या च साधनम्।
इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे॥ १४५॥
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम्।
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम्॥ १४६॥

---

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥१२२॥—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

चर्या तु देवतार्थं वा मंत्रसिद्धयर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥ १४७ ॥
तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते।
पश्चाच्चात्मान्वयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥ १४८ ॥
चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम्।
देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्धयाऽऽत्मशोधनम् ॥ १४९ ॥
त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्-द्विजन्मनाम्।
इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥ १५० ॥

—आदिपुराण पर्व ३९

अर्थात् यहाँ यह आशंका की गई है कि जो षट्कर्मजीवी द्विजन्मा जैनी गृहस्थ हैं, उनके भी हिंसा दोषका प्रसंग होगा ? इसका उत्तर दिया गया है कि हाँ, गृहस्थ अल्प सावद्यका भागी तो होता है, पर शास्त्रमें उसकी शुद्धि भी बतलाई गई है। शुद्धिके तीन प्रकार हैं :—पक्ष, चर्या और साधन। इसका अर्थ इस प्रकार है—समस्त हिंसाका त्याग करना ही जैनोंका पक्ष है। उनका यह पक्ष मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यरूप चार भावनाओंसे वृद्धिगत रहता है। देवताकी आराधनाके लिए, या मंत्रकी सिद्धिके लिए, औषधि या आहारके लिए मैं कभी किसी भी प्राणीको नहीं मारूँगा, ऐसी प्रतिज्ञाको चर्या कहते हैं। इस प्रतिज्ञामें यदि कभी कोई दोष लग जाय तो प्रायश्चित्तके द्वारा उसकी शुद्धि बताई गई है। पश्चात् अपने सब कुटुम्ब और गृहस्थाश्रमका भार पुत्रपर डालकर घर त्याग कर देना चाहिए। यह गृहस्थोंकी चर्या कही गई है। अब साधनको कहते हैं—जीवनके अन्तमें अर्थात् मरणके समय शरीर, आहार और सर्व इच्छाओंका परित्याग करके ध्यानकी शुद्धि द्वारा आत्माके शुद्ध करनेको साधन कहते हैं। अर्हद्देवके अनुयायी द्विजन्मा जैनोंको इन पक्ष, चर्या और साधनका साधन करते हुए हिंसादि पापोंका स्पर्श भी नहीं होता है और इस प्रकार ऊपर जो आशंका की गई थी, उसका परिहार हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि जिसे अर्हद्देवका पक्ष हो, जो जिनेन्द्रके सिवाय किसी अन्य देवको, निर्ग्रन्थ गुरुके अतिरिक्त किसी अन्य गुरुको और जैनधर्मके सिवाय किसी अन्य धर्मको न माने, जैनत्वका ऐसा दृढ़ पक्ष रखनेवाले व्यक्तिको पाक्षिक श्रावक कहते हैं। इसका आत्मा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावनासे सुवासित होना ही चाहिए।[1] जो देव, धर्म, मन्त्र, औषधि, आहार आदि किसी भी कार्यके लिए जीवघात नहीं करता, न्यायपूर्वक आजीविका करता हुआ श्रावकके बारह व्रतोंका और ग्यारह प्रतिमाओंका आचरण करता है, उसे चर्याका आचरण

---

१. स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं,
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झतः।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनम्,
त्वन्तेऽन्नेह तनूज्झनाद्विशदया ध्यात्याऽऽत्मनः शोधनम् ॥१९॥
पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥२०॥—सागारधर्मामृत अ० १

करनेवाला नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।[1] जो जीवनके अन्तमें देह, आहार आदि सर्व विषय-कषाय और आरम्भको छोड़कर परम समाधिका साधन करता है, उसे साधक[2] श्रावक कहते हैं। आ० जिनसेनके पश्चात् पं० आशाधरजीने तथा अन्य विद्वानोंने इन तीनोंको ही आधार बनाकर सागार-धर्मका प्रतिपादन किया है।

५. अष्ट मूलगुणोंके विविध प्रकार

यहाँ प्रकरणवश अष्टमूलगुणोंका कुछ स्पष्टीकरण अप्रासंगिक न होगा। श्रावकधर्मके आधारभूत मुख्य गुणको मूलगुण कहते हैं। मूलगुणोंके विषयमें आचार्योंके अनेक मत रहे हैं जिनकी तालिका इस प्रकार है :—

आचार्य नाम	मूलगुणोंके नाम
(१) **आचार्य समन्तभद्र** या अनेक श्रमणोत्तम	—स्थूल हिंसादि पाँच पापोंका तथा मद्य, मांस मधु त्याग।[3]
(२) **आचार्य जिनसेन**	—स्थूल हिंसादि पाँच पापोंका तथा द्यूत, मांस और मद्यका त्याग।[4]
(३) **आचार्य सोमदेव**	—आचार्य अमृतचन्द्र, पद्मनन्दि, आशाधर, मेधावी, सकलकीर्त्ति, ब्रह्मनेमिदत्त, राजमल्ल आदि। मद्य, मांस और मधुका त्याग।[5]
(४) **अज्ञात नाम**	—(पं० आशाधरजी द्वारा उद्धृत)—मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पंच उदुम्बरफलत्याग, देवदर्शन या पंचपरमेष्ठीका स्मरण, जीवदया और वस्त्रसे छने जलका पान।[6]

---

१. देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्।
दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥१॥—सागारध० अ० ३

२. देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्धयाऽऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येष साधकः ॥—सागारध० अ० ८

३. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥—रत्नक०

४. हिंसासत्यास्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥—महापुराण (चारित्रसारे उक्तम्)

५. मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥—यशस्तिलकचम्पू

६. मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥१८॥—सागारध० अ० २
क्वचित् क्वापि शास्त्रे। यद् वृद्धा पठन्ति-
मद्योदुम्बरपञ्चामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां
नक्तंभुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतम्।
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिताः
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी ॥—(सागारध०, ज्ञानदीपिका, पृ० ६३)

पं० आशाधरने जिस मतका 'क्वचिद्' करके उल्लेख किया है, वह नीचे टिप्पणीमें दिया गया है, उसमें इतना और विशेष लिखा है कि इन अष्टमूलगुणोंमेंसे यदि एक भी मूलगुणके बिना गृहस्थ है तो वह गृहस्थ या श्रावक नहीं है।

इन चारों मतोंके अतिरिक्त एक मत और भी उल्लेखनीय है और वह मत है आचार्य अमितगतिका। उन्होंने मूलगुण यह नाम और उनकी संख्या इन दोनों बातोंका उल्लेख किये बिना ही अपने उपासकाध्ययनमें उनका प्रतिपादन इस प्रकासे किया है :—

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥
—अमितगति श्रा० अ० ५ श्लोक १

अर्थात्—व्रतग्रहण करनेकी इच्छा से विद्वान् लोग मन, वचन, कायसे मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षोंके फलोंको सेवनका त्याग करते हैं, क्योंकि इनके त्याग करनेपर गृहीत व्रत पुष्ट होता है।

इस श्लोकमें न 'मूलगुण' शब्द है और न संख्यावाची आठ शब्द। फिर भी यदि क्षीरी फलोंके त्यागको एक गिनें तो मूलगुणोंकी संख्या पाँच ही रह जाती है और यदि क्षीरी फलोंकी संख्या पाँच गिनें, तो नौ मूलगुण हो जाते हैं, जो कि अष्ट मूलगुणोंकी निश्चित संख्याका अतिक्रमण कर जाते हैं। अतएव अमितगतिका मत एक विशिष्ट कोटिमें परिगणनीय है।

सावयधम्मदोहाकारने आठ मूलगुणोंका नामोल्लेख तो नहीं किया है, पर प्रथम प्रतिमाके स्वरूपमें पाँच उदुम्बर फलोंका और व्यसनोंके त्यागका विधान किया है, अतः मद्य, मांस और मधुके त्यागरूप आठ मूलगुण आ जाते हैं। यही बात गुणभूषण श्रावकाचारमें भी है।

आ० रविषेणने पद्मचरितमें आठ मूलगुणोंका नामोल्लेखन करके मद्य, मांस, मधु, द्यूत, रात्रिभोजन और वेश्यागमन-त्यागको नियम कहा है (देखो—भा० ३ पृ० ४१७ श्लोक २३)

आ० जिनसेनने हरिवंश पुराणमें भी उक्त विधान के साथ अनन्तकायवाले मूलकन्दादिके त्यागका विधान भोगोपभोग परिमाणव्रतके अन्तर्गत किया है। (देखो—भा० ३ पृ० ४२३ श्लोक ४३)

मूलगुणोंके ऊपर दिखाये गये भेदोंको देखनेपर यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि इनके विषयमें मूलगुण माननेवाली परम्परामें भी भिन्न-भिन्न आचार्योंके विभिन्न मत रहे हैं।

सूत्रकार उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि मूलगुण ऐसा नाम नहीं दिया है और न उनकी कोई संख्या ही बताई है और न उनके टीकाकारोंने ही। पर सातवें अध्यायके सूत्रोंका पूर्वापर क्रम सूक्ष्मेक्षिकासे देखनेपर एक बात हृदयपर अवश्य अंकित होती है और वह यह कि सातवें अध्यायके प्रारम्भमें उन्होंने सर्वप्रथम पाँच पापोंके त्यागको व्रत कहा।[1] पुनः उनका देश और सर्वके भेदसे दो प्रकार बतलाया[2]। पुनः व्रतोंकी भावनाओंका विस्तृत वर्णन किया। अन्तमें पाँचों

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥
२. देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

पापोंका स्वरूप कहकर व्रतीका लक्षण कहा[1] और व्रतीके अगारी और अनगारी ऐसे दो भेद कहे[2]। पुनः अगारीको अणुव्रतधारी बतलाया[3] और उसके पश्चात् ही उसके सप्त व्रत (शील) समन्वित होनेको सूचित किया[4]। इन अन्तिम दो सूत्रोंपर गम्भीर दृष्टिपात करते ही यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि अगारी पाँच अणुव्रत और सात शीलोंका धारी होता है, तो दो सूत्र पृथक्-पृथक् क्यों बनाये ? दोनोंका एक ही सूत्र कह देते। ऐसा करनेपर 'सम्पन्न' और 'च' शब्दका भी प्रयोग न करना पड़ता और सूत्र-लाघव भी होता। पर सूत्रकारने ऐसा न करके दो सूत्र ही पृथक्-पृथक् बनाये, जिससे प्रतीत होता है कि सूत्रकारको पाँच अणुव्रत मूलगुण रूपसे और सात शील उत्तर गुण रूपसे विवक्षित रहे हैं, जिसका समर्थन श्वे० तत्त्वार्थभाष्यसे भी होता है, यह आगे बताया जायगा।

एक विचारणीय प्रश्न

यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब समन्तभद्र और चारित्रसारके उल्लेखानुसार गुणभद्र या जिनसेन जैसे महान् आचार्य पाँच अणुव्रतोंको मूलगुणोंमें परिगणित कर रहे हों, तब अमृतचन्द्र सोमदेव या उनके पूर्ववर्त्ती किसी अन्य आचार्यने उनके स्थानपर पंचक्षीरी फलोंके परि-त्यागको मूलगुण कैसे माना ? उदुम्बर फलोंमें अगणित त्रसजीव स्पष्ट दिखाई देते हैं और उनके खानेमें अहिंसाका या मांस खानेका पाप लगता है। त्रसहिंसाके परिहारसे उसका अहिंसाणुव्रतमें अन्तर्भाव किया जा सकता था ? ऐसी दशामें पंच उदुम्बरोंके परित्यागको पाँच मूलगुण न मानकर एक ही मूलगुण मानना अधिक तर्कयुक्त था। विद्वानोंके लिए यह प्रश्न अद्यावधि विचारणीय बना हुआ है। संभव है किसी समय क्षीरी फलोंके भक्षणका सर्वसाधारणमें अत्यधिक प्रचार हो गया हो, और उसे रोकनेके लिए तात्कालिक आचार्योंको उसके निषेधका उपदेश देना आवश्यक रहा हो और इसीलिए उन्होंने पंचक्षीरी फलोंके परिहारको मूलगुणोंमें स्थान दिया हो।

लाटीसंहिताकार राजमल्लजीने उदुम्बरको उपलक्षण मानकर त्रसजीवोंसे आश्रित फलों-के और अनन्तकायिक साधारण वनस्पतिके भक्षणका भी निषेध अष्टमूलगुणके अन्तर्गत कहा है।

(देखो भा० ३, पृ० १० श्लोक ७८-७९)

६. शीलका स्वरूप एवं उत्तरव्रत-संख्यापर विचार

सूत्रकार द्वारा गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंको जो 'शील' संज्ञा दी गई है, उस 'शील' का क्या स्वरूप है, यह शंका उपस्थित होती है। आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें 'शील' का स्वरूप इस प्रकारसे दिया है :—

संसारारातिभीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम्।
गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥ ४१ ॥

(अमि० श्रा० परि० १२, श्रा० सं० भा० १)

---

१. निःशल्यो व्रती ॥१८॥

२. अगार्यनगारश्च ॥१९॥

३. अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

४. दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

—तत्त्व० अ० ७

अर्थात्—संसारके कारणभूत कर्मशत्रुओंसे भयभीत श्रावकके गुरुसाक्षीपूर्वक ग्रहण किये गये सब व्रतोंके रक्षणको शील कहते हैं।

पूज्यपाद श्रावकाचारमें शीलका लक्षण इस प्रकार दिया है :—

यद् गृहीतं व्रतं पूर्वं साक्षीकृत्य जिनान् गुरून् ।
तद्व्रताखंडनं शीलमिति प्राहुर्मुनीश्वराः ॥ ७८ ॥

अर्थात्—देव या गुरुकी साक्षीपूर्वक जो व्रत पहले ग्रहण कर रखा है, उसका खंडन नहीं होने देनेको अर्थात् सावधानीपूर्वक उसकी रक्षा करनेको मुनीश्वर 'शील' कहते हैं।

शीलके इसी भावको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अमृतचन्द्राचार्यने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें व्यक्त किया है कि जिस प्रकार कोट नगरोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार शील व्रतोंकी रक्षा करते हैं, अतएव व्रतोंकी करनेके लिए शीलोंको भी पालना चाहिए[1]।

व्रतका अर्थ हिंसादि पापोंका त्याग है और शीलका अर्थ गृहीत व्रतकी रक्षा करना है। जिस प्रकार कोट नगरका या बाढ़ बीजका रक्षक है उसी प्रकार शील भी व्रतोंका रक्षक है। नगर मूल अर्थात् प्रथम है और कोट उत्तर अर्थात् पीछे है। इसी प्रकार बीज प्रथम या मूल है और काँटे आदिकी बाढ़ उत्तर है। ठीक इसी प्रकार अहिंसादि पाँच व्रत श्रावकोंके और मुनियोंके मूल-गुण हैं और शेष शील व्रत या उत्तर गुण हैं, यह फलितार्थ जानना चाहिए।

तत्त्वार्थभाष्यके उल्लेखानुसार श्रावकके शील और उत्तरगुण एकार्थक रहे हैं। यही कारण है कि सूत्रकारादि जिन अनेक आचार्योंने गुणव्रत और शिक्षाव्रतकी शील संज्ञा दी है, उन्हें ही सोमदेव आदिने उत्तरगुणोंमें गिना है। हाँ, मुनियोंके अठारह हजार शीलके भेद और चौरासी लाख उत्तरगुण उत्तरोत्तर विकास और परम यथाख्यात चारित्रकी अपेक्षा कहे गये हैं।

उक्त निष्कर्षके प्रकाशमें यह माना जा सकता है कि उमास्वाति या उनके पूर्ववर्ती आचार्योंको श्रावकोंके मूलव्रत या मूलगुणोंकी संख्या पाँच और शीलरूप उत्तरगुणकी संख्या सात अभीष्ट थी। परवर्त्ती आचार्योंने उन दोनोंकी संख्याको पल्लवितकर मूलगुणोंको संख्या आठ और उत्तरगुणोंकी संख्या बारह कर दी। हालाँकि समन्तभद्रने आचार्यान्तरोंके मतसे मूलगुणोंकी संख्या आठ कहते हुए भी स्वयं मूलगुण या उत्तरगुणोंकी कोई संख्या नहीं कही है, और न मूल वा उत्तर रूपसे कोई विभाग ही किया है।

७. वर्तमान समयके अनुकूल आठ मूलगुण

आजकलके वर्तमान समयको देखते हुए पं० आशाधर द्वारा मतान्तररूपसे उद्धृत आठ मूल-गुण अधिक उपयुक्त हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. मद्यपान त्याग, २. मांस-भक्षण त्याग, ३. मधु-सेवन त्याग, ४. रात्रिभोजन त्याग, ५. उदुम्बरफल भक्षण त्याग, ६. अगालित जलपान त्याग, ७. नित्यदेवदर्शन या पंचपरमेष्ठी-स्मरण और ८. जीव दया-पालन। (देखो—भा० २ पृ० ८ श्लोक १८)

---

१. परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥—पुरुषार्थसि०

श्रावकके इन आठ मूलगुणोंकी पुष्टि व्रतोद्योतन श्रावकाचारके श्लोक २४४ (देखो—भा० ३, पृ० २३२) से तथा सावयधम्मदोहाके दोहा ७७ से भी होती है। (देखो—भा० १ पृ० ४९०)

रात्रि-भोजन

शीतकालमें जबकि दिन बहुत छोटे होने लगते हैं—खेती करनेवाले और सरकारी नौकरी करनेवाले लोगोंको सायंकालका भोजन सूर्यास्तके पूर्व करनेमें कठिनाईका अनुभव होता है, उनके लिए प्रथम और श्रेष्ठ मार्ग तो यह है कि वे खेतपर या नौकरीपर जाते समय ही सायंकालका भोजन साथ ले जावें और सूर्यास्तसे पूर्व भोजन कर लेवें। यदि ऐसा न कर सकें तो उन्हें रात्रिमें कालकृत नियम अवश्य कर लेना चाहिए कि हम रातमें सात या आठ बजे तक ही भोजन करेंगे, उसके पश्चात् नहीं करेंगे। शास्त्रोंमें ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं कि जिसने एक प्रहर-प्रमाण भी रात्रि-भोजनका त्याग किया है, वह भी उसके सुफलको प्राप्त हुआ है।

आजके विद्युत्-प्रकाशको लेकर लोग रात्रि-भोजन करनेमें जीव-घात न होने या जीव-भक्षण न होनेकी बात कहते हैं, किन्तु उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि विद्युत्के तीव्र प्रकाशसे और भी अधिक जीव आकृष्ट होते हैं और वे गमनागमनके द्वारा या भोजनमें गिरकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। आ० अमृतचन्द्र, अमितगति, सकलकीर्त्ति आदिने रात्रिभोजनके दोषोंका बहुत विस्तृत वर्णन किया है, रात्रिमें भोजन करनेवाले व्यक्तियोंको उनपर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

कुछ लोग रात्रिमे अन्नसे बने भोज्य पदार्थोंके न खानेका नियम लेकर सिंघाड़ा, राजगिर आदिसे बने विविध पक्वानों या मिष्ठान्नों और रात्रिमें ही उनके द्वारा बनाये गये नमकीन भुजियोंको खाते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि उनके ऐसा करनेमें तो और भी अधिक जीव-हिंसा होती है और वे और भी अधिक पापके भागी होते हैं।

रात्रिमें भोजन न करने और सूर्यास्तसे पूर्व भोजन करनेका एक प्रसंग याद आ रहा है। जब हम षट्खण्डागमके तीसरे भागमें आये गणितके स्पष्टीकरणार्थ अमरावती कालेजमें गणितके प्रोफेसर श्री काशीनाथ पाण्डेके यहाँ चार बजे शामको जाया करते थे, तब एक दिन उन्होंने सूर्यास्तसे पूर्व शामके भोजनकी प्रशंसा करते हुए बताया कि हमारी पत्नी इससे बहुत अधिक प्रभावित हैं। वे कहती हैं कि १० मास तो हम अमरावती (स्वर्ग) में रहते हैं और दो मास लखनऊ (नरक) में रहते हैं। जब उनसे इसका खुलासा करनेको कहा गया तो उन्होंने बतलाया कि १० मास तक यहाँ रहनेपर हम लोग शामका भोजन सूर्यास्तसे पूर्व कर लेते हैं, और रसोई-घरकी सफाई आदि हो जाती है। किन्तु २ मासके ग्रीष्मावकाशमें लखनऊ (स्वदेश) जाते हैं। वहाँपर कुटुम्बका कोई व्यक्ति ८ बजे, कोई ९ बजे और कोई १०-११ बजे रातमें खाने आता है। फलस्वरूप रसोईघरकी सफाई नहीं हो पाती है और प्रातःकाल अनेकों कीड़े-मकोड़ोंसे भरे हुए बर्तनोंको देखकर रसोईघर नरक-सा दिखता है।

इस प्रसंगके उल्लेख करनेका अभिप्राय यही है कि अजैन लोग तो जैनियोंके इस अनस्तमित भोजनकी महत्ताको समझकर उसे पालनेका प्रयत्न करें और हम जैन लोग जो कुलक्रमागत रूपसे रात्रि-भोजी नहीं रहे हैं—अब रात्रिभोजन करनेकी ओर उत्तरोत्तर आगे बढ़ रहे हैं, यह महान् दुःखकी बात है।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी सूर्यास्तसे पूर्व भोजन करना परम हितकारी है। आयुर्वेदके शास्त्र बतलाते हैं कि सायंकालके भोजनके एक प्रहर पश्चात् शयन करना चाहिए, अन्यथा अजीर्ण आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। रात्रिके प्रथम और द्वितीय प्रहरमें भोजन जैसा अच्छी तरह और जल्दी पचता है, वैसा तीसरे और चौथे प्रहरमें नहीं पचता। जो लोग रात्रिमें भोजन करते हैं, उनपर ही हैजा (कालरा) आदि संक्रामक रोगोंका अधिक प्रभाव पड़ता है। हैजेसे मरनेवालोंमें बहु-संख्यक रात्रिभोजी ही मिलते हैं अतः रात्रिभोजनका परित्याग हर एक विवेकी पुरुषको अवश्य ही करना चाहिए।

वस्त्र-गालित जल

वस्त्रसे गालित जल-पान करनेकी महत्ता भी सर्वविदित है। अनछने जलमें अनेक सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं, वे जलके पीनेके साथ साथ उदरमें जानेपर स्वयं तो अनेक मर जाते हैं और अनेक जीवित रहकर बड़े हो जाते हैं और नेहरुआ जैसे भयंकर रोगोंको उत्पन्न करते हैं। इसलिए जीव-रक्षण और स्वास्थ्य-संरक्षणकी दृष्टिसे वस्त्र-गालित जलका पीना आवश्यक है।

जैन कुलमें यद्यपि मद्य, मांस और मधुका सेवन परम्परासे नहीं होता रहा है, पर आजकी नवीन पीढ़ीमें इनका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और प्रायः बड़े नगरोंके जैन नवयुवक आधुनिक होटलोंमें जाकर मद्यपान और विविध व्यंजनोंके रूपोंमें मांस-भक्षण करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं। उनके माता-पिताओंका कर्त्तव्य है कि वे घरमें ही अन्नके सरस भोज्य पदार्थ बना और खिलाकर अपनी सन्तानको होटलोंमें जाने और उक्त निन्द्य वस्तुओंके सेवन करनेसे रोकें।

इस प्रसंगमें एक सत्य घटनाका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। सन् ४३-४४ में जब मैं उज्जैन था, तब मेरे निवास स्थानके सामने एक जर्मन महिला मिस क्राउजे रहती थीं। द्वितीय युद्धके कारण वे उज्जैन नगर सीमामें नजरबंद थीं। सन् २१ में वे जैनधर्मका अभ्यास करनेके लिए जर्मनीसे भारत आयी थीं। जब वे भारत आने लगीं तो उनका पिता बोला—घास-फूस खाने-वाले शाकाहारी लोगोंके देशमें जाकर मांस जैसे पौष्टिक आहारको न करके तू बिना मौत ही मर जायगी। मिस क्राउजेने कहा—जाकर देखूँगी कि आखिर शाकभोजी लोग क्या खाकर जीवित रहते हैं। उन्होंने बताया कि जब मैं यहाँ आई और बेसन, मैदा आदिके घृत-पक्व मिष्टान्न आदि खाये, तब मैंने अपने पिताको इस विषयमें लिखा और जब मैं पहिली बार स्वदेश गयी तो वे भारतीय पकवान बना करके अपने पिताको खिलाये। वे उन्हें खाकरके अत्यधिक प्रभावित हुए और भारतीय शाकाहारके प्रशंसक ही नहीं, अपितु मांस खाना छोड़कर शाकाहारी बन गये।

मिस क्राउजे शुद्ध शाकाहारी और अनस्तमितभोजी थीं।

तत्त्वार्थसूत्रकारसे लेकर परवर्ती प्रायः सभी श्रावकाचारकारोंने ग्रहण किये गये अहिंसादि व्रतोंकी स्थिरताके लिए पाँच-पाँच भावनाएँ बतायी है। आजके जैनोंको उनकी आठ मूलगुणोंकी स्थिरता और दृढ़ताके लिए निम्न प्रकारसे भावना करनी चाहिए—

१. मैं अपने शुभ-अशुभ कर्मबन्धका स्वयं ही कर्ता और उनके फलका भोक्ता हूँ, अन्य कोई नहीं हूँ, अतः मैं दुखादिके प्रतीकारार्थ किसी भी देवी-देवताकी उपासना नहीं करूँगा। केवल वीतरागी जिनेन्द्रदेव दयामयी धर्म और निर्ग्रन्थ गुरुकी ही श्रद्धा, भक्ति और उपासना करूँगा।

२. स्वप्नमें भी मेरे मांस-भक्षणके भाव न हों।

३. स्वप्नमें भी मेरे मदिरा आदि नशीली वस्तुओंके सेवनके भाव न हों।

४. रोगादिकी प्रबलतामें भी मधुके साथ औषधि-सेवनके भाव न हों।

५. बड़, पीपल, अंजीर आदि त्रस जीव-व्याप्त किसी भी प्रकारके गीले या सूखे फलादि खानेके भाव न हों।

६. स्वप्नमें भी कभी किसी प्राणीके घात करनेके भाव न हों, किन्तु सदा जीवोंकी रक्षाके भाव बढ़ते रहें।

जिस प्रकार मिथ्यात्व और पाप कर्मोंसे बचनेके लिए उक्त भावनाएँ करनी आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मविशुद्धिकी वृद्धिके लिए निम्न भावनाएँ भी करनी चाहिए—

१. संसारके समस्त प्राणियोंके साथ मेरा सदा मैत्री भाव बना रहे।

२ गुणी जनोंमें मेरा प्रमोद भाव सदा बढ़ता रहे।

३. दुखी एवं विपद्-ग्रस्त जीवोंपर मेरी करुणा सदा जागृत रहे।

४. मेरे शत्रुओंपर भी क्षोभ न आवे, किन्तु मध्यस्थ भाव रहे।

प्रत्येक जैन या पाक्षिक श्रावकको प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल बैठकर उक्त भावनाएँ करनी आवश्यक हैं। इनके करनेसे व्यक्तिका उत्तरोत्तर विकास होगा। इस विषयमें श्री सोमदेव सूरिने बहुत उत्तम बात कही है—

अल्पात् क्लेशात्सुखं सुष्ठु स्वात्मनः यदि वाञ्छति।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(भा० १, पृ० १४७ श्लोक २६७)

अर्थात् मनुष्य यदि अल्प ही कष्ट उठाकर अपने लिए उत्तम सुख चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अपने लिए प्रतिकूल कर्मोंको दूसरेके साथ न करे।

८. श्रावकाचारोंके वर्णन पर एक विहंगम दृष्टि

स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डकका अनुसरण प्रायः परवर्ती सभी श्रावकाचार-रचयिताओंने किया है, फिर भी वसुनन्दी आदि कुछ आचार्योंने उसका अनुसरण न करके मूलगुण, अतीचार आदिका भी वर्णन न करके स्वतंत्र शैलीमें वर्णन क्यों किया ? इस पर विचार किया जाता है—

प्रस्तावनाके प्रारंभमें श्रावक धर्मके जिन तीन प्रतिपादन-प्रकारोंका उल्लेख किया गया है, संभवतः वसुनन्दिको उनमेंसे प्रथम प्रकार ही प्राचीन प्रतीत हुआ और उन्होंने उसीका अनुसरण किया हो। अतः उनके द्वारा श्रावकधर्मका प्रतिपादन प्राचीन पद्धतिसे किया गया जानना चाहिए। आ० वसुनन्दिने स्वयं अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका अनुयायी बतलाया है। अतएव इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं जो इसी कारणसे उन्होंने कुन्दकुन्द-प्रतिपादित ग्यारह प्रतिमारूप सरणिका अनुसरण किया हो। इसके अतिरिक्त वसुनन्दिने आ० कुन्दकुन्दके समान ही सल्लेखना-को चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है जो कि उक्त कथनकी पुष्टि करता है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वसुनन्दिने जिस उपासकाध्ययन का बार-बार उल्लेख किया है, संभव है उसमें श्रावक धर्मका प्रतिपादन ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर ही किया गया हो और इसी कारण उन्होंने

उसकी प्रतिपादन-पद्धतिका भी अनुसरण किया हो। जो कुछ हो, पर इतना निश्चित है कि दिगम्बर-परम्पराके उपलब्ध ग्रन्थोंमें ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावकधर्मके प्रतिपादनका प्रकार ही सर्वप्राचीन रहा है। यही कारण है कि समन्तभद्रादिके श्रावकाचारोंके सामने होते हुए भी, और संभवतः उनके आप्तमीमांसादि ग्रन्थोंके टीकाकार होते हुए भी वसुनन्दिने इस विषयमें उनकी तार्किक सरणिका अनुसरण न करके प्राचीन आगमिक-पद्धतिका ही अनुकरण किया है।

आचार्य वसुनन्दिने श्रावकके मूलगुणोंका वर्णन क्यों नहीं किया, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। वसुनन्दिने ही क्या, आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामी कार्त्तिकेयने भी मूलगुणोंका कोई विधान नहीं किया है। श्वेतांबरीय उपासकदशासूत्र और तत्त्वार्थसूत्रमें भी अष्टमूलगुणोंका कोई निर्देश नहीं है। जहाँ तक मैंने श्वेताम्बर ग्रन्थोंका अध्ययन किया है, वहाँ तक मैं कह सकता हूँ कि प्राचीन और अर्वाचीन किसी भी श्वे० आगम सूत्र या ग्रन्थमें अष्टमूलगुणोंका कोई वर्णन नहीं है। दि० ग्रन्थोंमें सबसे पहिले स्वामी समन्तभद्रने ही अपने रत्नकरण्डकमें आठ मूलगुणोंका निर्देश किया है। पर रत्नकरण्डकके उक्त प्रकरणको गवेषणात्मक दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्वयं समन्तभद्रको भी आठ मूलगुणोंका वर्णन मुख्य रूपसे अभीष्ट नहीं था। यदि उन्हें मूलगुणोंका वर्णन मुख्यतः अभीष्ट होता तो वे चारित्रके सकल और विकल भेद करनेके साथ ही मूलगुण और उत्तरगुण रूपसे विकलचारित्रके भी दो भेद करते। पर उन्होंने ऐसा न करके यह कहा है कि विकल चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत-रूपसे तीन प्रकारका है और उसके क्रमशः पाँच, तीन और चार भेद हैं।[1] इतना ही नहीं, उन्होंने पाँचों अणुव्रतोंका स्वरूप, उनके अतीचार तथा उनमें और पापोंमें प्रसिद्ध होनेवालोंके नामोंका उल्लेख करके केवल एक श्लोकमें आठ मूलगुणोंका निर्देश कर दिया है। इस अष्टमूलगुणका निर्देश करनेवाले श्लोकको भी गंभीर दृष्टिसे देखनेपर उसमें दिए गए 'आहुः' और 'श्रमणोत्तमाः' पद पर दृष्टि अटकती है। दोनों पद स्पष्ट बतला रहे हैं कि समन्तभद्र अन्य प्रसिद्ध आचार्योंके मन्तव्यका निर्देश कर रहे हैं। यदि उन्हें आठ मूलगुणोंका प्रतिपादन स्वयं अभीष्ट होता तो वे मद्य, मांस और मधुके सेवनके त्यागका उपदेश आगे जाकर, भोगोपभोग परिमाण-व्रतमें न करके यहीं, या इसके भी पूर्व अणुव्रतोंका वर्णन प्रारंभ करते हुए देते।

भोगोपभोगपरिमाणव्रतके वर्णनमें दिया गया वह श्लोक इस प्रकार है—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥—रत्नक०

अर्थात् जिन भगवान्‌के चरणोंकी शरणको प्राप्त होनेवाले व्यक्ति त्रसजीवोंके घातका परिहार करनेके लिए मांस और मधुको तथा प्रमादका परिहार करनेके लिए मद्यका परित्याग करें।

इतने सुन्दर शब्दोंमें जैनत्वकी ओर अग्रेसर होनेवाले मनुष्यके कर्त्तव्यका इससे उत्तम और क्या वर्णन हो सकता था। इस श्लोकके प्रत्येक पदकी स्थितिको देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इसके बहुत पहिले अष्टमूलगुणोंका उल्लेख किया गया है वह केवल आचार्यान्तरोंका अभिप्राय प्रकट करनेके लिए ही है। अन्यथा इतने उत्तम, परिष्कृत एवं सुन्दर श्लोकको भी वहीं, उसी श्लोकके नीचे ही देना चाहिए था।

१. देखो रत्नक० श्लोक ५१।

रत्नकरण्डकके अध्याय-विभाग-क्रमको गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारको पाँच अणुव्रत ही श्रावकके मूलगुण रूपसे अभीष्ट रहे हैं। पर इस विषयमें उन्हें अन्य आचार्योंका अभिप्राय बताना भी उचित जँचा और इसलिए उन्होंने पाँच अणुव्रत धारण करनेका फल आदि बताकर तीसरे परिच्छेदको पूरा करते हुए मूलगुणके विषयमें एक श्लोक द्वारा मतान्तर-का भी उल्लेख कर दिया है।

जो कुछ भी हो, चाहे अष्टमूलगुणोंका वर्णन स्वामी समन्तभद्रको अभीष्ट हो या न हो, पर उनके समयमें दो परम्पराओंका पता अवश्य चलता है। एक वह—जो मूलगुणोंकी संख्या आठ प्रतिपादन करती थी। और दूसरी वह—जो मूलगुणोंको या तो नहीं मानती थी, या उनको संख्या पाँच प्रतिपादन करती थी।

मूलगुणोंकी पाँच संख्या माननेवालोंमें स्वयं तत्त्वार्थसूत्रकार हैं, इसके लिए दो प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं— प्रथम तो यह कि उन्होंने ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतको 'शील' नामसे कहा है। और शीलका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने व्रत-परिरक्षक कहा है जैसे कि नगरका रक्षक उसका परकोटा होता है। (देखो भा० १ पृ० ११३ श्लोक १३६) द्वितीय प्रमाण यह है कि श्वे० तत्त्वार्थ-भाष्यकारने उक्त शील व्रतोंको उत्तरव्रत रूपसे स्पष्ट निर्देश किया है। यथा—

१. भाष्य—एभिश्च **दिग्व्रतादिभिरुत्तरव्रतैः** सम्पन्नोऽगारी व्रती भवति।

२. टीका—प्रतिपन्नाणुव्रतस्यागारिणस्तेषामेवाणुव्रतानां दार्ढ्यापादनाय शीलोपदेशः। शीलं च गुण-शिक्षाव्रतम्।

३. तत्र तेषु **उत्तरगुणेषु** सप्तसु दिग्व्रतं नाम दशानां दिशां यथाशक्ति गमनपरिमाणाभिग्रहः।

(सप्तम अध्याय सूत्र १६)

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यकार मूल व्रत ५ और उत्तरव्रत ७ मानते थे।

आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, उमास्वाति और तात्कालिक श्वेताम्बराचार्य पाँच संख्याके, या न प्रतिपादन करनेवाली परम्पराके प्रधान थे, तथा स्वामी समन्तभद्र, सोमदेव, अमृतचन्द्र आदि आठ मूलगुण प्रतिपादन करनेवालोंमें प्रधान थे। ये दोनों परम्पराएँ विक्रमकी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक बराबर चली आईं। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार—पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदि न माननेवाली परम्पराके आचार्य प्रतीत होते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंका उल्लेख इसलिए करना पड़ा कि उन सभीने भोगोपभोगपरिमाण व्रतकी व्याख्या करते हुए ही मद्य, मांस, मधुके त्यागका उपदेश दिया है। इसके पूर्व अर्थात् अणुव्रतोंकी व्याख्या करते हुए किसी भी टीकाकारने मद्य, मांस, मधु सेवनके निषेधका या अष्टमूलगुणोंके विधानका कोई संकेत नहीं किया है। उपलब्ध श्वे० उपासकदशासूत्रमें भी अष्टमूलगुणोंका कोई जिक्र नहीं है। सम्भव है, इसी प्रकार वसुनन्दिके सम्मुख जो उपासकाध्ययन रहा हो, उसमें भी अष्टमूलगुणोंका विधान न हो और इसी कारण वसुनन्दिने उनका नामोल्लेख तक भी करना उचित न समझा हो।

वसुनन्दिके उपासकाध्ययनकी वर्णन-शैलीको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जब सप्त-व्यसनोंमें मांस और मद्य ये दो स्वतंत्र व्यसन माने गये हैं और मद्य व्यसनके अन्तर्गत मधुके परित्यागका भी स्पष्ट निर्देश किया है, तथा दर्शनप्रतिमाधारीके लिए सप्त व्यसनोंके साथ पंच उदुम्बरके त्यागका भी स्पष्ट कथन किया है, तब द्वितीय प्रतिमामें या उसके पूर्व प्रथम प्रतिमामें ही

अष्टमूलगुणोंके पृथक् प्रतिपादनका कोई स्वारस्य नहीं रह जाता है। उनकी इस वर्णन-शैलीसे मूलगुण मानने और न माननेवाली दोनों परम्पराओंका संग्रह हो जाता है। माननेवाली परम्पराका संग्रह तो इसलिए हो जाता है कि मूलगुणोंके अन्तस्तत्त्वका निरूपण कर दिया है और मूलगुणोंके न माननेवाली परम्पराका संग्रह इसलिए हो जाता है कि मूलगुण या अष्टमूलगुण ऐसा नामोल्लेख तक भी नहीं किया है। उनके इस प्रकरणको देखनेसे यह भी विदित होता है कि उनका झुकाव सोमदेव और देवसेन-सम्मत अष्ट मूलगुणोंकी ओर रहा है, पर प्रथम प्रतिमाधारीको रात्रि-भोजनका त्याग आवश्यक बता[2] कर उन्होंने अमितगतिके मतका भी संग्रह कर लिया है।

अन्तिम मुख्य प्रश्न अतीचारोंके न वर्णन करनेके सम्बन्धमें है। यह सचमुच एक बड़े आश्चर्यका विषय है कि जब उमास्वातिसे लेकर अमितगति तकके वसुनन्दिसे पूर्ववर्ती सभी आचार्य एक स्वरसे व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन करते आ रहे हों, तब वसुनन्दि इस विषयमें सर्वथा मौन धारण किये रहें और यहाँ तक कि समग्र ग्रन्थ भरमें अतीचार शब्दका उल्लेख तक न करें। इस विषयमें विशेष अनुसन्धान करनेपर पता चलता है कि वसुनन्दि ही नहीं, अपितु वसुनन्दिपर जिनका अधिक प्रभाव है ऐसे अन्य अनेक आचार्य भी अतीचारोंके विषयमें मौन रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्र-पाहुडमें जो श्रावकके व्रतोंका वर्णन किया है, उसमें अतीचारका उल्लेख नहीं है। स्वामि-कार्त्तिकेयने भी अतीचारोंका कोई वर्णन नहीं किया है। इसके पश्चात् आचार्य देवसेनने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भावसंग्रहमें जो पाँचवें गुणस्थानका वर्णन किया है वह पर्याप्त विस्तृत है, पूरी २४९ गाथाओंमें श्रावक धर्मका वर्णन है, परन्तु वहाँ कहीं भी अतीचारोंका कोई जिक्र नहीं है। इस सबके प्रकाशमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस विषयमें आचार्योंकी दो पराम्पराएँ रही हैं—एक अतीचारोंका वर्णन करनेवालोंकी, और दूसरी अतीचारोंका वर्णन न करनेवालोंकी। उनमेंसे आचार्य वसुनन्दि दूसरी परम्पराके अनुयायी प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी गुरुपरम्पराके समान स्वयं भी अतीचारोंका कोई वर्णन नहीं किया है।

अब ऊपर सुझाई गई कुछ अन्य विशेषताओंके ऊपर विचार किया जाता है—

१—(अ) वसुनन्दिसे पूर्ववर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंमें समन्तभद्रने ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप स्वदार-सन्तोष या परदारा-गमनके परित्याग रूपसे किया है।[3] सोमदेवने उसे और भी स्पष्ट करते हुए 'स्ववधू और वित्तस्त्री' (वेश्या) को छोड़कर शेष परमहिला-परिहार रूपसे वर्णन किया है।[4] परवर्ती पं० आशाधरजी आदिने 'अन्यस्त्री और प्रकटस्त्री' (वेश्या) के परित्याग रूपसे प्रतिपादन किया है।[5] पर वसुनन्दिने उक्त प्रकारसे न कहकर एक नवीन ही प्रकारसे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप कहा है। वे कहते हैं कि 'जो अष्टमी आदि पर्वोंके दिन स्त्री-सेवन नहीं करता है

---

१. देखो भाग १, प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा नं० ५७-५८।

२. देखो भाग १, प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा नं० ३१४।

३. न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥—रत्नक० श्लो० ५९

४. वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥—यशस्ति० आ० ७

५. सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥—सागार० आ० ४ श्लो० ५२

और सदा अनंग-क्रीड़ाका परित्यागी है, वह स्थूल ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारी है। (देखो—भाग १ प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा नं० २१२)। इस स्थितिमें स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आ० वसुनन्दिने समन्तभद्रादि-प्रतिपादित शैलीसे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप न कहकर उक्त प्रकारसे क्यों कहा ? पर जब हम उक्त श्रावकाचारोंका पूर्वापर-अनुसन्धानके साथ गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि समन्तभद्रादिने श्रावकको अणुव्रतधारी होनेके पूर्व सप्त-व्यसनोंका त्याग नहीं कराया है, अतः उन्होंने उक्त प्रकारसे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप कहा है। पर वसुनन्दि तो प्रथम प्रतिमाधारीको ही सप्तव्यसनोंके अन्तर्गत जब परदारा और वेश्यागमन रूप दोनों व्यसनोंका त्याग करा आये हैं, तब द्वितीय प्रतिमामें उनका दुहराना निरर्थक हो जाता है। यतः द्वितीय प्रतिमाधारी पहलेसे ही परस्त्री त्यागी और स्वदार-सन्तोषी है, अतः उसका यही ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है कि वह अपनी स्त्रीका भी पर्वके दिनोंमें उपभोग न करे और अनंगक्रीड़ाका सदाके लिए परित्याग करे। इस प्रकार वसुनन्दिने पूर्व सरणिका परित्याग कर जो ब्रह्मचर्याणु-व्रतका स्वरूप कहनेके लिए शैली स्वीकार की है, वह उनकी सैद्धान्तिक-विज्ञताके सर्वथा अनुकूल है। पं० आशाधरजी आदि जिन परवर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंने समन्तभद्र, सोमदेव और वसु-नन्दिके प्रतिपादनका रहस्य न समझकर ब्रह्मचर्याणुव्रतका जिस ढंगसे प्रतिपादन किया है और जिस ढंगसे उनके अतीचारोंकी व्याख्या की है, उससे वे स्वयं स्ववचन-विरोधी बन गये हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

उत्तर प्रतिमाओंमें पूर्व प्रतिमाओंका अविकल रूपसे पूर्ण शुद्ध आचरण अत्यन्त आवश्यक है इसीलिए समन्तभद्रने 'स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः'[1] और सोमदेवने 'पूर्व-पूर्वव्रतस्थिताः' कहा है।[2] पर पं० आशाधरजी उक्त बातसे भली-भाँति परिचित होते हुए और प्रकारान्तरसे दूसरे शब्दोंमें स्वयं उसका निरूपण करते हुए भी दो-एक स्थलपर कुछ ऐसा वस्तु-निरूपण कर गये हैं, जो पूर्वापर-क्रमविरुद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—सागारधर्मामृतके तीसरे अध्यायमें श्रावककी प्रथम प्रतिमाका वर्णन करते हुए वे उसे जुआ आदि सप्तव्यसनोंका परित्याग आवश्यक बतलाते हैं[3] और व्यसन-त्यागीके लिए उनके अतिचारोंके परित्यागका भी उपदेश देते हैं, जिसमें वे एक ओर तो वेश्याव्यसनत्यागीको गीत, नृत्य, वादित्रादिके देखने, सुनने और वेश्याके यहाँ जाने-आने या संभाषण करने तकका प्रतिबन्ध लगाते हैं,[4] तब दूसरी ओर वे ही इससे आगे चलकर चौथे अध्यायमें दूसरी प्रतिमाका वर्णन करते समय ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंकी व्याख्यामें भाड़ा देकर नियत कालके लिए वेश्याको भी स्वकलत्र बनाकर उसे सेवन करने तकको अतीचार

---

१. देखो—रत्नकरण्डक, श्लोक १३६।

२. अध्यात्मिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थिरताः।
सर्वत्रापि समाः प्रोक्ताः ज्ञान-दर्शनभावनाः ॥—यशस्ति० आ० ८।

३. देखो—सागारधर्मामृत अ० ३, श्लो० १७

४. त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां षिड्गसंगतिम्।
नित्यं पण्यांगनात्यागी तद्गेहगमनादि च॥
टीका—तौर्यत्रिकासक्ति—गीतनृत्यवादित्रेषु सेवानिबन्धनम्। वृथाट्या—प्रयोजनं विना विचरणम्। तद्-गेहगमनादि—वेश्यागृहगमन-संभाषण-सत्कारादि।—(सागारध० अ० ३, श्लो० २०)

बताकर प्रकारान्तरसे उसके सेवनकी छूट दे देते हैं।[1] क्या यह पूर्व गुणके विकासके स्थानपर उसका ह्रास नहीं है? और इस प्रकार क्या वे स्वयं स्ववचन-विरोधी नहीं बन गये हैं? वस्तुतः संगीत, नृत्यादिके देखनेका त्याग भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें कराया गया है।[2]

पं० आशाधरजी द्वारा इसी प्रकारकी एक और विचारणीय बात चोरी व्यसनके अतीचार कहते हुए कही गई है। प्रथम प्रतिमाधारीको तो वे अचौर्य-व्यसनकी शुचिता (पवित्रता या निर्मलता) के लिए अपने सगे भाई आदि दायादारोंके भी भूमि, ग्राम, स्वर्ण आदि दायभागको राजवर्चस् (राजाके तेज या आदेश) से, या आजकी भाषामें कानूनकी आड़ लेकर लेनेकी मनाई करते हैं।[3] परन्तु दूसरी प्रतिमाधारीको अचौर्याणुव्रतके अतीचारोंकी व्याख्यामें चोरोंको चोरीके लिए भेजने, चोरीके उपकरण देने और चोरीका माल लेनेपर भी व्रतकी सापेक्षता बताकर उन्हें अतीचार ही बतला रहे हैं।

ये और इसी प्रकारके जो अन्य कुछ कथन पं० आशाधरजी द्वारा किये गये हैं, वे आज भी विद्वानोंके लिए रहस्य बने हुए हैं और इन्हीं कारणोंसे कितने ही लोग उनके ग्रंथोंके पठन-पाठनका विरोध करते रहे हैं। पं० आशाधर जैसे महान् विद्वान्के द्वारा ये व्युत्क्रम-कथन कैसे हुए, इस प्रश्नपर जब गम्भीरतासे विचार करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने श्रावक-धर्मके निरूपणकी परम्परागत विभिन्न दो धाराओंके मूलमें निहित तत्त्वको दृष्टिमें न रखकर उनके समन्वयका प्रयास किया, और इसी कारण उनसे उक्त कुछ व्युत्क्रम-कथन हो गये। वस्तुतः ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाली परम्परासे बारह व्रतोंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाली परम्परा बिलकुल भिन्न रही है। अतीचारोंका वर्णन प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाली परम्परामें नहीं रहा है। यह अतीचार-सम्बन्धी समस्त विचार बारह व्रतोंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका वर्णन करनेवाले उमास्वाति, समन्तभद्र आदि आचार्योंकी परम्परामें ही रहा है।

(ब) देशावकाशिक या देशव्रतको गुणव्रत माना जाय, या शिक्षाव्रत, इस विषयमें आचार्यों के दो मत हैं, कुछ आचार्य इसे गुणव्रतमें परिगणित करते हैं और कुछ शिक्षाव्रतमें। पर उसका स्वरूप वसुनन्दिसे पूर्ववर्ती सभी श्रावकाचारोंमें एक ही ढंगसे कहा है और वह यह कि जीवन-पर्यन्तके लिए किये हुए दिग्व्रतमें कालकी मर्यादा द्वारा अनावश्यक क्षेत्रमें जाने-आनेका परिमाण करना देशव्रत है। पर आ० वसुनन्दिने एकदम नवीन ही दिशासे उसका स्वरूप कहा है। वे कहते हैं :—

'दिग्व्रतके भीतर भी जिस देशमें व्रत-भंगका कारण उपस्थित हो, वहाँपर नहीं जाना सो दूसरा गुणव्रत है।' (देखो गा० २१५)

---

१. भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भंगो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भंग इति भंगाभंगरूपोऽतिचारः।
—सागारध० अ० ४ श्लो० ५८ टीका।

२. देखो—रत्नकरण्डक, श्लो० ८८।

३. दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद् गृह्णतो धनम्।
दायं वाऽपह्नुवानस्य क्वाऽचौर्यव्यसनं शुचि ॥—सागारध० अ० ३, २१

आ० वसुनन्दिके इस स्वरूपका अनुसरण परवर्ती कुछ श्रावकाचार-रचयिताओंने भी किया है। यथा—पं० मेधावी कहते हैं—जहाँ अपना व्रतभङ्ग होता हो और जिस देशमें जैन शासन न हो, उस देशमें कभी नहीं जाना चाहिए। (देखो भा० २ पृ० १३४ श्लो० ३८) गुणभूषणने भी इसी बातको दुहराया है। (देखो—भा० २ पृ० ४५० श्लो० ३३)

जब हम देशव्रतके उक्त स्वरूपपर दृष्टिपात करते हैं और उसमें दिये गये 'व्रत-भंग-कारण' पदपर गम्भीरतासे विचार करते हैं, तब हमें उनके द्वारा कहे गये स्वरूपकी महत्ताका पता लगता है। कल्पना कीजिए—किसीसे वर्तमानमें उपलब्ध दुनियामें जाने-आने और उसके बाहर न जानेका दिग्व्रत लिया। पर उसमें अनेक देश ऐसे हैं जहाँ खानेके लिए मांसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता, तो दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर होते हुए भी उनमें अपने अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए न जाना देशव्रत है। एक दूसरी कल्पना कीजिए— किसी व्रतीने भारतवर्षका दिग्व्रत किया। भारतवर्ष आर्यक्षेत्र भी है। पर उसके किसी देश-विशेषमे ऐसा दुर्भिक्ष पड़ जाय कि लोग अन्नके दाने-दानेको तरस जायँ, तो ऐसे देशमें जानेका अर्थ अपने आपको और अपने व्रतको संकटमें डालना है। इसी प्रकार दिग्व्रत-मर्यादित क्षेत्रके भीतर जिस देशमें भयानक युद्ध हो रहा हो, जहाँ मिथ्यात्वियों या विधर्मियोंका बाहुल्य हो, व्रती संयमीका दर्शन दुर्लभ हो, जहाँ पीनेके लिए पानी भी शुद्ध न मिल सके, इन और इन जैसे व्रत-भंगके अन्य कारण जिस देशमें विद्यमान हों, उनमें नहीं जाना, या जानेका त्याग करना देशव्रत है। इसका गुणव्रतपना यही है कि उक्त देशोंमें न जानेसे उसके व्रतोंकी सुरक्षा बनी रहती है। इस प्रकारके सुन्दर और गुणव्रतके अनुकूल देशव्रतका स्वरूप प्रतिपादन करना सचमुच आचार्य वसुनन्दिकी सैद्धान्तिक पदवीके सर्वथा अनुरूप है।

(स) देशव्रतके समान ही अनर्थदण्डव्रतका स्वरूप भी आचार्य वसुनन्दिने अनुपम और विशिष्ट कहा है। वे कहते हैं कि 'खड्ग, दंड, फरशा, अस्त्र आदिका न बेंचना, कूटतुला न रखना, हीनाधिक- मानोन्मान न करना, क्रूर एवं मांस-भक्षी जानवरोंका न पालना तीसरा गुणव्रत है।' (देखो गाथा नं० २१६)

अनर्थदण्डके पाँच भेदोंके सामने उक्त लक्षण बहुत छोटा या नगण्य सा दिखता है। पर जब हम उसके प्रत्येक पदपर गहराईसे विचार करते हैं, तब हमें यह उत्तरोत्तर बहुत विस्तृत और अर्थपूर्ण प्रतीत होता है। उक्त लक्षणसे एक नवीन बातपर भी प्रकाश पड़ता है, वह यह कि आचार्य वसुनन्दि कूटतुला और हीनाधिक-मानोन्मान आदिको अतीचार न मानकर अनाचार ही मानते थे। ब्रह्मचर्याणुव्रतके स्वरूपमें अनंग-क्रीडा-परिहारका प्रतिपादन भी उक्त बातकी ही पुष्टि करता है।

(२) आचार्य वसुनन्दिने भोगोपभोग-परिमाणनामक एक शिक्षाव्रतके विभाग कर भोग-विरति और उपभोग-विरति नामक दो शिक्षाव्रत गिनाये हैं। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, मैं समझता हूँ कि समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें कहींपर भी उक्त नामके दो स्वतंत्र शिक्षाव्रत देखनेमें नहीं आये। केवल एक अपवाद है। और वह है गणधर-रचित माने जानेवाला 'श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र'। वसुनन्दिने ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप वर्णन करनेवाली जो गाथाएँ अपने श्रावकाचारमें निबद्ध की हैं वे उक्त श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्रमें ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं। जिससे पता चलता है कि उक्त गाथाओंके समान भोग-विरति और उपभोग-विरति नामक दो शिक्षाव्रतोंके प्रतिपादनमें भी उन्होंने 'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र' का अनुसरण किया है। अपने कथनकी प्रामाणिकता

प्रतिपादनार्थ उन्होंने 'तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते' (गाथा २१७) वाक्य कहा है। यहाँ सूत्र पदसे वसुनन्दिका किस सूत्रकी ओर संकेत रहा है, यद्यपि यह अद्यावधि विचारणीय है, तथापि उनके उक्त निर्देशसे उक्त दोनों शिक्षाव्रतोंका पृथक् प्रतिपादन असंदिग्ध रूपसे प्रमाणित है।

(३) आचार्य वसुनन्दि द्वारा सल्लेखनाको शिक्षाव्रत प्रतिपादन करनेके विषयमें भी यही बात है। प्रथम आधार तो उनके पास श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्रका था ही। फिर उन्हें इस विषयमें आचार्य कुन्दकुन्द और देवसेन जैसोंका समर्थन भी प्राप्त था। अतः उन्होंने सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें गिनाया।

उमास्वाति, समन्तभद्र आदि अनेकों आचार्योंके द्वारा सल्लेखनाको मारणान्तिक कर्तव्यके रूपमें पृथक् प्रतिपादन करनेपर भी वसुनन्दिके द्वारा उसे शिक्षाव्रतमें गिनाया जाना उनके तार्किक होनेकी बजाय सैद्धान्तिक होनेकी ही पुष्टि करता है। यही कारण है कि परवर्ती विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें उन्हें उक्त पदसे संबोधित किया है।

(४) आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय और समन्तभद्र आदिने छठी प्रतिमाका नाम 'रात्रिभुक्तित्याग' रखा है। और तदनुसार ही उस प्रतिमामें चतुर्विध रात्रिभोजनका परित्याग आवश्यक बताया है। आचार्य वसुनन्दिने भी ग्रन्थके आरम्भमें गाथा नं० ४ के द्वारा इस प्रतिमाका नाम तो वही दिया है पर उसका स्वरूप-वर्णन दिवामैथुनत्याग रूपसे किया है। तब क्या यह पूर्वापर विरोध या पूर्व-परम्पराका उल्लंघन है? इस आशंकाका समाधान हमें वसुनन्दिकी वस्तु-प्रतिपादन-शैलीसे मिल जाता है। वे कहते हैं कि रात्रि-भोजन करनेवाले मनुष्यके तो पहिली प्रतिमा भी संभव नहीं है, क्योंकि रात्रिमें खानेसे अपरिमित त्रस जीवोंकी हिंसा होती है। अतः अर्हन्मतानुयायीको सर्वप्रथम मन, वचन, कायसे रात्रि-भुक्तिका परिहार करना चाहिए। (देखो गाथा नं० ३१४-३१८)। ऐसी दशामें पाँचवीं प्रतिमा तक श्रावक रात्रिमें भोजन कैसे कर सकता है? अतएव उन्होंने दिवामैथुन त्याग रूपसे छठी प्रतिमाका वर्णन किया। इस प्रकारसे वर्णन करनेपर भी वे पूर्वापर-विरोध रूप दोषके भागी नहीं हैं, क्योंकि 'भुज' धातुके भोजन और सेवन ऐसे दो अर्थ संस्कृत-प्राकृत साहित्यमें प्रसिद्ध हैं। समन्तभद्र आदि आचार्योंने 'भोजन' अर्थका आश्रय लेकर छठी प्रतिमाका स्वरूप कहा है और वसुनन्दिने 'सेवन' अर्थको लेकर।

आचार्य वसुनन्दि तक छठी प्रतिमाका वर्णन दोनों प्रकारोंसे मिलता है। वसुनन्दिके पश्चात् पं० आशाधरजी आदि परवर्ती दि० और श्वे० विद्वानोंने उक्त दोनों परम्पराओंसे आनेवाले और भुज् धातुके द्वारा प्रकट होनेवाले दोनों अर्थोंके समन्वयका प्रयत्न किया है और तदनुसार छठी प्रतिमामें दिनको स्त्री-सेवनका त्याग तथा रात्रिमें सर्व प्रकारके आहारका त्याग आवश्यक बताया है।

(५) आचार्य वसुनन्दिके उपासकाध्ययनकी एक बहुत बड़ी विशेषता ग्यारहवीं प्रतिमाधारी प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके लिए भिक्षा-पात्र लेकर, अनेक घरोंसे भिक्षा मांगकर और एक ठौर बैठकर खानेके विधान करनेकी है। दि० परम्परामें इस प्रकारका वर्णन करते हुए हम सर्वप्रथम आचार्य वसुनन्दिको ही पाते हैं। सैद्धान्तिक-पद-विभूषित आचार्य वसुनन्दिने प्रथमोत्कृष्ट श्रावकका जो इतना विस्तृत और स्पष्ट वर्णन किया है वह इस बातको सूचित करता है कि उनके सामने इस विषयके प्रबल आधार अवश्य रहे होंगे। अन्यथा उन जैसा सैद्धान्तिक विद्वान् पात्र रखकर और पाँच-सात घरसे भिक्षा मांगकर खानेका स्पष्ट विधान नहीं कर सकता था।

अब हमें देखना यह है कि वे कौनसे प्रबल प्रमाण उनके सामने विद्यमान थे, जिनके आधारपर उन्होंने उक्त प्रकारका वर्णन किया ? सबसे पहले हमारी दृष्टि उक्त प्रकरणके अन्तमें कही गई गाथापर जाती है, जिसमें कहा गया है कि 'इस प्रकार मैंने ग्यारहवें स्थानमें सूत्रानुसार दो प्रकारके उद्दिष्टपिंडविरत श्रावकका वर्णन संक्षेपसे किया।' (देखो गाथा नं० ३१३)। इस गाथा-में दिये गये दो पदोंपर हमारी दृष्टि अटकती है। पहला पद है 'सूत्रानुसार', जिसके द्वारा उन्होंने अपने प्रस्तुत वर्णनके स्वकपोल-कल्पितत्वका परिहार किया है। और दूसरा पद है 'संक्षेपसे' जिसके द्वारा उन्होंने यह भाव व्यक्त किया है कि मैंने जो उद्दिष्ट-पिंडविरतका इतना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया है, उसे कोई 'तिलका ताड़' या 'राईका पहाड़' बनाया गया न समझे, किन्तु आगम-सूत्रमें इस विषयका जो विस्तृत वर्णन किया गया है, उसे मैंने 'सागरको गागरमें भरने'के समान अत्यन्त संक्षेपसे कहा है।

अब देखना यह है कि वह कौन-सा सूत्र-ग्रन्थ है, जिसके अनुसार वसुनन्दिने उक्त वर्णन किया है ? उनके उपासकाध्ययनपर जब हम एक बार आद्योपान्त दृष्टि डालते हैं तो उनके द्वारा बार-बार प्रयुक्त हुआ 'उवासयज्झयण' पद हमारे सामने आता है। वसुनन्दिके पूर्ववर्त्ती आचार्य अमितगति, सोमदेव और भगवज्जिनसेनने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें 'उपासकाध्ययन' का अनेक बार उल्लेख किया है। उनके उल्लेखोंसे इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि वह उपासकाध्ययन सूत्र प्राकृत भाषामें रहा है, उसमें श्रावकोंके १२ व्रत या ११ प्रतिमाओंके वर्णनके अतिरिक्त पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक रूपसे भी श्रावक-धर्मका वर्णन था। भगवज्जिनसेनके उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि उसमें दीक्षान्वयादि क्रियाओंका, षोडश संस्कारोंका, सज्जातित्व आदि सप्त परम स्थानोंका, नाना प्रकारके व्रत-विधानोंका और यज्ञ, जप, हवन आदि क्रियाकांडका समंत्र सविधि वर्णन था। वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ, जयसेन प्रतिष्ठापाठ और सिद्धचक्रपाठ आदिके अवलोकनसे उपलब्ध प्रमाणोंके द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि उस उपासकाध्ययनमें क्रियाकांड-सम्बन्धी मंत्र तक प्राकृत भाषामें थे। इतना सब होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त सभी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट उपासकाध्ययन एक ही रहा है। यदि सभीका अभिप्रेत उपासकाध्ययन एक ही होता, तो जिनसेनसे सोमदेवके वस्तु-प्रतिपादनमें इतना अधिक मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर न होता। यदि सभीका अभिप्रेत उपासकाध्ययन एक ही रहा है, तो निश्चयतः वह बहुत विस्तृत और विभिन्न विषयोंकी चर्चाओंसे परिपूर्ण रहा है, पर जिनसेन आदि किसी भी परवर्त्ती विद्वान्-को वह अपने समग्र रूपमें उपलब्ध नहीं था। हाँ, खंड-खंड रूपमें वह यत्र-तत्र तत्तद्विषयके विशेषज्ञोंको स्मृत या उनके पास अवश्य रहा होगा और संभवतः यही कारण रहा है कि जिसे जो अंश उपलब्ध रहा, उसने उसीका ग्रन्थमें उपयोग किया।

दि० साहित्यमें अन्वेषण करनेपर भी ऐसा कोई आधार नहीं मिलता है जिससे कि प्रथमोत्कृष्ट श्रावककी उक्त चर्या प्रमाणित की जा सके। हाँ, बहुत सूक्ष्म रूपमें कुछ बीज अवश्य उपलब्ध हैं। पर जब वसुनन्दि कहते हैं कि मैंने उक्त कथन संक्षेपसे कहा है, तब निश्चयतः कोई विस्तृत और स्पष्ट प्रमाण उनके सामने अवश्य रहा प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् उक्त चर्याका विधान शूद्र-जातीय उत्कृष्ट श्रावकके लिए किया गया बतलाते हैं, पर वसुनन्दिके शब्दोंसे ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है।

श्वेताम्बरीय आगम-साहित्यसे उक्त चर्याकी पुष्टि अवश्य होती है जो कि साधुके लिए

बतलाई गई है। और इसीलिए ऐसा माननेको जी चाहता है कि कहीं श्वे० साधुओंको संग्रह करने-की दृष्टिसे प्रथमोत्कृष्ट श्रावककी वैसी चर्याका वर्णन न किया हो ? श्वेताम्बरीय साधुओंके गोचरी-विधानमें ५-७ घरोंसे थोड़ी-थोड़ी मात्रामें भिक्षा लानेका अवश्य विधान है। और वह आज तक प्रचलित है।

स्वामी समन्तभद्रने ग्यारहवीं प्रतिमाका जो स्वरूप-वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ (श्री० भा० १ पृ० १८ श्लोक १४७)

इस पद्यका एक-एक पद अतिमहत्त्व-पूर्ण है। पद्यके प्रथम चरणके अनुसार इस प्रतिमाधारी-को घरका त्याग कर वनमें मुनिजनोंके पास जाना आवश्यक है, दूसरे चरणके अनुसार किन्हीं नवीन व्रतोंका ग्रहण करना भी आवश्यक है। तीसरे चरणके अनुसार भिक्षावृत्तिसे भोजन करना और तपश्चरण करना आवश्यक है और चौथे चरणके 'चेलखण्डधरः' पदके अनुसार वह उत्कृष्ट प्रतिमाधारी वस्त्र-खण्ड धारण करता है।

उक्त पद्यके दो पद खास तौरसे विचारणीय हैं—पहला-'भैक्ष्याशन' और दूसरा 'चेल-खण्डधर'। दो-चार घरसे भिक्षा मांगकर खाना 'भैक्षाशन' कहलाता है और कमर पर वस्त्रके टुकड़ेको बाँधना 'चेलखण्ड' धारण है। प्राचीन कालमें श्वेताम्बरीय साधु केवल कमर-पर ही वस्त्र-खण्ड धारण करते थे। पीछे-पीछे उनमें वस्त्रोंका परिमाण बढ़ता गया है। संभव है कि वसुनन्दिके समय तक उक्त दोनोंका प्रचार रहा हो इसलिए प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके लिए उन्होंने ५-७ घरोंसे भिक्षा लानेका विधान किया है।

स्वामी समन्तभद्रके उक्त 'भैक्ष्याशन' के विधानकी पुष्टि स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाके 'जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायदणेण भुंजदे भोज्जं' (भा० १ पृ० २८ गाथा ९०) वाक्यसे भी होती है। इसका अर्थ है कि जो अपने योग्य नौ कोटिसे विशुद्ध भोजनको भिक्षाचरणसे प्राप्त कर खाता है, वह उद्दिष्ट-आहार-विरत है।

श्वे० आगम सूत्रोंके अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम 'श्रमणभूत प्रतिमा' है और स्वामी समन्तभद्रके अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक 'श्रमण' (साधु) जैसा हो ही जाता है।

श्वे० परम्परामें साधुके दो कल्प हैं—स्थविर कल्प और जिनकल्प। उनकी मान्यता है कि वर्तमानमें 'जिनकल्प' विच्छिन्न हो गया है और श्रावकोंकी प्रतिमाधारणकी परम्परा भी विच्छिन्न हो गई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'श्रमणभूत प्रतिमा' के धारण करनेवालोंका संग्रह उन्होंने स्थविर कल्पमें कर लिया है और स्थविर कल्पी साधुके लिए वस्त्र धारण करनेका विधान कर सचेल साधुको भी स्थविरकल्पी कहा जाने लगा है।

९. श्रावक-प्रतिमाओंका आधार

श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका आधार क्या है, और किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए इनकी कल्पना की गयी है, इन दोनों प्रश्नोंपर जब हम विचार करते हैं, तो इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि प्रतिमाओंका आधार शिक्षाव्रत है और शिक्षाव्रतोंका मुनिपदकी प्राप्ति रूप जो उद्देश्य है, वही इन प्रतिमाओंका भी है।

शिक्षाव्रतोंका उद्देश्य—जिन व्रतोंके पालन करनेसे मुनिव्रत धारण करनेकी, या मुनि बननेकी शिक्षा मिलती है, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रने प्रत्येक शिक्षाव्रतका स्वरूप वर्णन करके उसके अन्तमें बताया है कि किस प्रकार इससे मुनि समान बननेकी शिक्षा मिलती है और किस प्रकार गृहस्थ उस व्रतके प्रभावसे 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' यति-भावको प्राप्त होता है।[1]

गृहस्थका जीवन उस व्यापारीके समान है, जो किसी बड़े नगरमें व्यापारिक वस्तुएँ खरीदनेको गया। दिन भर उन्हें खरीदनेके पश्चात् शामको जब घर चलनेकी तैयारी करता है तो एक बार जिस क्रमसे वस्तु खरीद की थी, बीजक हाथमें लेकर तदनुसार उसकी सम्भाल करता है और अन्तमें सबकी सम्भालकर अपने अभीष्ट ग्रामको प्रयाण कर देता है। ठीक यही दशा गृहस्थ श्रावक की है। उसने इस मनुष्य पर्यायरूप व्रतोंके व्यापारिक केन्द्रमें आकर बारह व्रतरूप देशसंयम-सामग्रीकी खरीद की। जब वह अपने अभीष्ट स्थानको प्रयाण करनेके लिए समुद्यत हुआ, तो जिस क्रमसे उसने जो व्रत धारण किया है उसे सम्भालता हुआ आगे बढ़ता जाता है और अन्तमें सबकी सम्भालकर अपने अभीष्ट स्थानको प्रयाण कर देता है।

श्रावकने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनको धारण किया था, पर वह श्रावकका कोई व्रत न होकर उसकी मूल या नींव है। उस सम्यग्दर्शन मूल या नींवके ऊपर देशसंयम रूप भवन खड़ा करनेके लिए भूमिका या कुरसीके रूपमें अष्ट मूलगुणोंको धारण किया था और साथ ही सप्त व्यसनका परित्याग भी किया था। संन्यास या साधुत्वकी ओर प्रयाण करनेके अभिमुख श्रावक सर्वप्रथम अपने सम्यक्त्वरूप मूलको और उसपर रखी अष्टमूलगुणरूप भूमिकाको सम्भालता है। श्रावकके इस निरतिचार या निर्दोष सम्भालको ही दर्शन-प्रतिमा कहते हैं।

इसके पश्चात् उसने स्थूल वधादि रूप जिन महापापोंका त्यागकर अणुव्रत धारण किये थे, उनके निरतिचारिताकी सम्भाल करता है और इस प्रतिमाका धारी बारह व्रतोंका पालन करते हुए भी अपने पाँचों अणुव्रतोंमें और उनकी रक्षाके लिए बाढ़ स्वरूपसे धारण किये गये तीन गुणव्रतोंमें कोई भी अतीचार नहीं लगने देता ओर उन्हींकी निरतिचार परिपूर्णताका उत्तरदायी है। शेष चारों शिक्षाव्रतोंका वह यथाशक्ति अभ्यास करते हुए भी उनकी निरतिचार परिपालनाके लिए उत्तरदायी नहीं है। इस प्रतिमाको धारण करनेके पूर्व ही तीन शल्योंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा है, जिसमें कि सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रतकी परिपूर्णता, त्रैकालिक साधना और निरतिचार परिपालना अत्यावश्यक है। दूसरी प्रतिमामें सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास दशामें था, अतः वहाँपर दो या तीन बार करनेका कोई बन्धन नहीं था, वह इतने ही कालतक सामायिक करे, इस प्रकार कालकृत नियम भी शिथिल था। पर तीसरी प्रतिमामें सामायिकका तीनों संध्याओंमें किया जाना आवश्यक है और वह भी एक बारमें कमसे कम दो घड़ी या एक मुहूर्त (४८ मिनिट) तक करना ही चाहिए। सामायिकका उत्कृष्ट काल छह घड़ीका है। साथ ही तीसरी प्रतिमा-धारीको 'यथाजात' रूप धारणकर सामायिक करनेका विधान समन्त-

---

१. सामयिके सारम्भाः परिग्रहाः नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥ १०२ ॥—रत्नकरण्डक

भद्रने स्पष्ट शब्दोंमें किया है।[1] इस 'यथाजात' पदसे स्पष्ट है कि तीसरी प्रतिमाधारीको सामायिक एकान्तमें नग्न होकर करना चाहिए। चामुण्डराय और वामदेवने भी अपने संस्कृत भाव-संग्रहमें यथाजात होकर सामायिक करनेका विधान किया है।[2] इसका अभिप्राय यही है कि इस प्रतिमाका धारक श्रावक प्रतिदिन तीन बार कमसे कम दो घड़ी तक नग्न रहकर साधु बननेका अभ्यास करें। इस प्रतिमाधारीको सामायिक-सम्बन्ध दोषोंका परिहार भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमाका आधार सामायिक नामका प्रथम शिक्षाव्रत है।

चौथी प्रोषध प्रतिमा है, जिसका आधार प्रोषधोपवास नामक दूसरा शिक्षाव्रत है। पहले यह अभ्यास दशामें था, अतः वहाँपर सोलह, बारह या आठ पहरके उपवास करनेका कोई प्रतिबन्ध नहीं था, आचाम्ल, निर्विकृति आदि करके भी उसका निर्वाह किया जा सकता था। अतीचारोंकी भी शिथिलता थी। पर इस चौथी प्रतिमामें निरतिचारता और नियतसमयता आवश्यक मानी गई है। इस प्रतिमाधारीको पर्वके दिन स्वस्थ दशामें सोलह पहरका उपवास करना ही चाहिए। अस्वस्थ या असक्त अवस्थामें ही बारह या आठ पहरका उपवास विधेय माना गया है। उपवासके दिन गृहस्थीके सभी आरम्भ-कार्य त्यागकर मुनिके समान अहर्निश धर्म-ध्यान करना आवश्यक बताया गया है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय शिक्षाव्रतके आधारपर तीसरी और चौथी प्रतिमा अवलम्बित है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है। आगेके लिए पारिशेषन्यायसे हमें कल्पना करनी पड़ती है कि तीसरे और चौथे शिक्षाव्रतके आधारपर शेष प्रतिमाएँ भी अवस्थित होनी चाहिए। पर यहाँ आकर सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि शिक्षाव्रतोंके नामोंमें आचार्योंके अनेक मत-भेद हैं जिनका यहाँ स्पष्टीकरण आवश्यक है। उनकी तालिका इस प्रकार है :—

आचार्य या ग्रन्थ नाम	**प्रथम शिक्षाव्रत**	**द्वितीय शिक्षाव्रत**	**तृतीय शिक्षाव्रत**	**चतुर्थ शिक्षाव्रत**
१ श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र नं० १	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि पूजा	सल्लेखना
२ आ० कुन्दकुन्द	,,	,,	,,	,,
३ ,, स्वामिकार्त्तिकेय	,,	,,	,,	देशावकाशिक
४ ,, उमास्वाति	,,	,,	भोगोपभोगपरिमाण,	अतिथिसंविभाग
५ ,, समन्तभद्र	देशावकाशिक	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्य
६ ,, सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोगपरिमाण,	दान
७ ,, देवसेन	,,	,,	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना
८ श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र नं० २	भोगपरिमाण	उपभोगपरिमाण	,,	,,
९ वसुनन्दि	भोगविरति	उपभोगविरति	,,	,,

आचार्य जिनसेन, अमितगति, आशाधर आदिने शिक्षाव्रतोंके विषयमें उमास्वातिका अनुकरण किया है।

---

१. चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥ (रत्नकरण्डक १३९)

२. देखो भाग० ३, पृ० ४७१ श्लो० ९।

उक्त मत-भेदोंमें शिक्षाव्रतोंकी संख्याके चार होते हुए भी दो धाराएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम धारा श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र नं० १ की है, जिसके समर्थक कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य हैं। इस परम्परामें सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत माना गया है। दूसरी धाराके प्रवर्त्तक आचार्य उमास्वाति आदि हैं, जो कि मरणके अन्तमें की जानेवाली सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें ग्रहण न करके उसके स्थानपर भोगोपभोग-परिमाणव्रतका निर्देश करते हैं और अतिथिसंविभागको तीसरा शिक्षाव्रत न मानकर चौथा मानते हैं। इस प्रकार यहाँ आकर हमें दो धाराओंके संगमका सामना करना पड़ता है। इस समस्याको करते समय हमारी दृष्टि श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र नं १ और नं० २ पर जाती है,[1] जिनमेंसे एकके समर्थक आ० कुन्दकुन्द और दूसरेके समर्थक आ० वसुनन्दि हैं। सभी प्रतिक्रमणसूत्र गणधर-ग्रथित माने जाते हैं, ऐसी दशामें एक ही श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रके ये दो रूप कैसे हो गये, और वे भी कुन्दकुन्द और उमास्वातिके पूर्व ही, यह एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि भद्रबाहुके समयमें होनेवाले दुर्भिक्षके कारण जो संघभेद हुआ, उसके साथ ही एक श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रके भी दो भेद हो गये। दोनों प्रतिक्रमण सूत्रोंकी समस्त प्ररूपणा समान है। भेद केवल शिक्षाव्रतोंके नामोंमें है। यदि दोनों धाराओंको अर्ध-सत्यके रूपमें मान लिया जाय तो उक्त समस्याका हल निकल आता है। अर्थात् नं० १ के श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रके सामायिक और प्रोषधोपवास, ये दो शिक्षाव्रत ग्रहण किये जावें, तथा २ के श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रसे भोगपरिमाण और उपभोग परिमाण ये दो शिक्षाव्रत ग्रहण किये जावें। ऐसा करनेपर शिक्षाव्रतोंके नाम इस प्रकार रहेंगे—१. सामाजिक, २. प्रोषधोवास, ३. भोगपरिमाण और ४. उपभोगपरिमाण। इनमेंसे प्रथम शिक्षाव्रतके आधारपर तीसरी प्रतिमा है और द्वितीय शिक्षाव्रतके आधारपर चौथी प्रतिमा है, इसका विवेचन हम पहले कर आये हैं।

उक्त निर्णयके अनुसार तीसरा शिक्षाव्रत भोगपरिमाण है। भोग्य अर्थात् एक बार सेवनमें आनेवाले पदार्थोंमें प्रधान भोज्य पदार्थ हैं। भोज्य पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—सचित्त और अचित्त। साधुत्व या संन्यासकी ओर अग्रसर होनेवाला श्रावक जीवरक्षार्थ और रागभावके परिहारार्थ सबसे पहिले सचित्त शाक, फलादि पदार्थोंके खानेका यावज्जीवनके लिए त्याग करता है और इस प्रकार वह सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमाका धारी कहलाने लगता है। इस प्रतिमाका धारी सचित्त जलको भी न पीता है और न स्नान करने या कपड़े धोने आदिके काममे ही लाता है।

उपरि-निर्णीत व्यवस्थाके अनुसार चौथा शिक्षाव्रत उपभोगपरिमाण स्वीकार किया गया है। उपभोग्य पदार्थोंमें सबसे प्रधान वस्तु स्त्री है, अतएव वह दिनमें स्त्रीके सेवनका मन, वचन, कायसे परित्याग कर देता है। यद्यपि इस प्रतिमाके पूर्व भी वह दिनमें स्त्री सेवन नहीं करता था, पर उससे हँसी-मजाकके रूपमें जो मनोविनोद कर लेता था, इस प्रतिमामें आकर उसका भी दिनमें परित्याग कर देता है और इस प्रकार वह दिवामैथुनत्याग नामक छठी प्रतिमाका धारी बन जाता है। इस दिवामैथुनत्यागके साथ ही वह तीसरे शिक्षाव्रतको भी यहाँ बढ़ानेका प्रयत्न करता है और दिनमें अचित्त या प्रासुक पदार्थोंके खानेका व्रती होते हुए भी रात्रिमें कारित और अनुमोदनासे भी रात्रिभुक्तिका सर्वथा परित्याग कर देता है और इस प्रकार रात्रिभुक्ति-त्याग नामसे

१. ये दोनों श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र क्रिया-कलापमें मुद्रित हैं, जिसे कि पं० पन्नालालजी सोनीने सम्पादित किया है।

प्रसिद्ध और अनेक आचार्योंसे सम्मत छठी प्रतिमाका धारी बन जाता है। इस प्रतिमाधारीके लिए दिवा-मैथुन त्याग और रात्रि-भुक्ति त्याग ये दोनों कार्य एक साथ आवश्यक हैं, इस बातकी पुष्टि दोनों परम्पराओंके शास्त्रोंसे होती है। इस प्रकार छठी प्रतिमाका आधार रात्रिभुक्ति-परित्यागकी अपेक्षा भोगविरति और दिवा-मैथुन-परित्यागकी अपेक्षा उपभोगविरति ये दोनों ही शिक्षाव्रत सिद्ध होते हैं।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। छठी प्रतिमामें स्त्रीका परित्याग वह दिनमें कर चुका है, अब वह स्त्रीके अंगको मलयोनि, मलबीज, गलन्मल और पूतगन्धि आदिके स्वरूपमें देखता हुआ रात्रिको भी उनके सेवनका सर्वथा परित्यागकर पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है, और इस प्रकार उपभोगपरिमाण नामक शिक्षाव्रतको एक कदम और भी ऊपर बढ़ाता है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमामें श्रावकने भोग और उपभोगके प्रधान साधन सचित्त भोजन और स्त्रीका सर्वथा परित्याग कर दिया है। पर अभी वह भोग और उपभोगकी अन्य वस्तुएँ महल-मकान, बाग-बगीचे और सवारी आदिका उपभोग करता था। इनसे भी विरक्त होनेके लिए वह विचारता है कि मेरे पास इतना धन-वैभव है, और मैंने स्त्री तकका परित्याग कर दिया है। अब 'स्त्रीनिरीहे कुतः धनस्पृहा' की नीतिके अनुसार स्त्री-सेवनका त्याग करनेपर मुझे नवीन धनके उपार्जनकी क्या आवश्यकता है? बस, इस भावनाकी प्रबलताके कारण वह असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि सर्व प्रकारके आरम्भोंका परित्याग कर आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमाका धारी बन जाता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि इस प्रतिमामें व्यापारादि आरम्भोंके स्वयं न करनेका ही त्याग होता है, अतः पुत्र, भृत्य आदि जो पूर्वसे व्यापारादि कार्य करते चले आ रहे हैं, उनके द्वारा वह यतः करानेका त्यागी नहीं है, अतः कराता रहता है। इस बातकी पुष्टि प्रथम तो श्वे० आगमोंमें वर्णित नवमी प्रतिमाके 'पेस-परिन्नाए' नामसे होती है, जिसका अर्थ है कि वह नवमी प्रतिमामें आकर प्रेष्य अर्थात् भृत्यादि वर्गसे भी आरम्भ न करानेकी प्रतिज्ञा कर लेता है। दूसरे, दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमति त्याग है। इस प्रतिमाका धारी आरम्भादिके विषयमें अनुमोदनाका भी परित्याग कर देता है। यह अनुमति पद अन्त दीपक है, जिसका यह अर्थ होता है कि दशवीं प्रतिमाके पूर्व वह नवमी प्रतिमा-में आरम्भादिका कारितसे त्यागी हुआ है, और उसके पूर्व आठवीं प्रतिमामें कृतसे त्यागी हुआ है, यह बात बिना कहे ही स्वतः सिद्ध हो जाती है।

उक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकला कि श्रावक भोग-उपभोगके साधक आरम्भका कृतसे त्यागकर आठवीं प्रतिमाका धारी, कारितसे भी त्याग करनेपर नवमी प्रतिमाका धारी और अनुमतिसे भी त्याग करनेपर दशवीं प्रतिमाका धारी बन जाता है। पर स्वामिकार्त्तिकेय अष्टम प्रतिमाधारीके लिए कृत, कारित और अनुमोदनासे आरम्भका त्याग आवश्यक बतलाते हैं। यहाँ इतनी बात विशेष ज्ञातव्य है कि ज्यों-ज्यों श्रावक ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अपने बाह्य परिग्रहोंको भी घटाता जाता है। आठवीं प्रतिमामें जब उसने नवीन धन उपार्जनका त्याग कर दिया तो उससे एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते ही संचित धन, धान्यादि बाह्य दशों प्रकारके परिग्रहसे भी ममत्व छोड़कर उनका परित्याग करता है, केवल वस्त्रादि अत्यन्त आवश्यक पदार्थोंको रखता है और इस प्रकार वह परिग्रह-त्याग नामक नवमी प्रतिमाका धारी बन जाता है। यह सन्तोषकी परम मूर्ति, निर्ममत्वमें रत और परिग्रहसे विरत हो जाता है।

दशवीं अनुमतित्याग प्रतिमा है। इसमें आकर श्रावक व्यापारादि आरम्भके विषयमें, धन-धान्यादि परिग्रहके विषयमें और इहलोक-सम्बन्धी विवाह आदि किसी भी लौकिक कार्यमें अनुमति नहीं देता है। वह घरमें रहते हुए भी घरके इष्ट-अनिष्ट कार्योंमें राग-द्वेष नहीं करता है और जलमें कमलके समान सर्व गृह-कार्योंसे अलिप्त रहता है। केवल वस्त्रके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता। अतिथि या मेहमानके समान उदासीन रूपसे घरमें रहता है। घर वालोंके द्वारा भोजनके लिए बुलानेपर भोजन करने चला जाता है। इस प्रतिमाका धारी भोग सामग्रीमेंसे केवल भोजनको, भले ही वह उसके निमित्त बनाया गया हो, स्वयं अनुमोदना न करके ग्रहण करता है और परिमित वस्त्रके धारण करने तथा उदासीन रूपसे एक कमरेमें रहनेके अतिरिक्त और सर्व उपभोग सामग्रीका भी परित्यागी हो जाता है। इस प्रकार वह घरमें रहते हुए भी भोगविरति और उपभोगविरतिकी चरम सीमापर पहुँच जाता है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दशवीं प्रतिमाका धारी उद्दिष्ट अर्थात् अपने निमित्त बने हुए भोजन और वस्त्रके अतिरिक्त समस्त भोग और उपभोग सामग्रीका सर्वथा परित्यागी हो जाता है।

जब श्रावकको घरमें रहना भी निर्विकल्पता और निराकुलताका बाधक प्रतीत होता है, तब वह पूर्ण निर्विकल्प निजानन्दकी प्राप्तिके लिए घरका भी परित्याग कर वनमें जाता है और निर्ग्रन्थ गुरुओंके पास व्रतोंको ग्रहण कर भिक्षावृत्तिसे आहार करता हुआ तथा रात-दिन स्वाध्याय और तपस्या करता हुआ जीवन यापन करने लगता है। वह इस अवस्थामें अपने निमित्त बने हुए आहार और वस्त्र आदिको भी ग्रहण नहीं करता है[1]। अतः उद्दिष्ट भोगविरति और उद्दिष्ट उपभोगविरतिकी चरम सीमापर पहुँच जानेके कारण उद्दिष्ट-त्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक कहलाने लगता है। इसके पश्चात् वह मुनि बन जाता है, या समाधिमरणको अंगीकार करता है।

उक्त प्रकार तीसरीसे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक सर्व प्रतिमाओंके आधार चार शिक्षाव्रत है, यह बात असंदिग्ध रूपसे शास्त्राधार पर प्रमाणित हो जाती है।

इस प्रकार शिक्षाव्रतोंका उद्देश जो मुनि बननेकी शिक्षा प्राप्त करना है, अथवा समाधिमरण-की ओर अग्रेसर होना ही वह सिद्ध हो जाता है।

यदि तत्त्वार्थसूत्र-सम्मत शिक्षाव्रतोंको भी प्रतिमाओंका आधार माना जावे, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। पाँचवीं प्रतिमासे लेकर उपर्युक्त प्रकारसे भोग और उपभोगका क्रमशः परित्याग करते हुए जब श्रावक नवीं प्रतिमामें पहुँचता है, तब वह अतिथि संविभागके उत्कृष्टरूप सकल-दत्तिको स्वीकार करता है, जिसका विशद विवेचन पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतके सातवें अध्यायमें इस प्रकार किया है—

जब क्रमशः ऊपर चढ़ते हुए श्रावकके हृदयमें यह भावना प्रवाहित होने लगे कि ये स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी जन वा धनादिक न मेरे हैं और न मैं इनका हूँ। हम सब तो नदी-नाव संयोगसे इस भवमें एकत्रित हो गये हैं और इसे छोड़ते ही सब अपने-अपने मार्ग पर चल देंगे, तब वह परिग्रह-

---

१. उद्दिष्टविरतः-स्वनिमित्तनिर्मिताहारग्रहणरहितः स्वोद्दिष्टपिंडोपधिशयनवसनादेर्विरत उद्दिष्टविनिवृत्तः।

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ३०६ टीका।

को छोड़ता है और उस समय जाति-बिरादरीके मुखिया जनोंके सामने अपने ज्येष्ठ पुत्र या उसके अभावमें गोत्रके किसी उत्तराधिकारी व्यक्तिको बुलाकर कहता है कि हे तात, हे वत्स, आज तक मैंने इस गृहस्थाश्रमका भलीभाँति पालन किया। अब मैं इस संसार, देह और भोगोंसे उदास होकर इसे छोड़ना चाहता हूँ, अतएव तुम हमारे इस पदको धारण करनेके योग्य हो। पुत्रका पुत्रपना यही है कि जो अपने आत्महित करनेके इच्छुक पिताके कल्याण-मार्गमें सहायक हो, जैसे कि केशव अपने पिता सुविधिके हुए। (इसकी कथा आदिपुराणसे जाननी चाहिए।) जो पुत्र पिता-के कल्याण-मार्गमें सहायक नहीं बनता, वह पुत्र नहीं, शत्रु है। अतएव तुम मेरे इस सब धनको, पोष्यवर्गको और धर्म्यकार्योंको संभालो। यह सकलदत्ति है जो कि शिवार्थी जनोंके लिए परम पथ्य मानी गई है। जिन्होंने मोहरूप शार्दूलको विदीर्ण कर दिया है, उसके पुनरुत्थानसे शंकित गृहस्थोंको त्यागका यही क्रम बताया गया है, क्योंकि शक्त्यनुसार त्याग ही सिद्धिकारक होता है। इस प्रकार सर्वस्वका त्याग करके मोहको दूर करनेके लिए उदासीनताकी भावना करता हुआ वह श्रावक कुछ काल तक घरमें रहे। (देखो श्रावका० भा० २ पृ० ७२-७३)

उक्त प्रकारसे जब श्रावकने नवमी प्रतिमामें आकर 'स्व' कहे जानेवाले अपने सर्वस्वका त्याग कर दिया, तब वह बड़ेसे बड़ा दानी या अतिथि-संविभागी सिद्ध हुआ। क्योंकि सभी दानों-में सकलदत्ति ही श्रेष्ठ मानी गई है। सकलदत्ति करनेपर वह श्रावक स्वयं अतिथि बननेके लिए अग्रेसर होता है और एक कदम आगे बढ़कर गृहस्थाश्रमके कार्योंमें भी अनुमति देनेका परित्याग कर देता है। तत्पश्चात् एक सीढ़ी और आगे बढ़कर स्वयं अतिथि बन जाता है और घर-द्वारको छोड़कर मुनि-वनमें रहकर मुनि बननेकी ही शोधमें रहने लगता है। इस प्रकार दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाका आधार विधि-निषेधके रूपमें अतिथि-संविभाग व्रत सिद्ध होता है।

१०. प्रतिमाओंका वर्गीकरण

श्रावक किस प्रकार अपने व्रतोंका उत्तरोत्तर विकास करता है, यह बात 'प्रतिमाओंका आधार' शीर्षकमें बतलाई जा चुकी है। आचार्योंने इन ग्यारह प्रतिमा-धारियोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है—गृहस्थ, वर्णी या ब्रह्मचारी और भिक्षुक[1]। आदिके छह प्रतिमाधारियोंको गृहस्थ, सातवीं, आठवीं और नवमी प्रतिमाधारीको वर्णी और अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंको भिक्षुक संज्ञा दी गई है[2]। कुछ आचार्योंने इनके क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्तम श्रावक ऐसे नाम भी दिये हैं, जो कि उक्त अर्थके ही पोषक हैं[3]।

यद्यपि स्वामिकार्त्तिकेयने इन तीनोंमेंसे किसी भी नामको नहीं कहा है, तथापि ग्यारहवीं प्रतिमाके स्वरूपमें उन्होंने जो 'भिक्खायरणेण' पद दिया है,[4] उससे 'भिक्षुक' इस नामका समर्थन अवश्य होता है। आचार्य समन्तभद्रने भी उक्त नामोंका कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि ग्यारहवीं प्रतिमाके स्वरूपमें जो 'भैक्ष्याशनः' और 'उत्कृष्टः' ये दो पद दिये हैं, उनसे 'भिक्षुक'

१. देखो—श्रावकाचार भाग १ पृ० २२३ श्लोक ८२४।

२. श्रावकाचार भाग २ पृ० २२ श्लोक २-३।

३. श्रावकाचार भाग १ पृ० २५७ श्लोक २०।

४. श्रावकाचार भाग १ पृ० २८, गाथा ९०।

और 'उत्कृष्ट' या 'उत्तम' नामकी पुष्टि अवश्य होती है, क्योंकि 'उत्तम और उत्कृष्ट' पद तो एकार्थक ही हैं। आदिके छह प्रतिमाधारी श्रावक यतः स्त्री-सुख भोगते हुए घरमें रहते हैं, अतः उन्हें 'गृहस्थ' संज्ञा स्वतः प्राप्त है। यद्यपि समन्तभद्रके मतसे श्रावक दसवीं प्रतिमा तक अपने घरमें ही रहता है, पर यहाँ 'गृहिणीं गृहमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम्' की नीतिके अनुसार स्त्रीको ही गृह संज्ञा प्राप्त है और उसके साथ रहते हुए ही वह गृहस्थ संज्ञाका पात्र है। यतः प्रतिमाधारियों-में प्रारम्भिक छह प्रतिमाधारक स्त्री-भोगी होनेके कारण गृहस्थ हैं, अतः वे सबसे छोटे भी हुए, इसलिए उन्हें जघन्य श्रावक कहा गया है। पारिशेष-न्यायसे मध्यवर्ती तीन प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक सिद्ध होते हैं। पर दसवीं प्रतिमाधारीको मध्यम न मानकर उत्तम श्रावक माना गया है, इसका कारण यह है कि वह घरमें रहते हुए भी नहीं रहने जैसा है, क्योंकि वह गृहस्थीके किसी भी कार्यमें अनुमति तक भी नहीं देता है। पर दसवीं प्रतिमाधारीको भिक्षावृत्तिसे भोजन न करते हुए भी 'भिक्षुक' कैसे माना जाय, यह एक प्रश्न विचारणीय अवश्य रह जाता है। संभव है, भिक्षुकके समीप होनेसे उसे भी भिक्षुक कहा गया हो, जैसे चरम भवके समीपवर्ती अनुत्तर विमान-वासी देवोंको 'द्विचरम' कह दिया जाता है। सातवींसे लेकर आगेके सभी प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी हैं, जब उनमेंसे अन्तिम दो को भिक्षुक संज्ञा दे दी गई, तब मध्यवर्त्ती तीन (सातवीं, आठवीं और नवमी) प्रतिमाधारियोंकी ब्रह्मचारी संज्ञा भी स्वतः सिद्ध है। पर ब्रह्मचारीको वर्णी क्यों कहा जाने लगा, यह एक प्रश्न यहाँ आकर उपस्थित होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, सोमदेव और जिनसेनने तथा इनके पूर्ववर्त्ती किसी भी आचार्यने 'वर्णी' नामका विधान जैन परम्परामें नहीं किया है। परन्तु उक्त तीन प्रतिमा-धारियोंको पं० आशाधरजीने ही सर्वप्रथम 'वर्णिनस्त्रया मध्याः' कहकर वर्णी पदसे निर्देश किया है और उक्त श्लोककी स्वोपज्ञटीकामें 'वर्णिनो ब्रह्मचारिणः' लिखा है, जिससे यही अर्थ निकलता है कि वर्णीपद ब्रह्मचारीका वाचक है, पर 'वर्णी' पदका क्या अर्थ है, इस बातपर उन्होंने कुछ प्रकाश नहीं डाला है। सोमदेवने ब्रह्म शब्दके काम-विनिग्रह, दया और ज्ञान ऐसे तीन अर्थ किये हैं, (देखो भा० २ पृ० २२५ श्लोक ८४०) मेरे ख्याल-से स्त्रीसेवनत्यागकी अपेक्षा सातवीं प्रतिमाधारीको, दयार्द्र होकर पापारंभ छोड़नेकी अपेक्षा आठवीं प्रतिमाधारीको और निरन्तर स्वाध्यायमें प्रवृत्त होनेकी अपेक्षा नवीं प्रतिमाधारीको ब्रह्मचारी कहा गया होगा।

११. क्षुल्लक और ऐलक

ऊपर प्रतिमाओंके वर्गीकरणमें बताया गया है कि स्वामी कार्त्तिकेय और समन्तभद्रने यद्यपि सीधे रूपमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारीका 'भिक्षुक' नाम नहीं दिया है, तथापि उनके उक्त पदोंसे इस नामकी पुष्टि अवश्य होती है। परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके दो भेद कबसे हुए और उन्हें 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' कबसे कहा जाने लगा, इन प्रश्नोंका ऐतिहासिक उत्तर अन्वेषणीय है, अतएव यहाँ उनपर विचार किया जाता है :—

(१) आचार्य कुन्दकुन्दने सूत्रपाहुडमें एक गाथा दी है :

> दुइयं च वुत्तलिंगं उक्किट्ठं अवर सावयाणं च।
> भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥ २१ ॥

अर्थात् मुनिके पश्चात् दूसरा उत्कृष्टलिंग गृहत्यागी उत्कृष्ट श्रावकका है। वह पात्र लेकर ईर्यासमिति पूर्वक मौन के साथ भिक्षाके लिए परिभ्रमण करता है।

इस गाथामें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी 'उत्कृष्ट श्रावक' ही कहा गया है, अन्य किसी नामकी उससे उपलब्धि नहीं होती। हां, 'भिक्खं भमेइ पत्तो' पदसे उसके 'भिक्षुक' नामकी ध्वनि अवश्य निकलती है।

(२) स्वामी कार्त्तिकेय और समन्तभद्रने भी ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके दो भेद नहीं किये हैं, न उनके लिए किसी नामकी ही स्पष्ट संज्ञा दी है। हाँ, उनके पदोंसे भिक्षुक नामकी पुष्टि अवश्य होती है। इनके मतानुसार भी उसे गृहका त्याग करना आवश्यक है।

(३) आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणमें यद्यपि कहीं भी ग्यारह प्रतिमाओंका कोई वर्णन नहीं किया है, परन्तु उन्होंने ३८ वें पर्वमें गर्भान्वय क्रियाओंमें मुनि बननेके पूर्व 'दीक्षाद्य' नामकी क्रियाका जो वर्णन किया है, वह अवश्य ग्यारहवीं प्रतिमाके वर्णनसे मिलता-जुलता है। वे लिखते हैं :—

> त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः।
> प्राग्दीक्षोपयिकात्कालादेकशाटकधारिणः ॥ १५७ ॥
> यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रतिधार्यते।
> दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं द्विजन्मनः ॥ १५८ ॥

(श्रावका० भा० १ पृ० ४२)

अर्थात्—जिनदीक्षा धारण करनेके कालसे पूर्व जिस सम्यग्दृष्टि, प्रशान्तचित्त, गृहत्यागी, द्विजन्मा और एक धोती मात्रके धारण करनेवाले गृहीशीके मुनिके पुरश्चरणरूप जो दीक्षा ग्रहण की जाती है, उस क्रिया-समूहके करनेको 'दीक्षाद्य' क्रिया जानना चहिए। इसी क्रियाका स्पष्टीकरण आ० जिनसेनने ३९ वें पर्वमें भी किया है :—

> त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः।
> एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥ ७७ ॥

(श्रावका० भा० १ पृ० ६३)

इसमें 'तपोवनमुपेयुषः' यह एक पद और अधिक दिया है।

इसमें 'दीक्षाद्यक्रिया' से दो बातोंपर प्रकाश पड़ता है, एक तो इस बातपर कि उसे इस क्रियाको करनेके लिए घरका त्याग आवश्यक है, और दूसरी इस बातपर कि उसे एक ही वस्त्र धारण करना चाहिए। आचार्य समन्तभद्रके 'गृहतो मुनिवनमित्वा' पदके अर्थकी पुष्टि 'त्यक्तागारस्य' और 'तपोवनमुपेयुषः' पदसे और 'चेलखण्डधरः' पदके अर्थकी पुष्टि 'एकशाटकधारिणः' पदसे होती है, अतः इस दीक्षाद्यक्रियाको ग्यारहवीं प्रतिमाके वर्णनसे मिलता-जुलता कहा गया है।

आचार्य जिनसेनने इस दीक्षाद्यक्रियाका विधान दीक्षान्वय-क्रियाओंमें भी किया है और वहाँ बतलाया है कि जो मनुष्य अदीक्षार्ह अर्थात् मुनिदीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं, विद्या और शिल्पसे आजीविका करते हैं, उनके उपनीति आदि संस्कार नहीं किये जाते। वे अपने पदके योग्य

व्रतोंको और उचित लिंगको धारण करते हैं तथा संन्याससे मरण होने तक एक धोतीमात्रके धारी होते हैं। वह वर्णन इस प्रकार है :—

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः ।
एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥ १७० ॥
तेषां स्यादुचितं लिंगं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् ।
एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥ १७१ ॥

(श्रावका० भा० १ पृ० ९३)

आचार्य जिनसेनने दीक्षार्ह कुलीन श्रावककी 'दीक्षाद्य क्रिया' से अदीक्षार्ह, अकुलीन श्रावककी दीक्षाद्य क्रियामें क्या भेद रखा है, यह यहाँ जानना आवश्यक है। वे दोनोंको एक वस्त्रका धारण करना समानरूपसे प्रतिपादन करते हैं, इतनी समानता होते हुए भी वे उसके लिए उपनीति संस्कार अर्थात् यज्ञोपवीतके धारण आदिका निषेध करते हैं, और साथ ही स्व-योग्य व्रतोंके धारणका विधान करते हैं। यहाँ ही दीक्षाद्यक्रियाके धारकोंके दो भेदोंका सूत्रपात प्रारंभ होता हुआ प्रतीत होता है, और संभवतः ये दो भेद ही आगे जाकर ग्यारहवी प्रतिमाके दो भेदोंके आधार बन गये हैं। 'स्वयोग्य-व्रतधारण' से आचार्य जिनसेनका क्या अभिप्राय रहा है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। पर इसका स्पष्टीकरण प्रायश्चित्तचूलिकाके उस वर्णनसे बहुत कुछ हो जाता है, जहाँपर कि प्रायश्चित्तचूलिकाकारने कारु-शूद्रोंके दो भेद करके उन्हें व्रत-दान आदिका विधान किया है। प्रायश्चित्तचूलिकाकार लिखते हैं :—

कारुणो द्विविधाः सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदतः ।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥ १५४ ॥

अर्थात्—कारु शूद्र भोज्य और अभोज्यके भेदसे दो प्रकारके प्रसिद्ध हैं, उनमेंसे भोज्य शूद्रोंको ही सदा क्षुल्लक व्रत देना चाहिए।

इस ग्रन्थके संस्कृत टीकाकार भोज्य पदकी व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

भोज्याः—यदन्नपानं ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जते। अभोज्याः—तद्विपरीतलक्षणाः। भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लकदीक्षा, नापरेषु।

अर्थात्—जिनके हाथका अन्न-पान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते हैं, उन्हें भोज्य कारु कहते हैं। इनसे विपरीत अभोज्यकारु जानना चाहिए। क्षुल्लक व्रतकी दीक्षा भोज्य कारुओंमें ही देना चाहिए, अभोज्य कारुओंमें नहीं।

इससे आगे क्षुल्लकके व्रतोंका स्पष्टीकरण प्रायश्चित्तचूलिकामें इस प्रकार किया गया है।

क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यत्र स्थितिभोजनम् ।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥ १५५ ॥
क्षौरं कुर्याच्च लोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने ।
कौपीनमात्रतंत्रोऽसौ क्षुल्लकः परिकीर्त्तितः ॥ १५६ ॥

अर्थात्—क्षुल्लकोंमें एक ही वस्त्रका विधान किया गया है, वे दूसरा वस्त्र नहीं रख सकते। वे मुनियोंके समान खड़े-खड़े भोजन नहीं कर सकते। उनके लिए आतापन योग, वृक्षमूल

योग आदि योगोंका भी शाश्वत निषेध किया गया है। उस्तरे आदिसे क्षौरकर्म शिरमुंडन भी करा सकते हैं और चाहें तो केशोंका लोंच भी कर सकते हैं। वे पाणिपात्रमें भी भोजन कर सकते हैं और चाहें तो काँसेके पात्र आदिमें भी भोजन कर सकते हैं। ऐसा व्यक्ति जो कि कौपीनमात्र रखनेका अधिकारी है, क्षुल्लक कहा गया है। टीकाकारोंने कौपीनमात्रतंत्रका अर्थ-कर्पटखंडमंडितकटीतटः अर्थात् खंड वस्त्रसे जिसका कटीतट मंडित हो, किया है, और क्षुल्लकका अर्थ—उत्कृष्ट अणुव्रतधारी किया है।

आदिपुराणकारके द्वारा अदीक्षार्ह पुरुषके लिए किये गये व्रतविधानकी तुलना जब हम प्रायश्चित्तचूलिकाके उपर्युक्त वर्णनके साथ करते हैं, तब असंदिग्ध रूपसे इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जिनसेनने जिन अदीक्षार्ह पुरुषोंको संन्यासमरणावधि तक एक वस्त्र और उचित व्रत-चिह्न आदि धारण करनेका विधान किया है, उन्हें ही प्रायश्चित्तचूलिकाकारने 'क्षुल्लक' नामसे उल्लेख किया है।

क्षुल्लक शब्दका अर्थ

अमरकोषमें क्षुल्लक शब्दका अर्थ इस प्रकार दिया है :—

विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथक्जनः।
निहीनोऽपसदो जाल्पः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः।। १६।।

(दश नीचस्य नामानि) अमर० द्वि० कां० शूद्रवर्ग।

अर्थात्—विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत जन, पृथक् जन, निहीन, अपसद, जाल्प, क्षुल्लक और इतर ये दश नीच नाम हैं।

उक्त श्लोक शूद्रवर्गमें दिया हुआ है। अमरकोषके तृतीय कांडके नानार्थ वर्गमें भी 'स्वल्पेऽपि क्षुल्लकस्त्रिषु' पद आया है, वहाँपर इसकी टीका इस प्रकार की है :—

'स्वल्पे, अपि शब्दान्नीच-कनिष्ठ-दरिद्रेष्वपि क्षुल्लकः'

अर्थात्—स्वल्प, नीच, कनिष्ठ और दरिद्रके अर्थोंमें क्षुल्लक शब्दका प्रयोग होता है।

'रभसकोष'में भी 'क्षुल्लकस्त्रिषु नीचेऽल्पे' दिया है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि क्षुल्लक शब्दका अर्थ नीच या हीन है।

प्रायश्चित्तचूलिकाके उपर्युक्त कथनसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि शूद्रकुलोत्पन्न पुरुषोंको क्षुल्लक दीक्षा दी जाती थी। तत्त्वार्थराजवार्तिक आदिमें भी महाहिमवान्‌के साथ हिमवान् पर्वतके लिए क्षुल्लक या क्षुद्र शब्दका उपयोग किया गया है, जिससे भी यही अर्थ निकलता है कि हीन या क्षुद्रके लिए क्षुल्लक शब्दका प्रयोग किया जाता था। श्रावकाचारोंके अध्ययनसे पता चलता है कि आचार्य जिनसेनके पूर्व तक शूद्रोंको दीक्षा देने या न देनेका कोई प्रश्न सामने नहीं था। जिनसेनके सामने जब यह प्रश्न आया, तो उन्होंने अदीक्षार्ह और दीक्षार्ह कुलोत्पन्नोंका विभाग किया और उनके पीछे होनेवाले सभी आचार्योंने उनका अनुसरण किया। प्रायश्चित्तचूलिकाकारने नीचकुलोत्पन्न होनेके करण ही संभवतः आतापनादि योगका क्षुल्लकके लिए निषेध किया था, पर परवर्ती श्रावकाचारकारोंने इस रहस्यको न समझनेके कारण सभी ग्यारहवीं प्रतिमाधारकोंके लिए आपातनादि योगका निषेध कर डाला। इतना ही नहीं, आदि पदके अर्थको

और भी बढ़ाया और जिन-प्रतिमा, वीरचर्या, सिद्धान्त ग्रन्थ और प्रायश्चित्तशास्त्रके अध्ययन तकका उनके लिए निषेध कर दिया। किसी-किसी विद्वान्‌ने तो सिद्धान्त ग्रन्थ आदिके सुननेका भी अनधिकारी घोषित कर दिया। यह स्पष्टतः वैदिक संस्कृतिका प्रभाव है, जहाँ पर कि शूद्रोंको वेदाध्ययनका सर्वथा निषेध किया गया है, और उसके सुननेपर कानोंमें गर्म शीशा डालनेका विधान किया गया है।

क्षुल्लकोंको जो पात्र रखने और अनेक घरोंसे भिक्षा लाकर खानेका विधान किया गया है, वह भी संभवतः उनके शूद्र होनेके कारण ही किया गया प्रतीत होता है। सागारधर्मामृतमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकके लिए जो 'आर्य' संज्ञा दी गई है, वह भी क्षुल्लकोंके जाति, कुल आदिकी अपेक्षा हीनत्वका द्योतन करती है।

उक्त स्वरूपवाले क्षुल्लकोंको किस श्रावक प्रतिमामें स्थान दिया जाय, यह प्रश्न सर्वप्रथम आचार्य वसुनन्दिके सामने आया प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेद किये हैं। इनके पूर्ववर्त्ती किसी भी आचार्यने इस प्रतिमाके दो भेद नहीं किये हैं, प्रत्युत बहुत स्पष्ट शब्दोंमें उसकी एकरूपताका ही वर्णन किया है। आचार्य वसुनन्दिने इस प्रतिमाधारीके दो भेद करके प्रथमको एक वस्त्रधारक और द्वितीयको कौपीनधारक कहा है (देखो गाथा नं० ३०१)। वसुनन्दिने प्रथमोत्कृष्ट श्रावकका जो स्वरूप दिया है, वह क्षुल्लकके वर्णनसे मिलता-जुलता है और उसके परवर्त्ती विद्वानोंने प्रथमोत्कृष्टकी स्पष्टतः क्षुल्लक संज्ञा दी है, अतः यही अनुमान होता है कि उक्त प्रश्नको सर्वप्रथम वसुनन्दिने ही सुलझानेका प्रयत्न किया है। इस प्रथमोत्कृष्टको क्षुल्लक शब्दसे सर्वप्रथम लाटीसंहिताकार पं० राजमल्लजीने ही उल्लेख किया है, हालांकि स्वतन्त्र रूपसे क्षुल्लक शब्दका प्रयोग और क्षुल्लक व्रतका विधान प्रायश्चित्तचूलिकामें किया गया है, जो कि ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वकी रचना है। केवल क्षुल्लक शब्दका उपयोग पद्मपुराण आदि कथा ग्रन्थोंमें अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है और उन क्षुल्लकोंका वैसा ही रूप वहाँ पर मिलता है, जैसा कि प्रायश्चित्तचूलिकाकारने वर्णन किया है।

ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेदोंका उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य वसुनन्दिने किया, पर वे दो भेद प्रथमोत्कृष्टके रूपसे ही चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलते रहे। सत्तरहवीं शतीके विद्वान् पं० राजमल्लजीने अपनी लाटीसंहितामें सर्वप्रथम उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक और ऐलक शब्दका प्रयोग किया है[1]। क्षुल्लक शब्द कबसे और कैसे चला, इसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। यह 'ऐलक' शब्द कैसे बना और इसका क्या अर्थ है, यह बात यहाँ विचारणीय है। इस 'ऐलक' पदके मूल रूपकी ओर गंभीर दृष्टिपात करनेपर यह भ० महावीरसे भी प्राचीन प्रतीत होता है। भ० महावीरके भी पहलेसे जैन साधुओंको 'अचेलक' कहा जाता था। चेल नाम वस्त्रका है। जो साधु वस्त्र धारण नहीं करते थे, उन्हें अचेलक कहा जाता था। भगवती आराधना, मूलाचार आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें दिगम्बर साधुओंके लिए अचेलक पदका व्यवहार हुआ है। पर भ० महावीरके समय अचेलक साधुओंके लिए नग्न, निर्ग्रन्थ और दिगम्बर शब्दोंका प्रयोग बहुलतामें होने लगा। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध और उनका शिष्य-समुदाय

---

१. उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा।
एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥५५॥—(श्रावका० भा० ३ पृ० १४६)

वस्त्रधारी था, अतः तात्कालिक लोगोंने उनके व्यवच्छेद करनेके लिए जैन साधुओंको नग्न, निर्ग्रन्थ आदि नामोंसे पुकारना प्रारम्भ किया। यही कारण है कि स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंमें जैन साधुओंके लिए 'निगंठ' या 'णिगंठ' नामका प्रयोग किया गया है, जिसका कि अर्थ निर्ग्रन्थ है। अभी तक नञ् समासका सर्वथा प्रतिषेध-परक 'न + चेलकः = अचेलकः' अर्थ लिया जाता रहा है। पर जब नग्न साधुओंको स्पष्ट रूपसे दिगम्बर, निर्ग्रन्थ आदि रूपसे व्यवहार किया जाने लगा, तब तो जो अन्य समस्त बातोंमें तो पूर्ण साधुव्रतोंका पालन करते थे, परन्तु लज्जा, गौरव या शारीरिक लिंग-दोष आदिके कारण लंगोटी मात्र धारण करते थे, ऐसे ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए नञ् समासके ईषदर्थका आश्रय लेकर 'ईषत् + चेलकः अचेलकः' का व्यवहार प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है जिसका कि अर्थ नाममात्रका वस्त्र धारण करनेवाला होता है। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दीसे प्राकृतके स्थानपर अपभ्रंश भाषाका प्रचार प्रारम्भ हुआ और अनेक शब्द सर्वसाधारण-के व्यवहारमें कुछ भ्रष्ट रूपसे प्रचलित हुए। इसी समयके मध्य 'अचेलक' का स्थान 'ऐलक' पदने ले लिया, जो कि प्राकृत-व्याकरणके नियमसे भी सुसंगत बैठ जाता है। क्योंकि प्राकृतमें 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' (हैम० प्रा० १,१७७) इस नियमके अनुसार 'अचेलक' के चकारका लोप हो जानेसे 'अ ए ल क' पद अवशिष्ट रहता है। यही (अ + ए = ऐ) सन्धिके योगसे 'ऐलक' बन गया।

उक्त विवेचनसे यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि 'ऐलक' पद भले ही अर्वाचीन हो पर उसका मूल रूप 'अचेलक' शब्द बहुत प्राचीन है। लाटीसंहिताकारको या तो 'ऐलक' का मूलरूप समझमें नहीं आया, या उन्होंने सर्वसाधारणमें प्रचलित 'ऐलक' शब्दको ज्योंका त्यों देना ही उचित समझा। इस प्रकार ऐलक शब्दका अर्थ नाममात्रका वस्त्रधारक अचेलक होता है और इसकी पुष्टि आचार्य समन्तभद्रके द्वारा ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके लिए दिये गये 'चेलखण्डधरः' पदसे भी होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सर्व विवेचनका निष्कर्ष यह है—

क्षुल्लक—उस व्यक्तिको कहा जाता था, जो कि मुनिदीक्षाके अयोग्य कुलमें या शूद्र वर्णमें उत्पन्न होकर स्व-योग्य, शास्त्रोक्त, सर्वोच्च व्रतोंका पालन करता था, एक वस्त्रको धारण करता था, पात्र रखता था, अनेक घरोंसे भिक्षा लाकर और एक जगह बैठकर खाता था, वस्त्रादिका प्रतिलेखन रखता था, कैंची या उस्तरेसे शिरोमुंडन कराता था। इसके लिए वीरचर्या, आतापनादि योग करने और सिद्धान्त ग्रन्थ तथा प्रायश्चित्तशास्त्रके पढ़नेका निषेध था।

ऐलक—मूल में 'अचेलक' पद नग्न मुनियोंके लिए प्रयुक्त होता था। पीछे जब नग्न मुनियोंके लिए निर्ग्रन्थ, दिगम्बर आदि शब्दोंका प्रयोग होने लगा, तब यह शब्द ग्यारहवीं प्रतिमा-धारक और नाममात्रका वस्त्र-खंड धारण करनेवाले उत्कृष्ट श्रावकके लिए व्यवहृत होने लगा। इसके पूर्व ग्यारहवीं प्रतिमाधारीका 'भिक्षुक' नामसे व्यवहार होता था। इस भिक्षुक या ऐलकके लिए लंगोटी मात्रके अतिरिक्त सर्व वस्त्रों और पात्रोंके रखनेका निषेध है। साथ ही मुनियोंके समान खड़े-खड़े भोजन करने, केशलुंच करने और मयूरपिच्छिका रखनेका विधान है। इसे ही विद्वानोंने 'ईषन्मुनि' 'देश यति' आदि नामोंसे व्यवहार किया है।

समयके परिवर्त्तनके साथ शूद्रोंको दीक्षा देना बन्द हुआ, या शूद्रोंने जैनधर्म धारण करना बन्दकर दिया और तेरहवीं शताब्दीसे लेकर इधर मुनिमार्ग प्रायः बन्द-सा हो गया तथा धर्मशास्त्र-के पठन-पाठनकी गुरु-परम्पराका विच्छेद हो गया, तब लोगोंने ग्यारहवीं प्रतिमाके ही दो भेद मान लिये और उनमेंसे एकको क्षुल्लक और दूसरेको ऐलक कहा जाने लगा।

क्या आज उच्चकुलीन, ग्यारहवीं प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावकोंको 'क्षुल्लक' कहा जाना योग्य है ? यह अद्यापि विचारणीय है।

१२. श्रावक प्रतिमाओंके विषयमें कुछ विशेष ज्ञातव्य

(१) आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, स्वामी कार्त्तिकेय, सोमदेव, चामुण्डराय, अमित-गति आदि अनेक आचार्योंने ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेद नहीं कहे हैं, जबकि वसुनन्दी, आशाधर, मेधावी, गुणभूषण आदि अनेक श्रावकाचारकारोंने दो भेद किये हैं।

(२) सोमदेवने सचित्तत्यागको आठवीं प्रतिमा कहा है और कृषि आदि आरम्भके त्यागको पाँचवीं प्रतिमा कहा है, जो अधिक उपयुक्त एवं क्रम-संगत प्रतीत होता है (देखो—भाग १, पृ० २३३, श्लोक ८२१)

(३) सकलकीर्तिने ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके लिए मुहूर्त्तप्रमाण निद्रा लेना कहा है (देखो—भाग २, पृ० ४३४, श्लोक ११०)

(४) सकलकीर्त्तिने ग्यारहवीं प्रतिमावालेको क्षुल्लक कहा है। उसे सद्-धातुका कमण्डलु, और छोटा पात्र—थाली रखनेका विधान किया है। (देखो—भाग २, पृ० ४२५-४२६, श्लोक ३४, ४१-४२)

(५) क्षुल्लकके लिए अनेक श्रावकाचारकारोंने सहज प्राप्त प्रासुक द्रव्यसे जिन-पूजन करने-का भी विधान किया है। (देखो—लाटीसंहिता भाग ३, पृ० १४८, श्लोक ६९। पुरुषार्थानुशासन भाग ३, पृ० ५२९ श्लोक ८०)

(६) पुरुषार्थानुशासनमें ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेद नहीं किये गये हैं और उसे 'कौपीन' के सिवाय स्पष्ट शब्दोंमें सभी वस्त्रके त्यागका विधान किया है। (देखो—भाग ३, पृ० ५२९, श्लोक ७४)

(७) लाटीसंहितामें क्षुल्लकके लिए कांस्य या लोहपात्र भिक्षाके लिए रखनेका विधान है। (देखो—भाग ३, पृ० ५२८, श्लोक ६४)

(८) पुरुषार्थानुशासनमें दशवीं प्रतिमाधारीके पाप कार्यों या गृहारम्भोंमें अनुमति देनेका विस्तृत निषेध और पुण्य कार्योंमें अनुमति देनेका विस्तृत विधान किया है। (देखो—भाग ३, पृ० ५२८, श्लोक ६० ७०)

(९) पं० दौलतरामजीने अपने क्रियाकोषमें नवमी प्रतिमाधारीके लिए काठ और मिट्टीका पात्र रखने और धातुपात्रके त्यागका स्पष्ट कथन किया है। (देखो—भाग ५, पृ० ३७५)

(१०) गुणभूषणने नवमी प्रतिमाधारीके लिए वस्त्रके सिवाय सभी परिग्रहके त्यागका विधान किया है। (देखो—भाग २, पृ० ४५४, श्लोक ७३)

(११) सकलकीर्त्तिने आठवीं प्रतिमाधारीको रथादि सवारीके त्यागका विधान किया है। (देखो—भाग २, पृ० ४१८, श्लोक १०७)

(१२) लाटीसंहितामें छठी प्रतिमाधारीके लिए रोगादिके शमनार्थ रात्रिमें गन्ध-माल्य, विलेपन एवं तैलाभ्यङ्ग आदिका भी निषेध किया है। (देखो—भाग ३, पृ० १४३, श्लोक २०)

(१३) पं० दौलतरामजीने छठी प्रतिमाधारीके लिए रात्रिमें गमनागमनका निषेध किया है, तथा अन्य आरम्भ कार्योंके करनेका भी निषेध किया है। (देखो—भाग ५, पृ० ३७२, ३७३)

(१४) लाटीसंहितामें दूसरी प्रतिमाधारीके लिए रात्रिमें लम्बी दूर जाने-आनेका निषेध किया गया है। (देखो—भाग ३, पृ० १०४, श्लोक २२३)

तथा इसी व्रत-प्रतिमावालेको घोड़े आदिकी सवारी करके दिनमें भी गमन करनेका निषेध किया है, उनका तर्क है कि किसी सवारीपर चढ़कर जानेमें ईर्यासंशुद्धि कैसे संभव है। (देखो—भाग ३, पृ० १०४, श्लोक २२४)

(१५) पुरुषार्थानुशासनमें श्रावक-प्रतिमाओंको क्रमसे तथा क्रमके बिना भी धारण करनेका विधान किया है। (देखो—भाग ३, पृ० ५३१, श्लोक ९४) जबकि सभी श्रावकाचारमें क्रमसे ही प्रतिमाओंके धारण करनेका स्पष्ट विधान किया गया है।

(१६) धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें प्रथमोत्कृष्टसे 'श्वेतैकपटकौपीनधारक' कहा है। (देखो—भाग २, पृ० १४९, श्लोक ६१) सागारधर्मामृतमें भी 'सितकौपीनसंव्यानः' कहा है। (देखो—भाग २, पृ० ७४, श्लोक ३८) तथा द्वितीयोत्कृष्टको 'रक्तकौपीनसंग्राही' कहा है। (देखो—भाग २, पृ० १५०, श्लोक ७२)

श्रावककी ११ प्रतिमाओंके विषयमें यह विशेष ज्ञातव्य है कि उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थसूत्र-में, तथा उसके टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दिने प्रतिमाओंका कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार शिवकोटिने रत्नमालामें, रविषेणने पद्मचरितमें, जटासिहनन्दिने वराङ्ग-चरितमें, जिनसेनने हरिवंशपुराणमें, पद्मनन्दिने पंचविंशतिकामें, देवसेनने प्राकृत भावसंग्रहमें और रयणसारके कर्त्ताने रयणसारमें तथा अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भी श्रावककी ११ प्रतिमाओंका कोई वर्णन नहीं किया है। इसके विपरीत समन्तभद्र, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दि, आशाधर, मेधावी, सकलकीर्त्ति आदि श्रावकाचार-कर्ताओंने ग्यारह प्रतिमाओंका नाम निर्देश ही नहीं, प्रत्युत विस्तारके साथ उनके स्वरूपका निरूपण किया है।

आचार्य कुन्दकुन्दने ग्यारह प्रतिमाओंके नामवली जिस गाथाको कहा है, वही गाथा षट्-खण्डागमकी धवला और कषायपाहुडकी जयधवला टीकामें भी पायी जाती है।

उक्त विश्लेषणसे ज्ञात होता है कि श्रावकधर्मके वर्णन करनेके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायमें दो परम्पराएँ रही हैं। इसी प्रकार श्वे० सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंने भी प्रतिमाओंका कोई वर्णन नहीं किया है, परन्तु हरिभद्रकी उपासक-विंशतिकामें तथा दशाश्रुतस्कन्धमें प्रतिमाओंका वर्णन पाया जाता है, इससे यह निष्कर्ष निकल जाता है दि० श्वे० दोनों ही परम्पराओंमें प्रतिमा-के वर्णन और नहीं वर्णन करनेकी दो परम्पराएँ रही हैं।

१३. श्वे० शास्त्रोंके अनुसार प्रतिमाओंका वर्णन

श्वेताम्बर-सम्प्रदायके दशाश्रुत स्कन्धगत छट्ठी दशामें श्रावककी ११ प्रतिमाओंका वर्णन है। तथा हरिभद्रसूरिकृत विंशतिकाकी दशवीं विंशिकामें भी ११ प्रतिमाओंका वर्णन है। उनके नामोंमें दिगम्बर-परम्परासे जो कुछ भेद है, तथा स्वरूपमें भी जो विभिन्नता है, वह यहाँ दी जाती है—

प्रतिमाओंके नामोंमें खास अन्तर सचित्तत्याग प्रतिमाका है। श्वे० मान्यताके अनुसार इसे सातवीं प्रतिमा मानी है। नवमी प्रतिमाका नाम प्रेष्यप्रयोग त्याग है, दशवींका नाम उद्दिष्ट त्याग और ग्यारहवींका नाम श्रमणभूत प्रतिमा है।[1]

प्रतिमाओंके स्वरूपमें भी कुछ विशेषता है वह उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर यहाँ दी जाती है—

१. **दर्शनप्रतिमाधारी**—देव-गुरुकी शुश्रूषा करता है, धर्मसे अनुराग रखता है, यथा—समाधि, गुरुजनोंकी वैयावृत्य करता तथा श्रावक और मुनिधर्मपर दृढ़ श्रद्धा रखता है।[2]

२. **व्रत प्रतिमाधारी**—अतिचार रहित पंच अणुव्रतोंका पालन करता है, बहुतसे शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान और प्रोषधोपवासका अभ्यास करता है, किन्तु सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रतका सम्यक् प्रकार पालन करता है।[3]

३. **सामायिक प्रतिमाधारी**—अपने बल-वीर्यके उल्लाससे पूर्व प्रतिमाओंके कर्तव्योंका पालन करता हुआ अनेक बार सामायिक करता है और देशावकाशिक व्रतका भी भलीभाँति पालन करता है किन्तु अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वोंमें विधिपूर्वक परिपूर्ण प्रोषधोववासका सम्यक् परि-

---

१. दंसण वय सामाइय पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते।
आरंभ पेस उद्दिट्ठवज्जए समणभूए य ॥ १ ॥
एया खलु इक्कारस गुणठाणगभेयओ मुणेयव्वा।
समणोवासगपडिमा बज्झाणुट्ठाणलिंगेहिं ॥ २ ॥

२. पढमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं नो सम्मं पट्ठवित्ताइं भवंति। से तं पढमा उवासग-पडिमा।
सुस्सूसाई जम्हा दंसणपमुहाण कज्जसूय त्ति।
कायकिरियाइ सम्मं लक्खिज्जइ ओहओ पडिमा ॥ ३ ॥
सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो दंसणपडिमा भवे एसा ॥

३. अहावरा दोच्चा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठविताइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ। तं दोच्चा उवासग-पडिमा।
पंचाणुव्वयधारित्तमणइयारं वएसु पडिबंधो।
वयणा तदणइयारा वयपडिमा सुप्पसिद्ध त्ति ॥ ५ ॥

पालन नहीं करता है।[1]

४. प्रोषध प्रतिमाधारी—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी आदि पर्वों में सम्यक् प्रकारसे यति-भावके साधनार्थ परिपूर्ण प्रोषधोपवास करता है। किन्तु एकरात्रिक उपासकप्रतिमाका सम्यक् परिपालन नहीं करता है।

५. एकरात्रिप्रतिमाधारी—अष्टमी आदि पर्वके दिनोंमें पूर्ण प्रोषधोपवासको धारण करता हुआ भी स्नान नहीं करता, प्रकाशमें (दिनमें) ही भोजन करता है, अर्थात् रात्रिभोजनका त्यागी होता है, धोतीकी लांग नहीं लगाता, और दिनमें परिपूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करता है, तथा रात्रिमें भी मैथुन-सेवनका परिमाण रखता है। इस प्रतिमाको उत्कर्षसे पाँच मास तक पालता है।[2]

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी—उक्त क्रियाओंको करता हुआ रात्रिमें भी परिपूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करता है अर्थात् स्त्री-सेवनका सर्वथा त्याग कर देता है। किन्तु सचित्त भोजनका त्यागी होता है। इस प्रतिमाको उत्कर्षसे छह मास तक पालता है।[3]

७. सचित्त त्याग प्रतिमाधारी—यावज्जीवनके लिए सर्व प्रकारके सचित्त आहारपानका

---

१. अहावरा तच्चा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई या वि भवइ। तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं चउदसि-अट्ठमिउद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से तं तच्चा उवासग-पडिमा।
तह अत्तधोरिउल्लासजोगओ रयत्तसुद्धिदिसिसमं।
सामाइयकरणमसइ सम्मं सामाइयप्पडिमा ॥ ६ ॥

२. अहावरा चउत्था उवासग-पडिमा—सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं एग-राइयं उवासग-पडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से तं चउत्था उवासग-पडिमा।
पोसहकिरियाकरणं पव्वेसु तहा तहा सुपरिसुद्धं।
जइभावभावसाहगमणघं तह पोसहप्पडिमा ॥ ७ ॥

३. अहावरा पंचमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं सामाइयं देसावगासियं अहासुत्तं अहाकप्पं अहातच्चं अहामग्गं सम्मं काएणं फासित्ता पालित्ता, सोहित्ता, पूरित्ता, किट्टित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ। से णं चउद्दसि-अट्ठमि-उद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्ता भवइ। से णं एग-राइयं उवासग पडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया बंभचारी, रत्तिं परिमाणकडे। से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहण्णेण एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा जाव उक्कोसेण पंच मासं विहरइ। से तं पंचमा उवासग-पडिमा।
पव्वेसु चेव राइं असिणाणाइकिरियासमाउत्तो।
मासपणगावहिं तहा पडिमाकरणं तु तप्पडिमा ॥ ८ ॥

त्याग कर देता है और प्रासुक आहारपानको ग्रहण करता है। इस प्रतिमाको उत्कर्षसे सात मास तक पालन करता है।[1]

८. **आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी**—सर्व प्रकारके सावद्य आरम्भका स्वयं परिपूर्ण त्यागी होता है, किन्तु प्रेष्य (सेवक) वर्गसे आरम्भ करानेका त्यागी नहीं होता। हाँ, वह शक्ति-भर उपयुक्त रहकर अल्प ही आरम्भ कार्य सेवकोंसे कराता है। इस प्रतिमाको वह उत्कर्षसे आठ मास तक परिपालन करता है।[2]

९. **प्रेष्यारम्भ परित्याग प्रतिमाधारी**—सेवक जनोंसे भी रंचमात्र सावद्य आरम्भको नहीं कराता है और न स्वयं करता है। किन्तु उद्दिष्ट भोजनका त्यागी नहीं होता है। इस प्रतिमाको उत्कर्षसे नौ मास तक परिपालन करता है।[3]

१०. **उद्दिष्टाहार त्यागी**—अपने निमित्तसे बने हुए आहारपानका सर्वथा त्याग कर देता है और निरन्तर शास्त्र स्वाध्याय एवं आत्मध्यानमें संलग्न रहता है। यह शिरके बालोंको क्षुरासे

---

१. अहावरा छट्ठा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। जाव स ण एगराइयं उवासग-पडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया वा राओ वा बंभयारी, सचित्ताहारे से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे-जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं छम्मासं विहरेज्जा। से तं छट्ठा उवासग-पडिमा।
असिणाण वियडभोई मउलियडो रत्तिबंभमाणेण।
पडिवक्खमंतजावाइसंगओ चेव सा किरिया॥ ९॥
एवं किरियाजुत्तोऽबंभं वज्जेइ नवर राइं पि।
छम्मासावहि नियमा एसा उ अबंभपडिमत्ति॥ १०॥
जावज्जीवाए वि हु एसाऽबंभस्स वज्जणा होइ।
एवं चिय जं चित्तो सावगधम्मो बहुपगारो॥ ११॥

२. अहावरा सत्तमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। जाव राओवरायं वा बंभयारी सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति। आरंभे से अपरिणाए भवति। से णं एयारूवेणं विहरमाणे-जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा। से तं सत्तमा उवासग-पडिमा।
एवंविहो उ नवरं सच्चित्तं पि परिवज्जए सव्वं।
सत्त य मासे नियमा फासुयभोगेण तप्पडिमा॥ १२॥
जावज्जीवाए वि हु एसा सच्चित्तवज्जणा होइ।
एवं चिय जं चित्तो सावगधम्मो बहुपगारो॥ १३॥

३. अहावरा अट्ठमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवति। जाव राओवरायं बंभयारी। सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ। आरम्भे से परिण्णाए भवइ। पेसारंभे अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जाव-जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव-उक्कोसेणं अट्ठमासे विहरेज्जा। से तं अट्ठमा उवासग-पडिमा।
एवं चिय आरम्भं वज्जइ सावज्जमट्ठमासं जा।
तप्पडिमा पेसेहि वि अप्पं कारेइ उवउत्तो॥ १४॥

मुंडन कराता है, किन्तु शिखा (चोटी) रखता है। वह जानी हुई बातको कहता है, नहीं जानी हुई बातको किसीके द्वारा पूछनेपर भी नहीं कहता है। इस प्रतिमाको उत्कर्षसे दश मास तक पालता है।[1]

११. श्रमणभूत प्रतिमाधारी—उद्दिष्ट भोजनका त्यागी होती है, दाढ़ी, सिर, मूंछके बालोंको क्षुरासे मुंडवाता है, अथवा अपने हाथसे केश-लुंच करता है। सचेल साधु जैसा वेष धारण करता है और साधुजनोचित उपकरण-पात्र रखता है। चार हाथ भूमिको शोध कर चलता है। केवल ज्ञातिवर्ग (कुटुम्ब जनों) से प्रेम-विच्छिन्न नहीं होनेके कारण उनके यहाँ गोचरी कर सकता है। गृहस्थके घर गोचरीके लिए प्रवेश करनेपर यह कहता है—'प्रतिमाधारी श्रमणभूत श्रमणोपासकके, भिक्षा दो' इस प्रतिमाको वह ग्यारह मास तक पालन करता है।[2]

दशाश्रुतस्कन्धके अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमाको ११ मास पालन करनेके बाद वह साधुपदको यावज्जीवनके लिए स्वीकार कर लेना है। किन्तु हरिभद्र सूरिकी उपासक-विंशिकाके अनुसार कोई संक्लेशके बढ़नेसे मुनि न बनकर गृहस्थ भी हो जाता है।[3]

---

१. अहावरा नवमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। जाव-राओवरायं बंभयारी, सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ। आरंभे से परिण्णाए भवइ। पेसारंभे से परिण्णाए भवइ। उद्दिट्ठ-भत्ते से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे-जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव-उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा। से तं नवमा उवासग-पडिमा।
तेहिं पि न कारेई नवमासे जाव पेसपडिम त्ति।
पुव्वोइया उ किरिया सव्वा एयस्स सविसेसा ॥ १५ ॥

२ अहावरा दसमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। जाव-उद्दिट्ठ-भत्ते से परिण्णाए भवइ। से णं खुरमुंडए वा सिहा-धारए वा तस्स णं आभट्ठस्स समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए, जहा-जाणं वा जाणं, अजाणं वा णो जाणं। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे-जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा-जाव-उक्कोसेण दस मासे विहरेज्जा। तं दसमा उवासग-पडिमा।
उद्दिट्ठाहाराईण वज्जणं इत्थ होइ तप्पडिमा।
दसमासावहि मज्झायझाणजोगप्पहाणस्य ॥ १६ ॥

३ अहावरा एकादसमा उवासग-पडिमा-सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ। जाव-उद्दिट्ठ-भत्ते से परिण्णाए भवइ। से णं खुरमुंडए, वा लुंचसिरए वा, गहियायार-भंडग-नेवत्थे। जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते, तं सम्मं काएणं फासेमाणे, पालेमाणे, पुरओ जुगमायाए पेहमाणे, दट्ठूण तसे पाणे उद्दट्टु पाए रीएज्जा साहट्टु पाए रीएज्जा, तिरिच्छं वा पायं कट्टु रीएज्जा सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा। केवलं से नायए पेज्जबंधणे अवोच्छिन्ने भवइ। एवं से कप्पति नाय-विहिं एत्तए।
इक्कारस मासे जाव समणभूयपडिमा उ चरिम त्ति।
अणुचरइ साहुकिरियं इत्थ इमो अविगलं पायं ॥ १७ ॥
आसेविऊण एयं कोई पव्वयइ तह गिही होइ।
तब्भावभेयओ च्चिय विसुद्धिसंकेसभेएणं ॥ १८ ॥
एया उ अहुत्तरओ असंखकम्मक्खओवसमभावा।
इति पडिमा पसत्था विसोहिकरणाणि जीवस्स ॥ १९ ॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वे० परम्पराके शास्त्रोंमें जिस प्रकार प्रत्येक प्रतिमाके धारण करनेके समयका उल्लेख है, उस प्रकारसे दि० परम्पराके शास्त्रोंमें नियत समयका कोई उल्लेख नहीं है। यह साधक श्रावककी शक्ति और अवस्थापर निर्भर है कि वह पूर्व-पूर्व प्रतिमामें अपनेको सर्व प्रकारसे निष्णात देखकर आगे-आगेको प्रतिमाओंको स्वीकार करता हुआ अन्तमें या तो मुनि बन जावे, अथवा समाधिमरणको अंगीकार करे।

श्वे० परम्पराके अनुसार पहली प्रतिमाके धारण करनेका उत्कृष्ट काल एक मास, दूसरीका दो मास, तीसरीका तीन मास, चौथीका चार मास, पाँचवींका पाँच मास, छठीका छह मास, सातवींका सात मास, आठवींका आठ मास, नवमीका नौ मास, दशवींका दश मास और ग्यारहवींका ग्यारह मास है। इसका अर्थ है कि (१ + २ + ३ + ४ + ५ + ६ + ७ + ८ + ९ + १० + ११ = ६६) छ्यासठ मास अर्थात् साढ़े पाँच वर्षके पश्चात् उसे मुनि बन जाना चाहिए, अथवा संन्यास धारण कर लेना चाहिए।

समीक्षा

दिगम्बर परम्परामें सोमदेवको छोड़कर सभी श्रावकाचार-कर्ताओंने सचित्त त्यागको पाँचवीं और आरम्भ त्यागको आठवीं प्रतिमा माना है। पर सोमदेवके तर्क-प्रधान एवं बहुश्रुतज्ञ चित्तको यह बात नहीं जँची कि कोई व्यक्ति सचित्त भोजन और स्त्री-सेवनका त्यागी होनेके पश्चात् भी कृषि आदि पापारम्भवाली क्रियाअ ंको कर सकता है। अतः उन्होंने आरम्भ-त्यागके स्थानपर सचित्त त्याग और सचित्त त्यागके स्थानपर आरम्भ-त्याग प्रतिमको कहा।

उपरि-दर्शित श्वेताम्बरीय दशाश्रुतस्कन्ध और हरिभद्र-रचित विंशति विंशतिकाकी प्रतिमा-विंशतिकामें सचित्त त्यागको सातवीं और ब्रह्मचर्य-प्रतिमाको छट्ठी माना है। संभवतः सोमदेव उक्त दोनों ग्रन्थोंसे परिचित रहे हैं। फिर भी अपनी तार्किक बुद्धिसे श्वेताम्बरीय प्रतिमाक्रमको अपनाते हुए भी आरम्भ त्याग करनेवाली प्रतिमा को दिवा ब्रह्मचर्य और नवधा ब्रह्मचर्यसे पहिले ही स्थान देना उचित समझा है।

यहाँपर सप्रमाण श्वेताम्बरीय मान्यताको देनेका अभिप्राय यही है कि विद्वज्जन प्रतिमाओंके विषयमें विभिन्न मतोंसे परिचित हो सकें।

श्वेताम्बरीय परम्परामें पाँचवीं एकरात्रिक प्रतिमा है। इस प्रतिमाधारीको पर्वके दिनोंमें स्नानका त्यागी और रात्रिमें भोजन करनेका त्यागी होना आवश्यक है।

दिगम्बर परम्परामें दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है। पर इस नामवाली कोई प्रतिमा श्वेताम्बर परम्परामें नहीं है। वहां उद्दिष्टाहार त्यागको दशवीं प्रतिमा माना गया है। तथा ग्यारहवीं प्रतिमाको श्रमणभूत प्रतिमा कहा है। वह सचेल साधु जैसा वेष धारण करता है,

---

आसेविऊण एयाभावेण निओगओ जई होइ।
जं उवरि सव्वविरई भावेणं देसविरई उ॥ २०॥

सूचना—टिप्पणीमें दी गई सभी गाथाएँ हरिभद्रसूरि-रचित प्रतिभा-विंशिका की हैं। और उक्त सभी प्राकृत गद्यभाग दशाश्रुतस्कन्धके उवासगदशा प्रकरणके हैं।—सम्पादक

उन्हींके समान उपकरण-पात्र रखता है, केशोंको क्षुरासे मुंडवाता है अथवा अथवा केश-लोंच करता है। केवल कुटुम्बी जनोंके साथ प्रेम बना रहनेसे उनके यहाँ गोचरी कर सकता है। दिगम्बर मान्यताके अनुसार उनके यहाँ ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेद नहीं किये गये हैं।

दिगम्बर परम्परामें किस प्रतिमाको कितने समय तक पालन करे, इसका कोई विधान दृष्टिगोचर नहीं होता है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परामें प्रतिमाओंके पालन करनेके जघन्य और उत्कृष्ट कालका स्पष्ट विधान है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तदनुसार ग्यारहवीं प्रतिमाको ११ मास तक पालन करनेके पश्चात् दशाश्रुतस्कन्धके अनुसार उसे साधु बन जाना आवश्यक है, अथवा उपासकदशासूत्रके अनुसार समाधिमरण करना आवश्यक है। इसकी पुष्टि रत्नकरण्डकसे और उसके टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्यकी प्रतिमा-व्याख्यासे पूर्व दी गई उत्थानिकासे भी होती है।[१]

१४. सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमामें अन्तर

आचार्योंने 'सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः' कहकर सर्व पापोंसे निवृत्त होनेका लक्ष्य रखना ही देशविरतिका फल बतलाया है। यह सर्व सावद्य विरति सहसा संभव नहीं है, इसके अभ्यासके लिए शिक्षाव्रतोंका विधान किया गया है। स्थूल हिंसादि पाँच पापोंका त्याग अणुव्रत है और उनकी रक्षार्थ गुणव्रतोंका विधान किया गया है। गृहस्थ प्रतिदिन कुछ समय तक सर्व सावद्य (पाप) योगके त्यागका भी अभ्यास करे इसके लिए सामायिक शिक्षाव्रतका विधान किया गया है। अभ्यासको एकाशन या उपवासके दिनसे प्रारम्भ कर प्रतिदिन करते हुए क्रमशः प्रातः सायंकाल और त्रिकाल करने तकका विधान आचार्योंने किया है। यह दूसरी प्रतिमाका विधान है। इसमें कालका बन्धन और अतीचारोंके त्यागका नियम नहीं है, हाँ उनसे बचनेका प्रयास अवश्य किया है। सकलकीर्त्तिने एक वस्त्र पहिन कर सामायिक करनेका विधान किया है।[२]

किन्तु तीसरी प्रतिमाधारीको तीनों सन्ध्याओं में कमसे कम दो घड़ी (४८ मिनिट) तक निरतिचार सामायिक करना आवश्यक है। वह भी शास्त्रोक्त कृति कर्मके साथ और यथाजातरूप धारण करके।[3] रत्नकरण्डकके इस 'यथाजात' पदके ऊपर वर्तमानके व्रती जनों या प्रतिमाधारी श्रावकोंने ध्यान नहीं दिया है। समन्तभद्रने जहाँ सामायिक शिक्षाव्रतीको 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' (वस्त्रसे लिपटे मुनिके तुल्य) कहा है, वहाँ सामायिक प्रतिमाधारीको यथाजात (नग्न) होकरके सामायिक करनेका विधान किया है। चारित्रसारमें भी यथाजात होकर सामायिक करनेका निर्देश है[४] और व्रतोद्योतन श्रावकाचारमें तो बहुत स्पष्ट शब्दोंमें 'यथोत्पन्नस्तथा भूत्वा कुर्यात्सामायिकं च सः' कहकर जैसा नग्न उत्पन्न होता है, वैसा ही नग्न होकर सामायिक करनेका विधान तीसरी प्रतिमाधारीके लिए किया गया है।[५]

---

१. साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याऽऽशङ्क्य आह। (रत्नक० श्लो० १३६ उत्थानिका)

२. एकवस्त्रं विना त्यक्त्वा सर्वबाह्यपरिग्रहान्।
प्रोषधं चैकभक्तं वा कृत्वा सामायिकं कुरु ॥ (श्रा० सं० भा० २ पृ० ३४३ श्लोक ३४)

३. देखो—रत्नकरण्डक श्लो० १३९। ४. चारित्रसार भा० १ पृ० २२५ श्लो० १९। ५. व्रतोद्योतन श्रावकाचार। (श्रा० ३, पृ० २५८, श्लो० ५०४)

यथाजातरूप धारण करके भी जघन्य दो घड़ी, मध्यम चार घड़ी और उत्कृष्ट छह घड़ीका काल तीसरी प्रतिमामें बताया गया है। कुछ आचार्योंने तो मुनियोंके समान ३२ दोषोंसे रहित सामायिक करनेका विधान तीसरी प्रतिमाधारीके लिए किया है।[1]

सामायिक शिक्षाव्रतमें जहाँ स्वामी समन्तभद्रने अशरण, अनित्य, अशुचि आदि भावनाओं-को भाते हुए संसारको दुःखरूप चिन्तन करने, तथा मोक्षको शरण, नित्य और पवित्र आत्म-स्वरूपसे चिन्तन करनेका निरूपण किया है, वहाँ सामायिक प्रतिमामें उक्त चिन्तनके साथ आगे-पीछे किये जानेवाले कुछ भी विशेष कर्तव्योंका विधान किया है। वहाँ बताया है कि चार बार तीन-तीन आवर्त और चार नमस्कार रूप कृत्ति कर्मको भी त्रियोगकी शुद्धि पूर्वक करे।

वर्तमानमें सामायिक करनेके पूर्व चारों दिशाओंमें एक-एक कायोत्सर्ग करके तीन-तीन बार मुकुलित हाथोंके घुमानेरूप आवर्त करके नमस्कार करनेकी विधि प्रचलित है। पर इस विधि-का लिखित आगम-आधार उपलब्ध नहीं है। सामायिक प्रतिमाके स्वरूपवाले 'चतुरावर्तत्रितय' इस श्लोककी व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्राचार्यने लिखा है कि एक-एक कायोत्सर्ग करते समय 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि सामायिक दण्डक और 'थोस्सामि हं जिणवरे तित्यवरे केवली अणंतजिणे' इत्यादि स्तवदण्डक पढ़े। इन दोनों दंडकोंके आदि और अन्तमें तीन-तीन आवर्तोंके साथ एक-एक नमस्कार करे। इस प्रकार बारह आवर्त और चार नमस्कारोंका विधान किया है। सामायिक-दण्डक और स्तवदण्डक मुद्रित क्रिया कलापसे जानना चाहिए।

आवर्तके द्रव्य और भावरूपसे दो प्रकारका निरूपण है। दोनों हाथोंको मुकुलित कर अंजुली बाँधकर-प्रदक्षिणा रूपसे घुमानेको द्रव्य आवर्त कहा गया है।[2] मन, वचन और कायके परावर्तनको भाव आवर्त कहा गया है[3]। जैसे—सामायिक दण्डक बोलनेके पूर्व क्रिया विज्ञापनरूप मनो-विकल्प होता है, उसे छोड़कर सामायिक दण्डकके उच्चारणमें मनको लगाना मन—परावर्तन है। इसी सामायिक दण्डकके पूर्व भूमिको स्पर्श करते हुए नमस्कार किया जाता है, उसके पश्चात् खड़े होकर तीन बार हाथोंको घुमाना कायपरावर्तन है। तत्पश्चात् 'चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोमि' इत्यादि उच्चारणको छोड़कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पाठका उच्चारण करना वचन परावर्तन है। इस प्रकार सामायिक दण्डकसे पूर्व मन, काय और वचनके परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं। इसी प्रकार सामायिक दण्डकके अन्तमें तीन आवर्त, तथा स्तवदण्डकके आदि और अन्तमें तीन-तीन आवर्त होते हैं। उक्त विधिसे एक कायोत्सर्गमें सब मिलकर बारह आवर्त होते हैं।

१५. प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत और प्रोषध प्रतिमामें अन्तर

प्रोषधोपवास यह शब्द प्रोषध और उपवास इन दो शब्दोंकी सन्धिसे बना है। स्वामी समन्तभद्रने प्रोषध शब्दका अर्थ एक बार भोजन करना अर्थात् एकाशन किया है। एकाशनके

---

१. देखो—श्राव० सं० भा० २ पृ० ३४९, श्लो० ११०–११४।

२. त्रिःसम्पुटीकृतौ हस्तौ भ्रामयित्वा पठेत्पुनः।
साम्यं पठित्वा भ्रामयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत् ॥ (क्रियाकलाप पृ० ६)

३. कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम्।
स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः ॥ (अमित० श्रा० पृ० ३३९ श्लो० ६५। क्रियाक० पृ० ५)

साथ जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत कहा गया है। किन्तु अकलंक-देवने प्रोषध शब्दको पर्वका पर्यायवाची माना है। तदनुसार अष्टमी आदि पर्वके दिन जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहा है। इस अर्थभेदके साथ जब प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत और प्रोषधप्रतिमाके स्वरूप पर विचार करते हैं तो दोनोंमें महान् अन्तर पाते हैं और उसका संकेत मिलता है स्वामी समन्तभद्रके ही द्वारा प्रतिपादित प्रोषधप्रतिमाके स्वरूपसे। जहाँ कहा गया है कि—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः॥ (र० क० श्लो० १४०)

इस श्लोकका प्रत्येक पद अपनी-अपनी एक खास विशेषताको प्रकट करता है। प्रथम चरणमें पठित 'अपि' शब्द एवकारका वाचक है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि दोनों पक्षकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों ही पर्वोंमें प्रोषधोपवास करना चौथी प्रतिमाधारीके लिए आवश्यक है। शिक्षाव्रतके भीतर यह प्रोषधोपवास अभ्यास रूप था, अतः कभी उपवास न करके एक बार नीरस भोजन, जल-पान आदि भी कर लेता था, जिसकी सूचना स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा आदिमें वर्णित इसके स्वरूपसे मिलती है। उत्तरार्धके 'मासे-मासे' और 'स्वशक्तिमनिगुह्य' पद यह प्रकट करते हैं कि प्रत्येक मासमें पर्वके दिन उपवास करना आवश्यक है, चाहे ग्रीष्म-ऋतुके मासोंमें कितनी ही भयंकर गर्मी क्यों न पड़ रही हो, पर उसे चारों प्रकारके आहारका सर्वथा त्याग करके उपवास करना ही पड़ेगा। इस प्रतिमामें अपनी शक्तिको छिपानेरूप बहानेका कोई स्थान नहीं है। इसी अर्थकी पुष्टि श्लोकके तीसरे चरणसे होती है और चौथे चरणमें पठित 'प्रणधिपरः' पद तो स्पष्टरूपसे कह रहा है कि अत्यन्त सावधानी पूर्वक इस प्रतिमाका पालन करना चाहिए, तभी वह प्रोषधप्रतिमाका धारी कहा जा सकता है।

स्वामी कार्त्तिकेयने जहाँ शिक्षाव्रतके अभ्यासीके लिए उपवास करनेकी शक्ति न होनेपर नीरस भोजन, एकाशन आदिकी छूट दी है, वहाँ चौथी प्रतिमाधारीके लिए किसी भी प्रकारकी छूट न देकर अष्टमी चतुर्दशीके पूर्व और उत्तरवर्ती दिनोंमें भी एकाशनके साथ उपवास करनेका एवं उक्त समयके भीतर धर्मध्यानादि करनेका विशद विवेचन किया है।

आचार्य वसुनन्दीने जो चौथी प्रतिमाके स्वरूपमें उत्तम, मध्यम और जघन्यरूपसे उपवास करनेका विधान किया है, उसका एक खास कारण यह है कि उन्होंने प्रोषधोपवास नामका कोई शिक्षाव्रत माना ही नहीं है। अतः उन्होंने चौथी प्रतिमावालेको १६, १२ और ८ पहरके उपवासकी सुविधा हीनाधिक शक्तिवाले व्यक्तियोंके लिए दी है। पर जिन-जिन आचार्योंने प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत माना है, उनके अनुसार चौथी प्रतिमावालेको १६ पहरका ही उपवास करना आवश्यक है, तभी उसका 'प्रोषधानशन' या 'प्रोषधोपवास' यह नाम सार्थक हो सकता है, अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त अर्थकी पुष्टि प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके 'अनादर' और 'विस्मरण' नामक दो अतिचारोंसे भी होती है। और इन अतिचारोंके परिहारार्थ स्वामी समन्तभद्रने चौथी प्रतिमाके स्वरूपमें 'प्रोषधनियमविधायी और 'प्रणधिपरः' इन पदोंको कहा है। व्रत प्रतिमाके अभ्यासियोंके लिए ही अतिचारोंकी संभावना है, किन्तु तीसरी-चौथी आदि प्रतिमाधारियोंके लिए किसी भी

प्रकारके अतिचारोंकी गुंजायश नहीं है, यह बात लाटीसंहिताकारने उक्त प्रतिमाके विवेचनमें बहुत स्पष्ट की है।

इस चौथी प्रतिमाधारीको रात्रिमें श्मशान आदिमें जाकर रात-भर प्रतिमायोग धारण कर कायोत्सर्ग करना भी आवश्यक है, जिसका स्पष्ट विधान आचार्य जयसेनने अपने रत्नाकरमें उदाहरणके साथ इस प्रकार किया है—

प्राचीनप्रतिमाभिरुद्वहति चेद्यः प्रोषधं ख्यापितं
तद्रात्रौ पितृकानने निजगृहे चैत्यालयेऽन्यत्र वा।
व्युत्सर्गी सिचयेन संवृततनुस्तिष्ठेत्तनावस्पृहो
दूरत्यक्तमहाभयो गुरुरतिः स प्रोषधी प्राञ्चितः ॥ ३२ ॥
(धर्मर० पृ० ३३६)

वारिषेणोऽत्र दृष्टान्तः प्रोषधव्रतधारणे।
रजनीप्रतिमायोगपालनेऽप्यतिदुष्करे ॥ ११ ॥ (धर्मर० पृ० ३४२)

भावार्थ—जो पूर्वकी तीन प्रतिमाओंके साथ इस प्रोषधव्रतको धारण करता है, तथा रात्रिके समय श्मशानमें, अपने घरमें, चैत्यालय या अन्य एकान्त स्थानमें शरीरसे ममत्व छोड़कर और निर्भय होकर कायोत्सर्गसे अवस्थित रहता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ प्रोषधप्रतिमाधारी है। इस अति दुष्कर रात्रिप्रतिमायोगके पालनमें और प्रोषधव्रतके धारण करनेमें वारिषेण दृष्टान्त हैं।

चौथी प्रतिमाधारीके लिए रात्रिप्रतिमायोगका वर्णन पं० आशाधरने भी किया है। यथा—

निशां नयन्तः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे।
ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥ ७ ॥ (सागार० अ० ५)

भावार्थ—जो अपने पाप कर्मोंके नष्ट करनेके लिए प्रतिमायोगसे रात्रिको बिताते हैं और किसी भी उपसर्गादिसे क्षोभको प्राप्त नहीं होते हैं, उन चौथी प्रतिमावालोंको नमस्कार है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चौथी प्रतिमाधारीने १६ पहरका उपवास करना और अष्टमी या चतुर्दशीकी रात्रिको प्रतिमायोग धारण कर बिताना आवश्यक है। पर दूसरी प्रतिमाके अभ्यासीको ये दोनों बातें आवश्यक नहीं हैं। यही प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत और प्रोषधप्रतिमामें महान् अन्तर है।

१६. प्रतिमाओंके वर्णनमें एक और विशेषता

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमें संकलित श्रावकाचारोंमें श्रावककी ११ प्रतिमाओंके वर्णनमें जो विशेषता या विभिन्नता है, उसे ऊपर दिखाया गया है। आचार्य जयसेन-रचित धर्मरत्नाकरमें प्रत्येक प्रतिमाका वर्णन उत्तम, मध्यम और जघन्य रूपसे भी किया गया है। प्रतिमा-वर्णनकी इस त्रिविधताका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

१. जो सप्त व्यसन और रात्रिभोजनका त्याग कर आठ मूलगुणोंके साथ शुद्ध (निरतिचार) सम्यक्त्वको धारण करता है, वह उत्कृष्ट प्रथम प्रतिमाधारी है। जो रात्रिभोजन त्यागके साथ आठ मूलगुणोंको धारण करता है और यथा संभव एकादि व्यसनका त्यागी है, वह मध्यम है। तथा जो चारित्रमोहनीयके तीव्र उदयसे एक भी व्रतका पालन नहीं कर पाता, किन्तु व्रत धारणकी

भावना रखता हुआ निरतिचार सम्यग्दर्शनको धारण करता है वह जघन्य दर्शन प्रतिमाका धारक है। (धर्मरत्ना० पृ० २३५-२३६ श्लोक ६२-६४)

२. जो केवल अणुव्रतोंका ही पालन करता है वह जघन्य व्रत प्रतिमाधारक है। जो मूल-गुणोंका पालन करता है वह मध्यम है। तथा जो निर्मल सम्यग्दर्शनके साथ निरतिचार अणुव्रत और गुणव्रतोंका पालन करता है वह उत्तम व्रत प्रतिमाधारी है।

(धर्मर० पृ० २९७ श्लोक ३५-३६)

३. जो सामायिकको सब दोष और अतिचारोंसे रहित तीनों सन्ध्याओंमें नियत समय पर नियत काल तक करता है, वह उत्तम सामायिक प्रतिमाधारी है। जो अणुव्रतों और गुणव्रतोंको निरतिचार पालन करते हुए भी सामायिकको निर्दोष पालन नहीं करता है, वह मध्यम है और जो अणुव्रतों गुणव्रतोंको भी निरतिचार नहीं पालन करते हुए सामायिक भी सदोष या सातिचार करता है, वह जघन्य सामायिक प्रतिमाधारी है। (धर्मर० पृ० ३२३ श्लोक ७६-७७)

४. जो प्रारम्भकी तीनों प्रतिमाओंको यथाविधि निर्दोष पालन करते हुए प्रत्येक मासके चारों पर्वोंमें १६ प्रहरका निर्दोष उपवास करता है और पर्वके दिनकी रात्रिमें प्रतिमायोग धारण कर कार्योत्सर्गसे अवस्थित रहता हुआ भयंकर भी उपसर्गोंसे भयभीत या चलायमान नहीं होता है वह उत्तम प्रोषध प्रतिमाधारी है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंको निर्दोष पालन करते हुए १२ या ८ प्रहर वाले उपवासको करता है और रातमें प्रतिमायोगको धारण नहीं करता वह मध्यम है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंको और उपवासको जिस किसी प्रकारसे यथाकथंचित् धारण करता है वह जघन्य प्रोषधप्रतिमाधारी है। (धर्मर० पृ० ३३६ श्लोक ३२-३३)

५. जो श्रावक पूर्व प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करते हुए मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना, सचित्त वस्तुके खान-पानका यावज्जीवनके लिए त्याग करता है, वह उत्तम सचित्त त्याग प्रतिमाका धारक है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंको भली भाँतिसे धारण करते हुए भी प्रोषधोपवासके दिन ही सचित्त वस्तुओंका त्यागी है, वह मध्यम है। तथा जो पूर्व प्रतिमाओंको भी यथा कथंचित् पालता है और सचित्त वस्तुओंका यथा कथंचित् त्याग करता है, वह जघन्य सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है। (धर्मर० पृ० ३४२ श्लोक ९-१०)

६. जो व्यक्ति पूर्वकी सर्व प्रतिमाओंके साथ दिनमें पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करता है और अपनी स्त्रीकी ओर भी रागभावसे नहीं देखता है वह दिवामैथुनत्याग प्रतिमाधारियोंमें उत्तम है। जो पूर्व प्रतिमाओंका पालन करते हुए भी इस प्रतिमाका यथा कथंचित् विरलतासे पालन करता है, अर्थात् क्वचित् कदाचित् अपनी स्त्रीके साथ हँसी मजाक आदि करता है, वह मध्यम है। और जो पूर्व प्रतिमाओंको भी और इस प्रतिमाको भी यथा कथंचित् पालता है, वह जघन्य दिवामैथुनत्याग प्रतिमाका धारक है। (धर्मर० पृ० ३४४ श्लोक १७)

७. जो मनुष्य पूर्व प्रतिमाओंके साथ निर्मल ब्रह्मचर्यको मन वचन कायसे धारण करते हैं, वे उत्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमाके धारक हैं। जो उक्त व्रतोंके साथ मनसे कायसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए भी मनसे निर्मल ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर पाते हैं, वे मध्यम ब्रह्मचर्यप्रतिमाके धारक हैं। जो न पूर्व प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करते हैं और न ब्रह्मचर्यका भी यथा कथंचित् पालन करते हैं वे जघन्य ब्रह्मचर्यप्रतिमाके धारक हैं। (धर्मर० पृ० ३४८ श्लोक २७)

८. जो व्यक्ति निर्दोष पूर्व प्रतिमाओंको पालते हुए गृहस्थीके सभी प्रकारके आरम्भोंका परित्याग कर और स्वीकृत धनका भी याचकोंको दान करता हुआ घरमें उदासीन होकर रहता है वह उत्तम आरम्भत्यागप्रतिमाका धारक है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंका सदोष पालन करते हुए आठवीं प्रतिमाका निर्दोष पालन करते हैं, वे मध्यम हैं और जो पूर्वोक्त व्रतोंको और इस प्रतिमाका यदा-कदाचित् सदोष पालन करते हैं वे जघन्य आरम्भत्यागप्रतिमाके धारक हैं।
(धर्मर० पृ० ३५० श्लोक ३६)

९. जो पूर्वकी आठों प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करता हुआ अपने संयमके साधनोंके सिवाय शेष समस्त प्रकारके बाह्य परिग्रहका त्यागकर उसे निर्दोष पालन करता है, वह उत्तम परिग्रहत्यागप्रतिमाका धारक है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करता हुआ भी इसे यथा कथंचित् पालन करता है अर्थात् त्यक्त परिग्रहमें क्वचित् कदाचित् ममत्वभाव रखता है तो वह मध्यम परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी है। तथा पूर्व व्रतोंको और इस प्रतिमाको भी दोष लगाते हुए पालन करता है, वह जघन्य परिग्रहत्यागप्रतिमाका धारक है। (धमर० पृ० ३५४ श्लोक ४४)

१०. जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंके निर्दोष परिपालनके साथ इस लोक-सम्बन्धी सभी प्रकारके आरम्भ और परिग्रह सम्बन्धी कार्योंमें अपने पुत्रादि स्वजनोंको या परजनोंको किसी भी प्रकारकी अनुमति नहीं देता है, वह अनुमति त्यागप्रतिमाधारियोंमें श्रेष्ठ है। जो पूर्व प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करते हुए भी क्वचित् कदाचित् पुत्रादिको लौकिक कार्योंके करनेके लिए अनुमति देता है, वह मध्यम अनुमति त्यागप्रतिमाका धारक है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओंको और इस प्रतिमाको भी सदोष पालन करता है, वह जघन्य अनुमति त्यागी है। (धर्मर० पृ० ३७९ श्लोक ६७)

११. जो आदिकी दशों प्रतिमाओंका निर्दोष पालन करते हुए अपने निमित्तसे बने उद्दिष्ट आहार-पानका यावज्जीवनके लिए त्याग करता है और उसमें किसी भी प्रकारका दोष नहीं लगने देता है वह उत्कृष्ट उद्दिष्ट त्यागी है। जो पूर्व प्रतिमाओंका तो निर्दोष पालन करता है, किन्तु क्वचित् कदाचित् उद्दिष्ट त्यागमें दोष लगाता है वह मध्यम उद्दिष्ट त्यागी है। तथा जो पूर्व प्रतिमाओंका भी सदोष पालन करता है और इस उद्दिष्ट त्यागको भी यथा कथंचित् पालता है, वह जघन्य उद्दिष्ट त्यागी है। (धर्मर० पृ० ३८० श्लोक ७३)

वास्तविक स्थिति यह है कि देशसंयम लब्धिके असंख्यात स्थान सिद्धान्त ग्रन्थोंमें बताये गये हैं। जिसके जैसा-जैसा अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम बढ़ता जाता है, उसके वैसा ही संयमासंयम लब्धिस्थान भी बढ़ता जाता है। अतः प्रत्येक प्रतिमाधारीके भी अप्रत्याख्यानावरण-कषायकी तीव्र-मन्दताके अनुसार संयमासंयम लब्धिके स्थान भी घटते बढ़ते रहते हैं और तदनुसार ही वह उत्कृष्ट मध्यम या निकृष्टप्रतिमाका धारक बन जाता है। किन्तु कषायोंपर विजय पानेका प्रयत्न करते रहनेपर व्रतोंका भी निर्दोष पालन होता रहता है। अतः प्रत्येक साधकको कषायोंको जीतनेका उत्तरोत्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

१७. संन्यास, समाधिमरण या सल्लेखना

श्रावकको जीवनके अन्तमें सल्लेखना धारण करनेका विधान समस्त श्रावकाचारोंमें किया गया है। वहाँ बताया गया है कि जब बुढ़ापा आजावे, शरीर और इन्द्रियाँ शिथिल हो जावें

अपना कार्य न कर सकें, अथवा असाध्य रोग हो जावे, भयंकर उपसर्ग आ जावे, अथवा इसी प्रकारका अन्य संकट आ जावे, तब अपने जीवन भर पालित धर्मकी रक्षाके लिए शरीरको छोड़ना सल्लेखना है। इस सल्लेखनाको जीवन भर आचरण किये गये तपका फल कहा गया है। इस सल्लेखनाका ही दूसरा नाम संन्यास है। यदि अन्तिम समय शान्ति और समाधि पूर्वक मरण नहीं हुआ, तो जीवन भरका तपश्चरण और व्रत-धारण व्यर्थ हो जाता है। स्वामी समन्तभद्रने इस सल्लेखनाकी विधिका बहुत उत्तम प्रकारसे वर्णन किया है और पं० आशाधरजी आदिने उपसर्ग आदिके आनेपर शम भावसे उन्हें सहन करनेवालोंके उदाहरण देकर इस विषयका बहुत विशद वर्णन कर साधकको सावधान किया है।

प्राण-घातक रोग उपसर्ग आदिके आनेपर मरनेका आभास तो प्रातः सभीको हो जाता है। किन्तु जीवनके अन्तिम समयका आभास हर एक व्यक्तिको नहीं हो पाता है, अतः कुन्दकुन्द-श्रावकाचारके अन्तमें कहा गया है—

स ज्ञानी स गुणिव्रजस्य तिलको जानाति यः स्वां मृतिम् ॥ १२ ॥

अर्थात् जो व्यक्ति अपने मृत्यु-कालको जानता है, वह ज्ञानी है और गुणी जनोंका तिलक है। (देखो प्रस्तुत भाग, पृ० १३४)

अपना मरण-काल जाननेके लिए भद्रबाहु संहिता आदिमें अनेक निमित्त बताये गये हैं, जिनसे भावी मरणकालकी सूचना मिलती है। उनमेसे पाठकोंके परिज्ञानार्थ कुछको यहाँ दिया जाता है—

१. प्रत्येक वस्तुके लाल दिखनेपर, वृक्षोंके जलते हुए दिखनेपर, नेत्रोंकी चमक चले जानेपर, जीभ या नासाग्र भाग आँखोंसे नहीं दिखनेपर, अपनी छायामें अपना शिर न दिखनेपर और रात्रिमें ध्रुवतारा न दिखनेपर अपना मरण-काल समीप जाने।

२. दोनों कानोंमें अंगुली देनेसे शब्द नहीं सुनाई देनेपर, भौंहके टेढ़ी होनेपर, हाथकी रेखाएँ नहीं दिखनेपर, छींक आनेके साथ ही मलमूत्र निकल आनेपर, दर्पण या पानीमें शिरके न दिखनेपर, सूर्य-चन्द्रमें छिद्र दिखनेपर, शरीरकी छाया विपरीत दिखनेपर, हाथ-पैर आदिके छोटा दिखनेपर, थालीमें सूर्यका बिम्ब काला दिखनेपर मृत्यु समीप जाने।

३. उक्त बाह्य निमित्तोंके सिवाय जन्म कुंडलीके घातक-योगोंसे तथा हाथकी जीवन-रेखासे भी मृत्यु-काल जाना जा सकता है। अतः साधक-श्रावकको इस विषयमें सदा जागरूक रहना चाहिए।

१८. अतिचारोंकी पंचरूपताका रहस्य

देव, गुरु, संघ, आत्मा आदिकी साक्षी-पूर्वक जो हिंसादि पापोंका—बुरे कार्योंका—परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। पाँचों पापोंका यदि एक देश, आंशिक या स्थूल त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते हैं और यदि सर्वदेश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं। यतः पाप पाँच होते हैं, अतः उनके त्याग रूप अणुव्रत और महाव्रत भी पाँच-पाँच ही होते हैं। इस व्यवस्थाके अनुसार महाव्रतोंके धारक मुनि और अणुव्रतोंके धारक श्रावक कहलाते हैं। पाँचों अणुव्रत श्रावकके शेष व्रतोंके, तथा पाँचों महाव्रत मुनियोंके शेष व्रतोंके मूल आधार हैं, अतएव

उन्हें मूलव्रत या मूलगुणके नामसे भी कहा जाता है। मूलव्रतों या मूलगुणोंकी रक्षाके लिए जो अन्य व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हें उत्तर गुण कहा जाता है। इस व्यवस्थाके अनुसार मूलमें श्रावकके पाँच मूल गुण और सात उत्तर गुण बताये गये हैं। कुछ आचार्योंने उत्तर गुणोंकी 'शीलव्रत' संज्ञा भी दी है। कालान्तरमें श्रावकके मूलगुणोंकी संख्या पाँचसे बढ़कर आठ हो गई, अर्थात् पाँचों पापोंके त्यागके साथ मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारोंके सेवनका त्याग करनेको आठ मूलगुण माना जाने लगा। तत्पश्चात् पाँच पापोंका स्थान पाँच उदुम्बर फलोंने ले लिया और एक नये प्रकारके आठ मूलगुण माने जाने लगे। इस प्रकार पाँचों अणुव्रतोंकी गणना उत्तर गुणोंमें की जाने लगी और सातके स्थान पर बारह उत्तर गुण या उत्तर व्रत श्रावकोंके माने जाने लगे। किन्तु यह परिवर्तन श्वेताम्बर परम्परामें दृष्टिगोचर नहीं होता।

साधुओंके पाँचों पापोंका सर्वथा त्याग नव कोटिसे अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे होता है अतएव उनके व्रतोंमे किसी प्रकारके अतिचारके लिए स्थान नहीं रहता है। पर श्रावकोंके प्रथम तो सर्व पापोंका सर्वथा त्याग संभव ही नहीं है। दूसरे हर एक व्यक्ति नव कोटिसे स्थूल भी पापोंका त्याग नहीं कर सकता है। तीसरे प्रत्येक व्यक्तिके चारों ओरका वातावरण भी भिन्न-भिन्न प्रकारका रहता है। इन सब बाह्य कारणोंसे तथा प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन और नोकषायोंके तीव्र उदयसे उसके व्रतोंमें कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रतकी अपेक्षा रखते हुए भी प्रमादादि, तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणोंसे गृहीत व्रतोंमें दोष लगनेका, व्रतके आंशिक रूपसे खण्डित होनेका और स्वीकृत व्रतकी मर्यादाके उल्लंघनका नाम ही शास्त्रकारोंने 'अतिचार' रखा है। यथा—

'सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्। (सागारधर्मामृत अ० ४ श्लोक १८)

सम्यग्दर्शन, बारह व्रत और समाधिमरण या सल्लेखनाके अतिचारोंका स्वरूप प्रस्तुत संग्रहमें संकलित अनेक श्रावकाचारोंमें किया गया है। अतः उनका स्वरूप न लिखकर उनके पाँच-पाँच भेद रूप संख्याके आधारसे उनकी विशेषताका विचार किया जाता है।

जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका तीव्र उदय होता है, तो व्रत जड़-मूलसे ही खण्डित हो जाता है। उसके लिए आचार्योंने 'अनाचार' नामका प्रयोग किया है। यदि किसी व्रतके लिए १०० अंक मान लिए जावें, तो एकसे लेकर ९९ अंक तकका व्रत-खण्डन अतिचारकी सीमाके भीतर आता है। क्योंकि व्रत-धारककी एक प्रतिशत अपेक्षा व्रत-धारणमें बनी हुई है। यदि वह एक प्रतिशत व्रत-सापेक्षता भी न रहे और व्रत शत-प्रतिशत खण्डित हो जावे, तो उसे अनाचार कहते हैं। अनेक आचार्योंने इस दृष्टिको लक्ष्यमें रख करके अतिचारोंकी व्याख्या की है। किन्तु कुछ आचार्योंने अतिचार और अनाचार इन दोके स्थानपर अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ऐसे चार बिभाग किये हैं। उन्होंने मनके भीतर व्रत-सम्बन्धी शुद्धिकी हानिको अतिक्रम, व्रतकी रक्षा करनेवाली शील-बाढ़के उल्लंघनको व्यतिक्रम, विषयोंमें प्रवृत्ति करनेको अतिचार और विषय-सेवनमें अति आसक्तिको अनाचार कहा है। जैसा कि आ० अमितगतिने कहा है—

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥

—सामायिक पाठ श्लोक ९

उस व्यवस्थाके अनुसार १ से लेकर ३३ अंश तकके व्रत-भंगको अतिक्रम, ३४ से लेकर ६६ अंश तकके व्रत-भंगको व्यतिक्रम, ६७ से लेकर ९९ अंश तकके व्रत-भंगको अतिचार और शत-प्रतिशत व्रत-भंगको अनाचार समझना चाहिए।

परन्तु प्रायश्चित्त-शास्त्रोंके प्रणेताओंने उक्त चारके साथ 'आभोग' को बढ़ा करके व्रत-भंगके पाँच विभाग किये हैं। उनके मतसे एक बार व्रत खण्डित करनेका नाम अनाचार है और व्रत खण्डित होनेके बाद निःशंक होकर उत्कट अभिलाषाके साथ विषय-सेवन करनेका नाम आभोग है। किसी-किसी प्रायश्चित्त-शास्त्रकारने अनाचारके स्थानपर 'छन्नभंग' नाम दिया है।

प्रायश्चित्त-शास्त्रकारोंके मतसे १ अंशसे लेकर २५ अंश तकके व्रत-भंगको अतिक्रम, २६ से लेकर ५० अंश तकके व्रत-भंगको व्यतिक्रम, ५१ से लेकर ७५ अंश तकके व्रत-भंगको अतिचार, ७६ से लेकर ९९ अंश तकके व्रत-भंगको अनाचार और शत-प्रतिशत व्रत-भंगको आभोग समझना चाहिए।

श्रावकके जो बारह व्रत बतलाये गये हैं उनमेंसे प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ के सू० २४ से सिद्ध है—

'व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।'

ऐसी दशामें स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं? तत्त्वार्थसूत्रकी उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओंके भीतर इस प्रश्नका कोई उत्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। जिन-जिन श्रावकाचारोंमें अतिचारोंका निरूपण किया गया है उनमें, तथा उनकी टीकाओंमें भी इस प्रश्नका कोई समाधान नहीं मिलता है। पर इस प्रश्नके समाधानका संकेत मिलता है प्रायश्चित-विषयक ग्रन्थोंमें—जहाँपर कि अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोगके रूपमें व्रत-भंगके पाँच प्रकार बतलाये गये हैं।

कुछ वर्ष पूर्व अजमेरके बीसपंथ धड़ेके शास्त्र-भंडारसे जो 'जीतसार-समुच्चय' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, उसके अन्तमें 'हेमनाभ' नामका एक प्रकरण दिया गया है। इसके भीतर भरतके प्रश्नोंका भ० ऋषभदेवके द्वारा उत्तर दिलाया गया है। वहाँपर प्रस्तुत अतिचारोंकी चर्चा इस प्रकारसे दी गई है—

दृग्-व्रत-गुण-शिक्षाणां पंच-पंचैकशो मलाः।
अतिक्रमादिभेदेन पंचषष्टिश्च सन्ततेः॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन तेरह व्रतोंमेंसे प्रत्येक व्रतके अतिक्रम आदिके भेदसे पाँच-पाँच मल या दोष होते हैं अतएव सर्वमलोंकी संख्या (१३ × ५ = ६५) पैंसठ हो जाती है।

इसके आगे सातवें आदि श्लोकोंमें अतिक्रम-व्यतिक्रम आदि पाँचों भेदोंका स्वरूप देकर कहा गया है—

त्रयोदश-व्रतेषु स्युर्मनस-शुद्धिहानितः।
त्रयोदशातिचारास्ते विनश्यन्त्यात्मनिन्दनात्॥ १०॥

.योदश-व्रतानां स्वप्रतिपक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रयोदशातिचारास्ते शुद्धयन्ति स्वान्तनिग्रहात् ॥ ११ ॥
त्रयोदश-व्रतानां तु क्रियाऽऽलस्यं प्रकुर्वतः ।
त्रयोदशातिचाराः स्युस्तस्यागान्निर्मलो गृही ॥ १२ ॥
त्रयोदश-व्रतानां तु छन्नं भंगं विलन्वतः ।
त्रयोदशातिचाराः स्युः शुद्धयन्ते योगदण्डनात् ॥ १३ ॥
त्रयोदश-व्रतानां तु साभोग-व्रतभंजनात् ।
त्रयोदशातिचाराः स्युश्छन्नं शुद्धयधिकान्नयात् ॥ १४ ॥

अर्थात् उक्त तेरह व्रतोंमें मानस-शुद्धिकी हानिरूप अतिक्रमसे जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दासे दूर हो जाते हैं। तेरह व्रतोंके स्व-प्रतिपक्षरूप विषयोंकी अभिलाषासे जो व्यतिक्रम-जनित तेरह अतिचार लगते हैं, वे मनके निग्रह करनेसे शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतोंके आचरण रूप क्रियामें आलस्य करनेसे तेरह अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करनेसे गृहस्थ निर्मल या शुद्ध हो जाता है। तेरह व्रतोंके अनाचार रूप छन्न भंगको करनेसे जो तेरह अतिचार लगते हैं, वे मन-वचन-काय रूप तीनों योगोंके निग्रहसे शुद्ध हो जाते हैं। तेरह व्रतोंके आभोगजनित व्रत-भंगसे जो तेरह अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णित नय-मार्गसे शुद्ध होते हैं ॥ १०–१४ ॥

इस विवेचनसे सिद्ध है कि प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतिचारोंमेंसे एक-एक अतिचार अतिक्रम-जनित है, एक-एक व्यतिक्रम-जनित है, एक-एक अतिचार-जनित है, एक-एक अनाचार-जनित है और एक-एक आभोग-जनित है। उक्त सन्दर्भसे दूसरी बात यह भी प्रकट होती है कि प्रत्येक अतिचारकी शुद्धिका प्रकार भी भिन्न-भिन्न ही है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि यतः व्रत-भंगके प्रकार पाँच हैं, अतः तज्जनित दोष या अतिचार भी पाँच ही हो सकते हैं।

प्रायश्चित्तचूलिकाके टीकाकारने भी उक्त प्रकारसे ही व्रत-सम्बन्धी दोषोंके पाँच-पाँच भेद किये हैं। यथा—

'सर्वेऽपि व्रत-दोषाः पंचषष्टिभेदा भवंति। तद्यथा—अतिक्रमो व्यतिक्रमोऽतिचारोऽनाचार आभोग इति। एषामर्थश्चायमभिधीयते—जरद्-गवन्यायेन। यथा-कश्चिद् जरद्-गवः महाशस्य-समृद्धि-सम्पन्नं क्षेत्रं समवलोक्य तत्सीम-समीप-प्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहां संविधत्ते सोऽतिक्रमः। पुनर्विवरोदरान्तरास्यं संप्रवेश्य ग्रासमेकं समाददामीत्यभिलाषकालुष्यमस्य व्यतिक्रमः। पुनरपि तद्-वृत्ति-समुल्लंघनमस्यातिचारः। पुनरपि क्षेत्रमध्यमधिगम्य ग्रासमेकं समादाय पुनरस्यापसरणमनाचारः। भूयोऽपि निःशंकितः क्षेत्रमध्यं प्रविश्य यथेष्टं संभक्षणं क्षेत्रप्रभुणा प्रचण्डदण्डताडनखलीकारः आभोगकारः आभोग इति। एवं व्रतादिष्वपि योज्यम्।

—प्रायश्चित्तचूलिका० श्लो० १४६ टीका

भावार्थ—प्रत्येक व्रतके दोष अतिक्रम आदिके भेदसे पाँच प्रकारके होते हैं। इन पाँचोंका अर्थ एक बूढे बैलसे दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट किया गया है। कोई बूढा बैल धान्यके हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसकी बाड़के समीप बैठा हुआ उसे खानेकी मनमें इच्छा करता है, यह अतिक्रम दोष है। पुनः वह बैठा-बैठा ही बाड़के किसी छिद्रसे भीतर मुख डालकर एक ग्रास धान्य खानेकी अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम दोष है। अपने स्थानसे उठकर और खेतकी बाड़को तोड़कर भीतर

घुसनेका प्रयत्न करना अतिचार नामका दोष है। पुनः खेतमें घुसकर एक ग्रास घास या धान्यको खाकर वापिस लौट आवे, तो यह अनाचार नामका दोष है। किन्तु जब वह निःशंक होकर और खेतके भीतर घुस कर यथेच्छ घास खाता है और खेतके स्वामी द्वारा डण्डोंसे पीटे जानेपर भी घास खाना नहीं छोड़ता तो आभोग नामका दोष है। जिस प्रकार अतिक्रमादि दोषोंको बूढ़े बैलके ऊपर घटाया गया है, उसी प्रकारसे व्रतोंके ऊपर भी घटितकर लेना चाहिये।

इस विवेचनसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि अतिक्रमादि पाँच प्रकारके दोषों-को ध्यानमें रखकर ही प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतिचार बतलाये गये हैं।

श्रावकधर्मका वर्णन करनेवाले जितने भी ग्रन्थ हैं उनमेंसे व्रतोंके अतिचारोंका वर्णन श्वे० उपासकदशांगसूत्र और तत्त्वार्थसूत्रमें ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। तथा श्रावकाचारों-मेंसे सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अतिचारोंका वर्णन पाया जाता है। जब तत्त्वार्थसूत्र-वर्णित अतिचारोंका उपासकदशांगसूत्रसे-जो श्वेताम्बरों द्वारा सर्वमान्य है—तुलना करते हैं, तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एकका दूसरे पर प्रभाव ही नहीं है, अपितु एकने दूसरेके अतिचारोंका अपनी भाषामें अनुवाद किया है। यदि दोनोंके अतिचारोंमें कहीं अन्तर है तो केवल भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचारोंमें है। उपासकदशासूत्रमें इस व्रतके अतिचार दो प्रकारसे बतलाए हैं—भोगतः और कर्मतः। भोगकी अपेक्षा वे ही पाँच अतिचार बतलाये गये हैं जो तत्त्वार्थसूत्रमें दिये गये हैं। कर्मकी अपेक्षा उपासकदशासूत्रमें पन्द्रह अतिचार कहे गये हैं जो कि खर-कर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं और पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें जिनका उल्लेख किया है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपासकदशामें कर्मकी अपेक्षा जो पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकारने क्यों नहीं बतलाया? मेरी समझसे इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार 'व्रतशीलेषु पंच-पंच यथाक्रमम्' इस प्रतिज्ञासे बंधे हुए थे, इसलिए उन्होंने व्रतके पाँच-पाँच ही अतिचार बताये। पर उपासकदशाकारने इस प्रकारकी कोई प्रतिज्ञा अतिचारोंके वर्णन करनेके पूर्व नहीं की, अतः वे पाँचसे अधिक भी अतिचारोंके वर्णन करनेके लिए स्वतन्त्र रहे हैं।

तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार-वर्णित अतिचारोंका जब तुलनात्मक दृष्टिसे मिलान करते हैं, तो कुछ व्रतोंके अतिचारोंमें एक खास भेद दृष्टि-गोचर होता है। उनमेंसे दो स्थल खास तौरसे उल्लेखनीय हैं—एक परिग्रह-परिमाण व्रत और दूसरा भोगोपभोगपरिमाणव्रत। तत्त्वार्थसूत्रमें परिग्रहपरिमाणव्रतके जो अतिचार बताये गये हैं, उनसे पाँचकी एक निश्चित संख्या-का अतिक्रमण होता है। तथा भोगोपभोगव्रतके जो अतिचार बताये गये हैं, वे केवल भोगपर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं, जबकि व्रतके नामानुसार उनका दोनोंपर ही घटित होना आवश्यक है। रत्नकरण्डके कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक आचार्यके हृदयमें उक्त बात खट-की और इसीलिए उक्त दोनों ही व्रतोंके एक नये ही प्रकारके पाँच-पाँच अतिचारोंका निरूपण किया जो कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियोंसे रहित हैं।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन, बारह व्रत और सल्लेखनाके अतिचारोंका अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार और आभोग इन पाँच प्रकारके दोषोंमें वर्गीकरण किया जाता है।

१	२	३	४	५	६
व्रतनाम	अतिक्रम	व्यतिक्रम	अतिचार	अनाचार	आभोग
सम्यग्दर्शन—	शंका	कांक्षा	विचिकित्सा	अन्यदृष्टिप्रशंसा	अन्यदृष्टिसंस्तव
अहिंसाणुव्रत—	बन्धन	पीडन	छेदन	अतिभारारोपण	अन्न-पाननिरोध
सत्याणुव्रत—	परिवाद	रहोऽभ्याख्यान	पैशुन्य	कूटलेखकरण	न्यासापहार
अचौर्याणुव्रत—	विरुद्धराज्यातिक्रम	सदृशसम्मिश्रण	हीनाधिकविनिमान	चौरप्रयोग	चौरार्थादान
ब्रह्मचर्याणुव्रत—	अन्यविवाहकरण	विटत्व	अनंगक्रीड़ा	विपुलतृषा	इत्वारिकागमन
परिग्रहपरिमाणव्रत- (रत्नकरण्डश्रा०के अनुसार)	विस्मय	अतिलोभ	अतिवाहन	अतिभारारोपण	अतिसंग्रह
दिग्व्रत—	ऊर्ध्वव्यतिक्रम	अधोव्यतिक्रम	तिर्यंग्व्यतिक्रम	अवधिविस्मरण	क्षेत्रवृद्धि
देशव्रत—	रूपानुपात	शब्दानुपात	पुद्गलक्षेप	आनयन	प्रेष्य-प्रयोग
अनर्थदण्डव्रत—	कन्दर्प	कौत्कुच्य	मौखर्य	असमीक्ष्याधिकरण	अतिप्रसाधन
सामायिक—	मनोदुःप्रणिधान	वचोदुःप्रणिधान	कायदुःप्रणिधान	अनादर	विस्मरण
प्रोषधोपवास—	अदृष्टमृष्टग्रहण	अ०मृ०विसर्ग	अ०मृ०आस्तरण	अनादर	विस्मरण
भोगोपभोगपरिमाण—	विषय-विषतोऽनुप्रेक्षा	अनुस्मृति	अतिलौल्य	अतितृषा	अतिअनुभव
अतिथिसंविभाग—	हरित-पिधान	हरित-निधान	मात्सर्य	अनादर	विस्मरण
सल्लेखना-	भय	मित्रानुराग	जीविताशंसा	मरणाशंसा	निदान

उपर्युक्त वर्गीकरण रत्नकरण्ड-वर्णित अतिचारोंका लक्ष्यमें रखकर किया गया है, क्योंकि ये अतिचार सबसे अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होते हैं। तथा भोगोपभोग व्रतके अतिचारोंमें जो विसंगति ऊपर बताई गई है, वह भी रत्नकरण्डश्रावकाचारमें वर्णित-अतिचारोंमें नहीं रहती है।

सारे कथनका सार यह है कि सभी अतिचारोंको एक-सा न समझना चाहिए, किन्तु प्रत्येक व्रतके अतिचारोंमें व्रतभंग संबंधी तर-तमता है, उनके फलमें और उनकी शुद्धिमें भी तर-तमता-गत भेद है, भले ही उन्हें अतिचार, व्यतीपात मल या दोष जैसे किसी भी सामान्य शब्दसे कहा गया हो।

यहाँ इतना विशेष और ज्ञातव्य है कि ये पाँच-पाँच अतीचार स्थूल एवं उपलक्षण रूप हैं, अतः जैसा भी व्रतमें दोष लगे, उसे यथासंभव तदनुकूल अतीचारमें परिगणित कर लेना चाहिए। यथार्थमें तो अतिक्रम, व्यतिक्रम आदिके भी गणनातीत सूक्ष्म भेद होते हैं, जिन्हें ज्ञानी एवं जागरूक श्रावक स्वयं ही जानने और उनको संशुद्धि करनेमें सावधान रहता है।

जिस प्रकार अहिंसाणुव्रत आदिके अतीचार बताये गये हैं, उसी प्रकारसे सप्त व्यसनों तथा मद्य, मांस, मधु त्यागके भी अतीचार बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. द्यूतव्यसन त्यागके अतीचार—होड़ लगाना, सौदा-सट्टा करना, हार जीतकी भावनासे ताश-पत्ते आदि खेलना।

२. वेश्याव्यसन त्यागके ,, —गीत, संगीत और वाद्योंकी ध्वनि सुननेमें आसक्ति, व्यभिचारी जनोंकी संगति, वेश्यागृह-गमनादि, सिनेमा-नाटकादि देखना।

३. चोरी व्यसन त्यागके अतीचार—भागीदारके भागको हड़पना, भाई-बन्धुओंका भाग न देना, अपने समीपवाली दूसरोंकी भूमिमें अपना अधिकार बढ़ाना आदि।

४. शिकार व्यसन „ „ —चित्रोंको फाड़ना, चित्रवाले वस्त्रोंको फाड़ना, मिट्टी-प्लास्टिक आदिसे बने जानवरोंको तोड़ना आदि।

५. परस्त्री सेवन व्यसन „ „ —अपने साथ विवाहकी इच्छासे किसी कन्याको दूषण लगाना, गन्धर्व विवाह करना, कन्याओंको उड़ाकर उनसे दुराचार कराना आदि।

६. मांस-भक्षण त्याग „ „ —चमड़ोंमें रखे घी, तेल, जलादिका सेवन करना चालित रसवाले दूध, दही आदिको खाना, खीलन-फूलनवाले पक्वान्नों आदिको खाना, मांस-मिश्रित या निर्मित दवाएँ बेचना आदि।

७. मद्य त्याग „ „ —सभी प्रकारके अचार, मुरब्बा, आसव आदिका सेवन करना, मर्यादाके बाहरके अर्क पीना, कोकाकोला आदि पीना, गाँजा, अफीम, चरस, बीड़ी-सिगरेट आदि पीना, मदिरादिका बेचना।

८. मधु त्याग „ „ —गुलाब आदि फूलोंका खाना, उनसे बने गुलकन्द खाना, महुआ खाना, मधु-मिश्रित अवलेह आदि खाना, वस्ति-कर्म, नेत्राञ्जन आदिमें मधुका उपयोग करना और मधु आदिका बेचना आदि।
(सागार० भा० २ पृ० २४-२६ गत श्लोक)

कुछ श्रावकाचारोंमें पूजन, अभिषेक आदिके भी अतीचार बतलाये गये हैं। यथा—

१. पूजनके अतीचार—पूजन करते हुए नाक छिनकना, खाँसी आनेपर कफ थूकना, जंभाई लेना, अशुद्ध देह होनेपर भी पूजन करना, अशुद्ध वस्त्र पहन कर पूजन करना आदि।

२. अभिषेकके „ —अभिषेक करते समय पाद-संकोच करना, फैलाना, भृकुटि चढ़ाना, अति तीव्र या अति मन्द स्वरसे अभिषेक पाठ बोलना और वेगके साथ जलधारा छोड़ना आदि।

३. मौन व्रतके „ —हाथ आदिसे संकेत करना, खंखारकर बुलाना, थाली आदि बजाकर बुलाना, मेंढकके समान टर्र-टर्र करते हुए अस्पष्ट बोलना या गुनगुनाना आदि।
(देखो—व्रतोद्योतन० भाग ३ पृ० २५५ श्लोक ४६२-६४)

४. अनस्तमित व्रत या रात्रिभोजन
त्याग व्रतके अतीचार—सूर्यास्तके पश्चात् भी प्रकाश रहने तक खाना-पीना, अन्न न

खाकर रात्रिमें दूध, फलादिका सेवन करना, दूसरोंको खिलाना-पिलाना, रात्रिमें भोजनादि बनाना या रात्रिमें बने पदार्थ खाना आदि।

५. जल-गालनके अतीचार—दो मुहूर्त्तके बाद बिना छना पानी पीना, पतले और जीर्ण वस्त्रसे गालना, जिवानी यथास्थान नहीं डालना आदि।

(सागार० भाग २, पृ० २४, श्लोक १६)

१९. निदान एवं उसका फल

आचार्योंने दो स्थलों पर निदानका वर्णन किया है। एक तो "निःशल्यो व्रती" कहकर इसे शल्योंमें परिगणित किया है और दूसरे सल्लेखनाके अतिचारोंमें इसे गिना है। धर्म सेवन करके उसके फलस्वरूप आगामी भवमें भोगोंकी आकांक्षा करना, इन्द्रादिके अथवा नारायण चक्रवर्ती आदि पदोंके पानेकी इच्छा करना निदान कहलाता है। अन्य श्रावकाचार रचयिताओंने इसके भेदोंका वर्णन नहीं किया है, किन्तु अमितगतिने इसके मूलमें दो भेद किये हैं—प्रशस्त निदान और अप्रशस्त निदान। पुनः प्रशस्त निदानके भी मुक्ति और संसारके निमित्तसे दो भेद किये हैं।

हम कर्म-बन्धनसे कब मुक्त हों, हमारे सांसारिक दुःखोंका कब विनाश हो, हमें बोधि और समाधि कब प्राप्त हो। इस प्रकारकी वांछाको मुक्ति-हेतुक प्रशस्त निदान कहते हैं।

जिनधर्मको भली-भाँतिसे पालन कर सकें इसलिए हमारा जन्म आगामी भवमें बड़े कुटुम्बमें न हो क्योंकि कुटुम्बकी विडम्बनासे धर्म-साधनमें बाधा होती है। धनिकके महारंभी-परिग्रही होनेसे धर्म-साधनके भाव नहीं होते, इसलिए आगे मेरा जन्म उत्तम कुल जातिवाले गरीब घरमें हो, इस प्रकारका निदान संसार निमित्त प्रशस्त निदान है।

अप्रशस्त निदान भी भोग-निमित्त और मान-निमित्तसे दो प्रकारका है—

जो सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिके लिए निदान किया जाता है, वह भोग-निमित्तिक अप्रशस्त निदान है।

जो संसारमें मान-सम्मान प्राप्तिके लिए निदान किया जाता है, वह मान-निमित्तक अप्रशस्त निदान है।

ये दोनों ही प्रकारके निदान संसार पतनके कारण हैं। (देखो—श्रावकाचार सं० भाग १, पृ० ३२५ श्लोक २०-३३)

दिगम्बर-परम्परामें अमितगतिके सिवाय किसी अन्य आचार्यने निदानके और भेद-प्रभेदों-का वर्णन किया हो, यह हमारे दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है। हाँ, श्वेताम्बरीय दशाश्रुत-स्कन्धकी दशवीं "आयति ठाण दसा" में निदानके नौ प्रकारोंका विस्तृत वर्णन दिया है जिसे यहाँ पाठकों-की जानकारीके लिए संक्षेपसे दिया जाता है।

१. किसी राजा-महाराजाको सांसारिक सुखोंका उपभोग करते हुए देखकर कोई साधु या श्रावक यह इच्छा करे कि यदि मेरे तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य-पालनका फल हो तो मैं भी ऐसे मानुष्य काम-भोग भोगू ? इस प्रकारका निदान करनेवाला व्रत संयमके फलसे देवलोकमें उत्पन्न

होकर मनुष्य लोकमें उक्त प्रकारके मनोवांछित भोगोंको भोगता है, पर अन्तमें वह दुर्गतिका ही पात्र होता है। यह प्रथम निदान है।

२. जो साध्वी या श्राविका व्रत, नियम, संयमादिका पालन करते हुए किसी राज-रानी-को नाना प्रकारके सांसारिक सुखोंको उपभोग करती देखकर यह इच्छा करती है कि यदि मेरे व्रत-शीलादिका कुछ फल हो तो आगामी भवमें मुझे भी ऐसे ही काम-भोग प्राप्त हों, वह मरकर स्वर्गमें देवी होकर मनुष्य लोकमें राज-रानी बनती है और वहाँ पर काम-भोगोंमें आसक्त रहकर मरण करके दुर्गतियोंके दुःख भोगती है। यह दूसरा निदान है।

उक्त दोनों प्रकारके निदान करनेवाले मनुष्योंको मनुष्य जन्ममें धर्म सुननेका अवसर मिलनेपर भी धर्म धारण करनेका भाव जाग्रत नहीं होता है।

३. कोई साधु या श्रावक व्रत-नियमादिका पालन करते हुए कामोद्रेकसे ब्रह्मचर्य पालन करनेमें असमर्थ हो किसी महारानीको नाना प्रकारके काम-सुख भोगती हुई देखकर विचार करे—कि मनुष्यका जन्म बड़ा संकटमय रहता है, युद्धोंमें जाकरके शस्त्रोंके आघात सहन करने पड़ते हैं, नाना प्रकारके दुःखोंको सहते हुए धनोपार्जन करना पड़ता है, इससे तो स्त्रीका जीवन सुखमय है, मेरे व्रत-शीलादिका कुछ भी फल हो तो मैं अगले जन्ममें ऐसी भाग्यशालिनी स्त्री बनूं। इस निदानके फलसे वह आगामी भवमें भाग्यशालिनी स्त्री बन जाता है, पर अन्तमें दुर्गतियोंके दुःख भोगना पड़ते हैं।

४ कोई साध्वी या श्राविका व्रत-शील आदिका पालन करते हुए विचार करे कि स्त्रीका जीवन दुःखमय है, वह स्वतन्त्रतासे पतिकी इच्छाके बिना कुछ भी काम नहीं कर सकती है और न कहीं आ जा सकती है, पुरुषोंका जीवन सुखमय है यदि मेरे व्रतादिका कुछ भी फल हो तो मैं आगामी भवमें पुरुषका जन्म धारण करूँ ? उक्त निदानके फलसे वह आगामी भवमें पुरुष रूपसे जन्म लेती है।

उक्त तीसरे और चौथे निदान करनेवालोंका धर्म सुननेका अवसर मिलनेपर भी धर्म धारण करनेके भाव नहीं होते हैं और अन्त में दुर्गतिके दुःख भोगना पड़ते हैं।

५. कोई साधु या श्रावक व्रत-तपश्चरणादि करते हुए भी कामोद्रेकसे विचार करे कि मानुषी स्त्रियोंका देह मल-मूत्रादिसे भरा है, सदा दुर्गन्ध आती है। किन्तु देवियोंकी देह मल-मूत्रादि-से रहित एवं सुगन्धित, होता है, यदि मेरे व्रतादिका फल हो तो मैं देवियोंके साथ उत्तम भोगोंको भोगूँ ? इस प्रकारके निदान वाला स्वर्गमें देवियोंके साथ दिव्य सुखका उपभोग करता है और वहाँसे मनुष्य लोकमें आकर मनुष्य होता है वह धर्मको सुन करके भी उसे धारण नहीं करता है।

६. कोई साधु या श्रावक व्रतादिका पालन करते हुए मनुष्यके काम-भोगोंको अनित्य अध्रुव सोचकर उनसे विरक्त हो स्वर्गीय काम-भोगोंको नित्य शाश्वत समझ करके उनके भोगनेकी इच्छा करे तो उसके फलसे वह देवलोकमें किल्विषिक आदि नीच देवोंमें उत्पन्न होकर संसार-परिभ्रमण करता है।

७. जो साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका व्रत-तपश्चरण आदि करते हुए हीन जातिके देव देवियोंके सुखोंको हीन समझकर उनसे ग्लानि कर उत्तम जातिके देव देवियोंके सुख भोगनेकी

कामना करते हैं, वे मरकर उत्तम जातिके देव-देवियोंमें उत्पन्न होकर वहाँके सुख भोगते हैं, पुनः वहाँसे च्युत होकर मनुष्य हो कर केवलि प्ररूपित धर्मको सुनकर उसपर श्रद्धा करते हैं, पर व्रत शीलादिका पालन नहीं कर पाते हैं। हाँ, सम्यक्त्वके प्रभावसे वे मरकर देवलोकमें उत्पन्न होते हैं।

८. जो साधु व्रतोंको भली-भाँतिसे पालन करते हुए मनुष्यके काम भोगोंको अनित्य, दुःख-दायी और भव-भ्रमणका कारण जानकर उनसे विरक्त हो करके भी यह विचारता है कि यदि मेरे व्रत-संयमादिका फल हो तो मैं अग्रिम भवमें राजवंश, उग्रवंश आदि उत्तम कुलमें जन्म लूं और वहाँ पर आदर्श श्रावक धर्मका पालन करूँ ? क्योंकि साधु धर्मकी साधना बड़ी कठिन है। ऐसे निदान वाला देवलोकमें उत्पन्न होकर उत्तम वंशमें जन्म लेता है और वहाँ सद्-धर्मको सुनकर श्रावक धर्मका भली-भाँतिसे पालन करता है, पर वह सकल संयमको धारण नहीं कर पाता है।

९. जो साधु या श्रावक व्रतोंका पालन करता हुआ सोचता है कि मनुष्यके ये काम-भोग अनित्य, दुःखदायी और भव-भ्रमण-कारक हैं। मनुष्योंमें भी बड़े कुलोंमें जन्म लेनेपर कुटुम्बकी विडम्बनासे मुक्ति पाना बड़ा कठिन है। यदि मेरे व्रतादिका कुछ फल हो तो मैं अगले मनुष्य भवमें निर्धन, तुच्छ या भिक्षुक कुलमें जन्म लेऊँ ? जिससे कि जिन-दीक्षाको धारण करनेके लिए सरलताके गृहस्थीके बन्धनसे छूट सकूँ। ऐसे निदान वाला देवलोकमें उत्पन्न होकर दरिद्रादि कुलमें उत्पन्न होता है और सद्-धर्म सुनकर जिन दीक्षा आदि धारण कर लेता है, भक्त-प्रत्याख्यान संन्यासको भी धारण करता है परन्तु उसी भवसे मोक्ष नहीं जा सकता।

जो साधु व्रत संयमादिको निर्दोष, निराकांक्ष होकर बिना किसी भोग-लालसाके पालन करते हैं और सदा संसारके दुःखदायी स्वरूपका चिन्तन करते हुए आत्म-ध्यानमें संलग्न रहते हैं, उनमेंसे अनेक तो उसी भवसे ही कर्म-मुक्त होकर सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं और अनेक साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका देवलोकमें उत्पन्न हो वहाँसे च्युत हो मनुष्य होकर प्रव्रजित हो मुक्ति प्राप्त करते हैं। (दशाश्रुतस्कन्ध, आयतिठाणदसा १०)

२०. स्नपन

श्री सोमदेवसूरिने उपासकाध्ययनमें तथा श्री जयसेनाचार्यने अपने धर्मरत्नाकरमें देव-पूजाके अन्तर्गत छह कार्य करनेका विधान किया है—

यथा—स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम्॥ (धर्मर० २०, श्लोक १५९६)

अर्थात्—गृहस्थोंको देवसेवाके समय स्नपन, पूजन, स्तोत्र-पाठ, जप, ध्यान और श्रुतस्तवन करना चाहिए। अतः सर्वप्रथम यह देखना आवश्यक है कि स्नपनसे अभिप्राय जलाभिषेकसे है, या पञ्चामृताभिषेकसे।

पञ्चामृताभिषेक या जलाभिषेक

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमें संकलित श्रावकाचारोंका एक ओरसे पर्यवेक्षण करनेपर पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकेंगे कि किस-किस आचार्यने पूजनके साथ जलाभिषेक या पञ्चामृताभिषेकका वर्णन किया है और किस-किसने नहीं किया है।

१. स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डकमें अर्हत्पूजनका विधान करते हुए भी अभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। (देखो—भा० १ पृ० १४ श्लोक ११९-१२०)

२. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें प्रोषधोपवासकी समाप्तिपर पात्रको दान देनेके पूर्व पूजन करनेका उल्लेखमात्र किया है। अभिषेकका कोई संकेत नहीं है। (भा० १ पृ० २६ गा० ७५)

३. महापुराणमें पूजनके नित्यमह आदि चारों भेदोंका स्वरूप-वर्णन करते हुए और एक स्थानपर 'बलि-स्नपनादि' का उल्लेख करते हुए (भा० १ पृ० ३१ श्लोक ३३) भी पञ्चामृताभिषेकका कहीं कोई निर्देश नहीं है। जबकि गर्भाधानादि क्रियाओंका वर्णन करते हुए अपने कथनकी पुष्टिमें 'श्रुतोपासकसूत्र' (भा० १ पृ० ३० श्लोक २४। पृ० ९३ श्लोक १७४), 'श्रावकाध्यायसंग्रह' (भा० १ पृ० ३३ श्लोक ५०), मूलोपासकसूत्र (पृ० ३५ श्लोक ८६। पृ० ६१ श्लोक ५७। पृ० ६४ श्लोक ९५), क्रियाकल्प (पृ० ३४ श्लोक ६९। पृ० ६१ श्लोक ५३), औपासिकसूत्र (पृ० ३८ श्लोक ११८), उपासकाध्ययन (पृ० ९२ श्लोक १६१), उपासकाध्याय (पृ० ९२ श्लोक १६५), उपासकसंग्रह (पृ० ९३ श्लोक १७७) और औपासिक सिद्धान्त (पृ० ९६ श्लोक २१३) आदि विभिन्न नामोंसे विभिन्न स्थलोंपर उपासकाचारसूत्रका उल्लेख किया है।

४. पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें प्रभावना अंगका वर्णन करते हुए 'दान-तपो-जिनपूजा' वाक्यमें केवल जिनपूजाका नामोल्लेख है (भा० १ पृ० १०१ श्लोक ३०) तथा प्रोषधोपवासके दिन प्रासुक द्रव्योंसे जिनपूजन करनेका विधान किया है (पृ० ११५ श्लोक १५५) जलाभिषेक या पञ्चामृताषेकका कोई निर्देश नहीं है।

५. सोमदेवने यशस्तिलकगत उपासकाध्ययनमें पूजनका विस्तृत वर्णन किया है और अभिषेकका वर्णन करते हुए लिखा है—'ये वे ही जिनेन्द्रदेव हैं, यह सिंहासन ही सुमेरु पर्वत है और कलशोंमें भरा हुआ यह जल ही साक्षात् क्षीरसागरका जल है, ऐसा कहकर (भा० १ पृ०१८२ श्लोक ५०३) जलसे अभिषेक कराया है। पश्चात् दाख, खजूर, नारियल, ईख, आँवला, केला, आम तथा सुपारीके रसोंसे अभिषेक कराया है (भा० १ पृ० १८२ श्लोक ५०७) तत्पश्चात् घी, दूध, दही, इलायची और लोंग आदिके चूर्णसे जिन बिम्बकी उपासना करनेका विधान किया है (भा० १ पृ० १८२ श्लोक ५०८-५११)।

इस प्रकार सोमदेवने सर्वप्रथम पञ्चामृताभिषेकका विधान किया है। उनका यह विधान अन्यत्र दर्शित आचमन आदिके विधानके समान ही हिन्दुओंमें प्रचलित पूजन-अभिषेकका अनुकरण है।

६. चामुण्डरायने अपने चारित्रसार में श्रावक व्रतोंका वर्णन कर अन्तमें इज्या, वार्ता आदि छह आर्य कर्मोंके वर्णनमें पूजनके महापुराणोक्त चारों प्रकारोंकी पूजाओंका स्वरूप कहकर स्नपन-अभिषेक करनेका निर्देश मात्र किया है। (भा० १ पृ० २५८ अनु० २)

७. अमितगतिने अपने श्रावकाचार में पूजनके दो भेद करके द्रव्यपूजा और भावपूजाका स्वरूप वर्णन किया है, (भा० १ पृ० ३७३ श्लोक ११-१५), इससे आगे उन्होंने जिन-पूजाका माहात्म्य और फल वर्णन करके लिखा है कि जिनस्तव, जिनस्नान और जिनोत्सव करनेवाले पुरुष भी लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं (पृ० ३७५ श्लोक ४०)। इसके सिवाय और कहींपर भी अभिषेकका कोई निर्देश नहीं किया है।

८. वसुनन्दीने अपने श्रावकाचारमें प्रोषध प्रतिमाका वर्णन करते हुए द्रव्य और भाव-पूजन करनेका विधान किया है। (भा० १ पृ० ४५२ गा० २८७)। पुनः श्रावकके अन्य कर्तव्योंका वर्णन करते हुए पूजनका विस्तृत वर्णन किया है; वहाँपर नाम, स्थापनादि पूजनके ६ भेद बताकर स्थापना पूजनमें नवीन प्रतिमाका निर्माण कराके उनकी प्रतिष्ठा विधिका वर्णन कर अन्तमें शास्त्रमार्गसे स्नपन करनेका विधान किया है। (पृ० ४६८ गा० ४२४) तदनन्तर कालपूजाका वर्णन करते हुए तीर्थंकरोंके गर्भ-जन्मादि कल्याणकोंके दिन इक्षुरस, घी, दही, दूध, गन्ध और जलसे भरे कलशोंसे जिनाभिषेकका वर्णन किया है। (भा० १ पृ० ४७१ गा० ४५३-४५४)

९. सावयधम्मदोहामें जिन-पूजनका वर्णन करते हुए लिखा है कि जो जिनदेवको घी और दूधसे नहलाता है वह देवोंके द्वारा नहलाता जाता है। (भा० १ पृ० ४९९ दोहा १८९)

१०. सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें महापुराणका अनुसरण कर पूजाके नित्यमह आदि भेदोंका वर्णन कर और तदनुसार ही 'बलि-स्तवन' आदिका भी निर्देश कर इस स्थलपर पञ्चामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। (देखो—भाग २ पृ० ९-१० श्लोक २४-३०)

इससे आगे श्रावकके १२ व्रतोंका विस्तारसे तीन अध्यायोंमें वर्णन करके छठे अध्यायमें श्रावककी प्रातःकाल जागनेसे लेकर रात्रिमें सोने तककी दिनचर्याका वर्णन किया गया है। वहाँपर प्रातःकाल जिनालयमें जाकर पौर्वाह्णिक पूजनका विधान किया है। तत्पश्चात् अपने व्यापारादिके उचित स्थान दुकान आदिपर जाकर न्यायपूर्वक जीविकोपार्जनका निर्देश किया है (भा० २ पृ० ६४ श्लोक १५ ।) पुनः भोजनका समय होनेपर घर आकर यथादोष स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिनके माध्याह्निक करनेका विधान किया है। उसकी विधिमें आशाधरजीने वही श्लोक दिया है जिसे कि उन्होंने 'प्रतिष्ठासारोद्धार' नामक अपने प्रतिष्ठा पाठके शास्त्रमें दिया है। उसका भाव यह है—

अभिषेककी प्रतिज्ञा करके भूमिका शोधन करे, उसपर सिंहासन रखे, उसके चारों कोनोंपर जलसे भरे चार कलश स्थापित करे, सिंहासन पर चन्दनसे श्री और ह्रीं लिखकर कुशा क्षेपण करे। पुनः उसपर जिन-बिम्ब-स्थापन करे, और इष्ट दिशामें खड़े होकर आरती करे। तदनन्तर जल, रस, घी, दूध और दहीसे अभिषेक करे। पुनः लवंगादिके चूर्णसे उद्वर्तन कर चारों कोनोंपर रखे कलशोंके जलसे अभिषेक कर जल-गन्धादि द्रव्योंसे पूजन करे और अन्तमें जिनदेवको नमस्कार कर उनके नामका स्मरण करे। (भा० २ पृ० ६५ श्लोक २२)

इस स्थलपर सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि आशाधरने प्रातःकालीन पूजनके समय जिनालयमें जाकर पूजनके समय उक्त अभिषेकका विधान क्यों नहीं किया और मध्याह्न-पूजनके समय अपने घर पर ही भूमि-शोधनकर उपर्युक्त प्रकारसे जिनबिम्बके अभिषेकको दूध-दही आदिसे करनेका वर्णन क्यों किया ? इस प्रश्नके अन्तस्तलमें जानेपर सहजमें ही यह ज्ञात हो जाता है कि आशाधरके समय तक सार्वजनिक जिन-मन्दिरमें पञ्चामृताभिषेकका प्रचलन नहीं था। किन्तु यतः आशाधर मूर्त्ति-प्रतिष्ठा शास्त्रके ज्ञाता और निर्माता थे, तथा प्रतिष्ठाके समय नवीन मूर्त्तिका पञ्चामृताभिषेक किया जाता था, अतः उन्होंने उसी पद्धतिके प्रचारार्थ मध्याह्न-पूजाके समय घर पर सहज-सुलभ दूध-दही आदिसे भी अभिषेक करनेका विधान कर दिया। यदि ऐसा न होता, तो वे दूसरे अध्यायमें नित्यमह आदि चारों भेदोंका वर्णन करते हुए पञ्चामृताभिषेक-

पूर्वक ही नित्य-पूजन करनेका विधान करते। किन्तु यतः महापुराणकार जिनसेनने चारों प्रकारकी पूजाओंका वर्णन करते हुए भी उसके पूर्व या पश्चात् पंचामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है और न गर्भाधानादि क्रियाओंका वर्णन करते हुए पञ्चामृताभिषेकका कोई निर्देश किया है, अतः उक्त स्थलपर आशाधरने पञ्चामृताभिषेकका वर्णन करना उचित नहीं समझा।

११. धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें पं० मेधावीने प्रातः या मध्याह्न-पूजनके समय पञ्चामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। केवल 'काल-पूजा' के वर्णनमें वसुनन्दीके समान ही इक्षु घृतादि रसोंके द्वारा स्तपनकर जिनपूजन करनेका निर्देश किया है। (भा० २ पृ० १६० श्लोक ९६)

१२. प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें आचार्य सकलकीर्त्तिने बीसवें अध्यायमें जिन-पूजनका विस्तृत वर्णन करते हुए भी पञ्चामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। अभिषेकके विषयमें केवल इतना ही लिखा है—

जिनाङ्गं स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति सुभावतः।
येऽतिपापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मतः॥

(भा० २ पृ० १७८ श्लोक १९६)

अर्थात्—जो उत्तम भावसे स्वच्छ जलके द्वारा जिनदेवके अंगका प्रक्षालन करते हैं, उस धर्मसे उनका महापाप-मल क्षय हो जाता है।

इससे सिद्ध है कि आचार्य सकलकीर्त्ति पञ्चामृताभिषेकके पक्षमें नहीं थे, जबकि वे स्वयं प्रतिष्ठाएँ कराते थे।

१३. गुणभूषण श्रावकाचारमें श्री गुणभूषणने तीसरे उद्देशमें नामादि छह प्रकारके पूजनका विस्तारसे वर्णन करते हुए भी जलाभिषेक या पञ्चामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। (भा० २ पृ० ४५६-४५९)

१४. धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचारमें श्री नेमिदत्तने चौथे अध्यायमें पञ्चामृताभिषेक करनेका केवल एक श्लोकमें विधान किया है। (भा० २ पृ० ४९२ श्लोक २०६)

१५. लाटीसंहितामें राजमल्लजीने दो स्थानपर पूजन करनेका विधान किया है—प्रथम तो दूसरे सर्गके १६३-१६४ वें श्लोकों द्वारा, और दूसरे—सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए पंचम सर्गमें श्लोक १७० से १७७ तक आठ श्लोकों द्वारा। परन्तु इन दोनों ही स्थलोंपर न जलाभिषेकका निर्देश किया है और न पञ्चामृताभिषेकका ही।

१६. उमास्वामि श्रावकाचारमें उसके रचयिताने प्रातःकालीन पूजनके समय जिनालयोंमें पञ्चामृताभिषेक करनेका स्पष्ट विधान किया है और यहाँ तक लिखा है कि दूधके लिए गायको रखनेवाला, जलके लिए कूपको बनवानेवाला और पुष्पोंके लिए बगीची लगवानेवाला पुरुष अधिक दोषका भागी नहीं है। (भा० ३ पृ० १६३ श्लोक १३३-१३४)

१७. पूज्यपाद श्रावकाचारमें उसके रचयिताने स्वर्ण, चन्दन और पाषाणसे जिन-बिम्ब-निर्माण कराके प्रतिदिन पूजन करनेका विधान किया है, पर अभिषेकका कोई निर्देश नहीं किया है। (भा० ३ पृ० १९७ श्लोक ७४)

१८. व्रतसार श्रावकाचार—इस अज्ञात-कर्तृक २२ श्लोक-प्रमित श्रावकाचारमें पञ्चामृता-

भिषेकका कोई निर्देश नहीं है। केवल एक श्लोकमें त्रिकाल प्रतिमार्चन-संयुक्त वन्दन करनेका निर्देश मात्र है। (भा० ३ पृ० २०५ श्लोक १५)

१९. व्रतोद्योतनश्रावकाचारमें श्री अभ्रदेवने पञ्चामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। केवल इतना ही कहा है कि जो भावपूर्वक जिनेन्द्रदेवका स्नपन करता है वह सिद्धालयके परम सुखको प्राप्त होता है। (भा० ३ पृ० २२८ श्लोक १९८)

२०. श्रावकाचारसारोद्धारमें श्री पद्मनन्दिने जिनपूजनका विधान प्रोषधोपवासके दिन केवल आधे श्लोकमें किया है, जबकि यह ११५९ श्लोक-प्रमाण है। (भा० ३ पृ० ३६२ श्लोक ३१३)

२१. भव्य धर्मोपदेश उपासकाध्ययनमें जिनदेवने सोमदेव और वसुनन्दीके समान पञ्चामृताभिषेकका विधान किया है (भा० ३ पृ० ३९६ श्लोक ३४९-३५३)। तत्पश्चात् पूर्व आहूत देवोंके विसर्जनका विधान किया है (श्लोक ३५६)। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उक्त विधान चौथी प्रतिमाके अन्तर्गत किया गया है और सबसे अधिक विचारणीय बात तो यह है कि इस श्रावकाचारके रचयिताने उक्त सर्व कथन श्रेणिकको सम्बोधित करते हुए इन्द्रभूतिगणधरके मुखसे कराया है। (देखो—भाग, ३ पृ० ३७३ श्लोक ५३)

२२ उपासक संस्कारमें आ० पद्मनन्दीने श्रावकके देवपूजादि षट् आवश्यकोंका विस्तृत वर्णन करते हुए भी पञ्चामृताभिषेकका कोई उल्लेख नहीं किया है (भा० ३ पृ० ४२८ श्लोक १४-१६)

२३. देशव्रतोद्योतनमें आ० पद्मनन्दीने जिनबिम्ब और जिनालय बनवा करके श्रावकको नित्य ही स्नपन और पूजनादि करके पुण्योपार्जनका विधान किया है। (भाग ३ पृ० ४३८ श्लोक २२-२३)

२४. प्राकृत भावसंग्रहमें आचार्य देवसेनने देव-पूजनकी महत्ता बताकर जिनदेवके समीप पद्मासनसे बैठकर पिण्डस्थ-पदस्थादिरूपसे धर्मध्यान करनेका विधान किया है। पुनः अपनेको इन्द्र मान कर, सिंहासनको सुमेरु और जिनबिम्बको साक्षात् जिनेन्द्रदेव मानकर जल, घी, दूध और दहीसे भरे कलशोंसे स्नपन कर पूजन करनेका विधान किया है। (भा० ३ पृ० ४४८ गा० ८७-९३)

२५. संस्कृत भावसंग्रहमें पण्डित वामदेवने प्रा० भावसंग्रहका अनुसरण करते हुए अधिक विस्तारसे पञ्चामृताभिषेकका वर्णन किया है। (भा० ३ पृ० ४६७-४६८, श्लोक २८-५८) यहाँ इतनी विशेषता है कि जहाँ देवसेनने अभिषेक-पूजनादि करनेके स्थानका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, वहाँ वामदेवने उक्त पञ्चामृताभिषेक और पूजन घर पर करके पीछे जिनचैत्यालय जाकर पूजन करनेका भी विधान किया है। (भा० ३ पृ० ४६९ श्लोक ६०-६१)

२६. रयणसारमें दान और पूजाको गृहस्थोंका मुख्य कर्त्तव्य बतलाने पर भी पञ्चामृताभिषेक या पूजनका कोई वर्णन नहीं है। (भा० ३ पृ० ४८० गा० ९-९३)

२७. पुरुषार्थानुशासन-गत श्रावकाचारमें सामायिक प्रतिमाके अन्तर्गत नित्य पूजन करनेका निर्देश करके भी अभिषेकका कोई निर्देश नहीं है। हाँ, जिनसंहितादि ग्रन्थोंसे स्फुट अर्चाविधि जाननेकी सूचना अवश्य की गई है। (भा० ३ पृ० ५२३ श्लोक ९७)

२८. श्रावकाचार-संग्रहके तीसरे भागके अन्तमें दिये गये परिशिष्टके अन्तर्गत कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुडमें, उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें, रविषेणके पद्मचरित-गत, जटासिंहनन्दिके वराङ्गचरित-गत, और जिनसेनके हरिवंश-गत श्रावकधर्मके वर्णनमें पूजन और अभिषेकका कोई वर्णन नहीं है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पञ्चामृताभिषेकका विधान सोमदेवसे पूर्व किसी भी श्रावकाचार-कर्त्ताने नहीं किया है। पर-वर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंमेंसे भी अनेकोंने उसका कोई विधान नहीं किया है, जिन्होंने पञ्चामृताभिषेकका वर्णन किया भी है, उनपर सोमदेवके वर्णनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इस सन्दर्भमें सबसे अधिक विचारणीय बात तो यह है कि आचार्य रविषेणने पद्मपुराण नामसे प्रसिद्ध अपने पद्मचरितके चौदहवें पर्वके भीतर श्रावक धर्मके वर्णनमें बारह व्रतोंका स्वरूप कहते हुए और अन्य आवश्यक कर्तव्योंको बताते हुए पूजन और अभिषेकका कोई वर्णन नहीं किया है। जबकि उन्होंने आगे जाकर राम-लक्ष्मणके वन-गमन कर जानेसे शोक-सन्तप्त भरतको संबोधित करते हुए मुनिराजके मुखसे सागार धर्मका उपदेश दिलाकर जिन-पूजन और पञ्चामृताभिषेक करनेका विधान कराया है?

पद्मचरित सोमदेवके यशस्तिलकचम्पूसे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व रचा गया है। इससे पूर्व-रचित किसी भी दि० जैन चरित, पुराण आदिमें पञ्चामृतभिषेकका कोई वर्णन अन्वेषण करनेपर भी नहीं मिलता है। किन्तु श्वेताम्बर माने जानेवाले विमल सूरि द्वारा प्राकृत-भाषामें रचित 'पउमचरिय' में उक्त पञ्चामृताभिषेकका वर्णन बहुत स्पष्टरूपसे किया गया मिलता है। विमल-सूरिका समय इतिहासज्ञोंने बहुत छान-बीनके पश्चात् विक्रमकी पाँचवीं शती निश्चित किया है अतः वे रविषेणसे दो शताब्दीपूर्वके सिद्ध होते हैं।

विमलसूरिके 'पउमचरिय' और रविषेणके 'पद्मचरित' को सामने रखकर दोनोंका मिलान करनेपर स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि रविषेणका 'पद्मचरित' प्राकृत पउमचरियका पल्लवित संस्कृत रूपान्तर है। यह बात नीचे उद्धृत दोनोंके पञ्चामृताभिषेकके वर्णनसे ही पाठक जान लेंगे।

१. पउमचरिय—काऊण जिनवराणं अभिसेयं सुरहिगंधसलिलेण।
(उद्देश ३२) सो पावइ अभिसेयं उप्पज्जइ जत्थ जत्थ णरो॥ ७८॥

पद्मचरित—अभिषेकं जिनेन्द्राणां कृत्वा सुरभिवारिणा।
(पर्व ३२) अभिषेकमवाप्नोति यत्र यत्रोपजायते॥ १६५॥

२. पउमचरिय—खीरेण जोऽभिसेयं कुणइ जिणिंदस्स भत्तिराएण।
(उद्देश ३२) सो खीरबिमलधवले रमइ विमाणे सुचिरकालं॥ ७९॥

पद्मचरित—अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधाय क्षीरधारया।
(पर्व ३२) विमाने क्षीरधवले जायते परमद्युतिः॥ १६६॥

३. पउमचरिय—दहिकुंभेसु जिणं जो ण्हवेइ दहिकोट्टमे सुरविमाणे।
(उद्देस ३२) उप्पज्जइ लच्छिधरो देवो दिव्वेण रूवेणं॥ ८०॥

पद्मचरित —दधिकुम्भैर्जिनेन्द्राणां यः करोत्यभिषेचनम् ।
(पर्व ३२) दध्याभकुट्टिमे स्वर्गे जायते स सुरोत्तमः ॥ १६७ ॥

४. पउमचरिय—एत्तो घियाभिसेयं जो कुणइ जिणेसरस्स पययमणो ।
(उद्देश ३२) सो होइ सुरहिदेहो सुर-पवरो वरविमाणम्मि ॥ ८१ ॥

पद्मचरित —सर्पिषा जिननाथानां कुरुते योऽभिषेचनम् ।
(पर्व ३२) कान्ति-द्युतिप्रभावाढ्यो विमानेशः स जायते ॥ १६८ ॥

५. पउमचरिय—अभिसेयपभावेणं बहवे सुव्वंत्तिऽणंतविरियाई ।
(उद्देश ३२) लद्धाहिसेयरिद्धी सुर-वर-सोक्खं अणुहवंति ॥ ८२ ॥

पद्मचरित —अभिषेकप्रभावेण श्रूयन्ते बहवो बुधाः ।
(पर्व ३२) पुराणेऽनन्तवीर्याद्याः द्यु-भूलब्धाभिषेचनाः ॥ १६९ ॥

भावार्थ—जो सुगन्धित जलसे जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करता है, वह जहाँ भी उत्पन्न होता है, वहाँपर अभिषेकको प्राप्त होता है। जो दूधकी धारासे जिनदेवोंका अभिषेक करता है वह दूधके समान धवल आभावाले देव विमानमें उत्पन्न होता है। जो दही भरे कलशोंसे जिनेश्वरोंका अभिषेक करता है, वह दहीके समान आभाके धारक कुट्टिम (फर्श) वाले स्वर्गमें उत्तम देव होता है। जो जिननाथका घीसे अभिषेक करता है वह कान्ति-द्युतिसे युक्त सुगन्धित देहका धारक विमानका स्वामी देव होता है। पुराणमें ऐसा सुना जाता है कि अभिषेकके प्रभावसे अनन्तवीर्य आदि अनेक बुधजन स्वर्ग और भूतलपर अभिषेक-वैभव पाकर देवोंके उत्तम सुखको प्राप्त हुए हैं।

इस सम्बन्धमें सबसे बड़ी बात तो समानताकी यह है कि 'पउमचरिय' के उद्देशकी संख्या और 'पद्मचरित' की पर्व संख्या एक ही है। गाथाओंकी संख्या और श्लोकोंकी संख्या भी ५-५ ही है। अनुक्रमांकमें जो अन्तर है वह इसके पूर्व वर्णित कथा भागके पल्लवित करनेके कारण है।

वराङ्गचरित और हरिवंशपुराण-गत श्रावकधर्मके वर्णनमें पञ्चामृताभिषेकका कोई वर्णन नहीं है। किन्तु आगे जाकर एक कथाके प्रसंगमें उन्होंने भी पञ्चामृताभिषेकका वर्णन किया है। जटासिंहनन्दि और जिनसेन यतः रविषेणसे लगभग एक शताब्दी पीछे हुए हैं, अतः संभव है कि उन्होंने रविषेणका अनुकरण किया हो।

वस्तु-स्थिति जो भी हो, परन्तु वर्तमानमें उपलब्ध दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्यके अध्ययन करनेपर इतना तो निश्चितरूपसे ज्ञात होता है कि मूर्ति-पूजन श्वेताम्बर जैनोंमें पूर्वमें प्रचलित हुई है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनकी प्रस्तावनामें पञ्चामृताभिषेककी चर्चा करते हुए उसके सम्पादक श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है कि इन्द्रने तो सुमेरु पर्वतपर केवल क्षीरसागर-के जलसे ही भगवान्का अभिषेक किया था, फिर भी जैन परम्परामें घी, दूध, दही आदिसे अभिषेककी परम्परा कैसे चल पड़ी, यह प्रश्न विचारणीय है। (प्रस्तावना पृ० ५४)

वसुनन्दि-श्रावकाचारके सम्पादनकालसे ही उक्त प्रश्न मेरे भी सामने रहा है और इस श्रावकाचारके सम्पादन प्रारम्भ करनेके समयसे तो और भी अधिक मस्तिष्कको उद्वेलित करता

चला आ रहा है। फलस्वरूप बनजी ठोलिया ग्रन्थमालासे प्रकाशित अभिषेक पाठ-संग्रहका परायण करनेपर जो तथ्य सामने आये हैं, वे इस प्रकार हैं—

पं० आशाधरने 'नित्यमहोद्योत' नामक अभिषेक पाठकी रचना की है। सिंहासनके चारों कोणोंमें रखे हुए कलशोंपर उत्प्रेक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है—

क्षीरोदाद्याः समुद्राः किमुत जलमुचः पुष्करावर्तकाद्याः
किं वाद्यैवं विवृत्ताः सुरसुरभिकुचा बिन्दुभिरित्यूहमानैः।
पीयूषोत्सारि-वारि-प्रसर-भरकिलद्दिग्गजव्रातमेते-
स्तन्मः यस्तैरुदस्तैर्युगपदभिषवं श्रीपतेः पूर्णकुम्भैः॥
(अभिषेक पाठ संग्रह, पृ० २३९ श्लोक १३०)

अर्थात्—अभिषेकके लिए सिंहासनके चारों कोणोंमें जो जलसे भरे हुए कलश स्थापित किये गये हैं, उनपर उत्प्रेक्षा की गई है कि क्या क्षीरसागरको आदि लेकर चार समुद्र हैं, अथवा पुष्करावर्त आदि चार जातिके मेघ हैं, अथवा सुरभि (कामधेनु) के चार स्तन हैं, अथवा अमृतका भी तिरस्कार करनेवाले जलमें क्रीड़ा करते हुए दिग्गजोंका समूह ही इस अभिषेकके समय उपस्थित हुआ है ? इस प्रकारके जलपूर्ण प्रशस्त कुम्भोंसे हम श्रीपति जिनेन्द्रका अभिषेक करते हैं।

यद्यपि इस पद्यमें चारों कलशोंके लिए चार प्रकारके उपमानोंकी केवल कल्पना ही की गई है, तथापि 'क्षीरोदाद्याः समुद्राः' पद खासतौरसे विचारणीय है। इन दोनों पद्योंका टीकाकार श्रुतसागरसूरिने अर्थ किया है—

'क्षीरोदाद्याः क्षीरोदप्रभृतयः, समुद्राः चत्वारः सागराः अद्य घटरूपप्रकारेण पर्यायान्तरं प्राप्ताः।'

अर्थात्—इस अभिषेकके समय क्षीरसागर आदि चार समुद्र क्या घटरूप पर्यायको धारण कर उपस्थित हुए हैं ?

यह उत्प्रेक्षा क्षीरसागर, घृतवरसागर आदिपर की गई है और इसे कोरी उत्प्रेक्षा ही नहीं माना जा सकता, क्योंकि जहाँ अनेक देव क्षीरसागरसे जल भरकर ला रहे हों, वहाँ भक्तिसे प्रेरित अन्य देवोंका उससे भी आगे स्थित घृतसागर आदिसे भी जल भरकर लाना संभव है। इसकी पुष्टि उक्त अभिषेक पाठके निम्न पद्यसे होती है। वह पद्य इस प्रकार है—

अम्भोधिभ्यः स्वयम्भूरमणपृथुनदीनाथपर्यन्तकेभ्यो
गङ्गादिभ्यः सरिद्भ्यः कुलधरणिधराधित्यकोद्भूतिभाग्भ्यः।
पद्मादिभ्यः सरोभ्यः सरसिरुहरजःपिञ्जरेभ्यः समन्ता-
दानीतैः पूर्णकुम्भैरनिमिषपतिभिर्योऽभिषिक्तः सुराद्रौ॥

अर्थात् जिस जिनेन्द्रदेवका अभिषेक स्वयम्भूरमणान्त समुद्रोंसे, हिमवान् आदि कुलाचलोंसे निकली हुई गंगादि नदियोंसे और कमल-परागसे पिंजरित पद्म आदि सरोवरोंसे लाये गये जलोंसे भरे हुए कलशोंसे सुमेरुपर्वतपर किया गया है, उन्हींका मैं सिंहासनके चारों कोणोंपर स्थित कलशोंसे करता हूँ। यह आगेके ६७ पद्यका भाव है। (अभिषेक पाठ संग्रह पृ० २९ श्लोक ६६-६७)

उक्त पद्यसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सौधर्म और ऐशान इन्द्र भले ही केवल क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करते हों ? परन्तु अन्य देव स्वयम्भूरमणान्त समुद्रोंसे, गंगादि नदियोंसे और पद्म आदि सरोवरोंसे लाये गये जलोंसे भी सुमेरुगिरिपर तीर्थंकरोंका जन्माभिषेक करते रहे हैं।

गुणभद्रके उक्त कथनकी पुष्टि अय्यपार्य-रचित अभिषेक पाठके निम्न पद्यसे भी होती है—

श्रीमत्पुण्यनदी-नदाब्धि-सरस-कूपादितीर्थाहृतै-
हस्ताहस्तिकया चतुर्विधसुरानीकैरिवार्पितैः।
रत्नालङ्कृतहेमकुम्भनिकरानीतैर्जगत्पावनैः
कुर्वे मज्जनमम्बुभिर्जिनपतेस्तृष्णापहैः शान्तये ॥

अर्थात्—पवित्र नदियोंसे, समुद्रोंसे, सरोवरोंसे और कूप आदि तीर्थोंसे मानों चारों प्रकारके देवों द्वारा हाथों-हाथ ला कर समर्पित किये गये जगत्पावन, रत्नालंकृत, तृष्णाछेदक इन सुवर्ण कुम्भोंके जलोंसे मैं शान्तिके लिए जिनपतिका मज्जन करता हूँ। (अभिषेक पाठ संग्रह पृ० ३०५ श्लोक ५१)

अय्यपार्यके इस पद्यसे भी सभी पवित्र नदी, समुद्रादिकके जलोंसे तीर्थंकरोंका अभिषेक किया गया प्रमाणित होता है।

यद्यपि गुणभद्र, अय्यपार्य आदि बहुत अर्वाचीन हैं, तो भी ऐसा संभव है कि उनके सामने भी कोई प्राचीन आधार रहा हो और उसी आधारपरसे भक्तोंने घृतसागर आदिके स्थानपर घी दही आदिसे अभिषेक करना प्रारंभ कर दिया हो तथा उसी प्रचलित परम्पराका अनुसरण विमलसूरि, रविषेण और जटासिंहनन्दिने किया हो।

उपर्युक्त सभी आधारोंसे तीर्थंकरोंके अभिषेककी ही पुष्टि होती है। और क्षीरसागरसे लेकर भले ही आगेके घृतसागर आदिके जलोंसे अभिषेक किया गया हो, पर उन समुद्रोंका जल जल ही था, न कि दूध, घी आदि। दूसरे किसी भी शास्त्राधारसे समवशरणस्थ अरहन्तदेवके अभिषेक करनेकी पुष्टि नहीं होती है। कहींपर भी कोई ऐसा उल्लेख देखनेमें नहीं आया है जिसमें कि दीक्षा लेनेके पश्चात् मोक्ष जाने तककी अवस्थामें किसी तीर्थंकरादिका पञ्चामृताभिषेककी तो बात ही क्या, जलसे भी अभिषेक करनेका वर्णन हो ?

पं० आशाधरने मध्याह्नपूजनके समय जिस 'आश्रुत्य स्नपनं' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा जिन-प्रतिमाके दही, दूध आदिसे अभिषेक करनेका विधान किया है, वही श्लोक उन्होंने प्रतिष्ठा-सारोद्धारमें भी दिया है, यह पहिले बता आये हैं। किन्तु प्रतिष्ठासारोद्धारमें अचलप्रतिमाकी प्रतिष्ठा-विधिको समाप्त करनेके पश्चात् **'अथ चलजिनेन्द्रप्रतिबिम्बप्रतिष्ठाचतुर्थदिन स्नपन क्रिया'** इस उत्थानिकाके साथ उक्त श्लोक दिया है। अर्थात् अब चलजिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चौथे दिन की जानेवाली स्नपन क्रिया कही जाती है। उनकी इस उत्थानिकासे सिद्ध है कि दही, दूध आदिसे अभिषेकका विधान चलप्रतिमाकी प्रतिष्ठाके समय था। उनके ही शब्दोंसे इतना स्पष्ट विधान होते हुए भी उन्होंने प्रतिदिन की जानेवाली माध्याह्निक पूजनके समय उक्त विधान कैसे कर दिया ? यह एक आश्चर्य-कारक विचारणीय प्रश्न है।

गहराईसे विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि नव-निर्मित जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठाके समय उसका दूध, दही आदिसे अभिषेक किया जाना उचित है, अर्थात् जिस धातु या पाषाणादिसे उस

प्रतिमाका निर्माण हुआ है, उसकी द्रव्य-शुद्धिके लिए पञ्चामृताभिषेक करना योग्य है। किन्तु जिस प्रतिमाकी पंच कल्याणकोंके साथ प्रतिष्ठा की जा चुकी है और जिसे अरहन्त और सिद्ध पदको प्राप्त हुई मान लिया गया है, उस प्रतिमाका प्रतिदिन जन्म मानकर सुमेरुगिरि और पांडुकशिलाकी कल्पना करते हुए जन्माभिषेक करना कहाँ तक उचित है? इस सब कथनका फलितार्थ यही है कि प्रतिष्ठित प्रतिमाका पञ्चामृताभिषेक करना उचित नहीं है। यही तर्क जलसे अभिषेक नहीं करनेके लिए भी दिया जा सकता है। परन्तु उसका उत्तर यह है कि जन्माभिषेककी कल्पना करके जलसे भी अभिषेक करना अनुचित है। किन्तु वायुसे उड़कर प्रतिमापर लगे हुए रजकणोंके प्रक्षालनार्थ जलसे अभिषेक करना उचित है।

जीव-हिंसाकी दृष्टिसे दूध, आदिसे अभिषेक करना उचित नहीं है। क्योंकि श्रावकाचारोंमें बतायी गयी विधिसे शुद्ध दूध, दही और घीका मिलना सर्वत्र सुलभ नहीं है और अमर्यादित दूध, दही आदिमें सम्मूर्छन असंख्य त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे अभिषेकके पश्चात् यह सब जहाँ फेंका जाता है, वहाँपर भी असंख्य त्रसजीव पैदा होते और मरते हैं। तीसरे असावधानी-वश यदि मूर्त्तिके हस्त-पाद आदिकी सन्धियोंमें कहीं दूध, दही आदि लगा रह जाता है, तो वहाँपर असंख्य चींटी आदि चढ़ी, चिपटी और मरी हुई देखी गयी हैं। इस भारी त्रस-हिंसासे बचनेके लिए दही, दूध आदिसे अभिषेकका नहीं करना श्रेयस्कर है।

आचमन, सकलीकरण और हवन

सोमदेवसूरिने और परवर्ती अनेक श्रावकाचार रचयिताओंने पूजन, मंत्र, जाप आदिके पूर्व आचमन आदिका विधान किया है, अतः उनपर विचार किया जाता है—

हाथकी चुल्लूमें पानी लेकर कुल्ला करनेको आचमन कहते हैं। हिन्दू-पूजा-पद्धतिमें आचमन करके ही पूजन करनेका विधान है। सोमदेवने इसका समर्थन करते हुए यहाँ तक लिखा है कि बिना आचमन किये घरमें भी प्रवेश नहीं करना चाहिए। (भाग १, पृ० १७२, ४३७) इसी प्रकार मंत्रादिके जापको प्रारम्भ करनेके पूर्व वैदिक-परम्परामें प्रचलित सकलीकरणका विधान भी सोमदेवने किया है। (भाग १, १९२, श्लोक ५७४) परन्तु उसकी कोई विधि नहीं बतलायी है। अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें उसकी विधि बतलायी है, जो इस प्रकार है—

मंत्रका जप प्रारम्भ करनेके पूर्व किसी पात्रमें शुद्धजलको रख लेवे। तत्पश्चात् 'ओं णमो अरहंताणं ह्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' यह मंत्र बोलकर दोनों अंगूठोंको जलमें डुबोकर शुद्ध करे। पुनः 'ओं णमो सिद्धाणं ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः' बोलकर दोनों तर्जनी अंगुलियोंको शुद्ध करे। पुनः 'ओं णमो आयरियाणं ह्रू मध्यमाभ्यां नमः' बोलकर दोनों मध्यमा अंगुलियोंको शुद्ध करे। पुनः 'ओं णमो उवज्झायाणं ह्रौं अनामिकाभ्यां नमः' बोलकर दोनों अनामिका अंगुलियोंको शुद्ध करे। पुनः 'ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः कनिष्ठिकाभ्यां नमः' बोलकर दोनों कनिष्ठिका अंगुलियोंको शुद्ध करे। इस प्रकार तीन बार पाँचों अंगुलियोंपर मंत्र विन्यासकर उन्हें शुद्ध करे। तत्पश्चात् 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रू ह्रौं ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः' यह मंत्र बोलकर दोनों हथेलियोंकी दोनों ओरसे शुद्धि करे। पुनः 'ओं णमो अरहंताणं ह्रां मम शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा' यह मंत्र बोलकर मस्तकपर क्षेपण करे। पुनः 'ओं णमो सिद्धाणं ह्रीं मम वदनं रक्ष रक्ष स्वाहा' बोलकर मुखपर पुष्प क्षेपण करे। पुनः 'ओं णमो आयरियाणं ह्रू मम हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा' बोलकर हृदयपर पुष्प क्षेपण करे। पुनः 'ओं णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा' बोलकर नाभिपर पुष्प

क्षेपण करे। पुनः ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा' बोलकर दोनों पैरोंपर पुष्प क्षेपण करे। (भाग १, पृ० ४१२-४१३)

सोमदेवने जिस सकलीकरणका विधान एक श्लोक-द्वारा सूचित किया है, उसका स्पष्टीकरण अमितगतिने उक्त मन्त्रों द्वारा सर्वाङ्ग शुद्धिके रूपमें किया है। उक्त सकलीकरणके मंत्रोंमें प्रयुक्त 'ह्रां ह्रीं ह्रू ह्रौं ह्रः' ये बीजाक्षर वैदिक सम्प्रदायके मंत्रोंमें भी पाये जाते हैं। जैन सम्प्रदायमें इन पाँचोंके साथ नमस्कार मंत्रका एक एक पद जोड़कर जैन संस्करण कर दिया गया है।

अमितगतिने नियत परिमाणमें किये गये मंत्र-जापके दशमांश रूप हवनका भी विधान किया है। (भाग १, पृ० ४१०, श्लोक ३९ तथा नीचेका गद्यांश) अमितगतिसे पूर्वके किसी श्रावकाचार-में इस दशांश होम करनेका विधान नहीं है। जिनसेनने इतने क्रिया कांड और उनके मंत्रोंको लिखते हुए भी दशमांश होम करनेका कोई निर्देश नहीं किया है।

देवसेनने प्राकृत भावसंग्रहमें पूजनके पूर्व आचमन और सकलीकरणका विधान किया है। (भाग ३, पृ० ४४७, गाथा ७८ और ८५) पूजनके बाद मंत्र-जापका उल्लेख करते हुए भी होम करनेका कोई उल्लेख नहीं किया है।

वामदेवने भी संस्कृत भावसंग्रहमें देवसेनका अनुसरण करते और मंत्र जापका उल्लेख करते हुए भी होम करनेका कोई निर्देश नहीं किया है। (देखो—भाग ३, पृ० ४६७, श्लोक २८ और ३४)

उमास्वामीने अपने श्रावकाचारमें अपने चैत्यालयस्थ जिनबिम्बकी पूजाके प्रकरणमें 'पूजा-होम-जपादिका' उल्लेख मात्र किया है। यथा—

प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम्।
सर्वं विलुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः॥ १०७॥

अर्थात्—ध्वजा-रहित प्रासाद (भवन) में किया गया, पूजा-होम और जपादि सर्व व्यर्थ जाता है। अतः जिन-भवनपर ध्वजारोहण करना चाहिए। (भाग ३, पृ० १६१)

इतने मात्र उल्लेखके उन्होंने होम-जपादिके विषयमें और कुछ भी नहीं कहा है।

पण्डित गोविन्दने अपने पुरुषार्थानुशासनमें सामायिक प्रतिमाके वर्णनमें जलस्नान और मंत्रस्नान करके सकलीकरणादि वेत्ता श्रावकको जिनपूजन करनेको निर्देशमात्र किया है। (भाग ३, पृ० ५२३, श्लोक ९६)

उक्त श्रावकाचारोंके सिवाय परवर्ती अन्य श्रावकाचारोंमें भी आचमन, सकलीकरण और होम करनेका कोई विधान नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सोमदेवने जिस आचमन और सकलीकरणादिका निर्देशमात्र किया था, उसे परवर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंने उत्तरोत्तर पल्लवित किया है। ये सब विधि-विधान वैदिक सम्प्रदायसे लिये गये हैं, इसका स्पष्ट संकेत सोमदेवके उक्त प्रकरणमें दिये गये निम्नांकित श्लोकसे होता है। यथा—

एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया।
दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत्॥ ४४१॥

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥ ४४२॥
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥ ४४६॥

(उक्त श्लोकोंका अर्थ प्रस्तुत संग्रहके भाग १ के पृ० १७२-१७३ पर देखें)

उक्त श्लोकोंसे स्पष्ट है कि वे लोकमें प्रचलित वैदिक आचारको गृहस्थोंका लौकिक धर्म बताकर भी यह निर्देश कर रहे हैं कि ऐसी सभी लौकिक विधियाँ जैनियोंके प्रमाणरूप हैं, जिनके करनेसे न तो सम्यक्त्वकी हानि हो और न ही व्रतमें कोई दूषण ही लगे।

२१. पूजन-पद्धतिका क्रमिक विकास

स्नपनके बाद आचार्य जिनसेनने गृहस्थोंका दूसरा कर्तव्य पूजन कहा है। उसका निरूपण करनेके पूर्व यह देखना आवश्यक है कि प्रस्तुत संग्रहके श्रावकाचारोंमें कहाँ किसने किस प्रकारसे इसपर प्रकाश डाला है।

१. प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहमेंसे सर्व प्रथम स्वामी समन्तभद्रने चौथे शिक्षाव्रतके भीतर जिन-पूजन करनेका विधान किया है। पर वह जिन-पूजन किस प्रकारसे करना चाहिए, इसका उन्होंने कोई वर्णन नहीं किया है। (देखो—भा० १ पृ० १४ श्लोक ११९)

२. स्वामी कार्त्तिकेयने प्रोषधोपवासके दूसरे दिन '**पुज्जणविहिं च किच्चा**' कह कर पूजन करनेका निर्देश मात्र किया है। (देखो—भा० १ पृ० २६ गा० ७५)

३. जिनसेनने भरतचक्री द्वारा ब्राह्मण-सृष्टि करनेके बाद इज्या (पूजा) के चार भेदोंका विस्तृत वर्णन कराया है, परन्तु पूजनकी विधि क्या है, इसपर कोई प्रकाश नहीं डाला है। (देखो—भा० १ पृ० ३०-३१ श्लोक २६-३३)

४. अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्धयुपायमें प्रभावना अंगका वर्णन करते हुए '**दान-तपो-जिनपूजा-विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः**' कहकर जिनपूजाका नामोल्लेख मात्र किया है। (देखो—भा० १ पृ० १०१ श्लोक ३०)। तथा उपवासके दूसरे दिन '**निर्वर्तयेद् यथोक्तां जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः**' कह कर प्रासुक द्रव्योंसे पूजन करनेका विधान मात्र किया है। पूजनकी कोई विधि नहीं बतलायी है। (देखो—भा० १ पृ० ११५ श्लोक १२५)

५. सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें पूजनके भेद और उसकी विधिका विस्तृत वर्णन किया है, जिसे आगे बताया गया है। (देखो—भा० १ पृ० १७१-१८५)

६. चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें अतिथिकी नवधा भक्तिमें '**अर्चन**' का नाम निर्देश किया है। तथा इज्याके जिनसेनके समान ही नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पवृक्षमह, आष्टाह्निकमह इन चारमें ऐन्द्रध्वजमहको मिलाकर पाँच भेदोंका वर्णन किया है। परन्तु कौन सी पूजा किस विधिसे करनी चाहिए, इसका कोई खुलासा नहीं किया है। हाँ, जिनसेनके समान अपने घरसे जल-गन्धाक्षतादि ले जाकर जिन-पूजन करनेको नित्यमह कहा है और उसीके अन्तर्गत बलि और स्नपनका भी विधान किया है। (देखो—भा० १ पृ० २५८)

७. अमितगतिने अपने श्रावकाचारके बारहवें परिच्छेदमें पूजनके दो भेद किये हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। उन्होंने वचन और कायके संकोच करनेको द्रव्यपूजा और मनके संकोच करनेको

अर्थात् जिन-भक्तिमें मनके लगानेको भावपूजा कहा है। अथवा गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करनेको द्रव्य-पूजा और जिनदेवके गुणों के चिन्तन करनेको भावपूजा कहा है। (देखो—भा० १ पृ० ३७३ श्लोक १२-१४)

८. वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें पूजनके ६ भेद बतलाये हैं—१. नामपूजा, २. स्थापना-पूजा, ३. द्रव्यपूजा, ४. क्षेत्रपूजा, ५. कालपूजा और ६. भावपूजा। अर्हन्त देवादिके नामोंका उच्चारण कर पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है। तदाकार और अतदाकार-पूजनको स्थापनापूजा कहते हैं। इन्होंने तदाकारपूजनके अन्तर्गत प्रतिमा-प्रतिष्ठाका विस्तारसे वर्णन कर इस कालमें अतदाकार पूजनका निषेध किया है। जल-गन्धाक्षतादि अष्टद्रव्योंसे साक्षात् जिनदेवकी या उनकी मूर्त्तिकी पूजा करनेको द्रव्यपूजा कहा है। तीर्थंकरोंके जन्म, निष्क्रमण आदि कल्याणकोंके स्थानोंपर, तथा निर्वाण भूमियोंमें पूजन करनेको क्षेत्रपूजा कहा है। तीर्थंकरोंके गर्भादि पंच कल्याणकोंके दिन पूजन करनेको कालपूजा कहा है और जिनदेवके अनन्तचतुष्टय आदि गुणोंके कीर्तन करनेको भावपूजा कहा है। इसी भावपूजाके अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान करने-का भी विधान किया है। (देखो—भा० १ पृ० ४६४-४७४ गत गाथाएँ)

९. सावयधम्म दोहाकारने जल-गंधाक्षतादि अष्टद्रव्योंके द्वारा जिनपूजन करनेका विधान किया है। (देखो—भा० १ पृ० ४९९-५०० गत दोहा)

१०. पं० आशाधरने सागारधर्मामृतमें महापुराणके अनुसार नित्यमह आदि ४ भेदोंका ही निरूपण किया है। किन्तु तदाकार और अतदाकार पूजनके विषयमें कोई निर्देश नहीं किया है। इन्होंने 'इज्यार्थं वाटिकाद्यपि न दुष्यति' (भा० २, पृ० १३ श्लोक ४०) पूजनार्थं पुष्पादिकी प्राप्तिके लिए बगीची आदि लगानेका भी विधान किया है। तथा अष्टद्रव्योंसे पूजन करनेका फल बताकर प्रकारान्तरसे उनके द्वारा पूजन करनेका निर्देश किया है।

११. पं० मेधावीने अपने धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण और अष्टद्रव्यसे पूजनके पश्चात् 'संहितोक्त मंत्रों' से विसर्जन करनेका स्पष्ट विधान किया है। (देखो—भा० २ पृ० १५६ श्लोक ५६-५७)

पूजा करनेवाला किस प्रकारके जलसे स्नान करे, इसका भी पं० मेधावीने विस्तारसे वर्णन किया है। (देखो—भा० २ पृ० १५६ श्लोक ५१-५५)

इन्होंने सोमदेवके समान ही दातुन करके पूजन करनेका विधान किया है। (देखो—भा० २ पृ० १५६, श्लोक ५०)

पं० मेधावीने पूजनके वसुनन्दिके समान सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन भेद किये हैं। तथा उन्हींके समान नाम, स्थापनादि छह भेद करके उनका विशद वर्णन किया है। (देखो—भा० २ पृ० १५९ श्लोक ८५-१००)

१२. आचार्य सकलकीर्त्तिने अपने प्रश्नोत्तर श्रावकाचारके बीसवें परिच्छेदमें जिनबिम्ब और जिन-मन्दिर-प्रतिष्ठाकी महिमा बताकर अष्टद्रव्योंसे पूजन करनेके फलका विस्तृत वर्णन किया है। किन्तु पूजनके भेदोंका और उसकी विधिका कोई वर्णन नहीं किया है। (देखो—भा० २, पृ० ३७७-३७८ गत श्लोक)

१३. गुणभूषणने अपने श्रावकाचारमें नाम, स्थापनादि छह प्रकारकी पूजाओंका नाम-

निर्देश और स्वरूप-वर्णन कर जलादि अष्टद्रव्योंसे द्रव्यपूजनका, मंत्र जाप एवं पिण्डस्थ-पदस्थ आदि ध्यानोंके द्वारा भावपूजनका वर्णन वसुनन्दिके समान ही किया है। (देखो—भा० २ पृ० ४५६-४५८ गत श्लोक)

१४. ब्रह्मनेमिदत्तने अपने धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचारमें जिनपूजनको अष्टद्रव्योंसे करनेका विधान और फलका विस्तृत वर्णन करते हुए भी उसके भेदोंका तथा विधिका कोई वर्णन नहीं किया है। (देखो—भा० २ पृ० ४९२-४९३)

१५. पं० राजमल्लजीने अपनी लाटीसंहितामें पूजनके आह्वान, प्रतिष्ठापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन रूप पंच उपचारोंका नाम निर्देश करके जलादि अष्टद्रव्योंसे पूजनका विधान तो किया है, परन्तु उसकी विशेष विधिका कोई वर्णन नहीं किया है। इसी प्रकार त्रिकाल पूजनका निर्देश करते हुए भी अर्धरात्रिमें पूजन करनेका स्पष्ट शब्दोंमें निषेध किया है। (देखो—भा० ३, पृ० १३१-१३३ गत श्लोक)

१६. उमास्वामीने अपने श्रावकाचारमें ग्यारह अंगुलसे बड़े जिन बिम्बको अपने घरके चैत्यालयमें स्थापन करनेका निषेध तथा विभिन्न प्रमाणवाले जिन-बिम्बके शुभाशुभ फलोंका विस्तृत वर्णन कर आह्वानादि पंचोपचारी पूजनका तथा स्नान, विलेपनादि इक्कीस प्रकारके पूजनका वर्णन किया है। यह इक्कीस प्रकारका पूजन अन्य श्रावकाचारोंमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। हाँ, वैदिकी पूजा-पद्धतिमें सोलह उपचार वाले पूजनका विधान पाया जाता है, जिसे आगे दिखाया गया है। इन्होंने अष्टद्रव्योंसे पूजन करनेके फलका भी विस्तृत वर्णन किया है और अन्तमें नामादि चार निक्षेपोंसे जिनेन्द्रदेवका विन्यास कर पूजन करनेका विधान किया है। (देखो—भा० ३ पृ० १६०-१६७ गत श्लोक)

१७. पूज्यपादकृत श्रावकाचारमें नामादि चार निक्षेपोंसे और यंत्र-मंत्र क्रमसे जिनाकृतिकी स्थापना करके जिनपूजनके करनेका विधान मात्र किया है। (देखो—भा० ३ पृ० १९८ श्लोक ७८)

१८. **व्रतसार श्रावकाचार**—यह अज्ञात व्यक्ति-रचित केवल २२ श्लोक प्रमाण है और इसके १५ वें श्लोकमें प्रतिमा पूजनके साथ त्रिकाल वन्दना करनेका विधान मात्र किया गया है। (देखो—भा० ३ पृ० २०५)

१९. श्री अभ्रदेवने अपने व्रतोद्योतन श्रावकाचारमें अष्टद्रव्योंसे जिनदेव, श्रुत और गुरुके पूजनका विधान करके भावपूर्वक जिन-स्नपन करनेका विधान मात्र किया है। (देखो—भा० ३ पृ० २२६ श्लोक १८०। पृ० २२८ श्लोक १९८)

२०. पद्मनन्दिने अपने श्रावकाचारसारोद्धारमें प्रोषधोपवासके दूसरे दिन जल-गन्धाक्षतादिसे जिन-पूजा करनेका विधान मात्र किया है (देखो—भा० ३ पृ० ३६२ श्लोक ३१३) इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी पूजाके विषयमें कुछ भी नहीं लिखा है।

२१. जिनदेवने अपने उपासकाध्ययनमें दानका वर्णन करनेके पश्चात् पूजनका विधान किया है कि गृहस्थ चाँदी, सुवर्ण, स्फटिक आदिकी जिन-प्रतिमा निर्माण कराकर और उसकी प्रतिष्ठा कराके पूजा करे। पूजनके पूर्व दातुन करके मुख-शुद्ध कर, गालित जलसे स्नान कर देव-विसर्जन करने तक मौन धारण कर पूजन आरम्भ करे। अपनेमें इन्द्रका संकल्प कर आभूषणोंसे भूषित होकर, स्थापना मंत्रोंसे जिनदेवकी स्थापना करे। पुनः दिक्पालोंका आवाहन कर, क्षेत्रपालके

साथ यक्ष-यक्षीकी स्थापना करे। पुनः मंत्र बीजाक्षरोंसे सकलीकरण करके अपनेको शुद्धकर अष्ट-द्रव्योंसे जिनपूजा प्रारम्भ करे। तत्पश्चात् पूर्व-आहूत देवोंको पूजकर उनका विसर्जन करे। (देखो भा० ३ पृ० ३९५-३९६ श्लोक ३४३-३५६)

परिशिष्टमें दिये गये श्रावक-धर्मका वर्णन करनेवाले अंशोंमेंसे आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्र-पाहुडमें और उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें, पूजनका कोई वर्णन नहीं है। शिवकोटि-की रत्नमालामें केवल इतना वर्णन है कि नन्दीश्वर पर्वके दिनोंमें बलि-पुष्प संयुक्त शान्तिभक्ति करनी चाहिए (देखो—भा० ३ पृ० ४१४ श्लोक ४९)

आचार्य रविषेणके पद्मचरितगत श्रावकधर्मके वर्णनमें भी जिन-पूजनका कोई विधान नहीं है। जटासिंहनन्दिके वराङ्गचरितगत श्रावकाचारमें केवल इतना उल्लेख है कि दुःख दूर करनेके लिए व्रत, शील, तप, दान, संयम और अर्हत्पूजन करे। (देखो—भा० ३ पृ० श्लोक ४)

आचार्य जिनसेन-रचित हरिवंशपुराण-गत श्रावकधर्मके वर्णनमें भी जिनपूजनका कोई वर्णन नहीं है। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका गत श्रावकधर्मके वर्णनमें श्रावकके षट् कर्मोंमें देवपूजाका नामोल्लेख मात्र है, उसकी विधि आदिका कोई वर्णन नहीं है (देखो भा० ३ पृ० ४२७ श्लोक ७)

पद्मनन्दि-रचित देशव्रतोद्योतनके सातवें श्लोकमें देवाराधन-पूजनका उल्लेख है। श्लोक २० से २३ तक जिन-बिम्ब और जिनालय बनवाकर स्नपनके साथ जलादि द्रव्योंसे पूजन करके पुण्योपार्जनका विधान किया गया है। (देखो—भा० ३ पृ० ४३८)

देवसेन-रचित प्राकृत भावसंग्रहमें पञ्चामृताभिषेक पूर्वक अष्टद्रव्योंमें पूजन करनेका विस्तृत वर्णन है। अभिषेकके अन्तर्गत इन्द्र, यम, वरुणादि देवोंके आवाहनका विधान किया गया है। तथा सिद्धचक्रयंत्रादिके उद्धार और पूजनका भी वर्णन है। (देखो—भा० ३ पृ० ४४७-४५२ गत गाथाएँ)

वामदेव-रचित संस्कृत भावसंग्रहमें भी सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत जिनाभिषेक और अष्टद्रव्यसे पूजनका वर्णन है। देखो—भा० ३ पृ० ४६६-४६७ गत श्लोक)

आचार्य कुन्दकुन्द-रचित माने जानेवाले रयणसारमें 'श्रावकोंका दान-पूजन करना मुख्य कर्त्तव्य है, ऐसा वर्णन होनेपर भी, तथा पूजनका फल देव-पूज्य पद प्राप्त करनेका उल्लेख होनेपर भी पूजन-विधिका कोई वर्णन नहीं है। (देखो—भाग ३ पृष्ठ ४८० गाथा १०, १३)

पं० गोविन्द-विरचित पुरुषार्थानुशासनमें सामायिक प्रतिमाके अन्तर्गत नित्य अर्हत्पूजनका जलादि शुद्ध द्रव्योंसे विधान करके पूजा-विधिको 'जिनेन्द्र संहिताओं' से जाननेकी सूचना की गई है। (देखो—भाग ३ पृष्ठ ५२२-५२३ श्लोक ८६, ९७)

जैन परम्परामें जल, गन्ध, अक्षत आदि आठ द्रव्योंसे पूजनकी परिपाटी रही है। यह बात ऊपर दिये गये विवरणसे प्रकट होती है, परन्तु उमास्वामी श्रावकाचारमें जो २१ प्रकारके उपचार वाले पूजनका विधान किया है, उसपर स्पष्ट रूपसे वैदिकी पूजा-पद्धतिका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है यह आगेके विवरणसे पाठक स्वयं जान लेंगे।

२२. पूजनकी विधि

देवपूजनके विषयमें कुछ और स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है, क्योंकि सर्वसाधारणजन इसे

प्रतिदिन करते हुए भी उसके वास्तविक रहस्यसे अनभिज्ञ हैं, यही कारण है कि वे यद्वा-तद्वा रूपसे करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं।

यद्यपि इज्याओंका विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम आचार्य जिनसेनने किया है, तथापि उन्होंने उसकी कोई व्यवस्थित प्ररूपणा नहीं की है। जहाँतक मेरा अध्ययन है, पूजनका व्यवस्थित एवं विस्तृत निरूपण सर्वप्रथम आचार्य सोमदेवने ही किया है।

पूजनका उपक्रम

देवपूजा करनेके लिए उद्यत व्यक्ति सर्वप्रथम अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धिको करे। चित्तकी चंचलता, मनकी कुटिलता या हृदयकी अपवित्रता दूर करनेको अन्तःशुद्धि कहते हैं। दन्तधावन आदि करके निर्मल एवं प्रासुक जलसे स्नानकर धुले स्वच्छ शुद्ध वस्त्र-धारण करनेको बहिःशुद्धि कहते हैं।[1]

पूजनका अर्थ और भेद

जिनेन्द्रदेव, गुरु, शास्त्र, रत्नत्रय धर्म आदिकी आराधना, उपासना या अर्चा करनेको पूजन कहते हैं। आचार्य वसुनन्दिने पूजनके छह भेद गिनाकर उसका विस्तृत विवेचन किया है। (देखो भाग १ पृष्ठ ४६४–४७६, गाथा ३८१ से ४९३ तक) छह भेदोंमें एक स्थापना पूजा भी है। साक्षात् जिनेन्द्रदेव या आचार्यादि गुरुजनोंके अभावमें उनकी स्थापना करके जो पूजा की जाती है उसे स्थापना पूजा कहते हैं। यह स्थापना दो प्रकारसे की जाती है, तदाकार रूपसे और अतदाकार रूपसे। जिनेन्द्रका जैसा शान्त वीतराग स्वरूप परमागममें बताया गया है, तदनुसार पाषाण, धातु आदिको मूर्ति बनाकर प्रतिष्ठा-विधिसे उसमें अर्हन्तदेवकी कल्पना करनेको तदाकार स्थापना कहते हैं। इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको लक्ष्य करके, या केन्द्र-बिन्दु बनाकर जो पूजा की जाती है, उसे तदाकार स्थापना पूजन कहते हैं। इस प्रकारके पूजनके लिए आचार्य सोमदेवने प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा-फल इन छह कर्तव्योंका करना आवश्यक बताया है। यथा—

---

१. अन्तःशुद्धि बहिःशुद्धि विदध्याद्देवतार्चनम्।
आद्या दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या स्नानाद्यथाविधि:॥ ४२८॥
आप्लुतः संप्लुतः स्वान्तः शुचिवासा विभूषितः।
मौन-संयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम्॥ ४३८॥
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत्॥ ४३९॥ (देखो—भाग १, पृष्ठ १७१–१७२)

कितने ही लोग बिना दातुन किये ही पूजन करते हैं, उन्हें 'दन्तधावनशुद्धास्यः' पदपर ध्यान देना चाहिए, जिसमें बताया गया है कि मुखको दातुनसे शुद्ध करके भगवान्‌की पूजा करे। इस सम्बन्धमें इसी श्लोकके द्वारा एक और पुरानी प्रथापर प्रकाश पड़ता है, वह यह कि मुखपर वस्त्र बाँधकर भगवान्‌की पूजा करे। पुराने लोग दुपट्टेसे मुखको बाँधकर पूजन करते रहे हैं, बुन्देलखंडके कई स्थानोंमें यह प्रथा आज भी प्रचलित है। मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंमें भी मुख बाँधकर ही पूजा की जाती है।

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥
(देखो—भाग १ पृष्ठ १८० श्लोक ४९५)

पूजनके समय जिनेन्द्र-प्रतिमाके अभिषेककी तैयारी करनेको **प्रस्तावना** कहते हैं। जिस स्थानपर अर्हद्बिम्बको स्थापितकर अभिषेक करना है, उस स्थानकी शुद्धि करके जलादिकसे भरे हुए कलशोंको चारों ओर कोणोंमें स्थापना करना **पुराकर्म** कहलाता है। इन कलशोंके मध्यवर्ती स्थानमें रखे हुए सिंहासनपर जिनबिम्बके स्थापन करनेको **स्थापना** कहते हैं। 'ये वही जिनेन्द्र हैं, यह वही सुमेरुगिरि है, यह वही सिंहासन है, यह वही साक्षात् क्षीरसागरका जल कलशोंमें भरा हुआ है, और मैं साक्षात् इन्द्र बनकर भगवान्का अभिषेक कर रहा हूँ', इस प्रकारकी कल्पना करके प्रतिमाके समीपस्थ होनेको **सन्निधापन** कहते हैं। अर्हत्प्रतिमाकी आरती उतारना, जलादिकसे अभिषेक करना, अष्टद्रव्यसे अर्चा करना, स्तोत्र पढ़ना, चंवर ढोरना, गीत, नृत्य आदिसे भगवद्-भक्ति करना यह **पूजा** नामका पाँचवाँ कर्तव्य है। जिनेन्द्र-बिम्बके पास स्थित होकर इष्ट प्रार्थना करना कि हे देव, सदा तेरे चरणोंमें मेरी भक्ति बनी रहे, सर्व प्राणियोंपर मैत्री भाव रहे, शास्त्रों का अभ्यास हो, गुणी जनोंमें प्रमोद भाव हो, परोपकारमें मनोवृत्ति रहे, समाधिमरण हो, मेरे कर्मोंका क्षय और दुःखोंका अन्त हो, इत्यादि प्रकारसे इष्ट प्रार्थना करनेको पूजा फल कहा गया है। (देखो श्रावका० भाग १ पृष्ठ १८० आदि, श्लोक ४९६ आदि)

पूजाफलके रूपमें दिये गये निम्न श्लोकोंसे एक और भी तथ्यपर प्रकाश पड़ता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायंतनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥
(भाग १ पृ० १८५ श्लोक ५२९)

अर्थात्—हे देव, मेरा प्रातःकाल तेरे चरणोंकी पूजासे, मध्याह्नकाल मुनिजनोंके सन्मानसे और सायंकाल तेरे आचरणके संकीर्तनसे नित्य व्यतीत हो।

पूजा-फलके रूपमें दिये गये इस श्लोकसे यह भी ध्वनि निकलती है कि प्रातःकाल अष्ट द्रव्योंसे पूजन करना पौर्वाह्निक पूजा है, मध्याह्नकालमें मुनिजनोंको आहार आदि देना माध्याह्निक पूजा है और सायंकालके समय भगवद्-गुण कीर्तन करना अपराह्निक पूजा है। इस विधिसे त्रिकाल पूजा करना श्रावकका परम कर्तव्य है और सहज साध्य है।

उक्त विवेचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आह्वानन, स्थापन और सन्निधीकरणका आर्ष-मार्ग यह था, पर उस मार्गके भूल जानेसे लोग आजकल यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

तदाकार स्थापनाके अभावमें अतदाकार स्थापना की जाती है। अतदाकार स्थापनामें प्रस्तावना, पुराकर्म आदि नहीं किये जाते, क्योंकि जब प्रतिमा ही नहीं है, तो अभिषेक आदि किसका किया जायगा ? अतः पवित्र पुष्प, पल्लव, फलक, भूर्जपत्र, सिकता, शिलातल, क्षिति, व्योम या हृदयमें अर्हन्तदेवकी अतदाकार स्थापना करनी चाहिए। वह अतदाकार स्थापना किस प्रकार करनी चाहिए, इसका वर्णन आचार्य सोमदेवने इस प्रकार किया है :—

अर्हन्ततनुमध्ये दक्षिणतो गणधरस्तथा पश्चात् ।
श्रुतगीः साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि ॥ ४४८ ॥
भूर्जे, फलके सिचये शिलातले सैकते क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चेति स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥ ४४९ ॥

(देखो भाग १ पृ० १७३)

अर्थात्—भूर्जपत्र आदि पवित्र बाह्य वस्तुमें या हृदयके मध्य भागमें अर्हन्तको, उसके दक्षिण भागमें गणधरको, पश्चिम भागमें जिनवाणीको, उत्तरमें साधुको और पूर्वमें रत्नत्रयरूप धर्मको स्थापित करना चाहिए। यह रचना इस प्रकार होगी :—

रत्नत्रय धर्म
साधु अर्हन्तदेव गणधर
जिनवाणी

इसके पश्चात् भावात्मक अष्टद्रव्यके द्वारा क्रमशः देव, शास्त्र, गुरु और रत्नत्रय धर्मका पूजन करे। तथा दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, पंचगुरुभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति करे। आचार्य सोमदेवने इन भक्तियोंके स्वतंत्र पाठ दिये हैं। शान्तिभक्तिका पाठ इस प्रकार है :—

भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः ॥ ४८१ ॥

(देखो—भाग १ पृष्ठ १७८)

यह पाठ हमें वर्तमानमें प्रचलित शान्तिपाठकी याद दिला रहा है।

उपर्युक्त तदाकार और अतदाकार पूजनके निरूपणका गंभीरतापूर्वक मनन करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमानमें दोनों प्रकारकी पूजन-पद्धतियोंकी खिचड़ी पक रही है, और लोग यथार्थ मार्गको बिलकुल भूल गये हैं।

निष्कर्ष—तदाकार पूजन द्रव्यात्मक और अतदाकार पूजन भावात्मक है। गृहस्थ सुविधानुसार दोनों कर सकता है। पर आचार्य वसुनन्दि और गुणभूषण इस हुंडावसर्पिणीकालमें अतदाकार स्थापनाका निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि लोग यों ही कुलिंगियोंके यद्वा-तद्वा उपदेशसे मोहित हो रहे हैं, फिर यदि ऐसी दशामें अर्हन्मतानुयायी भी जिस किसी वस्तुमें अपने इष्ट देवकी स्थापना कर उसकी पूजा करने लगेंगे, तो साधारण लोगोंसे विवेकी लोगोंमें कोई भेद न रह सकेगा। तथा सर्वसाधारणमें नाना प्रकारके सन्देह भी उत्पन्न होंगे। (देखो—भाग १ पृष्ठ ४६४ गाथा ३८५)

यद्यपि आचार्य वसुनन्दिका अतदाकार स्थापना न करनेके विषयमें तर्क या दलील है तो युक्ति-संगत, पर हुंडावसर्पिणीका उल्लेख किस आधारपर कर दिया, यह कुछ समझमें नहीं आया? खासकर उस दशामें, जब कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य सोमदेव बहुत विस्तारके साथ उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। फिर एक बात और विचारणीय है कि क्या पंचम कालका ही नाम हुंडावसर्पिणी है, या प्रारंभके चार कालोंका नाम भी है। यदि उनका भी नाम है, तो क्या चतुर्थकालमें

भी असदाकार स्थापना नहीं की जाती थी ? यह एक प्रश्न है, जिसपर कि विद्वानों द्वारा विचार किया जाना आवश्यक है।

उमास्वामिश्रावकाचार, धर्मसंग्रह श्रावकाचार और लाटीसंहितामें पूजनके पाँच उपचार बतलाये हैं—आवाहन, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन। इन तीनों ही श्रावकाचारोंमें स्थापनाके तदाकार और अतदाकार भेद न करके सामान्यरूपसे पूजनके उक्त पांच प्रकार बतलाये हैं। फिर भी जब सोमदेव-प्ररूपित उक्त छह प्रकारोंको सामने रखकर इन पाँच प्रकारोंपर गम्भीरतासे विचार करते हैं, तब सहजमें ही यह निष्कर्ष निकलता है कि ये पाँचों उपचार अतदाकार स्थापना वाले पूजनके हैं, क्योंकि अतदाकार या असद्भावस्थापनामें जिनेन्द्रके आकारसे रहित ऐसे अक्षत-पुष्पादिमें जो स्थापना की जाती है, उसे अतदाकार या असद्भाव स्थापना कहते हैं। अक्षत-पुष्पादिमें जिनेन्द्रदेवका संकल्प करके 'हे जिनेन्द्र, अत्र अवतर, अवतर' उच्चारण करके आह्वानन करना, 'अत्र तिष्ठ तिष्ठ' बोलकर स्थापन करना और 'अत्र मम सन्निहितो भव' कहकर सन्निधीकरण करना आवश्यक है। तदनन्तर जलादि द्रव्योंसे पूजन करना चौथा उपचार है। पुनः जिन अक्षत-पुष्पादिमें जिनेन्द्रदेवकी संकल्पपूर्वक स्थापना की गई है उन अक्षत-पुष्पादिका अविनय न हो, अतः संकल्पसे ही विसर्जन करना भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार अतदाकार स्थापनामें यह पञ्च उपचार सुघटित एवं सुसंगत हो जाते हैं इस कथनकी पुष्टि प्रतिष्ठा दीपकके निम्न-लिखित श्लोकोंसे होती है—

साकारा च निराकारा स्थापना द्विविधा मता।
अक्षतादिनिराकारा साकारा प्रतिमादिषु॥ १ ॥
आह्वानं प्रतिष्ठानं सन्निधीकरणं तथा।
पूजा विसर्जनं चेति निराकारे भवेदिति॥ २॥
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।
स चाष्टविध एवोक्तं जल-गन्धाक्षतादिभिः॥ ३॥

अर्थ—स्थापना दो प्रकारकी मानी गयी है—साकारस्थापना और निराकारस्थापना। प्रतिमा आदिमें साकार स्थापना होती है और अक्षत-पुष्पादिमें निराकार स्थापना होती है। निराकार स्थापनामें आह्वानन, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन ये पाँच उपचार होते हैं। किन्तु साकार स्थापनामें जल, गन्ध, अक्षत आदि अष्ट प्रकारके द्रव्योंसे पूजन करने रूप एक ही उपचार होता है।

इन सब प्रमाणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वर्तमानमें जो पूजन-पद्धति चल रही है, वह साकार और निराकार स्थापनाकी मिश्रित परिपाटी है। विवेकी जनोंको उक्त आगम-मार्गसे ही पूजन करना चाहिए।

अतएव निराकार पूजनके विसर्जनमें 'आहूता ये पुरा देवा' इत्यादि श्लोक न बोलकर 'सङ्कल्पित जिनेन्द्रान् विसर्जयामि' इतना मात्र बोलकर पुष्प-क्षेपण करके विसर्जन करना चाहिए।

'आहूता ये पुरा देवा' इत्यादि विसर्जन पाठ-गत श्लोक तो मूर्त्ति-प्रतिष्ठा और यज्ञादि करनेके समय आह्वानन किये गये इन्द्र, सोम, यम, वरुण आदि देवोंके विसर्जनार्थ है और उन्हींको लक्ष्य करके 'लब्धभागा यथाक्रमम्' पद बोला जाता है, जैसा कि आगे किये गये वर्णनसे पाठक जान सकेंगे।

२३. आवाहन और विसर्जन

सोमदेवने पूजनके पूर्व अभिषेकके लिए सिंहासन पर जिनबिम्बके विराजमान करनेको स्थापना कहा है और उसके पश्चात् लिखा है कि इस अभिषेक महोत्सवमें कुशल-क्षेम-दक्ष इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण वायु, कुबेर और ईश, तथा शेष चन्द्र आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवारके साथ आकर और अपनी-अपनी दिशामें स्थित होकर जिनाभिषेकके लिए उत्साही पुरुषोंके विघ्नोंको शान्त करें। (श्रावकाचार सं० भाग १ पृष्ठ १८२ श्लोक ५०४)

देवसेनने प्राकृत भावसंग्रहमें सिंहासनको ही सुमेरु मानकर उसपर जिनबिम्बको स्थापित करनेके बाद दिग्पालोंको आवाहन करके अपनी-अपनी दिशामें स्थापित कर और उन्हें यज्ञ भाग देकर तदनन्तर जिनाभिषेक करनेका विधान किया है। (श्रावकाचार सं० भाग ३ पृष्ठ ४४८ गाथा ८८-९२)

अभिषेकके पश्चात् जिनदेवका अष्ट द्रव्योंसे पूजन करके, तथा पञ्च परमेष्ठीका ध्यान करके पूर्व-आहूत दिग्पाल देवोंको विसर्जन करनेका विधान किया है। यथा—

झाणं झाऊण पुणो मज्झाणिलवंदणत्थ काऊण।
उवसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ॥ (भाग ३ पृष्ठ ४५२ गाथा १३२)

अर्थात्—जिनदेवका ध्यान करके और माध्याह्निक वन्दन-कार्य करके पूजनका उपसंहार करते हुए पूर्व आहूत देवोंका विसर्जन करे।

वामदेवने संस्कृत भावसंग्रहमें भी उक्त-अर्थको इस प्रकार कहा है—

स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादि मरुद्-गणान्।
अर्चिते मूलपीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम् ॥ (भाग ३ पृष्ठ ४६८ श्लोक ४७)

अर्थात्—अभिषेकके बाद जिनदेवकी स्तुति करके और दिग्पालादि देवोंको विसर्जित करके जिनबिम्बको जहाँसे उठाया था, उसी मूलपीठ (सिंहासन) पर स्थापित करे।

उक्त उल्लेखोंसे यह बात स्पष्ट है कि अभिषेकके समय आहूत दिग्पालादि देवोंके ही विसर्जनका विधान किया गया है और उन्हींको लक्ष्य करके यह बोला जाता है—

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥

अर्थात्—जिन दिग्पालादि देवोंका मैंने अभिषेकके पहिले आवाहन किया था, वे अपने यज्ञ-भागको लेकर यथा स्थान जावें।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि जिनाभिषेकके समय इन दिग्पाल देवोंके आवाहनकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान मिलता है श्री रयधुरचित 'वड्ढमाणचरिउ' से। वहाँ बतलाया गया है कि भ० महावीरके जन्माभिषेकके समय सौधर्म इन्द्र सोम, यम, वरुण आदि दिग्पालोंको बुलाकर और पांडुक शिलाके सर्व ओर प्रदक्षिणा रूपसे खड़े कर कहता है—

णिय णिय दिस रक्खडु सावहाण, मा कोवि विसउ सुरु मज्झ ठाण।
(ब्यावर भवन प्रति, पत्र ३६ ए)

अर्थात्—हे दिग्पालो, तुम लोग सावधान होकर अपनी-अपनी दिशाका संरक्षण करो और अभिषेक करनेके इस मध्यवर्ती स्थानमें किसी भी देवको प्रवेश मत करने दो।

यह व्यवस्था ठीक उसी प्रकारकी है, जैसीकी आज भी किसी महोत्सव या सभा आदिके अधिवेशनके समय कमाण्डर अपने सैनिकोंको, या स्वयंसेवकनायक अपने स्वयंसेवकोंको रंगमंच या सभा-मंडपके सर्व ओर नियुक्त करके उन्हें शान्ति बनाये रखने और किसीको भी रंगमंच या सभा-मंडपमें प्रविष्ट नहीं होने देनेके लिए देता है। जब उक्त कार्य सम्पन्न हो जाता है तो इन नियुक्त पुरुषोंको धन्यवादके साथ पारितोषिक देकर विसर्जित करता है।

तीर्थंकरोंके जन्माभिषेकके समयकी यह व्यवस्था आज भी लोग पञ्चामृताभिषेकके समय करते हैं। पर यह बताया जा चुका है कि नवीन मूर्त्तिकी प्रतिष्ठाके समय जन्मकल्याणकके दिन बनाये गये सुमेरु पर्वत पर ही यह सब किया जाना चाहिए। पञ्चकल्याणकोंसे प्रतिष्ठित मूर्त्तिका प्रतिदिन जन्मकल्याणककी कल्पना करके उक्त विधि-विधान करना उचित नहीं है, क्योंकि मुक्तिको प्राप्त तीर्थंकरोंका न आगमन ही होता है और न वापिस गमन ही। अतएव ऊपर उद्धृत प्रतिष्ठा दीपकके उल्लेखानुसार जिनबिम्बका केवल जलादि अष्टद्रव्योंसे पूजन ही करना शास्त्र-विहित मार्ग है। प्रतिमाके सम्मुख विद्यमान होते हुए न आह्वानन आदिकी आवश्यकता है और न विसर्जन की ही।

पूर्व कालमें चतुर्विंशति-तीर्थंकर-भक्ति, सिद्ध भक्ति आदिके बाद शान्ति भक्ति बोली जाती थी, आज उनका स्थान चौबीस तीर्थंकर पूजा और सिद्ध पूजाने तथा शान्ति भक्तिका स्थान वर्तमानमें बोले जानेवाले शान्ति पाठने ले लिया है, अत: पूजनके अन्तमें शान्ति पाठ तो अवश्य बोलना चाहिए। किन्तु विसर्जन-पाठ बोलना निरर्थक ही नहीं, प्रत्युत भ्रामक भी है, क्योंकि मुक्तात्माओंका न आगमन ही संभव है और न वापिस गमन ही।

हिन्दू-पूजा पद्धति या वैदिकी पूजा-पद्धतिमें यज्ञके समय आहूत देवोंके विसर्जनार्थ यही 'आहूता ये पुरा देवा' श्लोक बोला जाता है।

२४. वैदिकपूजा-पद्धति

वैदिकधर्ममें पूजाके सोलह उपचार बताये गये हैं—१. आवाहन, २. आसन, ३. पाद्य, ४. अर्घ्य, ५. आचमनीय, ६. स्नान, ७. वस्त्र, ८. यज्ञोपवीत, ९. अनुलेपन या गन्ध, १०. पुष्प, ११. धूप, १२. दीप, १३. नैवेद्य, १४. नमस्कार, १५. प्रदक्षिण और १६. विसर्जन और उद्वासन। विभिन्न ग्रन्थोंमें कुछ भेद भी पाया जाता है—किसीमें यज्ञोपवीतके पश्चात् भूषण और प्रदक्षिणा या नैवेद्यके बाद ताम्बूलका उल्लेख है, अतः कुछ ग्रन्थोंमें उपचारोंकी संख्या अठारह है, किसीमें आवाहन नहीं है, किन्तु आसनके बाद स्वागत और आचमनीयके बाद मधुपर्क है। किसीमें स्तोत्र और प्रणाम भी है। जो वस्त्र और आभूषण समर्पण करनेमें असमर्थ है, वह सोलहमेंसे केवल दश उपचारवाली पूजा करता है। जो इसे भी करनेमें असमर्थ है, वह केवल पुष्पोपचारी पूजा करता है[1]।

१. श्री पं० कैलाशचन्द्रजी लिखित उपासकाध्ययनकी प्रस्तावनासे।

प्रतिष्ठित प्रतिमामें आवाहन और विसर्जन नहीं होता, केवल चौदह ही उपचार होते हैं। अथवा आवाहन और विसर्जनके स्थानमें मन्त्रोच्चारण-पूर्वक पुष्पाञ्जलि दी जाती है। नवीन प्रतिमामें सोलह उपचारवाली ही पूजा होती है[1]।

जैन पूजापद्धति

उक्त पूजापद्धतिको जैन परम्परामें किस प्रकारसे परिवर्धित करके अपनाया गया है, यह उमास्वामि-श्रावकाचारके श्लोक १३६ और १३७ में देखिये। यहाँ इक्कीस प्रकारकी बतलायी गयी है। यथा—१. स्नानपूजा, २. विलेपनपूज, ३. आभूषणपूजा, ४. पुष्पपूजा, ५. सुगन्धपूजा, ६. धूपपूजा, ७. प्रदीपपूजा, ८. फलपूजा, ९. तन्दुलपूजा, १०. पत्रपूजा, ११. पुंगीफलपूजा, १२. नैवेद्यपूजा, १३. जलपूजा, १४. वसनपूजा, १५. चमरपूजा, १६. छत्रपूजा, १७. वादित्रपूजा, १८. गीतपूजा, १९. नृत्यपूजा, २० स्वस्तिकपूजा और २१. कोषवृद्धिपूजा अर्थात् भण्डारमें द्रव्य देना।

पाठक स्वयं ही अनुभव करेंगे कि जैन परम्परामें प्रचलित अष्ट द्रव्योंमेंसे जो द्रव्य वैदिक-परम्पराकी पूजामें नहीं थे, उनको निकाल करके किस विधिसे युक्तिके साथ इक्कीस प्रकारके पूजनका विधान उमास्वामीने अपने श्रावकाचारमें किया है। (देखो—भाग ३, पृ० १६४, श्लोक १३५-१३७

इससे आगे चलकर उमास्वामीने पंचोपचारवाली पूजाका भी विधान किया है। वे पाँच उपचार ये हैं—१. आवाहन, २. संस्थापन, ३. सन्निधीकरण, ४. पूजन और ५. विसर्जन[2]। इस पंचोपचारी पूजनका विधान धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें पं० मेधावीने[3] तथा लाटीसंहितामें पं० राजमल्लजीने भी किया है[4]।

शान्तिमंत्र, शान्तिधारा, पुण्याहवाचन और हवन

यद्यपि जैनधर्म निवृत्ति-प्रधान है और उसमें पापरूप अशुभ और पुण्यरूप शुभ क्रियाओंकी निवृत्ति होने तथा आत्मस्वरूपमें अवस्थिति होनेपर ही मुक्तिकी प्राप्ति बतलायी गयी है। पर यह अवस्था वीतरागी साधुओंके ही संभव है; सरागी श्रावक तो उक्त लक्ष्यको सामने रखकर यथासंभव अशुभ क्रियाओंकी निवृत्तिके साथ शुभक्रियाओंमें प्रवृत्ति करता है। इसी दृष्टिसे आचार्योंने देव-पूजा आदि कर्तव्योंका विधान किया है। वर्तमानमें निष्काम वीतरागदेवके पूजनका स्थान सकाम देवपूजन लेता जा रहा है और जिनपूजनके पूर्व अभिषेकके समय शान्तिधारा बोलते हुए तथा पूजनके पश्चात् शान्तिपाठके स्थानपर या उसके पश्चात् अनेक प्रकारके छोटे-बड़े शान्तिमंत्र बोलनेका प्रचार बढ़ता जा रहा है। इन शान्तिमंत्रोंमें बोले जानेवाले पदों एवं वाक्योंपर बोलने-वालोंका ध्यान जाना चाहिए कि क्या हमारे वीतरागी जिनदेव कोई अस्त्र-शस्त्र लेकर बैठे हुए हैं

---

१. 'प्रतिष्ठितप्रतिमायामावाहन-विसर्जनयोरभावेन चतुर्दशोपचारैव पूजा। अथवा आवाहन-विसर्जनयोः स्थाने मन्त्रपुष्पाञ्जलिदानम्। नूतनप्रतिमायां तु षोडशोपचारैव पूजा। (संस्काररत्नमाला पृष्ठ २७)।

२. श्रा० सं० भाग ३, पृष्ठ १६५, श्लोक १४७–१४८।

३. श्रा० सं० भाग ३, पृष्ठ १५६, श्लोक ५६।

४. श्रा० सं० भाग ३, पृष्ठ १३१–१३२, श्लोक १७३–१७४।

जो कि हमारे द्वारा 'सर्वशत्रुं छिन्द छिन्द, भिन्द भिन्द', बोलनेपर हमारे शत्रुओंका विनाश कर देंगे। फिर यह भी तो विचारणीय है कि हमारा शत्रु भी तो यही पद या वाक्य बोल सकता है! तब वैसी दशामें जिनदेव आपकी इष्ट प्रार्थनाको कार्यरूपसे परिणत करेंगे, या आपके शत्रुकी प्रार्थनापर ध्यान देंगे? वास्तविक बात यह है कि क्रियाकाण्डी भट्टारकोंने ब्राह्मणी शान्तिपाठ आदिकी नकल करके उक्त प्रकार पाठोंको जिनदेवोंके नामोंके साथ जैन रूप देनेका प्रयास किया है और सम्यक्त्वके स्थानपर मिथ्यात्वका प्रचार किया है। वास्तविक शान्तिपाठ तो 'क्षेमं सर्वप्रजानां' आदि श्लोकोंवाला ही है, जिसमें सर्व सौख्यप्रदायी जिनधर्मके प्रचारकी भावना की गई है और अन्तमें 'कुर्वन्तु जगतः शान्तिं' वृषभाद्या जिनेश्वराः की निःस्वार्थ निष्काम भावना भायी गयी है।

जैन पद्धतिसे की जानेवाली विवाह-विधिके अन्तमें तथा मूर्ति प्रतिष्ठाके अन्तमें किया जानेवाला पुण्याह वाचन भी वैदिक पद्धतिके अनुकरण हैं और नियत परिणाममें किये जानेवाले मंत्र-जापोंके दशमांश प्रमाण हवन आदिका किया-कराया जाना भी अन्य सम्प्रदायका अन्धानुसरण है, फिर भले ही उसे जैनाचारमें किसीने भी सम्मिलित क्यों न किया हो?

जैनधर्मकी सारी भित्ति सम्यक्त्वरूप मूल नींवपर आश्रित है। सम्यक्त्वके दूसरे निःकांक्षित अंगके स्वरूपमें बतलाया गया है कि धर्म धारण करके उसके फलस्वरूप किसी भी लौकिक लाभ की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि कोई जैनी इस निःकांक्षित अंगका पालन नहीं करता है, प्रत्युत धर्मसाधन या अमुक मंत्रजापसे किसी लौकिक लाभकी कामना करता है, तो उसे मिथ्यात्वी जानना चाहिए।

२६. स्नपन, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और लय

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत देवपूजनका विधान किया है और देवपूजाके समय छह क्रियाओंके करनेका उल्लेखकर उनका विस्तृत वर्णन किया है। वे छह क्रियाएँ इस प्रकार हैं—

> स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः।
> षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम्॥
>
> (भाग १, पृष्ठ २२९, श्लोक ८८०)

अर्थात्—सन्त पुरुषोंने गृहस्थोंके लिए देवोपासनाके समय स्नपन, पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और श्रुतस्तव (शास्त्रभक्ति और स्वाध्याय) इन छह क्रियाओंका विधान किया है।

स्नपन नाम अभिषेकका है। इसका विचार 'जलाभिषेक या पञ्चामृताभिषेक' शीर्षकमें पहिले किया जा चुका है। स्नपन यतः पूजनका ही अंग है, अतः उसका फल भी पूजनके ही अन्तर्गत जानना चाहिए। हालांकि आचार्योंने एक-एक द्रव्यसे पूजन करनेका और जल-दुग्ध आदिके अभिषेक करनेका फल पृथक्-पृथक् कहा है। पर उन सबका अर्थ स्वर्ग-प्राप्तिरूप एक ही है।

श्रुतस्तव नाम सबहुमान जिनागमकी भक्ति करना और उसका स्वाध्याय करना श्रुतस्तव कहलाता है। स्नपन पूजन और श्रुतस्तवके सिवाय शेष जो तीन कर्तव्य और कहे हैं—जप, ध्यान और लय। इनका स्वरूप आगे कहा जा रहा है।

सर्व साधारण लोग पूजा, जप आदिको ईश्वर-आराधनाके समान प्रकार समझकर उनके फलको भी एक-सा ही समझते हैं। कोई विचारक पूजाको श्रेष्ठ समझता है, तो कोई जप, ध्यान आदिको। पर शास्त्रीय दृष्टिसे जब हम इन पाँचोंके स्वरूपका विचार करते हैं तो हमें उनके स्वरूपमें ही नहीं, फलमें भी महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। आचार्योंने इनके फलको उत्तरोत्तर कोटि-गुणित बतलाया है। जैसा कि इस अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोकसे सिद्ध है—

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्र-कोटिसमो जपः।
जप-कोटिसमं ध्यानं ध्यान-कोटिसमो लयः॥

अर्थात्—एक कोटिवार पूजा करनेका जो फल है, उतना फल एकबार स्तोत्र-पाठ करनेमें है। कोटि वार स्तोत्र पढ़नेसे जो फल होता है, उतना फल एक वार जप करनेमें होता है। इसी प्रकार कोटि जपके समान एक वारके ध्यानका फल और कोटि ध्यानके समान एक वारके लयका फल जानना चाहिए।

पाठकगण शायद उक्त फलको बांचकर चौंकेंगे और कहेंगे कि ध्यान और लयका फल तो उत्तरोत्तर कोटिगुणित हो सकता है, पर पूजा, स्तोत्र और जपका उत्तरोत्तर कोटि-गुणित फल कैसे सम्भव है? उनके समाधानार्थ यहाँ उनके स्वरूपपर कुछ प्रकाश डाला जाता है:

१. **पूजा**—पूज्य पुरुषोंके सम्मुख जानेपर अथवा उनके अभावमें उनकी प्रतिकृतियोंके सम्मुख जानेपर सेवा-भक्ति करना, सत्कार करना, उनकी प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना, उनके गुण-गान करना और घरसे लाई हुई भेंटको उन्हें समर्पण करना पूजा कहलाती है। वर्तमानमें विभिन्न सम्प्रदायोंके भीतर जो हम पूज्य पुरुषोंकी उपासना-आराधनाके विभिन्न प्रकारके रूप देखते हैं, वे सब पूजाके ही अन्तर्गत जानना चाहिए। जैनाचार्योंने पूजाके भेद-प्रभेदोंका बहुत ही उत्तम रीतिसे सांगोपांग वर्णन किया है। प्रकृतमें हमें स्थापना-पूजा और द्रव्य-पूजासे प्रयोजन है। क्योंकि भाव-पूजामें तो स्तोत्र, जप आदि सभीका समावेश हो जाता है। हमें यहाँ वर्तमानमें प्रचलित पद्धति-वाली पूजा ही विवक्षित है और जन-साधारण भी पूजा-अर्चासे स्थापना पूजा या द्रव्यपूजाका ही अर्थ ग्रहण करते हैं।

२. **स्तोत्र**—वचनोंके द्वारा गुणोंकी प्रशंसा करनेको स्तवन या स्तुति कहते हैं। जैसा अरहंत-देवके लिए कहना—तुम वीतराग विज्ञानसे भरपूर हो, मोहरूप अन्धकारके नाश करनेके लिए सूर्यके समान हो, आदि। इसी प्रकारकी अनेक स्तुतियोंके समुदायको स्तोत्र कहते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला, कनड़ो, तमिल आदि भाषाओंमें स्व या पर-निर्मित गद्य या पद्य रचनाके द्वारा पूज्य पुरुषोंकी प्रशंसामें जो वचन प्रकट किये जाते हैं, उन्हें स्तोत्र कहते हैं।

३. **जप**—देवता-वाचक या बीजाक्षररूप मंत्र आदिके अन्तर्जल्परूपसे वार-वार उच्चारण करनेको जप कहते हैं। परमेष्ठी-वाचक विभिन्न मंत्रोंका किसी नियत परिमाणमें स्मरण करना जप कहलाता है।

४. **ध्यान**—किसी ध्येय वस्तुका मन ही मन चिन्तन करना ध्यान कहलाता है। ध्यान शब्दका यह यौगिक अर्थ है। सर्व प्रकारके संकल्प-विकल्पोंका अभाव होना; चिन्ताका निरोध होना यह ध्यान शब्दका रूढ अर्थ है, जो वस्तुतः लय या समाधिके अर्थको प्रकट करता है।

५. लय—एकरूपता, तल्लीनता या साम्य अवस्थाका नाम लय है। साधक किसी ध्येय विशेषका चिन्तवन करता हुआ जब उसमें तन्मय हो जाता है, उसके भीतर सर्व प्रकारके संकल्प-विकल्पों और चिन्ताओंका अभाव हो जाता है और जब परम समाधिरूप निर्विकल्प दशा प्रकट होती है, तब उसे लय कहते हैं।

पूजा, स्तोत्र आदिके उक्त स्वरूपका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करने और गम्भीरतासे विचारनेपर यह अनुभव हुए विना न रहेगा कि ऊपर जो इनका उत्तरोत्तर कोटि-गुणित फल बतलाया गया है, वह वस्तुतः ठीक ही है। इसका कारण यह है कि पूजामें बाह्य वस्तुओंका आलम्बन और पूजा करनेवाले व्यक्तिके हस्तादि अंगोंका संचालन प्रधान रहता है। और यह प्रत्येक शास्त्राभ्यासी जानता है कि बाहरी द्रव्य क्रियाओंसे भीतरी भावरूप क्रियाओंका महत्त्व बहुत अधिक होता है। असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंच यदि अत्यधिक संक्लेश-युक्त होकर भी मोह कर्मका बन्ध करे, तो एक हजार सागरसे अधिकका नहीं कर सकेगा, जब कि संज्ञी पंचेन्द्रिय साधारण मनुष्यकी तो बात रहने दें, अत्यन्त मन्दकषायी और विशुद्ध परिणामवाला अप्रमत्तसंयत साधु भी अन्तःकोटाकोटी सागरोपमकी स्थितिवाले कर्मोंका बन्ध करेगा, जो कई करोड़ सागर-प्रमाण होता है। इन दोनोंके बन्धनेवाले कर्मोंकी स्थितिमें इतना महान् अन्तर केवल मनके सद्भाव और अभावके कारण ही होता है। प्रकृतमें इसके कहनेका अभिप्राय यह है कि किसी भी व्यक्ति-विशेषका भले ही वह देव जैसा प्रतिष्ठित और महान् क्यों न हो—स्वागत और सत्कारादि तो अन्यमनस्क होकर भी सम्भव है, पर उसके गुणोंका सुन्दर, सरल और मधुर शब्दोंमें वर्णन अनन्य-मनस्क या भक्ति-भरित हुए बिना सम्भव नहीं है।

यहाँ यह एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है कि दूसरेके द्वारा निर्मित पूजा-पाठ या स्तोत्र-उच्चारणका उक्त फल नहीं बतलाया गया है। किन्तु भक्त द्वारा स्वयं निर्मित पूजा, स्तोत्र पाठ आदिका यह फल बतलाया गया है। पुराणोंके कथानकोंसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। दो एक अपवादोंको छोड़कर किसी भी कथानकमें एकवार पूजा करनेका वैसा चमत्कारी फल दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा कि भक्तामर, कल्याण-मन्दिर, एकीभाव, विषापहार, स्वयम्भू स्तोत्र आदिके रचयिताओंको प्राप्त हुआ है। स्तोत्र-काव्योंकी रचना करते हुए भक्त-स्तोताके हृदयरूप मानसरोवरसे जो भक्ति-सरिता प्रवाहित होती है, वह अक्षत-पुष्पादिके गुण बखानकर उन्हें चढ़ानेवाले पूजकके सम्भव नहीं है। पूजनका ध्यान पूजनकी बाह्य सामग्रीकी स्वच्छता आदिपर ही रहता है, जबकि स्तुति करनेवाले भक्तका ध्यान एकमात्र स्तुत्य व्यक्तिके विशिष्ट गुणोंकी ओर ही रहता है। वह एकाग्रचित्त होकर अपने स्तुत्यके एक-एक गुणका वर्णन मनोहर शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेमें निमग्न रहता है। इस प्रकार पूजा और स्तोत्रका अन्तर स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि पूजा-पाठोंमें अष्टकके अनन्तर जो जयमाल पढ़ी जाती है, वह स्तोत्रका ही कुछ अंशोंमें रूपान्तर है।

स्तोत्र-पाठसे भी जपका माहात्म्य कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि स्तोत्र पाठमें तो बाहिरी इन्द्रियों और वचनोंका व्यापार बना रहता है, परन्तु जपमें उस सबको रोककर और परिमित क्षेत्रमें एक आसनसे अवस्थित होकर मौन-पूर्वक अन्तर्जल्पके साथ आराध्यके नामका उसके गुण-वाचक मन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है। अपने द्वारा उच्चारण किया हुआ शब्द स्वयं ही सुन सके और समीपस्थ व्यक्ति भी न सुन सके, जिसके उच्चारण करते हुए

ओंठ कुछ फड़कतेसे रहें, पर अक्षर बाहिर न निकलें, ऐसे भीतरी मन्द एवं अव्यक्त या अस्फुट उच्चारणको अन्तर्जल्प कहते हैं। व्यवहारमें देखा जाता है कि जो व्यक्ति सिद्धचक्रादिकी पूजा-पाठमें ६-६ घंटे लगातार खड़े रहते हैं, वे ही उसी सिद्धचक्र मन्त्रका जप करते हुए आध घंटेमें ही घबड़ा जाते हैं, आसन डांवाडोल हो जाता है, और शरीरसे पसीना झरने लगता है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा-पाठ और स्तोत्रादिके उच्चारणसे भी अधिक इन्द्रिय-निग्रह जप करते समय करना पड़ता है और इसी इन्द्रिय-निग्रहके कारण जपका फल स्तोत्रसे कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है।

जपसे ध्यानका माहात्म्य कोटि-गुणित बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि जपमें कमसे कम अन्तर्जल्परूप वचन-व्यापार तो रहता है, परन्तु ध्यानमें तो वचन-व्यापारको भी सर्वथा रोक देना पड़ता है और ध्येय वस्तुके स्वरूप-चिन्तनके प्रति ध्याताको एकाग्र चित्त हो जाना पड़ता है। मनमें उठनेवाले संकल्प-विकल्पोंको रोककर चित्तका एकाग्र करना कितना कठिन है, यह ध्यानके विशिष्ट अभ्यासी जन ही जानते हैं। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः'** की उक्तिके अनुसार मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका प्रधान कारण माना गया है। मनपर काबू पाना अति कठिन कार्य है। यही कारण है कि जपसे ध्यानका माहात्म्य कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है।

ध्यानसे भी लयका माहात्म्य कोटि-गुणित अधिक बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि ध्यानमें किसी एक ध्येयका चिन्तन तो चालू रहता है, और उसके कारण आत्म-परिस्पन्द होनेसे कर्मास्रव होता रहता है, पर लयमें तो सर्व-विकल्पातीत निर्विकल्प दशा प्रकट होती हैं, समताभाव जागृत होता है और आत्माके भीतर परम आह्लादजनित एक अनिर्वचनीय अनुभूति होती है। इस अवस्थामें कर्मोंका आस्रव रुककर संवर होता है, इस कारण ध्यानसे लयका माहात्म्य कोटि-गुणित अल्प प्रतीत होता है। मैं तो कहूँगा संवर और निर्जराका प्रधान कारण होनेसे लयका माहात्म्य ध्यानकी अपेक्षा असंख्यात-गुणित है और यही कारण है कि परम समाधिरूप इस चिल्लय (चेतनमें लय) की दशामें प्रतिक्षण कर्मोंकी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

यहाँ पाठक यह बात पूछ सकते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र आदिमें तो संवरका परम कारण ध्यान ही माना है, यह जप और लयकी बला कहाँसे आई? उन पाठकोंको यह जान लेना चाहिए कि शुभ ध्यानके जो धर्म और शुक्लरूप दो भेद किये गये हैं, उनमेंसे धर्मध्यानके भी अध्यात्म दृष्टिसे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ये चार भेद किये गये हैं। इसमेंसे आदिके दो भेदोंकी जप संज्ञा और अन्तिम दो भेदोंकी ध्यान संज्ञा महर्षियोंने दी है। तथा शुक्ल ध्यानको परम समाधिरूप 'लय' नामसे व्यवहृत किया गया है। ज्ञानार्णव आदि योग-विषयक शास्त्रोंमें पर-समय-वर्णित योगके अष्टाङ्गोंका वर्णन स्याद्वादके सुमधुर समन्वयके द्वारा इसी रूपमें किया गया है।

उपर्युक्त पूजा स्तोत्रादिका जहाँ फल उत्तरोत्तर अधिकाधिक है, वहाँ उनका समय उत्तरोत्तर हीन-हीन है। उनके उत्तरोत्तर समयकी अल्पता होनेपर भी फलकी महत्ताका कारण उन पाँचोंकी उत्तरोत्तर हृदय-तल-स्पर्शिता है। पूजा करनेवाले व्यक्तिके मन, वचन, कायकी क्रिया अधिक बहिर्मुखी एवं चंचल होती है। पूजा करनेवालेसे स्तुति करनेवालेके मन, वचन, कायकी क्रिया स्थिर और अन्तर्मुखी होती है। आगे जप, ध्यान और लयमें यह स्थिरता और अन्तर्मुखता

उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि लयमें वे दोनों उस चरम सीमाको पहुँच जाती हैं, जो कि छद्मस्थ वीतरागके अधिकसे अधिक संभव है।

उपर्युक्त विवेचनसे यद्यपि पूजा, स्तोत्रादिकी उत्तरोत्तर महत्ताका स्पष्टीकरण भली भाँति हो जाता है, पर उसे और भी सरल रूपमें सर्वसाधारण लोगोंको समझानेके लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार शारीरिक सन्तापकी शांति और स्वच्छताकी प्राप्तिके लिए प्रतिदिन स्नान आवश्यक है, उसी प्रकार मानसिक सन्तापकी शांति और हृदयकी स्वच्छता या निर्मलताकी प्राप्तिके लिए प्रतिदिन पूजा-पाठ आदि भी आवश्यक जानना चाहिए। स्नान यद्यपि जलसे ही किया जाता है, तथापि उसके पाँच प्रकार हैं—१ कुएँसे किसी पात्र-द्वारा पानी निकाल कर, २ बालटी आदिमें भरे हुए पानीको लोटे आदिके द्वारा शरीर पर छोड़ कर, ३ नलके नीचे बैठ कर, ४ नदी, तालाब आदिमें तैरकर और ५ कुआँ, बावड़ी आदिके गहरे पानीमें डुबकी लगाकर। पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि कुएँसे पानी निकाल कर स्नान करनेमें श्रम अधिक है और शान्ति कम। पर इसकी अपेक्षा किसी बर्तनमें भरे हुए पानीसे लोटे द्वारा स्नान करनेमें शान्ति अधिक प्राप्त होगी और श्रम कम होगा। इस दूसरे प्रकारके स्नानसे भी तीसरे प्रकारके स्नानमें श्रम और भी कम है और शांति और भी अधिक। इसका कारण यह है कि लोटेसे पानी भरने और शरीर पर डालनेके मध्यमें अन्तर आ जानेसे शान्तिका बीच-बीचमें अभाव भी अनुभव होता था, पर नलसे अजस्र जलधारा शरीर पर पड़नेके कारण स्नान-जनित शान्तिका लगातार अनुभव होता है। इस तीसरे प्रकारके स्नानसे भी अधिक शान्तिका अनुभव चौथे प्रकारके स्नानसे प्राप्त होता है, इसका तैरकर स्नान करनेवाले सभी अनुभवियोंको पता है। पर तैरकर स्नान करनेमें भी शरीरका कुछ न कुछ भाग जलसे बाहिर रहनेके कारण स्नान-जनित शांतिका पूरा-पूरा अनुभव नहीं हो पाता। इस चतुर्थ प्रकारके स्नानसे भी अधिक आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति किसी गहरे जलके भीतर डुबकी लगानेमें मिलती है। गहरे पानीमें लगाई गई थोड़ी सी देरकी डुबकीसे मानों शरीरका सारा सन्ताप एकदम निकल जाता है, और डुबकी लगाने वालेका दिल आनन्दसे भर जाता है।

उक्त पाँचों प्रकारके स्नानोंमें जैसे शरीरका सन्ताप उत्तरोत्तर कम और शान्तिका लाभ उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है, ठीक इसी प्रकारसे पूजा, स्तोत्र आदिके द्वारा भक्त या आराधकके मानसिक सन्ताप उत्तरोत्तर कम और आत्मिक शान्तिका लाभ उत्तरोत्तर अधिक होता है। स्नानके पाँचों प्रकारोंको पूजा-स्तोत्र आदि पाँचों प्रकारके क्रमशः दृष्टान्त समझना चाहिए।

जप, ध्यान और समाधि (लय) का इतना अधिक महत्त्व होते हुए भी ध्यानका और उसके भेदोंका वर्णन सर्वप्रथम किस श्रावकाचारमें पाया जाता है यह अन्वेषणीय है।

१. रत्नकरण्डकमें सामायिक शिक्षाव्रतके भीतर सामायिकके समय-पर्यन्त समस्त पापोंका त्याग कर संसारके अशरण, अशुभ, अनित्य और दुःखरूप चिन्तनका तथा मोक्षका इससे विपरीत स्वरूप चिन्तन करनेका निर्देश मात्र है। परन्तु ध्यान आदिका कोई वर्णन नहीं है।

२. स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षामें भी सामायिकके समय एकाग्रमन होकर कायको संकोचकर स्व-स्वरूपमें लीन होनेका और वन्दनाके अर्थको चिन्तन करनेका विधान है। पर ध्यानके भेदादि-का कोई उल्लेख नहीं है।

३. महापुराणके अन्य पर्वोंमें ध्यानके भेद-प्रभेदोंका विस्तृत वर्णन होते हुए भी ३८, ३९ ४० वें पर्वमें जहाँपर कि श्रावकधर्मके अन्य कर्त्तव्योंका विस्तृत विवेचन किया गया है—ध्यान करनेका कोई विधान नहीं है।

४. पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्रावकधर्मका वर्णन करनेके बाद लिखा है कि यतः चरित्रके अन्तर्गत तप भी मोक्षका अंग है अतः अपने बल वीर्यको न छिपाकर तपका भी आचरण करना चाहिए तत्पश्चात् बारह तपोंका, 'छह आवश्यकोंका और गुप्ति-समिति आदिका उल्लेख होते हुए भी ध्यानके भेदोंका कोई वर्णन नहीं है और जो तपादिका वर्णन किया गया है, वह मुनियोंको लक्ष्य करके ही किया गया है, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय बताना ही इस ग्रन्थका मुख्य उद्देश्य है।

५. सोमदेवने सर्वप्रथम अपने उपासकाध्ययन पूजन और स्तोत्र-पाठ करनेके पश्चात् णमोकार मंत्र आदिके जप करनेका विधान किया है। जाप करते समय पर्यङ्कासनसे बैठकर, इन्द्रियोंको निश्चल कर अंगुलीके पर्वो या मणि-मुक्तादिके दानोंसे जाप करनेका उल्लेख कर बताया है कि वचन बोलकर जप करनेकी अपेक्षा एकाग्र मनसे जप करनेपर सहस्रों गुणा फल प्राप्त होता है। (देखो—भा० १ पृ० १९१ श्लोक ५६६-५७०)

जपको करते हुए जब इन्द्रिय और शान्त हो जावे तथा ध्याता पुरुष वायुके प्रचारका ज्ञाता अर्थात् पूरक, रेचक और कुम्भक विधिसे प्राणायाममें निपुण हो जावे तब उसे ध्यान करनेका अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् उन्होंने ध्यान, ध्याता, ध्येयादिका विस्तृत एवं अनुपम वर्णन किया है। (देखो—भाग १ पृ० १९३-२१०) इस प्रकरणमें धर्म ध्यानके आज्ञाविचय आदि भेदोंका वर्णन करते हुए भी पिण्डस्थ, पदस्थ आदि भेदोंका कोई वर्णन नहीं किया गया है।

६. चारित्रसारगत-श्रावकधर्मके वर्णनमें ध्यानका कोई उल्लेख नहीं है।

७. अमितगति-श्रावकाचारमें धर्म भावनाके वर्णनके पश्चात् पन्द्रहवें परिच्छेदमें ध्यानके आर्त-रौद्रादिक भेदोंका स्वरूप और उनके स्वामियोंको बताकर आदिके दो ध्यानोंको हेय और अन्तिम दो ध्यानोंको उपादेय कहकर धर्मध्यानका विस्तारसे वर्णन किया है। पुनः ध्येयका स्वरूप बता करके उससे पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारों भेदोंका निरूपण किया है। पदस्थ ध्यानका वर्णन करते हुए "अर्हं" 'अ सि आ उ सा' आदि विभिन्न पदोंके आश्रयसे ध्यान करनेका विधान किया है। इस प्रकरणमें पंच दल और अष्ट दल कमलपर विभिन्न अक्षरों और मंत्रोंको स्थापित कर उनका ध्यान करने तथा गणधरवलय यंत्रके आश्रयसे ध्यान करनेका वर्णन किया है। तदनन्तर पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका निरूपण किया है।

८. वसुनन्दि श्रावकाचारमें भावपूजनके अन्तर्गत णमोकार मंत्रादिके जाप करनेका और पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका विस्तृत वर्णन किया गया है। (देखो—भाग १ पृ० ४७२-४७४)

९ सावयवधम्मदोहामें 'अ सि आ उ सा' आदि मंत्राक्षरोंके जपका विधान तो है परन्तु पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका कोई उल्लेख नहीं है। (देखो—भाग १ पृ० ५०२ दोहा २१२-२१७)

१०. सागारधर्मामृतमें सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत मंत्र जापका विधान है, परन्तु ध्यान आदिका कोई वर्णन नहीं है। (देखो—भाग २ पृ० ५४ श्लोक ३१)

११. धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें मंत्र जापका और सालम्ब और निरालम्ब ध्यानोंका वर्णन

है। अरहन्त आदि पाँच परमेष्ठीके गुण आदिके आश्रयसे जो ध्यान किया जाता है वह सालम्ब ध्यान है और जो बिना किसी आश्रयके अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तन किया जाता है वह निरालम्ब ध्यान है। (भाग २ पृ० १९० श्लोक १२८-१३६)

१२. प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें सामायिकके समय आज्ञा-विचय आदि धर्म ध्यानोंके करनेका निर्देश मात्र है। (देखो—भाग २ पृ० ३४५ श्लोक ५२)

१३. गुणभूषण श्रावकाचारमें भाव पूजनके अन्तर्गत पंचपरमेष्ठीके मंत्र पदोंके जापका और पिण्डस्थ आदि चारों ध्यानोंका विस्तृत वर्णन है। (देखो—भाग २ पृ० ४५०-४५९ गतश्लोक)

१४. धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचारमें जिन-पूजनके पश्चात् पंचपरमेष्ठी-वाचक मंत्रोंके जापका तो विधान है, पर ध्यानोंका कोई वर्णन नहीं है। (देखो—भाग २ पृ० ४९३ श्लोक २१३-२१६)

१५. लाटी संहितामें सामायिकके समय आत्माके शुद्ध-चिद्रूपके चिन्तनका तो उल्लेख है, किन्तु पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका कोई वर्णन नहीं है। (देखो—भाग ३ पृ० १२९ श्लोक १५३)

१६. उमास्वामि श्रावकाचारमें सामायिकके समय या अन्य कालमें ध्यान करनेका कोई वर्णन नहीं है।

१७. पूज्यपाद श्रावकाचार और व्रतसार-श्रावकाचारमें व्रतोद्योतन श्रावकाचार और श्रावकाचार सारोद्धारमें ध्यानका कोई वर्णन नहीं है।

१८. भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययनमें पदस्थ आदि चारों प्रकारोंके ध्यानोंका, तथा पिण्डस्थ ध्यानकी पार्थिवी आदि धारणाओंका विशद निरूपण है। (देखो—भाग ३ पृ० ३९२-३९४)

१९. परिशिष्टगत श्रावकाचारोंमेंसे ध्यानके भेदोंका वर्णन प्राकृतभावसंग्रह, संस्कृतभाव-संग्रह और पुरुषार्थानुशासनमें विस्तारसे किया गया है।

२०. कुन्दकुन्द श्रावकाचारके ग्यारहवें उल्लासमें पिण्डस्थ आदि ध्यानोंका सुन्दर वर्णन किया गया है।

निष्कर्ष और समीक्षा

सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दि, मेधावी, गुणभूषण, जिनदेव, देवसेन, वामदेवके और कुन्दकुन्द श्रावकाचारमें तथा पं० गोविन्द-रचित श्रावकाचारोंमें ध्यानका वर्णन है। इनमें सोमदेवके ध्यानका वर्णन सबसे भिन्न एक नवीन रूपसे किया है, जो प्रथम भाग-गत उनके उपासकाध्ययनसे ज्ञातव्य है। शेष श्रावकाचार-रचयिताओंमेंसे आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय इन चारों धर्म ध्यानोंका वर्णन तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओंके अनुसार तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोंका तथा पार्थिवी आदि धारणाओंका वर्णन ज्ञानार्णवमें वर्णित पद्धतिके अनुसार किया है। आचार्य देवसेन और वामदेवने अपने भाव-संग्रहमें धर्म ध्यानका सालम्ब और निरालम्ब भेद करके बताया है कि पंचपरमेष्ठीके गुणोंका आलम्बन लेकर उनके स्वरूपका जो चिन्तन किया जाता है वह सालम्ब ध्यान है। बाह्य आलम्बन-के बिना अपने निर्विकल्प शुद्ध चिदानन्द निजात्म-स्वरूपके चिन्तन करनेको निरालम्ब ध्यान कहते हैं। आचार्य देवसेन और उनका अनुसरण करनेवाले वामदेवका कहना है कि यह मुख्यरूपसे निरालम्ब धर्म ध्यान सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही संभव है छठे प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनियोंके और गृहस्थारम्भ वाले पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकोंके संभव नहीं है,

उनके उपचारसे धर्म ध्यान कहा है। इसका कारण यह है कि गृहस्थोंके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह कुछ न कुछ रहते ही हैं, और वह अनेक प्रकारके आरम्भोंमें प्रवृत्त रहता है। जब वह बिना किसी बाह्य आलम्बनके ध्यान करनेको आँख बन्द करके बैठता है, तभी वे सभी करणीय गृह व्यापार उसके सामने आकरके उपस्थित हो जाते हैं ऐसी दशामें शुद्ध चिद्रूप आत्माका ध्यान कहाँ संभव है ? यथा—

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे ।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमी लियच्छिस्स ॥
(भाग ३ पृष्ठ ४४३ गाथा ३६)

गृहव्यापार युक्तेन शुद्धात्मा चिन्त्यते यदा ।
प्रस्फुरन्ति तदा सर्वे व्यापारा नित्यभाविताः ॥
(भाग ३ पृष्ठ ४७७ श्लोक १६८)

आचार्य देवसेनका उक्त कथन कितना अनुभव-गम्य है, इसे वे ही ध्याता गृहस्थ जानते हैं, जिन्होंने कभी निरालम्ब रूपातीत ध्यानका अभ्यास करनेका प्रयत्न किया है। सालम्ब ध्यानमें पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान आते हैं। इनमेंसे पदस्थ ध्यान पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रोंका जाप प्रधान है जब कोई माला लेकर या अंगुलीके पर्वों परसे जाप करनेको आँख बन्द करके बैठता है, तब भी जाप करनेवालेके सामने बार-बार गृह-व्यापार आकरके उपस्थित होते हैं ऐसा प्रायः सभी जाप करनेवालोंका अनुभव है। ऐसी दशामें पूछा जा सकता है कि उस समय क्या किया जावे। इसका उत्तर यही है कि जप-प्रारम्भ करते हुए आँख बन्द करके न बैठे, किन्तु नासा-दृष्टि रखकर और सामनेकी ओर किसी वस्तुको केन्द्र बनाकर उसपर ध्यान केन्द्रित करे। ऐसा करनेपर भी जब मन घरके किसी कार्यकी ओर जावे, तब उसे सम्बोधित करते हुए विचार करे—हे आत्मन्, तुम क्या करनेको बैठे थे और क्या सोचने लगे ? कहाँ जा पहुँचे। अरे, तुम अपने आरम्भ किये हुए भगवान्‌के नाम स्मरणको छोड़कर बाहिरी बातोंमें उलझ गये हो, यह बड़े दुःखकी बात है।[1] इस प्रकार विचार करनेमें लगेगा। किन्तु फिर भी कुछ देरके बाद पुनः घर-व्यापार सामने आकर खड़े होंगे। तब भी उक्त प्रकारसे अपने आपको सम्बोधित करना चाहिए। इस प्रकार पुनः पुनः अपनेको सम्बोधित करते हुए मनकी चंचलता रुकेगी, वह इधर-उधर कम भागेगा और धीरे-धीरे कुछ दिनोंमें स्थिरता आ जावेगी।

इस सम्बन्धमें एक बातकी ओर पाठकों या अभ्यासियोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि यह मंत्र-जाप या ध्यानादि सामायिकके समय ही करनेका विधान है। और सामायिक करनेकी विधि यह है कि एकान्त शान्त और निरुपद्रव स्थानमें २-४ मिनटसे लेकर उत्तरोत्तर दो घड़ी (४८ मिनिट) तक स्थिर पद्मासनसे बैठनेका अभ्यास करे। बैठते समयमें इतने समयके लिए सर्व पापोंका और गृहारम्भ करने तथा दूसरोंसे वचन बोलनेका त्याग करता हूँ ऐसा संकल्प करके बैठें। उस समय ३५ या १६ अक्षरादि वाले बड़े मंत्रोंका जाप प्रारम्भ न करे। किन्तु सर्व प्रथम 'ओं' इस एकाक्षरी मंत्रका पूर्वोक्त विधिसे १०८ बार जाप करनेका अभ्यास करे। जब एकाक्षरी

---

१. किन्तु कर्तुं त्वयाऽऽरब्धं किन्तु वा क्रियतेऽधुना ।
आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥ (क्षत्रचूडामणि लम्ब २ श्लोक ८०)

मंत्रको जपते हुए मन स्थिर हो जावे, तब 'अर्हं' या 'सिद्ध' इस दो अक्षरी मंत्रका जाप प्रारम्भ करे। जब उसको जपते हुए मन स्थिर रहने लगे तब चार अक्षरी 'अरहंत' और पाँच अक्षरी ,अ सि आ उ सा' आदि अधिक अक्षरों वाले मंत्रोंका जाप करे। इस प्रकार ज्यों-ज्यों स्थिरता आती जावे त्यों-त्यों अधिक अक्षर वाले मंत्रोंको जाप करनेका अभ्यास बढ़ाते जाना चाहिए।

उक्त मंत्रोंके पदरूप पदस्थ ध्यानके अभ्यास हो जानेपर पिण्डस्थ ध्यानके अन्तर्गत पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और रूपवती धारणाओंका अभ्यास प्रारम्भ करे। (इन धारणाओंका वर्णन श्रावकाचार सं० के भाग ३ में पृष्ठ ५१९ पर संक्षेपसे और ज्ञानार्णवमें विस्तारसे किया गया है। जिज्ञासुओंको वहाँसे जानना चाहिए।)

पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यास हो जानेपर रूपस्थ ध्यानका प्रारम्भ करे। इसका विशद वर्णन अमितगति, वसुनन्दि आदि श्रावकाचारोंमें विस्तारसे किया गया है, (विशेष जाननेके लिए इच्छुक वहाँसे जानें)।

जिन्होंने विधिवत् इस विषयके ग्रन्थोंका स्वाध्याय किया है वे जानते हैं कि आ० नेमिचन्द्रने द्रव्य संग्रहमें सर्वप्रथम ध्यान करनेके अभ्यासीके लिए कहा है—

मा चिट्ठह मा जपह मा चिंतह किं वे जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं॥

अर्थात्—सर्वप्रथम कायको वशमें करनेके लिए हस्त पाद आदिके संचालन रूप कुछ भी मत बोलो अर्थात् वचन योग पर नियंत्रण स्थापित करो। तदनन्तर मनसे कुछ भी चिन्तन मत करो, जिससे कि मनोयोग पर भी नियंत्रण हो जावे इस क्रमसे तीनों योगोंके ऊपर नियंत्रण हो जानेपर आत्माका अपने आपमें निरत होना ही परम ध्यान है।

यदि वास्तवमें देखा जाय तो ध्यानका विधान मुनियोंके लिए है यही कारण है कि समन्तभद्रके रत्नकरण्डकमें उसका कोई उल्लेख नहीं है। परवर्ती श्रावकाचार कर्त्ताओंमेंसे अनेकने सामायिकके अन्तर्गत श्रावकको ध्यान करनेका विधान किया है और अनेकने ध्यानका कोई विधान नहीं किया है।

सामायिक शिक्षाव्रत वालेको सर्वपापोंका नियत समयके लिए त्यागकर अपने दोषोंकी आलोचना करना, पंच परमेष्ठीकी स्तुति और वन्दना करना, प्रतिक्रमण करना, कायोत्सर्ग करना और सर्व प्राणियों पर समताभाव रखना चाहिए। अभ्यासी श्रावकको इतना करना ही पर्याप्त है किन्तु जो इससे आगे बढ़ना चाहते हैं उन्हें आत्म विशुद्धिकी वृद्धि और चंचल मनोवृत्तिकी निवृत्तिके लिए ध्यानका अभ्यास करना आवश्यक है।

ध्यानका वर्णन करते हुए आचार्य अमितगतिने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि "आदिके तीन संहननोंमेंसे किसी एक संहननके धारक साधुके अन्तर्मुहूर्त तक ही एक वस्तुएँ चिन्तवन करने रूप ध्यान सम्भव है। उक्त तीन संहननोंके सिवाय अन्य संहनन वाले पुरुषके तो मनका निरोध रूप ध्यान एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि क्षण (समय) तक ही संभव है। (देखो भाग १ पृष्ठ ४०५ श्लोक ५-६)

मनकी चंचलता रोकनेके लिए अमितगतिने चार, आठ आदि पत्र वाले कमलकी नाभिमें, हृदयमें, मुखमें, ललाटपर या मस्तक पर स्थापना करके उन पत्रों पर 'अ सि आ उ सा' आदि

बीजाक्षरोंको स्थापित करके चिन्तन या जाप करनेका विधान किया है। उक्त कमल-रत्नोंपर निहित बीजाक्षरों पर प्रदक्षिणा क्रमसे जाप करते हुए मन इधर-उधर नहीं भागता है। मनकी इसी चंचलताके रोकनेके लिए उन्होंने अन्य भी अनेक यंत्र बताये और उनपर विभिन्न बीजाक्षरोंका जाप करनेका विधान किया है इससे उत्तरोत्तर स्थिरता आती जाती है। इसी अनुक्रममें उन्होंने गणधरवलय जैसे बृहद् यंत्रका भी वर्णन किया है। (भाग १ पृष्ठ ४१२ पर दिया चित्र)

मनकी स्थिरताके लिए देवसेनने लघु और बृहत् सिद्धचक्र यंत्रका भी वर्णन किया है। (देखो भाग ३ पृष्ठ ४४९ गत गाथाएँ तथा यंत्रोंके चित्र तीसरे भागके सबसे अन्तमें देखें)।

वस्तुतः इन यंत्रोंको अपने सम्मुख रखकर उनमें लिखे मंत्रोंको प्रदक्षिणा क्रमसे जपनेका उद्देश्य मनकी चंचलताको रोकना था। परन्तु भट्टारकीय युगमें उनकी पूजा बनाकर यंत्रों पर द्रव्य चढ़ाया जाने लगा जिससे उनका यथार्थ उद्देश्य ही दब गया।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अमितगतिको छोड़कर अन्य किसी भी श्रावकाचार-कर्ताने अमुक प्रमाणमें अमुक मंत्रका जाप करके उसे दशमांश आहुति देनेका विधान नहीं किया है। अमितगतिने ही सर्व प्रथम 'ओं जोग्गे मग्गे' आदि प्राकृत भाषाका एक मंत्र लिखकर उसका १२ हजार प्रमाण जाप करने और १२०० प्रमाण आहुति देनेका तथा 'ओं ह्रीं णमो अरहंताणं नमः' इस मंत्रका १० हजार जाप करने और १ हजार होम करनेका स्पष्ट वर्णन किया है (देखो भाग १ पृष्ठ ४११)

इसी प्रकार अमितगतिने सकलीकरणकी विधि भी सर्वप्रथम कही है। (देखो—भाग १ पृष्ठ ४१३) परवर्ती श्रावकाचारोंमेंसे जिन श्रावकाचारकर्ताओंने सकलीकरण करनेका विधान किया है उनपर अमितगतिका स्पष्ट प्रभाव है। और यदि भावसंग्रहको दर्शनसारके कर्त्ता देवसेन-रचित माना जावे तो भावसंग्रहका प्रभाव अमितगति पर मानना चाहिए, क्योंकि भावसंग्रहमें सकलीकरण करनेका विधान किया गया है। (देखो—भाग ३ पृष्ठ ४४७ गाथा ८५)

उक्त हवन और सकलीकरणका विधान जैन धर्मकी दृष्टिसे विद्वानोंके लिए विचारणीय है। इनका वर्णन 'आचमन, सकलीकरण और हवन' शीर्षकमें कर आये हैं।

२७. श्रावकोंके कुछ अन्य कर्तव्य

आचार्योंने श्रावकोंके आठ मूलगुण और बारह व्रतों या उत्तरगुणोंके अतिरिक्त अन्य छह और भी प्रतिदिन करने योग्य कार्योंका विधान किया है। यथा—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥

गृहस्थोंको प्रतिदिन देवपूजा, गुरुजनोंकी उपासना, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम धारण, तपश्चरण और दान देना ये छह कार्य अवश्य करना चाहिए। यद्यपि स्वामी समन्तभद्रने देवपूजाको चौथे वैयावृत्य शिक्षाव्रतके अन्तर्गत और सोमदेवसूरिने पहिले सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत कहा है, परन्तु जब सर्व साधारण गृहस्थोंमें श्रावकके बारह व्रतोंका धारण एवं पालन उत्तरोत्तर कम होने लगा, तब आचार्योंने उनमें जैनत्व या श्रावकत्वको स्थिर रखनेके लिए उक्त षट् कर्तव्योंका विधान किया है।

उक्त षट् कर्तव्योंमें यतः देवपूजाका प्रथम स्थान है, अतः गृहस्थोंने उसे करना अपना आद्य कर्तव्य माना। शारीरिक शुद्धि करके स्वच्छ वस्त्र धारण कर अक्षत, पुष्पादि लेकर जिनेन्द्रदेवको

गुण-गान पूर्वक चढ़ानेका नाम देव-पूजा है। यदि विना अक्षत-पुष्पादि चढ़ाये केवल स्तुति करके जिनदेवको वन्दन-नमस्कार किया जाता है तो उसे देव-दर्शन कहा जाता है। आज समस्त भारत-वर्षमें जैन कहलानेवाला प्रत्येक व्यक्ति जिनेन्द्रदेवका प्रतिदिन प्रातःकाल दर्शन करना अपना कर्त्तव्य मानता है।

श्री अभ्रदेवने अपने व्रतोद्योतन श्रावकाचारके प्रारम्भमें कहा है—

भव्येन प्रातरुत्थाय जिनबिम्बस्य दर्शनम्।
विधाय स्वशरीरस्य क्रियते शुद्धिरुत्तमा॥ २॥

(श्रावकाचार सं० भाग ३, पृष्ठ २०६)

अर्थात् भव्य पुरुषको प्रातःकाल उठकर शरीरकी शुद्धि करने जिनबिम्बका दर्शन करना चाहिए।

आचार्य पद्मनन्दीने अपनी पञ्चविंशतिकाके उपासक संस्कार नामक अध्ययनमें देव और गुरुके दर्शन और वन्दनपर जोर देते हुए कहा है—

प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं देवता-गुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः॥ १६॥

(श्रावका० भाग ३, पृष्ठ ४२८)

अर्थात् श्रावकोंको प्रातःकाल उठ करके भक्तिके साथ देव और गुरुका दर्शन और उनकी वन्दना करनी चाहिए।

प्रायः सभी श्रावकाचारोंमें जिनेन्द्रदेवके दर्शनको जाते हुए ईर्यासमितिसे गमन करनेका विधान किया है।

२८. जिनेन्द्र-दर्शनका महत्त्व

यद्यपि प्रत्येक जैनी जिनेन्द्रदेवके दर्शनके महत्त्वसे भलीभाँति परिचित है और दर्शनाष्टक आदि स्तोत्रोंमें उसके विशाल फलका वर्णन किया गया है, तथापि उसके पूर्व जिनेन्द्र-दर्शनार्थ जानेका विचार करनेपर, गमन करनेपर, और साक्षात् जिनेन्द्र-दर्शन करनेपर क्या और कैसा फल प्राप्त होता है, यह दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थोंके आधारपर यहाँ दिया जाता है।

दि० परम्परामें रविषेणाचार्य-रचित '**पद्मचरित**' और श्वे० परम्परामें विमलसूरि रचित '**पउमचरिय**' में कहा है—जब कोई व्यक्ति जिनेन्द्रदेवके दर्शनार्थ जानेका मनमें विचार करता है, तब वह चतुर्थभक्त अर्थात् एक उपवासका फल प्राप्त करता है। जब वह चलनेके लिए उद्यत होता है, तब षष्ठभक्त अर्थात् दो उपवासका फल पाता है। जब वह जिनेन्द्र-दर्शनार्थ गमन करनेका उपक्रम करता है, तब अष्टमभक्त अर्थात् तीन उपवासका फल पाता है। गमन प्रारम्भ करनेपर दशमभक्त (चार उपवास) का फल, कुछ दूर चलनेपर द्वादशभक्त (पाँच उपवास) का फल, आधे मार्गमें पहुँचनेपर एक पक्षके उपवासका फल, जिनेन्द्र-भवनके दिखनेपर एक मासके उपवासका फल, जिन-भवन पहुँचनेपर छह मासके उपवासका फल, मन्दिरकी देहलीपर पहुँचते हुए एक वर्षके उप-वासका फल, जिनेन्द्रदेवकी प्रदक्षिणा करते समय सौ उपवासका फल, जिनेन्द्रदेवके नेत्रोंसे दर्शन करनेपर हजार उपवासका फल और जिनेन्द्रदेवका स्तवन करनेपर अनन्त पुण्यका फल प्राप्त करता है। यथा—

मणसा होइ चउत्थं, छट्ठफलं उट्ठियस्स संभवइ।
गमणस्स उ आरंभे, हवइ फलं अट्ठमोवासे ॥ ८९ ॥
गमणे दसमं तु भवे तह चेव दुवालसं गए किंचि।
मज्झे पक्खोवासं मासोवासं तु दिट्ठेण ॥ ९० ॥
संपत्तो जिणभवणं लहई छम्मासियं फलं पुरिसो।
संवच्छरियं तु फलं अणंतपुण्णं जिणथुईए ॥ ९१ ॥ (पउमचरिय, उद्देश ३२)

इसी बातको आ० रविषेणने इस प्रकारसे प्रतिपादन किया है—

फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य षष्ठस्योद्यानमात्रतः।
अष्टमस्य तदारम्भे गमने दशमस्य तु ॥ १७८ ॥
द्वादशस्य ततः किञ्चिन्मध्ये पक्षोपवासजम्।
फलं मासोपवासस्य लभते चैत्यदर्शनात् ॥ १७९ ॥
चैत्याङ्गणं समासाद्य याति षाण्मासिकं फलम्।
फलं वर्षोपवासस्य प्रविश्य द्वारमश्नुते ॥ १८० ॥
फलं प्रदक्षिणीकृत्य भुंक्ते वर्षशतस्य तु।
दृष्ट्वा जिनाऽऽस्यमाप्नोति फलं वर्षसहस्रजम् ॥ १८१ ॥
अनन्तफलमाप्नोति स्तुतिं कुर्वन् स्वभावतः।
न हि भक्तेर्जिनेन्द्राणां विद्यते परमुत्तमम् ॥ १८२ ॥ (पद्मचरित, पर्व ३२)

उपर्युक्त फल तभी प्राप्त होता है जब घरसे जिनेन्द्र दर्शनार्थ जानेवाला व्यक्ति मौनपूर्वक ईर्यासमितिसे गमन करता और जीव-रक्षा करता हुआ जाता है।

उक्त भावको किसी हिन्दी कविने एक दोहेमें कहा है—

जब चिन्तों तब सहस फल, लक्खा गमन करेय।
कोड़ाकोड़ि अनन्त फल, जब जिनवर दरसेय ॥

२९. निःसहीका रहस्य (णमो णिसीहीए)

पं० आशाधरजीने तथा कुछ अन्य श्रावकाचारकर्ताओंने जिन-मन्दिरमें 'निःसही'[1] ऐसा उच्चारण करते हुए प्रवेश करनेका विधान किया है। जैन समाजमें प्रायः आज सर्वत्र यह प्रचलित है कि लोग 'ओं जय जय निःसही' बोलते हुए ही मन्दिरोंमें प्रवेश करते हैं। इस 'निःसही' पदका क्या अर्थ है, यह न किसी श्रावकाचार-रचयिताने स्पष्ट किया है और न उनके व्याख्याकार या हिन्दी अनुवादकोंने ही। बहुत पहले लगभग ६० वर्ष पूर्व ज्ञानचन्द्र जैनी लाहौर वालोंने अपने जैनबालगुटकाके दूसरे भागमें इसका यह अर्थ किया था कि 'यदि कोई देवादिक जिन-भगवान्‌के दर्शन कर रहा हो तो वह निकल जाय, या दूर हो जाय पर इसका पोषक-प्रमाण आज तक भी जैन ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

हाँ, श्रावक-प्रतिक्रमणपाठोंमें एक निषीधिका-दंडक अवश्य उपलब्ध है, जो इस प्रकार-का है—

---

१. पूर्ण निषीधिका दंडक अर्थके साथ परिशिष्टमें दिया है।—सम्पादक

णमो जिणाणं ३, णमो णिसीहीए ३।

इसका अर्थ यह है कि जिनेन्द्रोंको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो, निषीधिकाको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

यह निसीही या निषीधिका क्या है और इसका क्या अर्थ है। यह विचारणीय है।

१. जैन शास्त्रों और शिलालेखोंकी छान-बीन करनेपर हमें इसका सबसे पुराना उल्लेख खारवेलके शिलालेखमें मिलता है, जो कि उदयगिरि पर अवस्थित है और जिसे कलिंग-देशाधिपति महाराज खारवेलने आजसे लगभग २२०० वर्ष पहले उत्कीर्ण कराया था। इस शिलालेखकी १४ वीं पंक्तिमें '...... कुमारीपवते अरहते पखीणसंसतेहि काय-निसीदियाय........' और १५ वीं पंक्तिमें........"अरहतनिसीदियासमीपे पाभारे ......' पाठ आया है। यद्यपि खारवेलके शिलालेखका यह अंश अभी तक पूरी तौरसे पढ़ा नहीं जा सका है और अनेक स्थल अभी भी सन्दिग्ध हैं, तथापि उक्त दोनों पंक्तियोंमें 'निसीदिया' पाठ स्पष्ट रूपसे पढ़ा जाता है जो कि निसीहियाका ही रूपान्तर है।

२. 'निसीहिया' शब्दके अनेक उल्लेख विभिन्न अर्थोंमें दि० श्वे० आगमोंमें पाये जाते हैं। श्वे० आचारांग सूत्र (२, २, २) में 'निसीहिया' की संस्कृत छाया 'निशीथिका' कर उसका अर्थ स्वाध्यायभूमि और भगवतीसूत्र (१४-१०) में अल्प कालके लिए गृहीत स्थान किया गया है। समवायांगसूत्रमें 'निसीहिया' की संस्कृत छाया 'नैषेधिकी' कर उसका अर्थ स्वाध्यायभूमि, प्रतिक्रमणसूत्रमें पाप क्रियाका त्याग, स्थानांगसूत्रमें व्यापारान्तरके निषेधरूप समाचारी आचार, वसुदेवहिण्डिमें मुक्ति, मोक्ष, स्मशानभूमि, तीर्थंकर या सामान्य केवलीका निर्वाण-स्थान, स्तूप और समाधि अर्थ किया गया है। आवश्यकचूर्णिमें शरीर, वसतिका—साधुओंके रहनेका स्थान और स्थण्डिल अर्थात् निर्जीव भूमि अर्थ किया गया है।

गौतम गणधर-ग्रथित माने जाने वाले दिगम्बर प्रतिक्रमणसूत्रमें निसीहियाओंकी वन्दना-करते हुए—

'जाओ अण्णाओ काओवि **णिसीहियाओ** जीवलोयम्मि' यह पाठ आया है—अर्थात् इस जीव-लोकमें जितनी भी निषीधिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो।

उक्त प्रतिक्रमण सूत्रके संस्कृत टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने जो कि संभवतः प्रमेयकमल-मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि अनेक दार्शनिक ग्रन्थोंके रचयिता और समाधिशतक, रत्नकरण्डक आदि अनेक ग्रन्थोंके टीकाकार हैं—निषीधिकाके अनेक अर्थोंका उल्लेख करते हुए अपने कथनकी पुष्टिमें कुछ प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की हैं, जो इस प्रकार हैं—

जिण-सिद्धबिंब-णिलया किदगाकिदगा य रिद्धिजुदसाहू।
णाणजुदा मुणिपवरा णाणुप्पत्तीय णाणिजुदखेत्तं॥ १॥
सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण समासिओ णहो देसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं॥ २॥
चत्तं तेहिं य देहं तद्ठविदं जेसु ता **णिसीहीओ**।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा जेसु संठिया सम्मं॥ ३॥

जोगपरिमुक्कदेहा पण्डितमरणट्ठिदा णिसीहीओ।
तिविहे पण्डितमरणे चिट्ठंति महामुणी समाहीए॥ ४॥
एदाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे।

अर्थात्—कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्ब, सिद्धप्रतिबिम्ब, जिनालय, सिद्धालय, ऋद्धिसम्पन्नसाधु, तत्सेवित क्षेत्र, अवधिमनःपर्यय और केवलज्ञानके धारक मुनिप्रवर, इन ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके प्रदेश, उक्त ज्ञानियोंसे आश्रित क्षेत्र, सिद्ध भगवान्के निर्वाणक्षेत्र, सिद्धोंसे समाश्रित सिद्धालय, सम्यक्त्वादि चार आराधनाओंसे युक्त तपस्वी, उक्त आराधकोंसे आश्रित क्षेत्र, आराधक या क्षपकके द्वारा छोड़े गये शरीरके आश्रयवर्ती प्रदेश, योगस्थित तपस्वी, तदाश्रित क्षेत्र, योगियोंके द्वारा उन्मुक्त शरीरके आश्रित प्रदेश और भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन इन तीन प्रकारके पण्डितमरणमें स्थित साधु तथा पण्डितमरण जहाँ पर हुआ है, ऐसे क्षेत्र : ये सब निषीधिकापदके वाच्य हैं।

निषीधिकापदके इतने अर्थ करनेके अनन्तर आचार्य प्रभाचन्द्र लिखते हैं—

अन्ये तु 'णिसीधियाए' इत्यस्यार्थमित्थं व्याख्यानयन्ति

'णि त्ति णियमेहिं जुत्तो सित्ति य सिद्धिं तहा अहिम्गामी।
धि त्ति य धिदिबद्धकओ एत्ति य जिणसासणो भत्तो॥ १॥

अर्थात् कुछ लोग 'निसीधिया' पदकी निरुक्ति करके उसका इस प्रकार अर्थ करते हैं :—**नि**—जो व्रतादिकके नियमसे युक्त हो, **सि**—जो सिद्धिको प्राप्त हो या सिद्धिको पानेको अभिमुख हो, **धि**—जो धृति अर्थात् धैर्यसे बद्ध-कक्ष हो, और या—अर्थात् जिनशासनको धारण करनेवाला हो, उसका भक्त हो। इन गुणोंसे युक्त पुरुष 'निसीधिया' पदका वाच्य है।

साधुओंके दैवसिक-रात्रिकप्रतिक्रमणमें 'निषिद्धिकादंडक' नामसे एक पाठ है। उसमें णिसीहिया या निषिद्धिकाकी वंदना की गई है। 'निसीहिया' किसका नाम है और उसका मूलमें क्या रूप रहा है इसपर उससे बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिए उसका कुछ आवश्यक अंश यहाँ दिया जाता है—

'णमो जिणाणां ३। णमो णिसीहियाए ३। णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध बुद्ध, णीरय, णिम्मल, ... गुणरयण, सीलसायर, अणंत, अप्पमेय, महदिमहावीर वड्ढमाण, बुद्धिरिसिणो चेदि णमोत्थु दे णमोत्थु दे। (क्रियाकलाप पृष्ठ ५५)

......सिद्धिणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णिरयाणं णिम्मलाणं गुरु-आइरिय-उवज्झायाणं पवत्ति-थेर-कुलयराणं चाउव्वण्णो य समणसंघो य भरहेरावएसु दससु पंचसु महाविदेहेसु।' (क्रियाकलाप पृष्ठ ५६)।

अर्थात् जिनोंको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। निषीधिकाको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। अरहंत, सिद्ध, बुद्ध आदि अनेक विशेषण-विशिष्ट महतिमहावीर-वर्धमान बुद्धिऋषिको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

अष्टापद, सम्मेदाचल, उर्जयन्त, चंपापुरी, पावापुरी, मायापुरी और हस्तिपालितसभामें तथा जीवलोकमें जितनी भी निषीधिकाएँ हैं, तथा ईषत्प्राग्भारनामक अष्टम पृथ्वीतलके अग्र भाग

पर स्थित सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्रसे विमुक्त, नीराग, निर्मल, सिद्धोंकी तथा गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, कुलकर (गणधर) और चार प्रकारके श्रमणसंघकी पाँच महाविदेहोंमें और दश भरत और दश ऐरावत क्षेत्रोंमें जो भी निषिद्धिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

इस उद्धरणसे एक बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि निषीधिका उस स्थानका नाम है, जहाँसे महामुनि कर्मोंका क्षय करके निर्वाण प्राप्त करते हैं और जहाँ पर आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, कुलकर और ऋषि, यति, मुनि, अनगाररूप चार प्रकारके श्रमण समाधिमरण करते हैं, वे सब निषीधिकाएँ कहलाती हैं।

बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्तिमें निषीधिकाको उपाश्रय या वसतिकाका पर्यायवाची माना है। यथा—

अवसग पडिसगसेज्जाआलय, वसधी णिसीहियाठाणे।
एगट्ठ वंजणाई उवसग वगडा य निक्खेवो ॥ ३२९५ ॥

अर्थात्—उपाश्रय, प्रतिश्रय, शय्या, आलय, वसति, निषीधिका और स्थान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं।

इस गाथाके टीकाकारने निषीधिकाका अर्थ इस प्रकार किया है :—

"निषेध: गमनादिव्यापारपरिहार: स प्रयोजनमस्या:, तमर्हतीति वा नैषेधिकी।"

अर्थात्—गमनागमनादि कायिक व्यापारोंका परिहारकर साधुजन जहाँ निवास करें, उसे निषीधिका कहते हैं।

इससे आगे कल्पसूत्रनिर्युक्तिकी गाथा नं० ५५४१ में भी 'निसीहिया' का वर्णन आया है पर वहाँपर उसका अर्थ उपाश्रय न करके समाधिमरण करनेवाले क्षपक साधुके शरीरको जहाँ छोड़ा जाता है, या दाहसंस्कार किया जाता है, उसे निसीहिया या निषिद्धिका कहा गया है। यहाँ टीकाकारने 'नैषधिक्यां शवप्रतिष्ठापनभूम्याम्' ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है। जिसकी पुष्टि आगेकी गाथा नं० ५५४२ से भी होती है।

भगवती आराधनामें जो कि दिगम्बर-सम्प्रदायका अति प्राचीन ग्रन्थ है—वसतिकासे निषीधिकाको सर्वथा भिन्न अर्थमें लिया है। साधारणत: जिस स्थानपर साधुजन वर्षाकालमें रहते हैं, अथवा विहार करते हुए जहाँ रात्रिको बस जाते हैं, उसे वसतिका कहा है। वसतिकाका विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है :—

'जिस स्थानपर स्वाध्याय और ध्यानमें कोई बाधा न हो, स्त्री, नपुंसक, नाई, धोबी, चाण्डाल आदि नीच जनोंका सम्पर्क न हो, शीत और उष्णकी बाधा न हो, एकदम बन्द या खुला स्थान न हो, अँधेरा न हो, भूमि विषम-नीची—ऊँची न हो, विकलत्रय जीवोंकी बहुलता न हो, पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों और हिंसक जीवोंका संचार न हो, तथा जो एकान्त, शान्त, निरुपद्रव और निर्व्याक्षेप स्थान हो, ऐसे उद्यान-गृह, शून्य-गृह, गिरि-कन्दरा और भूमि-गुहा आदि स्थानमें साधुओंको निवास करना चाहिए। ये वसतिकाएँ उत्तम मानी गई हैं।'

(देखो—भग० आराधना गाथा २२८-२३०, ६३३-६४१)

परन्तु वसतिकासे निषीधिका बिलकुल भिन्न होती है, इसका वर्णन भगवती आराधनामें

बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है और बतलाया गया है कि जिस स्थानपर समाधिमरण करनेवाले क्षपकके शरीरका विसर्जन या अन्तिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।

यथा—निषीधिका-आराधकशरीर-स्थापनास्थानम्।

(गाथा १९६७ की मूलाराधना टीका)

साधुओंको आदेश दिया गया है कि वर्षाकाल प्रारम्भ होनेके पूर्व चतुर्मास-स्थापनाके साथ ही निषीधिका-योग्य भूमिका अन्वेषण और प्रतिलेखन कर लेवें। यदि कदाचित् वर्षाकालमें किसी साधुका मरण हो जाय और निषीधिका योग्य भूमि पहलेसे देख न रखी हो, तो वर्षाकालमें उसे ढूंढ़नेके कारण हरितकाय और त्रस जीवोंकी विराधना सम्भव है, क्योंकि हरितकायसे उस समय सारी भूमि आच्छादित हो जाती है। अतः वर्षावासके साथ ही निषीधिकाका अन्वेषण और प्रतिलेखन कर लेना चाहिए।

भगवती आराधनाकी वे सब गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

विजहणा निरूप्यते—
एवं कालगदस्स दु सरीरमंतो बहिज्ज बाहिं वा।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए॥ १९६६॥
समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे सहेव उडुबंधे।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं॥ १९६७॥
एवंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा॥ १९६८॥
अभिसुआ असुसिराअघसा उज्जोवा बहुसमायअसिणिद्धा।
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा॥ १९६९॥
जा अवर दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति॥ १९७०॥

अब समाधिसे मरे हुए साधुके शरीरको कहाँ परित्याग करे, इसका वर्णन करते हैं—इस प्रकार समाधिके साथ काल-गत हुए साधुके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले साधु नगरसे बाहिर स्वयं ही यतनाके साथ प्रतिष्ठापन करें। साधुओंको चाहिए कि वर्षावासके तथा वर्षाऋतुके प्रारम्भमें निषीधिकाका नियमसे प्रतिलेखन कर लें, यही श्रमणोंका स्थितिकल्प है। वह निषीधिका कैसी भूमिमें हो, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है—वह एकान्त स्थानमें हो, प्रकाश-युक्त हो, वसतिकासे न बहुत दूर हो, न बहुत पास हो, विस्तीर्ण हो, विध्वस्त या खण्डित न हो, दूर तक जिसकी भूमि दृढ़ या ठोस हो, दीमक-चींटी आदिसे रहित हो, छिद्र-रहित हो, घिसी हुई या नीची-ऊँची न हो, सम-स्थल हो, उद्योतवती हो, स्निग्ध या चिकनी फिसलनेवाली भूमि न हो, निर्जन्तुक हो, हरितकायसे रहित हो, बिलोंसे रहित हो, गीली या दल-दल युक्त न हो, और मनुष्य-तिर्यंचादिकी बाधासे रहित हो। वह निषीधिका वसतिकासे नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम दिशामें हो तो प्रशस्त मानी गई है।

इससे आगे भगवती आराधनाकारने विभिन्न दिशाओंमें होनेवाली निषीधिकाओंके शुभाशुभ फलका वर्णन इस प्रकार किया है:—

यदि वसतिकासे निषीधिका नैऋत्य दिशामें हो, तो साधु संघमें शान्ति और समाधि रहती है, दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार सुलभतासे मिलता है, पश्चिम दिशामें हो तो संघका विहार सुखसे होता है और उसे ज्ञान-संयमके उपकरणोंका लाभ होता है। यदि निषीधिका आग्नेय कोणमें हो, तो संघमें स्पर्धा अर्थात् तूं तूं-मैं मै होती है, वायव्य दिशामें हो तो संघमें कलह उत्पन्न होता है, उत्तर दिशामें हो तो व्याधि उत्पन्न होती है, पूर्व दिशामें हो तो परस्परमें खींचातानी होती है और संघमें भेद पड़ जाता है। ईशान दिशामें हो तो किसी अन्य साधुका मरण होता है। (भगवती आराधना गाथा १९७१-१९७३)

इस विवेचनसे वसतिका और निषीधिकाका भेद बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ऊपर उद्धृत गाथा नं० १९७० में यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि वसतिकासे दक्षिण, नैऋत्य और पश्चिम दिशामें निषीधिका प्रशस्त मानी गई है। यदि निषीधिका वसतिकाका ही पर्यायवाची नाम होता, तो ऐसा वर्णन क्यों किया जाता ?

प्राकृत 'णिसीधिया' का अपभ्रंश ही 'निसीहिया' हुआ और वह कालान्तरमें निसिया होकर आजकल नशियाके रूपमें व्यवहृत होने लगा।

इसके अतिरिक्त आज कल लोग जिन-मन्दिरमें प्रवेश करते हुए 'ओं जय जय जय, निस्सही निस्सही, निस्सही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु' बोलते हैं। यहाँ बोले जानेवाले 'निस्सही' पदसे क्या अभिप्रेत था और आज हम लोगोंने उसे किस अर्थमें ले रखा है, यह भी एक विचारणीय बात है। कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि 'यदि कोई देवादिक भगवान्‌के दर्शन-पूजनादि कर रहा हो तो वह दूर या एक ओर हो जाय।' पर दर्शनके लिए मन्दिरमें प्रवेश करते हुए तीन बार निस्सही बोलकर 'नमोस्तु' बोलनेका यह अभिप्राय नहीं रहा है, किन्तु जैसा कि 'निषिद्धिका दंडकका उद्धरण देते हुए ऊपर बतलाया जा चुका है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। ऊपर अनेक अर्थोंमें यह बताया जा चुका है कि निसीहिया या निषीधिकाका अर्थ जिन, जिन-बिम्ब, सिद्ध, सिद्ध-बिम्ब और जिनालय भी होता है। तदनुसार दर्शन करनेवाला तीन बार 'निस्सही'—जो कि 'णिसिहीए' का अपभ्रंश रूप है—को बोलकर उसे तीन बार नमस्कार करता है। यथार्थमें हमें मन्दिरमें प्रवेश करते समय 'णमो णिसीहियाए' या इसका संस्कृत रूप 'निषीधिकाए' नमोऽस्तु, अथवा 'णिसीहियाए णमोत्थु' पाठ बोलना चाहिए।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि फिर यह अर्थ कैसे प्रचलित हुआ—कि यदि कोई देवादिक दर्शन-पूजन कर रहा हो तो वह दूर हो जाय। मेरी समझमें इसका कारण 'निःसही या निस्सही जैसे अशुद्धपदके मूल रूपको ठीक तौरसे न समझ सकनेके कारण 'निर् उपसर्ग पूर्वक सृ' गमनार्थक धातुका आज्ञा जकारके मध्यम पुरुषको एकवचनका बिगड़ा रूप मानकर लोगोंने वैसी कल्पना कर डाली है। अथवा दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साधुको किसी नवीन स्थानमें प्रवेश करने या वहाँसे जानेके समय निसीहिया और आसिया करनेका विधान है। उसकी नकल करके लोगोंने मन्दिर-प्रवेशके समय बोले जानेवाले 'निसीहिया' पदका भी वही अर्थ लगा लिया है।

साधुओंके १० प्रकारके[1] समाचारोंमें निसीहिया और आसिया नामके दो समाचार हैं और उनका वर्णन मूलाचारमें इस प्रकार किया गया है :—

१. साधुओंका अपने गुरुओंके साथ अन्य साधुओंके साथ जो पारस्परिक शिष्टाचारका व्यवहार होता है, उसे समाचार कहते हैं।

कंदर-पुलिण-गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धियं कुज्जा।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥ १३४ ॥
(मूलाचार समा० अधि०)

अर्थात्—गिरि-कंदरा, नदी आदिके पुलिन-मध्यवर्ती जलरहित स्थान और गुफा आदिमें प्रवेश करते हुए निषिद्धिका समाचारको करे और वहाँसे निकलते या जाते समय आशिका समाचारको करे। इन दोनों समाचारोंका अर्थ टीकाकार आचार्य वसुनन्दिने इस प्रकार किया है :—

टीका—पविसंते य प्रविशति व प्रवेशकाले णिसिही निषेधिका तत्रस्थानमभ्युपगम्य स्थानकरणं, सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा, णिग्गमणे निर्गमकाले आसिया देव-गृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानं, पापक्रियादिभ्यो मनोनिवर्तनं वा।'

अर्थात्—साधु जिस स्थानमें प्रवेश करे, उस स्थानके स्वामीसे आज्ञा लेकर प्रवेश करें। यदि उस स्थानका स्वामी कोई मनुष्य है तो उससे पूछे और यदि मनुष्य नहीं है तो उस स्थानके अधिष्ठाता देवताको सम्बोधन कर उससे पूछे, इसीका नाम निसीहिका समाचार है। इसी प्रकार उस स्थानसे जाते समय भी उसके स्वामी मनुष्य या क्षेत्रपालको पूछकर और उसका स्थान उसे संभलवा करके जावे। यह उनका आसिका समाचार है। अथवा करके इन दोनों पदोंका टीकाकारने एक दूसरा भी अर्थ किया है। वह यह कि विवक्षित स्थानमें प्रवेश करके सम्यग्दर्शनादिमें स्थिर होने का 'निसीहिया' और पाप-क्रियाओंसे मनके निवर्तनका नाम 'आसिया' है। आचारसारके कर्त्ता आ० वीरनन्दिने उक्त दोनों समाचारोंका इस प्रकार वर्णन किया है :—

जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्टयैवेति निषिद्धिकाम् ॥११॥
प्रवासावसरे कन्दरावासादेर्निपिद्धिका।
तस्मान्निर्गमने कार्या स्यादाशीर्वैरहारिणी ॥१२॥—(आचारसार द्वि० अ०)

अर्थात् व्यन्तरादिक जीवोंकी बाधा दूर करने के लिए जो निषेधात्मक वचन कहे जाते हैं कि भो क्षेत्रपाल यक्ष, हम लोग तुम्हारी अनुज्ञासे यहाँ निवास करते हैं, तुम लोग रुष्ट मत होना, इत्यादि व्यवहारको निषिद्धिका समाचार कहते हैं और वहाँ से जाते समय उन्हें वैर दूर करने वाला आशीर्वाद देना यह आशिका समाचार है।

ऐसा मालूम होता है कि लोगोंने साधुओंके लिए विधान किये गये समाचारोंका अनुसरण किया और 'व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्' पदका अर्थ मन्दिर प्रवेशके समय लगा लिया कि यदि कोई व्यन्तरादिक देव-दर्शनादिक कर रहा हो तो वह दूर हो जाय और हमें बाधा न दे। पर वास्तवमें 'निस्सही' पद बोलनेका अर्थ निषीधिका अर्थात् जिनदेवका स्मरण कराने वाले स्थान या उनके प्रतिबिम्ब के लिए नमस्कार अभिप्रेत रहा है।

जिन-मन्दिरमें प्रवेश करते समय 'निस्सही' पदका पूर्ण रूप 'णमो णिसीहियाए' है और इसका प्रकृतमें अर्थ है, इस जिन-मन्दिरको नमस्कार हो। इसे यतः जिन-मन्दिरमें प्रवेश करते हुए बोला जाता है, अतः मन्दिरकी देहलीको हाथसे स्पर्श कर मस्तक पर लगाते हुए तीन बार बोलना चाहिए।

शास्त्रों के अवलोड़नसे यह भी ज्ञात होता है, कि मन्दिरमें प्रवेश करते समय पूर्वकालमें 'निषीधिकादंडक' वाला पाठ बोला जाता था।

वामदेवने अपने संस्कृत भावसंग्रहमें लिखा है—'जिनावासं विशेन्मन्त्री समुच्चार्य निषेधिकाम्' अर्थात् 'निषेधिका'का उच्चारण कर जिनालयमें प्रवेश करे। श्रावक प्रतिक्रमणपाठमें वह निषेधिकादण्डक इस प्रकार दिया गया है—

जैन परम्परामें नौ देव माने गये हैं—१. अरिहन्त, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु, ६. जिन मन्दिर, ७. जिन-विम्ब, ८. जिनधर्म, और ९. जिनशास्त्र। प्रकृत 'णमो णिसीहियाए' का अर्थ जिन-बिम्ब युक्त जिन मन्दिरको नमस्कार हो' यह लेना चाहिए। उक्त पद बोलते हुए जिनमन्दिरकी देहलीका स्पर्शकर मस्तकपर लगानेका अर्थ जिनमन्दिरको नमस्कार करना है।

३०. जिनेन्द्र-पूजन कब सुफल देता है

यद्यपि स्वामी समन्तभद्रने पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करनेके पश्चात् शिक्षा व्रतोंके अभ्यास करने वाले श्रावकको चौथे शिक्षाव्रतके अन्तर्गत जिन-पूजनका विधान किया है, तो भी सामान्य गृहस्थोंका ध्यान उस पर न जाकर 'देव-पूजा' श्रावकका प्रथम कर्तव्य है, इसलिए उसे करना चाहिए। इस विचारसे वे उसे करते हैं। परन्तु किसी भी शुभ कार्यको करनेके पूर्व अशुभ कार्यकी निवृत्ति आवश्यक है, इस बात पर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। वस्त्र-गत या शरीर-गत मलको दूर किये बिना वस्त्र या शरीरकी शुद्धि या स्वच्छता जैसे संभव नहीं है, उसी प्रकार पंच पापरूप मलको दूर किये बिना जिन-पूजन के योग्य आत्मिक शुद्धि या पवित्रताका होना भी संभव नहीं है। यही कारण है कि पाँच पापोंके स्थूल त्याग किये बिना अर्थात् अणुव्रतोंके धारण किये बिना जो लोग जिन-पूजन करते हैं उन्हें उसका यथेष्ट फल नहीं मिलता है।

पउमचरिय और पद्मचरितके अनुसार श्रीद्युति आचार्य भरतको जिन-पूजन करनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

हे भरत, जो प्रथम अहिंसारत्नको ग्रहण कर जिनदेवका पूजन करता है वह देवलोकमें अनुपम इन्द्रिय-सौख्य भोगता है।[1] जो सत्यव्रतका नियम धारण करके जिनपरको पूजता है, वह मधुर-भाषी, आदेय-वचन होकर संसारमें अपनी कीर्त्तिका विस्तार करता है।[2] जो अदत्तादान (चोरी) का त्यागकर जिन-नाथको पूजता है वह मणि-रत्नोंसे परिपूर्ण नव निधियोंका स्वामी[3]

---

१. पढममहिंसारयणं गेण्हेउं जो जिणं समच्चेइ।
सो भुंजइ सुरलोए इंदियसोक्खं अणोवमियं॥ ६३॥ (पउम० उ० ३२)
अहिंसारत्नमादाय विपुलं यो जिनाधिपम्।
भक्त्याऽर्चयत्यसौ नाके परमां वृद्धिमश्नुते॥ १४९॥ (पद्मच० प० ३२)

२. सच्चवयणियमधरो जो पूयइ जिणवरं पयत्तेणं।
सो होइ महुर-वयणो भुंजइ य परंपरसुहाइं॥ ६४॥ (पउम० उ० ३२)
सत्यव्रतधरः सुभिर्यः करोति · जिनार्चनम्।
भवत्यादेयवाक् योऽसौ सत्कीर्तिव्याप्तविष्टपः॥ १५०॥ (पद्मच० प० ३२)

३. परिहरिऊण अदत्तं जो जिणणाहस्स कुणइ वर-पूयं।
सो णवणिहीण सामी होही मणि-रयणपुण्णाणं॥ ६५॥ (उम० उ० ३२)
अदत्तादाननिर्मुक्तो जिनेन्द्रान् यो नमस्यति।
जायते रत्नपूर्णानां नदीनां स विभुर्नरः॥ १५१॥ (पद्मच० प० ३२)

होता है। जो पर-नारी-प्रसंगको छोड़कर जिन-पूजन करता है वह कामदेव जैसा श्रेष्ठ शरीर धारण करके सौभाग्य-भाजन और सर्वजनोंके नेत्रोंको आनन्द देने वाला होता है। जो परिग्रहकी सीमा करके सन्तोष-व्रत धारण करता है वह विविध रत्नोंसे समृद्ध होकर सर्व जनोंका पूज्य होता है।[2]

उपरि-लिखित शास्त्रीय प्रमाणोंसे यह भले प्रकार सिद्ध है कि जो पाँच पापों का स्थूल रूपसे त्यागकर अर्थात् पंच अणुव्रत धारण कर जिनेन्द्रदेवका पूजन करता है, वही जिनपूजनके उपर्युक्त यथार्थ फलको प्राप्त करता है। किन्तु आजकल प्रायः इससे विपरीत बात ही देखी जाती है। लोग सर्व प्रकारके पापोंको करते हुए भी जिनदेवका पूजन करके और अपने पापोंकी शुद्धि मानकर स्वयंको कृतार्थ मानते हैं। यही कारण है कि वे पूजनके वास्तविक फलको प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

३१. गुरूपास्ति आदि शेष कर्त्तव्य

दूसरा कर्त्तव्य गुरूपास्ति है, निर्ग्रन्थ, वीतरागी, निरारम्भी और ज्ञान-ध्यान-तपमें अनुरक्त साधुजनोंकी उपासना करना, रोगादिके समय उनकी परिचर्या और वैय्यावृत्ति करना गुरूपास्ति है, इसका सुन्दर विवेचन सर्वप्रथम रत्नकरण्डकमें और उनके पश्चात् रचे गये प्रायः सभी श्रावकाचारोंमें किया गया है। आजके कुछ श्रावक तो इस गुरूपास्तिमें अन्धभक्त बनकर विधेय और अविधेयका भी विचार नहीं करके गुरूपास्तिकी सीमाका भी अतिक्रमण कर डालते हैं।

तीसरा कर्त्तव्य स्वाध्याय है। यह छहों कर्त्तव्योंमें सबसे श्रेष्ठ है। इसकी गणना अन्तरंग तपोंमें चौथे स्थानपर की गई है और कुन्दकुन्दाचार्यने तो यहाँ तक कहा है—'ण हि सज्झायसमो तवो' अर्थात् स्वाध्यायके समान और कोई श्रेष्ठतप नहीं है, क्योंकि यह आत्मबोध और आत्म-स्थिरताका प्रधान कारण है, इसी कारण ध्यानके पूर्व स्वाध्यायको कहा गया है। जिस किसी भी शास्त्रके कुछ पत्रोंके पढ़नेका नाम स्वाध्याय नहीं है, किन्तु शास्त्र-वाचना, शुद्ध उच्चारण करना, प्रश्न पूछना, तत्त्व-चिन्तन करना और धर्मका उपदेश देना बाहिरी या व्यवहार स्वाध्याय है और स्व + अध्ययन करना अर्थात् अपने आत्म-स्वरूपका विचार करना अन्तरंग या निश्चय स्वाध्याय है।

चौथा संयम नामका कर्त्तव्य है। इसके इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम ऐसे दो भेद कहे गये हैं। इसका पूर्णरूपसे पालन तो निर्ग्रन्थ साधुओंके ही संभव है। गृहस्थको यथाशक्ति

---

१. परनारीसु पसंगं न कुणइ जो जिणमयासिओ पुरिसो।
सो पावइ सोहग्गं नयणाणंदो वरतणूणं ॥ ६६ ॥ (पउम० उ० ३२)
यो रत्यं परनारीषु न करोति जिनाश्रितः।
सोऽथ गच्छति सौभाग्यं सर्वनेत्रमलिम्लुचः ॥ १५२ ॥ (पद्म० प० ३२)

२. संतोषवयामूलं धारइ य जिणिदवयणकयभावो।
सो विविहधणसमिद्धो होइ णरो सव्वजणपुज्जो ॥ ६७ ॥ (पउम० उ० ३२)
जिनानर्चति यो भक्त्या कृतावधिपरिग्रहः।
लभतेऽसावतिस्फीताम् लाभाम् लोकस्य पूजितः ॥ १५३ ॥ (पद्म० प० ३२)

एकदेश इनका पालन करना आवश्यक है इस पर भी अनेक श्रावकाचारोंमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

पांचवां कर्त्तव्य तप है। इसके भी दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। तथा प्रत्येकके ६-६ भेद हैं। उन सबका पालन यद्यपि साधुओंका प्रधान कर्त्तव्य है, तथापि गृहस्थोंको यथाशक्ति-अपनी परिस्थितिके अनुसार पर्वादिके दिन उपवास, एकाशन, नीरस भोजनादिके रूपमें बाह्य तप और अपने दोषोंको देखकर प्रायश्चित्त लेना, गुरुजनोंकी विनय करना और वैय्यावृत्त्य करना आदिके रूपमें अन्तरंग तप करना आवश्यक है। बाह्य तपसे शरीर-शुद्धि और अन्तरंग तपसे आत्म शुद्धि होती है।

आज-कल लोग उपवास आदिको ही तप समझते हैं, जबकि वह बाह्य तप है। अपने दोषको स्वीकारना, जिसके साथ वैर-भाव हो गया हो उससे क्षमा-याचना करना, अभिमान-त्याग करके ज्ञान, तप, वय, बुद्धि आदिमें वृद्धजनोंका विनय-सम्मान करना अन्तरंग तप है। बाह्य तपकी अपेक्षा अन्तरंग तपसे असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। शमभाव या क्षमाको धारण कर क्रोधको जीतना सबसे बड़ा धर्म या तप है। जैसा कि कहा है—

पठतु शास्त्र-समूहमनेकधा, जिनसमर्चनमर्चयतां सदा।
गुरुनतिं कुरुतां धरतां व्रतं, यदि शमो न वृथा सकलं ततः ॥२९॥
(व्रतोद्यो० श्राव० भा० ३ पृ० २०९)

अर्थात्—यदि शमभाव नहीं है तो अनेक प्रकारके शास्त्र-समूहको पढ़ना जिनेन्द्रदेवकी सदा पूजा करना, गुरुजनोंको नमस्कार करना और व्रत-धारण करना ये सब व्यर्थ हैं।

छठा कर्त्तव्य दान है। गृहस्थ दैनिक आरम्भ-समारम्भ-जनित जो पाप-संचय करता है, उसकी शुद्धिके लिए उसे प्रतिदिन दान देनेका विधान आचार्योंने किया है।

यद्यपि सभी श्रावकाकारोंमें चौथे अतिथिसंविभागके अन्तर्गत आहार, औषध, अभय और ज्ञानदानका विधान किया है, फिर सोमदेव जयसेन आदि अनेक श्रावकाचार-रचयिताओंने देव पूजा आदि ६ कर्त्तव्योंके भीतर दानका पृथक् रूपसे निरूपण किया है। गृहस्थ अपनी आयका कितना भाग किस कार्यमें व्यय करे, इसका भी विभिन्न आचार्योंने विभिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। उन सबमें धर्मरत्नाकर जो कि इसी जीवराज ग्रन्थमालासे प्रकाशित और जयसेनाचार्य विरचित है, उसका दानके लिए आयको विभाजनका वर्णन सबसे अधिक प्रभावक है, अतः उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

भागद्वयी कुटुम्बार्थे संचयार्थे तृतीयकः।
स्वरायो यस्य धर्मार्थे तुर्यस्त्यागी स सत्तमः ॥१३८॥
भागत्रयं तु पोष्यार्थे कोषार्थे तु द्वयी सदा।
षष्ठं दानाय यो युङ्क्ते स त्यागी मध्यमोऽधमात् ॥१३९॥
स्वस्वस्य यस्तु षड्भागान् परिवाराय योजयेत्।
त्रीन् संचयेद् दशांशं च धर्मे त्यागी लघुश्च सः ॥१४०॥

भावार्थ—जो गृहस्थ अपनी आय (आमदनी) के चार भाग करके दो भाग तो कुटुम्ब-परिवारके भरण-पोषणके लिए व्यय करता है, तीसरा भाग आपत्ति आदिके लिए संचित करता

है और चौथा भाग धर्म-कार्यमें लगाता है, वह उत्तम पुरुष है ॥१३८॥ जो व्यक्ति अपनी आयके छह भाग करके उनमेंसे तीन भाग अपने पुत्रादि पोष्य वर्गके लिए व्यय करता है, दो भाग कोषमें संचित करता है और छठा भाग दानमें व्यय करता है वह मध्यम पुरुष है ॥ १३९ ॥ जो व्यक्ति अपनी आयके दश भाग करके उनमेंसे छह भाग परिवार-पालनके लिए खर्च करता है, तीन भाग भविष्यके लिए संचित करता है और दशवां भाग धर्म-कार्यमें लगाता है, वह लघु या जघन्य श्रेणीका पुरुष है।

वास्तवमें अतिथिके लिए जो अपनी आयका विभाग किया जाता है, उसे ही अतिथि संविभाग कहते हैं जैसा कि—पुरुषार्थानुशासनमें कहा है—

> स्वायस्यातिथये भव्यैर्यो विभागो विधीयते।
> अतिथेः संविभागाख्यं शीलं तज्जगदुर्जिनाः ॥ १६८ ॥—(भा० ३ पृ० ५१३)

गृहस्थोमें रहनेवाला पुरुष धन-वैभव भी चाहता है, नीरोग शरीर भी चाहता है, मान-सन्मानके साथ ज्ञानवान् भी होना चाहता है और निर्भय भी रहना चाहता है, अतः उक्त चारों प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए उसे क्रमशः आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान देते रहना चाहिए।

जैसा कि कहा है—

> ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
> अन्नदानाद् धनी नित्यं नीरोगी भेषजाद् भवेत् ॥

३२. पर्व-माहात्म्य

पर्व शब्दका अर्थ है—पूरण करनेवाला दिन। इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ जिस आत्मिक कार्यको सांसारिक कार्योंमें उलझे रहकरके अन्य दिनोंमें सम्पन्न नहीं कर पाता है, उसे वह पर्वके दिन पूरा करे।

पर्व दो प्रकारके होते हैं—नित्य पर्व और नैमित्तिक पर्व। प्रत्येक मासकी अष्टमी, चतुर्दशी और पंचमी नित्य पर्व हैं। आष्टाह्निक, दशलक्षण, रत्नत्रय आदि नैमित्तिक पर्व हैं। प्रत्येक पक्षकी अष्टमीके दिन आरम्भ-कार्योंको छोड़कर आत्मीय कार्योंको करनेका उद्देश्य आत्मा पर लगे हुए आठ कर्मोंके नाश करनेका है। आचार्य सकलकीर्त्तिने लिखा है—

> अष्टम्यामुपवासं हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमाः।
> हत्वा कर्माष्टकं तेऽपि यान्ति मुक्ति सुदृष्टयः ॥ ३४ ॥
> (भाग २ पृष्ठ २५९)

अर्थात् जो पुरुषोत्तम सम्यग्दृष्टि अष्टमीको उपवास करते हैं, वे आठ कर्मका नाशकर मोक्ष जाते हैं।

इसी प्रकार चतुर्दशीके दिन उपवास करनेका उद्देश्य चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त होकर सिद्धपद पानेका है। जैसा कि कहा है—

> प्रोषधं नियमेनैव चतुर्दश्यां करोति यः।
> चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ॥ २९ ॥ (भाग २ पृ० २५९)

पञ्चमीके दिन उपवास करनेका उद्देश्य पाँचवें केवलज्ञानके प्राप्त करनेका है। उक्त तीनों व्रत दिनोंके उपवासोंके फलको बतलाते हुए पूज्यपाद श्रावकाचारमें कहा है—

अष्टमी चाष्टकर्मघ्नी सिद्धिलाभा चतुर्दशी।
पञ्चमी ज्ञानलाभाय तस्मात्त्रितयमाचरेत् ॥ (भाग ३, पृ० १९८, श्लोक ८४)

अर्थात्—अष्टमी आठ कर्मोंकी घातक है, चतुर्दशी सिद्धि (मुक्ति) का लाभ कराती है और पञ्चमी केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए है, इसलिए श्रावकको इन तीनों ही पर्वके दिनोंमें उपवास पूर्वक स्वाध्याय और ध्यानमें समय बिताना चाहिए।

उपवासके दिन गृहारम्भ, शरीर-संस्कार और स्नान तकके त्यागनेका विधान प्रायः सभी श्रावकाचार-कारोंने किया है। नित्य पूजनके नियम वालों तकको भावपूजन करनेका निर्देश किया गया है। इस प्रकारके उपवास करनेपर ही उससे मुनि व्रत पालन करनेकी शिक्षा मिलती है और तभी उसका शिक्षा व्रत नाम सार्थक होता है।

३३. चार प्रकारके श्रावक

जैनाचार्योंने प्रत्येक तत्त्वके वर्णनके लिए चार निक्षेपोंका विधान किया है और उनके द्वारा किसी भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझनेके लिए कहा है। जैन या श्रावकका भी वर्णन उन्होंने उन्हीं नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार निक्षेपोंसे किया है। पण्डित आशाधरजीने जैनत्वके गुणोंसे रहित नाम मात्रके जैनको भी अजैन लोगोंसे श्रेष्ठ कहा है। नाम-जैनसे भी स्थापना जैनको उत्तम कहा है; द्रव्य जैनको उससे भी उत्तम कहा है और भाव जैनको तो सर्वोत्तम महापुरुष कहा है।[1]

इसी प्रकार श्री अभ्रदेवने अपने व्रतोद्योतन श्रावकाचारमें श्रावकोंका भी चार निक्षेपोंके द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है—

जिन पुरुषोंने व्रतोंको धारण नहीं किया है, किन्तु गुरुजनोंसे व्रत-आदिकी चर्चा सुनते हैं, वे नामश्रावक हैं। जो गुरुजनोंसे व्रतादिको ग्रहण करके भी उनको पालते नहीं है, वे स्थापना श्रावक हैं। जो श्रावकके आचारसे संयुक्त हैं, दान-पूजनादि करते हैं और श्रावकके उत्तर गुणोंके धारण करनेके लिए उत्सुक है, तथा दान-पूजनादि करते हैं, वे द्रव्य श्रावक हैं। जो भावसे श्रावक व्रतोंसे सम्पन्न हैं और श्रावकके आचार पालनमें सदा जागरूक रहते हैं, वे भावश्रावक है।[2]

नैष्ठिक श्रावकोंकी गणना भाव श्रावकोंमें की गई है। यहाँ यह विशेष बात ध्यानमें रखना चाहिए कि जब तक अन्तरंगमें सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हुआ है, तब तक श्रावक व्रतोंको पालते हुए भी वह द्रव्यश्रावक ही है और जो सम्यक्त्वके साथ श्रावकके व्रतोंका पालन करते हैं, वे भाव श्रावक हैं।

देश चारित्र या संयमासंयम लब्धिके अध्यवसाय स्थान असंख्यात बतलाये गये हैं, अतः भाव श्रावकके भी उनकी अपेक्षा सूक्ष्म दृष्टिसे असंख्यात भेद होते हैं, किन्तु स्थूल दृष्टिसे आदिकी

---

१. सागारधर्मामृत अ० २ श्लोक ५४, भाग २ पृ० १५। २. व्रतोद्योतन श्रावकाचार, श्लोक २४५–२५० भाग ३ पृ० २३२।

६ प्रतिमाधारी श्रावकोंको जघन्य, सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाधारीको मध्यम और अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंको उत्कृष्ट भाव श्रावक कहा गया है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचारमें रात्रिमें भोजन त्याग, वस्त्र गालित जलपान, पञ्च परमेष्ठि-दर्शन, और जीवदया पालन करनेवालेको सामान्य रूपसे श्रावक कहा गया है।[1]

सावयधम्मदोहाकारने लिखा है कि पञ्चमकालमें जो मद्य, मांस और मधुका त्यागी है, वह श्रावक है। (देखो—भाग १ पृ० ४९० दोहा ७७)

३४. यज्ञोपवीत

जिस यज्ञोपवीतको धारण करनेके लिए वर्तमानका अधिकांश मुनि-समुदाय अपने उपदेशों द्वारा अहर्निश गृहस्थोंको प्रेरित करता रहता है और उसके धारण किये बिना उसे श्रावक धर्मका अधिकारी या मुनि दानका अधिकारी नहीं मानता है, उस यज्ञोपवीतकी चर्चा केवल जिनसेनके सिवाय किसी भी श्रावकाचार-कर्ताने नहीं की है। पण्डित आशाधरजीने 'स्यात्कृतोपनयो द्विजः' (सागार० आ० २ श्लोक १९) लिखकर महापुराण-प्रतिपादित उपनीति या उपनयनसंस्कारका उल्लेख तो किया है, पर उसकी व्याख्यामें भी स्पष्टरूपसे यज्ञोपवीतका कोई विधान नहीं किया है। पण्डित मेधावीने भी पण्डित आशाधरका अनुसरण किया है।

आचार्य देवसेनने भावसंग्रहमें पूजनके समय 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा संकल्प करके कंकण, मुकुट, मुद्रिका इन आभूषणोंके साथ यज्ञोपवीत धारण करनेका वर्णन किया है। (देखो—भाग पृ० ४४८ गाथा ८७) यदि श्रावकको उपनयन संस्कार आवश्यक होता तो पूजनके समय उसे पहरनेका विधान क्यों किया जाता?

आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणमें जिस प्रकारके द्विजों या ब्राह्मणोंकी सृष्टि भरत चक्रवर्तीके द्वारा कराई है और उनके लिए गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रियाओं-का विधान किया है, वह सब वर्णन सर्वज्ञ-प्रतिपादित नहीं है, किन्तु अपने समयकी परिस्थितिसे प्रेरित होकर प्रतिदिन जैनों पर ब्राह्मण धर्मके प्रचारक राजाओंके द्वारा होनेवाले अत्याचारोंके परित्राणार्थ उन्होंने लोक-प्रचलित उक्त क्रियाओंका प्रतिपादन किया है, वह सब जैन शास्त्रोंके अभ्यासियोंसे एवं भारतके इतिहाससे अभिज्ञ विद्वानोंसे अपरिचित नहीं है।

श्वेताम्बरीय जैन आगमोंमें एवं पीछे रचे गये शास्त्रोंमें भी यज्ञोपवीतका कहीं कोई वर्णन नहीं है। प्रतिष्ठा शास्त्रोंमें जहाँ कहीं इसका जो कुछ वर्णन दृष्टिगोचर होता है, उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जब तक यह पूजा-प्रतिष्ठारूप यज्ञ किया जा रहा है, तब तक उसकी पूर्त्तिके लिए मैं इस संकल्पसूत्रको धारण करता हूँ। 'यज्ञोपवीत' इस समस्यित पदमें ही यह अर्थ अन्तर्निहित है।

दक्षिण प्रान्तमें ब्राह्मणोंके द्वारा जैनोंपर अत्यधिक अत्याचार हुए हैं और उनसे अपनी रक्षा करनेके लिए उन ब्राह्मणी क्रियाओंको उन्होंने अपना लिया जिनके कि करनेपर न सम्यक्त्व-की हानि होती थी और न व्रतोंमें ही कोई दूषण लगता था।[2]

---

१. भाग ३ पृ० २३२ श्लोक २४४।

२. सर्वं एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥४४६॥ [यशस्तिलक] (श्रावकाचार सं० भाग १ पृ० १७३)

उत्तर भारतमें जैनियोंको वैसी विकट परिस्थितिका सामना नहीं करना पड़ा और इसी कारणसे इधरके जैनियोंमें यज्ञोपवीतके धारण करनेका रिवाज प्रचलित नहीं हुआ।

३५. अचित्त या प्रासुक भक्ष्य वस्तु-विचार

जिसमें चेतना हो ऐसी हरितकाय वनस्पतिको सचित्त कहते हैं। भोगोपभोगपरिमाण व्रतधारीको सचित्त फल, पत्र, शाक आदिका खाना अतिचार माना गया है। पाँचवीं सचित्तत्याग-प्रतिमाका धारक श्रावक तो सचित्त वस्तुके खानेका यावज्जीवनके लिए त्याग कर देता है। किन्तु वह अचित्त या प्रासुक बनाकर खा सकता है। सचित्त वस्तु अचित्त या प्रासुक कैसे होती है, इस विषयकी प्रतिपादक एक प्राचीन गाथा प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार है—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिललवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

अर्थात् जो फलादि वस्तु सूर्यके तापसे सूख गई हो, पक गई हो, अग्निसे पका ली गई हो, किसी आम्ल (खट्टे) रससे और नमक मिश्रित कर दी गई हो, जिसे चाकू आदि शस्त्रसे छिन्न-भिन्न कर दिया गया हो और कोल्हू आदि यंत्रोंसे पेल या पीस दिया गया हो, वह सभी द्रव्य प्रासुक कहा गया है।

उक्त गाथाके अनुसार यद्यपि सूर्यके तापसे सूखी या पकी हुई वस्तु प्रासुक हो जाती है, पर यदि उसके भीतर गुठली या बीज आदि हों तो उनको सचित्त माना गया है, अतः उनके निकाल देनेपर ही उस फलादिको अचित्त या प्रासुक जानना चाहिए। इसी प्रकार चाकू आदिसे काटी हुई ककड़ी आदिको भी सर्वथा अचित्त नहीं समझना चाहिए, क्योंकि जिस स्थानपर वह चाकूसे काटी गई है, वह अंश या स्थान तो अचित्त हो जाता है; किन्तु उसके सिवाय शेष अंश तो सचित्त ही बना रहता है। इसी प्रकार जितने अंशमें नमक आदि मिल गया है, उतना अंश अचित्त और शेष अंश सचित्त ही बना रहता है। इसलिए अग्निसे भलीभाँति पकायी हुई वस्तुको ही अचित्त या प्रासुक मानना चाहिए।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वृक्षादिसे तोड़ा गया या स्वयं गिरा हुआ फलादि अचित्त है। परन्तु उनका यह मानना भ्रमपूर्ण है। जिस वनस्पतिसे फलादि भिन्न हुआ है, उसमें यद्यपि उस वनस्पतिका मूलजीव नहीं रहा है, तथापि उसके बीज, आदिके आश्रित अनेक जीव तो अभी उसमें विद्यमान ही हैं, क्योंकि खजूर आदि कुछ अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति रूप वृक्षोंके सिवाय शेष वृक्ष, लता आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक ही होते हैं और उनके पत्र, पुष्प, फल, बीज आदिके आश्रित असंख्य निगोदिया वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं। अतः आम, केला, सेव, अंगूरादि फल, तोरई, सेम आदि फलवाले शाक और मैथी पालक आदि पत्रवाले शाक उक्त प्रकारसे अचित्त किये विना खाना दोषावायक ही है।

३६. जल-गालन एवं प्रासुक जलपान विचार

नदी-कूपादिका जल जलकायिक होनेसे सचित्त तो है ही, किन्तु गाढ़े-दोहरे वस्त्रसे अगालित जलमें त्रसजीव भी रहते हैं, यह बात आज सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे प्रमाणित है। वस्त्र-गालित

जलमें भी एक मुहूर्तके पश्चात् सम्मूर्च्छन त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा प्राचीन आचार्योंका कथन है। यथा—

गालितं तोयमप्युच्चैः सम्मूर्च्छति मुहूर्त्ततः।

(श्रावका० भाग २ पृ० ४८१, श्लोक, ९०)

कपूर, इलायची, लवंग, फिटकरी आदिसे तथा आंवला, हरड आदिके चूर्णसे मिश्रित वस्त्र-गालित जल दो पहर अर्थात् छह घंटेतक प्रासुक रहता है और अच्छी तरहसे अग्निसे उबाला गया जल आठ पहर अर्थात् २४ घंटे तक प्रासुक रहता है, इसके पश्चात् उसमें सम्मूर्च्छन त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं। (विशेषके लिए देखें—श्रावकाचार सं० भाग २ पृष्ठ ४८१ श्लोक ९०–९१। तथा भाग ३ पृष्ठ ४१५ श्लोक ६१)।

पं० आशाधरजीने वस्त्र-गालित जलको दो मुहूर्त तक पीनेके योग्य कहा है। (देखो—भाग २, पृष्ठ २४, श्लोक १६) पं० मेधावीने इसी जलको अर्ध पहरके पश्चात् पीनेके अयोग्य कहा है। (देखो भाग २, पृष्ठ १२५, श्लोक ३६)।

वस्त्र-गालित जल-पान करना सर्वसाधारण जैनोंका कर्त्तव्य माना गया है। स्मृतिकारों तकने वस्त्र-गालित जल पीनेका विधान किया है, जिसे कुछ श्रावकाचार-कर्ताओंने भी उद्धृत किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

स्मृति वाक्यं च—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं **पटपूतं जलं पिबेत्।**
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत्॥

अर्थात्—आँखोंसे देखकर पैर रखे, **वस्त्रसे गालित जल पीवे,** सत्यसे पवित्र वचन बोले और मनसे पवित्र आचरण करे। (भाग २, पृष्ठ ४८२, श्लोक १५)।

अगालित जलमें ऐसे कितने ही विषैले जीव-जन्तु रहते हैं कि उनके पेटमें चले जानेपर 'नेहरुआ' आदि भयंकर रोग हो जाते हैं, जिनसे घोर वेदना सहन करनी पड़ती है। अतः स्वास्थ्य की दृष्टिसे भी जलको वस्त्रसे छानकर पीना ही श्रेयस्कर है।

शुद्धतासे तैयार किये गये घी-तेल आदि द्रव पदार्थोंको खानेके लिए जब भी बर्तनमेंसे निकाला जाय, तब भी उसे वस्त्रसे छानकर ही काममें लेना चाहिए। लाटी संहितामें इसका स्पष्ट विधान किया गया है। (देखो भाग ३, पृ० ३, श्लोक २३)।

३७. अभक्ष्य-विचार

जो वस्तु भक्षण करनेके योग्य नहीं हो, उसे अभक्ष्य कहते हैं। जो त्रस जीवोंके घातसे उत्पन्न होते हैं, ऐसे मांस और मधु अभक्ष्य हैं। जिसमें त्रस जीव पाये जायें, ऐसे फलादि तथा जिनमें अनन्त स्थावर जीवोंका घात हो ऐसे आलू, मूली आदि जमीकन्द भी अभक्ष्य कहे गये हैं। जो काम विकार, प्रमाद आदि वर्धक मदिरा, भांग, चरस आदि हैं, उन्हें भी अभक्ष्य कहा गया है। जो शरीरमें रोगादिवर्धक पदार्थ हैं, उन्हें भी अभक्ष्य माना गया है और जो उत्तम पुरुषोंके सेवन करनेके योग्य नहीं, ऐसे गोमूत्र आदिको भी अभक्ष्य माना गया है।[1]

---

१. देखो—रत्नकरण्डक, भा० १, पृ० १०, श्लो० ८४-८६।

यद्यपि उक्त पाँच प्रकारके अभक्ष्य पदार्थोंमें सभी भक्षण नहीं करनेके योग्य पदार्थ सम्मिलित हो जाते हैं, फिर भी जैन परम्परामें बाईस अभक्ष्योंका उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा के हिन्दी क्रिया कोषोंमें बाईस अभक्ष्योंका वर्णन किया गया है;[1] परन्तु प्रस्तुत संकलनमें संगृहीत किसी भी श्रावकाचारमें बाईस अभक्ष्योंका उल्लेख या उनके नामोंका निर्देश देखनेमें नहीं आया। हाँ, श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें २२ अभक्ष्योंके नामवाली दो गाथाएँ अवश्य उपलब्ध हैं जो कि इस प्रकार हैं—

पंचुंबरि चउ विगई हिम विस करगे य सव्वमट्टी अ।
राईभोयणगं चिय बहुबीअ अणंत संधाणा ॥ १ ॥
घोलबड़ा वायंगण अमुणिअनामाइं पुप्फ-फलाइं।
तुच्छफलं चलिअ-रसं वज्जे वज्जाणि बावीसं ॥ २ ॥[2]

अर्थात्—बड़, पीपल आदि पाँच उदुम्बर फल, मद्य, मांस, मधु और मक्खन ये चार महाविकृति, हिम (वर्फ), विष, करग (ओला), सर्व प्रकारकी मिट्टी, रात्रि भोजन, बहुबीजी फल, अनन्तकाय, सन्धान (अथाना), घोलबड़ा, बैंगन, अजान पुष्प और फल, तुच्छ फल, और चलितरस ये बाईस प्रकारके अभक्ष्य पदार्थ त्याग करना चाहिए ॥ १-२ ॥

दि० परम्परामें पाँच उदुम्बर और तीन मकार (मद्य, मांस, मधु) के त्यागरूप आठ मूल गुण श्रावकके कहे गये हैं। मक्खन भी मर्यादाके बाहिर होनेपर मांस या मधुके सदृश हो जाता है। इसी प्रकार घोलबड़ा आदि द्विदल पदार्थ, अथाना और चलितरस भी तीन मकारोंमें आ जाते हैं। तुच्छ फल अनन्तकायमें परिगणित होते हैं। विष, मिट्टी और अजान फल प्राण-घातक हैं। बैंगनको भी बहुबीजीमें जानना चाहिए। रात्रिभोजनका तो स्वतंत्र रूपसे निषेध किया गया है। इस प्रकार

---

१. देखो—किशनसिंहकृत क्रियाकोष भा० ५ पृ० ११६। दौलतराम कृत क्रियाकोष भा० ५ पृ० १२४।

२. उक्त गाथाओंका हिन्दी पद्यानुवाद पढ़ते समय गुरु-मुखसे इस प्रकार सुना था—
ओका[1], घोरबड़ा[2], निशि[3]भोजन, बहुबीजा[4], बैंगन[5], सन्धान[6],
बड़[7], पीपल[8], ऊमर[9], [10]कठऊमर, [11]पाकर, फल जो होय[12] अजान।
कन्दमूल,[13], [14]माटी, विष[15], आमिष[16], मधु[17], [18]माखन, अरु मदिरापान[19],
फल[20] अतितुच्छ, [21]तुषार, चलितरस[22], जिनमत ये बाईस अखान ॥
१. ओला—आकाशसे गिरनेवाला जमा पानी, २. घोरबड़ा—मूंग उड़द आदिके घी तेलमें पके दही-छांछमें फूले हुए बड़े, ३. रात्रि भोजन, ४. बहुत बीजवाले पपीता आदि, ५. बैंगन, ६. सन्धान (अथाना, अचार, मुरब्बा) ७. बड़, ८. पीपल, ९. ऊमर, १०. कठूमर और, ११. पाकर इन पाँचों वृक्षोंके फल, १२. अजान फल, १३. कन्दमूल अनन्त स्थावर जीवोंके पिंड, १४. खेतकी गीली मिट्टी (असंख्य स्थावर जीवोंका पिंड) १५. विष (स्व-प्राणघातक) १६. मांस, १७. मधु, १८. मक्खन, १९. मदिरा-पान, २०. अतितुच्छफल (जिसमें बीज पूर्ण रूपसे विकसित नहीं हुए ऐसे छोटे फल, सप्रतिष्ठित वनस्पति, २१. तुषार (जमी हुई ओस बिन्दु, तथा धुनी हुई रुई के समान गिरनेवाला बर्फ) और, २२. चलित रस (जिन वस्तुओंका स्वाद बिगड़ जाय ऐसे घी, तेल, मिष्ठान्न पक्वान्न आदि) ये बाईस प्रकारके पदार्थ जैनमतमें अभक्ष्य कहे गये हैं।

२२ अभक्ष्य पदार्थोंका पृथक् निर्देश नहीं होनेपर भी उनका समावेश रत्नकरण्डकमें प्रतिपादित पाँच प्रकारके अभक्ष्योंमें हो जाता है।

३८. भक्ष्य पदार्थोंकी काल-मर्यादा

भक्षण करनेके योग्य भी वस्तु एक निश्चित काल-सीमाके बाद अभक्ष्य हो जाती हैं, क्योंकि उनमें त्रस-स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं। दिव्य ज्ञानियोंने अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे इसका निर्णय कर शास्त्रोंमें इसका विशद विवेचन किया है। हिन्दी भाषामें रचे गये क्रियाकोषोंमें भक्ष्य-मर्यादाका वर्णन पाया जाता है, पर संस्कृतमें रचित श्रावकाचारोंमें इसका वर्णन दृष्टिगोचर न होनेसे लोग उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि पं० दौलतरामजीने अपने क्रियाकोषके अन्तमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि आज लोग सुर-भाषा (संस्कृत) को विरले पुरुष ही समझते हैं, अतः मैंने इसे नर-भाषा (हिन्दी) में सुर-भाषावाले क्रियाकोषके अनुसार ही रचा है। (देखो श्रा० भा० ५ पृ० ३८९ छन्द १४-१५)

इसके अतिरिक्त श्रीकिशनसिंहजीने अपने क्रियाकोषमें 'हेमन्ते तीस दिणा' आदि जो तीन प्राचीन गाथाएँ (भा० ५ पृ० ११६, ११८ और ११९ में) उद्धृत की हैं, उनसे भी सिद्ध होता है कि पूर्वकालमें भक्ष्याभक्ष्य-मर्यादा-प्रदर्शक कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है, जिसकी कि अनेक गाथाएँ दि० और श्वे० शास्त्रोंमें यत्र-तत्र पाई जाती हैं।[1] इसलिए भक्ष्याभक्ष्यकी मर्यादाको अप्रमाण माननेका कोई कारण प्रतीत नहीं होता है।

क्रियाकोषोंके वर्णनके अनुसार भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थोंकी काल-मर्यादा इस प्रकार है—

नाम भक्ष्य पदार्थ	काल-मर्यादा		
	शीतकाल,	ग्रीष्मकाल	वर्षाकाल
१. गेहूँ, चना आदिका आटा-चून	७ दिन,	५ दिन,	३ दिन
२. हल्दी धना, मिर्च आदि कुटा मसाला	"	"	"
३. बिना पानीके बेसन-लड्डू आदि	"	"	"
४. बूरा, बतासा, मिश्री	१ मास,	१५ दिन,	७ दिन
५. पिसा नमक	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त,	अन्तर्मुहूर्त्त
६. नमक मिला कच्चा भोजन	३ पहर,	२ पहर,	दो पहर
७. नमक मिला पक्का भोजन पूड़ी, पपड़िया, कचौरी आदि	८ पहर,	८ पहर,	आठ पहर
८. दाल, भात, कढ़ी आदि	२ पहर,	२ पहर	२ पहर
९. वसन-गालित दूध, जल	अन्तर्मुहूर्त,	अन्तर्मुहूर्त,	अन्तर्मुहूर्त
१०. भात-उबाला जल, दूध	८ पहर,	८ पहर,	८ पहर
११. भजिया, पूरी, सीरा आदि	४ पहर,	४ पहर,	४ पहर
१२. अथाना लौंजी आदि	८ पहर,	८ पहर,	८ पहर

---

१. मेरे संग्रहमें ऐसी अनेक गाथाएँ संगृहीत हैं।—सम्पादक

विधिपूर्वक गाय-भैंसको दुहकर तत्काल उष्णकर-आगपर उफान देकर, निर्दोष जामन देकर, जमाये गये दहीको आठ पहरके भीतर ही मथकर निकाले हुए मक्खनको तत्काल आगपर रखकर ताये हुए घीकी मर्यादा सामान्यरूपसे एक वर्ष बतलायी गयी है। फिर भी यदि किसी कारणवश उसका वर्ण रस जब विकृत हो जाय, तभीसे वह अभक्ष्य हो जाता है।

इसी प्रकार तिल-सरसों आदिका तेल घानीको साफ करके अपने सामने निकाला गया हो और उसमें जलका अंश भी न रहे, उस तेलकी मर्यादा भी एक वर्षकी कही गयी है, फिर भी यदि किसी कारणवश उसका वर्ण-रस जब बिगड़ जाय, तभीसे वह अभक्ष्य हो जाता है। वर्ण-रस बिगड़नेका अर्थ है चलित रस हो जाना। चलित रसवाले घी-तेलमें उसी वर्णके सम्मूर्च्छिम त्रस-जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अतः चलित रस घी-तेल और चलित रसवाले मिष्ठान-पक्वान्न भी अभक्ष्य जानना चाहिए।

मर्यादाके बाहिर तो सभी भक्ष्य पदार्थ अभक्ष्य हैं। किन्तु मर्यादाके भीतर भी किसी कारण-से चलित रस हुए भक्ष्य पदार्थ भी अभक्ष्य हो जाते हैं।

बड़ी-पापड़ आदि जिस दिन बनाये जावें, उसी दिन भक्ष्य हैं। बड़ीको सुखाकर उसी दिन घी-तेलमें सेंक लेनेपर उसके खानेकी मर्यादा अन्नके समान जानना चाहिए। यही बात पापड़को घी-तेलमें तल लेनेपर लागू होती है।

औषधिके रूपमें काममें आनेवाले सभी प्रकारके द्राक्षासव आदि आसव मदिराके समान ही अभक्ष्य हैं। इसी प्रकार जिनमें मद्यकी या मधुकी पुट दी गई है, ऐसी सभी प्रकारकी देशी या विदेशी औषधियाँ अभक्ष्य हैं।

वर्तमानमें प्रचलित कितनी ही अंग्रेजी दवाएँ पशुओंके जिगर, कलेजा आदिसे बनाई जाती हैं, वे तो अभक्ष्य हैं ही, किन्तु ऐसे इंजेक्शन भी लगवानेके योग्य नहीं हैं जो कि पशुओंके विभिन्न रस-रक्तादिसे बनाये जाते हैं।

३९. द्विदलान्नकी अभक्ष्यताका स्पष्टीकरण

कच्चे दूधमें, कच्चे दूधसे जमे दहीमें और उसके तक्र (ताक छांछ) में दो दानेवाले अन्न (चना, मूंग, उड़द, मसूर आदि) के चून, आटे आदिके मेलसे बननेवाले कढ़ी, रायता, दही बड़े आदि पदार्थोंको द्विदल या द्विदलान्न कहते हैं। ऐसे द्विदलान्नके मुखमें जानेपर जीभ-लारके संयोगसे सम्मूर्च्छिम त्रसजीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है, इसलिए द्विदलान्नको अभक्ष्य माना गया है।

आजसे ५० वर्ष पूर्वकी बात है, मैं ग्रीष्मावकाशमें ललितपुर ठहरा हुआ था और प्रतिदिन प्रातः स्नानार्थ नदी पर जाया करता था। एक मुसलमानको पींजरेमें तीतर और हाथमें कटोरा लिए प्रतिदिन देखा करता था। वह कटोरेमें रखे छाँछ और बेसन (चनेकी दालका चून) को अंगुलीसे घोलकर, उसमें थूककर और सूर्यकी किरणोंकी ओर कुछ देर दिखाकर उसे कबूतरके आगे पिंजरेमें रख देता था। जब एक दिन मैंने उसके ऐसा करनेका कारण पूछा तो उसने बताया कि छांछमें घुले उस बेसनमें थूंककर सूर्यकी किरणोंके योगसे कीड़े पड़ जाते हैं, जिन्हें यह तीतर

चुग लेता है। मुझे यह सुनते ही 'आमगोरससंम्पृक्तं द्विदलं' वाक्य याद आया और जाना कि शास्त्रका यह वाक्य यथार्थ है और द्विदलान्न अभक्ष्य है। मैंने इस घटनाको तभी एक लेख-द्वारा जैन मित्रमें प्रकाशित भी किया था।

'आमगोरससम्पृक्तं' का अर्थ पं० आशाधरजीने कच्चे दूध, दही छांछसे मिश्रित द्विदल-अन्न ही किया है और अपने इसी अर्थके पोषणमें ज्ञानदीपिका पंजिकामें योगशास्त्रका निम्न श्लोक भी उद्धृत किया है—

आमगोरससम्पृक्तद्विदलादिषु जन्तवः।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत्।—(योगशास्त्र ३।७१)

इस श्लोकमें तो केवलि-दृष्ट सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है, परन्तु ऊपर दी गई घटना तो ऐसे स्थूल त्रसजीवोंकी उत्पत्ति प्रकट करती है, जिसे कि कबूतर अपनी चोंचसे चुग सकता है।

'आमगोरससम्पृक्त द्विदल अन्न अभक्ष्य है, इसके आधार पर लोग उष्ण करके जमाये गये दूध, दही और उसके छांछसे सम्पृक्त द्विदलान्नको अभक्ष्य नहीं मानते हैं। कुछ यह भी कहते हैं कि उष्ण दूधसे जमे दही और बने छांछको भी उष्ण करके द्विदल अन्नको मिलाना चाहिए। कितने ही प्रान्तोंमें कच्चा दूध जमाया जाता है। इसलिए सभी बातोंका विचार विवेकी जनोंको करना चाहिए।

किन्तु एक ऐसा भी प्रमाण उपलब्ध हुआ है, जिसके अनुसार पक्व भी गोरसमें मूंग, चना आदि द्विदलवाली वस्तुओंके मिलानेपर भी सम्मूर्च्छिम त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं और वैसे द्विदलान्नके खाने पर उनका विनाश हो जाता है—

यथा—आमेन पक्वेन च गोरसेन मुद्गादियुक्तं द्विदलं तु काष्ठम्।
जिह्वादुर्ति स्यात् त्रसजीवराशिः सम्मूर्च्छिमा नश्यति नात्र चित्रम्॥
(विवरणाचार, अध्याय ६)

अतः कच्चे या पकाये हुए गोरसके साथ सभी प्रकारके द्विदल अन्नोंके भक्षणका त्याग ही श्रेयस्कर है।

४०. सूतक-पातक विचार

प्रस्तुत श्रावकाचार-संग्रहके प्रथम भागमें संकलित किसी भी श्रावकाचारमें सूतक-पातकका कोई विधान नहीं है। दूसरे भागमें संकलित सागार धर्मामृतमें भी इसका कोई उल्लेख नहीं है। पं० मेधावीके धर्म संग्रह श्रावकाचारके छठे अधिकारमें सर्वप्रथम सूतक-पातकका विचार दृष्टि गोचर होता है। वहाँ बताया गया है—

मरण तथा प्रसूतिमें दश दिनतक सूतक पालना चाहिए। इसके बाद ग्यारहवें दिन घर, वस्त्र तथा शरीरादि शुद्ध करके और मिट्टीके पुराने बर्तनोंको बाहिर करके, तथा शुद्ध भोजनादि सामग्री बनाकर सर्वप्रथम जिन भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। शास्त्रोंकी तथा मुनियोंके चरणोंकी विधि पूर्वक पूजा करके तथा व्रतका उद्यापन करके शुद्ध होकर फिर गृह-कार्यमें लगना

चाहिए। सूतकमें दान, अध्ययन तथा जिन-पूजनादि शुभकर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि सूतकके दिनोंमें दान-पूजनादि करनेसे नीचगोत्रका बन्ध होता है। गोत्रके लोगोंको पांच दिन तक उक्त कार्य नहीं करना चाहिए। अन्य मतके अनुसार क्षत्रियोंको पांच दिन, ब्राह्मणोंको दश दिन, वैश्योंको बारह दिन और शूद्र लोगोंको पन्द्रह दिन तक सूतक पालन करना कहा है।

(देखो भाग २ पृ० १७४-१७५, श्लो० २५७-२६१)

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि पं० मेधावीके समय सूतक-पातकका प्रचार था और उसमें भी दिनोंके विषयमें मान्यता-भेद था।

पं० मेधावीके बाद रचे गये ३ श्रावकाचारोंमें भी सूतक-पातकका कहीं कोई विधान दृष्टिगोचर नहीं होता है। किन्तु त्रिवर्णाचारमें तथा किशन सिंह क्रिया कोषमें (भा० ५ पृ० १९५ पर, मूलाचार भाषाका उल्लेख कर इसका अवश्य विधान किया गया है। वह भी पाठकोंको द्रष्टव्य है।

	जन्मका सूतक		मरणका सूतक	
१	तीन पीढ़ी तक	१० दिन	तीन पीढ़ी तक	१२ दिन
२	चौथी पीढ़ी	५ दिन	चौथी पीढ़ी	६ दिन
३	शेष पीढ़ियोंको	एक एक दिन कम	शेष पीढ़ियोंको	एकएक दिन कम
४	विवाहिता पुत्रीके अपने घरमें प्रसूतिमें	३ दिन	विवाहिता पुत्रीकी सन्तानके अपने घर मरने पर	३ दिन
५	पशुकी प्रसूतिमें	१ दिन	पशुके मरने पर	१ दिन

संहिताओंमें यह भी लिखा है कि जहाँ जैसी प्रवृत्ति प्रचलित हो तदनुसार आचरण करना चाहिए।

लाटी संहिताकारने एषणा शुद्धिके लिए सूतक-पातक पालनेका अवश्य निर्देश किया है। यथा—

सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने।
एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥—(भा० ३ पृ० १०७ श्लो० २५१)

भावार्थ—उत्तम श्रावक भोजनकी शुद्धिके लिए सूतक-पातक वाले घरके भोजन-पानका त्याग करे।

४१. स्त्रीके मासिक धर्मका विचार

यद्यपि प्राचीन श्रावकाचारोंमें रजस्वला स्त्रीके विषयमें कोई चर्चा नहीं है, क्योंकि उसका श्रावकके व्रतोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अर्वाचीन श्रावकाचारोंमें उसकी चर्चा की गई है। सर्वप्रथम रजस्वलाकी चर्चा पं० मेधावीने अपने धर्म-संग्रह श्रावकाचारमें की है और उसके कर्तव्योंका विस्तृत वर्णन करते हुए बताया है कि रजोदर्शनसे लेकर चतुर्थ दिनके स्नान करने तक वह मौनसे एकान्त स्थानमें रहे, उस स्थानकी वस्तुओंका स्पर्श न करे, नीरस भोजन करे, मिट्टीके बर्तनमें या

केले आदिके पत्ते पर रखकर भोजन करे, उसके द्वारा स्पर्श की हुई वस्तु गृहस्थको अपने काममें नहीं लेना चाहिए। रजस्वला स्त्रीके स्पर्शसे नेत्र-रोगी अन्धा हो जाता है, पकवान आदि भोज्य वस्तुओंका स्वाद बिगड़ जाता है इत्यादि (भाग २ पृष्ठ १७५ श्लोक २६२-२७२)।

उसके शब्द सुननेसे पापड़ों तकका स्वाद बिगड़ जाता है, ऐसा प्राय: सभीका अनुभव है। श्री अभ्रदेवने अपने व्रतोद्योतन श्रावकाचारके प्रारम्भमें ही रजस्वला स्त्रीके घरकी वस्तुओंके स्पर्श करनेका निषेध किया है और उसके देव-पूजनादि करनेपर उसके बन्ध्या होने, आगामी भवमें नपुंसक और दुर्भागी होने आदिका वर्णन किया है। (भाग ३ पृष्ठ २०७ श्लोक १२ आदि)

दक्षिण भारतमें आज भी उच्च वर्णवाले लोगोंमें रजस्वला स्त्री घरका कोई काम-काज नहीं करती है और एकान्तमें रहकर नीरस भोजन केले या ढाकके पत्तोंपर रखकर खाती है। परन्तु उत्तर भारतमें इसका कोई विचार नहीं रहा है, भोजन बनानेके सिवाय वह प्राय: घरके सब काम करती है और सारे घरमें आती-जाती है। विवेकी स्त्री-पुरुषोंको इसका अवश्य विचार करना चाहिए।

४३. उपसंहार

स्वामी समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्डकमें श्रावक धर्मका जो सूत्र-रूपसे सयुक्तिक वर्णन किया है, वह परवर्ती श्रावकाचारोंके लिए आधारभूत और आदर्श रहा है। उत्तरकालवर्ती श्रावकाचार-कर्ताओंने अपने-अपने समयमें होनेवाले दुष्कृत्योंका निषेध और आवश्यक कर्त्तव्योंका विधान करके उसे इतना अधिक पल्लवित, विकसित और विस्तृत कर दिया है कि तदनुसार आचरण आजके सामान्य गृहस्थके लिए दूभर या दुर्वल हो गया है।

स्वामी समन्तभद्रने प्रारम्भमें ही सम्यग्दर्शनका सांगोपांग वर्णन कर जो उसकी महिमा बतायी है, और उसे मोक्षमार्गका कर्णधार कहा है, उस पर आज विचार-शील मनुष्योंका ध्यान जाना चाहिए और उसे मूढ़ताओं और मदादि दोषोंसे रहित पालन करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यक्त्वको धारण करनेके पश्चात् पाँच अणुव्रतोंको धारण करनेमें भी आज किसीको कोई कठिनाई नहीं है। हाँ, कालाबाजारी करने और जिस किसी भी अवैध मार्गसे धन-संग्रह करनेवालोंको अवश्य ही कठिनाई हो सकती है।

मद्य, मांस और मधुका सेवन जैन घरोंमें कुल-परम्परासे नहीं होता रहा है, परन्तु आज उन्हींके घरोंमें उन्हींकी सन्तान मदिरा-पान करने और होटलोंमें जाकर नाना प्रकारके व्यंजनोंमें बने मांसका भक्षण करने लगी है। फिर मधु-सेवनकी तो बात ही क्या है। यदि आजके जैन मांस-भक्षण और मदिरा-पानका ही त्याग करें तो वही जैनत्वकी प्राप्तिका प्रथम श्रेयस्कर कदम होगा।

आचार्योंने धर्माचरण करनेके लिए सर्व प्रथम अशुभ कार्योंके त्यागका उपदेश दिया है। तत्पश्चात् शुभ कार्योंके करनेका विधान किया है। आजका मनुष्य अशुभ कार्योंका त्याग न करके जैनी या श्रावक कहलानेका हास्यास्पद उपक्रम करता है।

जो विचार-शील जैन श्रावकधर्म धारण करनेका विचार भी करते हैं, वे परवर्ती ग्रन्थकारों-के द्वारा प्रतिपादित बोझिल श्रावक-धर्मको देखकर ही डर जाते हैं और उसे मूलरूपसे भी धारण करनेका साहस नहीं कर पाते हैं। उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि मिट्टी-लकड़ीसे बना घर भी घर कहलाता है, ईंट-चूनेसे बना भी घर घर है और सीमेन्ट-लोहेसे बना या वातानुकूलित घर भी घर कहलाता है। जिस मनुष्यकी जैसी आर्थिक स्थिति होती है, वह उसीके अनुसार अपने घरको बनाता है। इसी प्रकार जिस व्यक्तिकी जैसी कौटुम्बिक परिस्थिति, आर्थिक स्थिति और आत्मिक शक्ति हो, उसे उसी प्रकारका स्वयोग्य श्रावकधर्म धारण करना चाहिए।

संयमासंयम या देश चारित्र लब्धिके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक असंख्यात स्थान होते हैं, उनमेंसे जो जितने अंशका पालन कर सके, उतना ही अच्छा है। ज्यों-ज्यों विषय-कषायों-की मन्दता होगी, त्यों-त्यों वह संयमासंयम लब्धिके ऊपरी स्थानों पर चढ़ता जायगा और अन्तमें संयम लब्धिको भी प्राप्त कर लेगा।

सबसे ध्यान देनेकी बात यह है कि सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंके ऊपर श्रावक और मुनि धर्मका भव्य प्रासाद खड़ा होता है। यदि कोई श्रावक या मुनि धर्मका पालन करते हुए भी सम्यक्त्वके आठों अंगोंका पालन नहीं करता है तो उसका वह धर्म-प्रासाद बिना नींवके मकानके समान ढह जावेगा। आज लोगोंकी इस मूलमें ही भूल हो रही है। जो लोग अपनेको तत्त्वज्ञ मानते हैं और स्वयंको सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उनमें भी उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य जैसे अंगोंका अभाव देखा जाता है और जो अपनेको व्रती मानते हैं, उनमें भी निःकांक्षित, अमूढ़दृष्टि आदि अंगोंका अभाव देखा जाता है और दोनोंमें एक दूसरेकी निन्दाका प्रचार पाया जाता है।

प्रायः सभी श्रावकाचारोंमें सम्यक्त्वके एक-एक अंगमें और श्रावकके एक-एक अणुव्रतमें प्रसिद्ध पुरुषोंकी कथाओंका वर्णन किया गया है। जिससे ज्ञात होता है कि एक ही अंग या व्रतके पालन करनेवाले व्यक्तिका भी बेड़ा पार हुआ है और वह लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार व्यसनोंमें सबसे बड़ा व्यसन जुआ खेलना है, क्योंकि वह सभी अनर्थों और व्यसनोंका मूल कारण है, उसी प्रकार सम्यक्त्वके सभी अंगोंमें निःशंकित और सभी व्रतोंमें अहिंसाव्रत प्रधान है। यदि मनुष्य इस प्रथम अंग और प्रथम व्रतको भी धारण करनेका प्रयत्न करे तो शेष अंगोंका पालन और शेष व्रतोंका धारण भी सहजमें ही क्रमशः उसके स्वयमेव हो जायगा।

आचार्य जिनसेनने श्रावकके लिए जिन पक्ष, चर्या और साधनका विधान किया है और परवर्ती आचार्योंने उनके पालन करनेवालोंके क्रमशः पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक नाम दिया है। इनमेंसे आजके जैनोंको कमसे कम पाक्षिक श्रावकके कर्त्तव्योंका तो पालन करना ही चाहिए। वे कर्तव्य इस प्रकार हैं—

१. वीतराग जिनदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामयी धर्मपर दृढ़ श्रद्धा रखना।

२. मद्य, मांस, मधुके सेवनका त्याग, रात्रि-भोजनका त्याग, अगालित जलपान, और बाजारू कोकाकोला आदि पेय-पदार्थोंके पीनेका त्याग।

३. सातों व्यसनोंका त्याग, स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-सेवनका त्याग।

४. काला बाजारीका त्यागकर न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना।

५. प्रतिदिन देव-दर्शन और यथा संभव जिन-पूजन करना तथा शास्त्र-स्वाध्याय नियम-से करना।

६. मुनि, श्रावक एवं साधर्मी भाइयोंको आहारादि कराना।

७. गुरुजनोंकी सेवा करना और यथा शक्ति दान देना।

ग्यारह प्रतिमाओं के धारकोंको नैष्ठिक कहते हैं और जीवनके अन्तमें समाधिमरण कर आत्मार्थके साधन करनेवालोंको साधक कहते हैं। अतः नैष्ठिक श्रावक बनने और समाधिमरण करनेकी प्रतिदिन भावना करनी चाहिए।

■

कुन्दकुन्द-श्रावकाचारकी विषय-सूची

कुन्दकुन्द श्रावकाचार

श्री कुन्दकुन्द श्रावकाचार

शाश्वतानन्दरूपाय नमस्तेऽस्त्र कलावते । सर्वज्ञाय नमस्तस्मै कस्मैचित्परमात्मने ॥१
सोऽहं स्वायम्भुवं बुद्धं नरकान्तकरं गुरुम् । भास्वन्तं शङ्करं श्रीदं प्रणौमि प्रणतो जिनम् ॥२
जीवन्ती प्रतिमा यस्य वचो मधुरिमाञ्चितम् । देहं गेहं श्रियस्तं स्वं वन्दे जिनविधुं गुरुम् ॥३
ईप्सितार्थप्रदः सर्वव्यापतापघनाघनः । अहं जागर्तु विश्वस्य हृदि श्रीधरणक्षमः ॥४
चञ्चलत्वं कलङ्कं ये श्रियो ददति दुर्धियः । ते मुग्धा स्वं न जानन्ति निर्विषं कर्म पुण्यकम् ॥५
लक्ष्मी कल्पलतायां ये वक्ष्यमाणोक्ति-दोहदम् । इच्छन्ति सुधियोऽवश्यं तेषामिष्टा फले ग्रहिः ॥६
कार्यः सद्भिस्ततोऽवश्यमाश्वेतां दातुमुद्यमः । यद्दाने जायते दातुर्भुक्तिमुक्तिश्च निश्चिता ॥७
कुर्वीयं सर्वशास्त्रेभ्यः सारमुद्धृत्य किञ्चन । पुण्यप्रसवकृत्स्वर्गापवर्गफलपेशलम् ॥८
स्वस्यान्यस्यापि पुण्याय कुप्रवृत्ति-निवृत्तये । श्रावकाचारविन्यासग्रन्थः प्रारभ्यते मितः ॥९
प्रवृत्तावत्र यो यत्नः क्वचित्कैश्चित्प्रदर्शितः । विवेकेनावृतः सोऽपि निर्वृतो पर्यवस्यति ॥१०
अगदः पावनः श्रीदो जगच्चक्षुः सनातनः । एतैरन्वर्थतां यातु ग्रन्थोऽयं पाठकैः सह ॥११

जो सदा आनन्दरूप है, सर्वदा ही पूर्ण कलावान् हैं, सर्व तत्त्वोंके ज्ञाता है, ऐसे उस किसी अनिर्वचनीय परमात्माके लिए नमस्कार हो ॥१॥ जो सदा उदितस्वरूप हैं, स्वयम्भू है; बुद्ध हैं, नरकके दुःखोंका अन्त करनेवाले हैं, गुरु हैं, ज्ञानसे भासुरायमान हैं, शंकर अर्थात् सुखके करने-वाले हैं और अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके दाता हैं, ऐसे श्री जिनदेवको मैं नम्रीभूत होकर नमस्कार करता हूं ॥२॥ जो जीवन्त प्रतिमास्वरूप है, जिसके वचन माधुर्यसे परिपूरित हैं, जिनका देह लक्ष्मीका घर है ऐसे अपने उन गुरु श्रीजिनचन्द्रको मै वन्दन करता हूं ॥३॥ वे गुरुदेव अभीष्ट अर्थके देने वाले हैं, विश्वमें सर्वत्र व्याप्त सन्तापको दूर करनेके लिए मेघोंके समान हैं, तथा समस्त संसारके हृदयमें लक्ष्मी धरनेमें समर्थ हैं, वे मेरी बुद्धिको जागृत करें ॥४॥ जो दुर्बुद्धिजन लक्ष्मी को चंचलताका कलंक प्रदान करते हैं, वे मुग्धजन विष-रहित अपने पुण्य कर्मको नहीं जानते हैं ॥५॥ जो बुद्धिमान् लक्ष्मीरूप कल्पलताके वक्ष्यमाण वचनरूप दोहन (मनोवांछित अभिलाषा की पूर्ति) को चाहते हैं, उनकी अवश्य ही अभीष्ट फलके ग्रहणकी पूर्ति होती है ॥६॥ इसलिए अवश्य ही सज्जनोंको इस लक्ष्मीके दान करनेके लिए उद्यम करना चाहिए। जिस लक्ष्मीके दान करनेपर दाताको स्वर्गीय भोगों की प्राप्ति और मुक्ति निश्चितरूपसे होती है ॥७॥ सर्व शास्त्रोंसे कुछ सारको निकालकर मैं पुण्यको उत्पन्न करनेवाले और स्वर्ग तथा मोक्षरूप सुन्दर फलको देनेवाले इस श्रावकाचार की रचना करता हूं ॥८॥ अपने और दूसरोंके पुण्य-सम्पादनार्थ, तथा खोटी प्रवृत्तियोंकी निवृत्तिके लिए यह परिमित श्रावकाचारके वर्णनरूप ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है ॥९॥ इस श्रावकाचारके प्रवर्तनमें जो कुछ भी प्रयत्न कहीं पर भी किन्हीं महापुरुषोंने किया है और उसे विवेकपूर्वक जिन पुरुषोंने समाहृत किया है, वह प्रयत्न उन्हें मुक्तिमें पहुँचा करके विश्राम लेगा ॥१०॥ रोग-संहारक, पवित्र, लक्ष्मी-प्रदाता, जगज्जनोंके नेत्र-स्वरूप, सदासे चला आया यह श्रावकाचाररूप ग्रन्थ इसे पढ़नेवाले पाठकोंके साथ सार्थकताको प्राप्त होवे ॥११॥ सूर्य

आलोक इव सूर्यस्य भुवनस्योपकारकृत् । ग्रन्थोऽयं सर्वसामान्यो मान्यो भवतु धीमताम् ॥१२
धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धयै ध्यात्वेष्टदेवताम् । भागेऽष्टमे त्रियामाया उत्तिष्ठेदुद्यतः पुमान् ॥१३
सुस्वप्नं प्रेक्ष्य न स्वप्यं कथ्यमह्नि च सद्-गुरो । दुःस्वप्नं पुनरालोक्य कार्यः प्रोक्त-विपर्ययः ॥१४
समधातोः प्रशान्तस्य धार्मिकस्यातिनीरुजः । स्यातां पुंसो जिताक्षस्य स्वप्नौ सत्यौ शुभाशुभौ ॥१५
अनुभूतः श्रुतो दृष्टः प्रकृतेश्च विकारजः । स्वभावतः समुद्भूतश्चिन्तासन्ततिसम्भवः ॥१६
देवताद्युपदेशोत्थो धर्म-कर्म-प्रभावजः । पापोद्रेकसमुत्थश्च स्वप्नः स्यान्नवधा नृणाम् ॥१७
प्रकारैरादिमैः षड्भिरशुभश्च शुभोऽपि च । दृष्टो निरर्थकः स्वप्नः सत्यस्तु त्रिभिरुत्तरैः ॥१८
रात्रेश्चतुर्षु यामेषु दृष्टः स्वप्नः फलप्रदः । मासैर्द्वादशभिः षड्भिस्त्रिभिरेकेन च क्रमात् ॥१९
निशान्ते घटिकायुग्मे दशाहात्फलति ध्रुवम् । दृष्टः सूर्योदये स्वप्नः सद्यः फलति निश्चितम् ॥२०
मालास्वप्नो हि दृष्टश्च तथाधिव्याधिसम्भवः । मल-मूत्रादिपीडोत्थः स्वप्नः सर्वो निरर्थकः ॥२१
अशुभः प्राक् शुभः पश्चात् शुभो वा प्रागथवाऽशुभः । पश्चात्फलप्रदः स्वप्नो दुःस्वप्ने शान्तिरिष्यते ॥२२
प्रविशत्यवनौ पूर्णनासिकापक्षमाश्रितम् । पादं शय्योत्थितो दद्यात् प्रथमं पृथिवीतले ॥२३॥

के प्रकाशके समान सज्जनोंका उपकार करनेवाला यह ग्रन्थ सर्वसाधारणजनोंको और बुद्धिमन्तों को मान्य होवे ॥१२॥ इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए इष्ट देवताका ध्यान करके प्रत्येक उद्यमशील पुरुषको रात्रिके अष्टम भागके शेष रहनेपर शयन छोड़ करके उठना चाहिए ॥१३॥

सोते समय शुभ स्वप्नको देख करके पुनः नहीं सोना चाहिए और दिनमें सद्-गुरुके आगे कहना चाहिए। अशुभ स्वप्नको देख करके उपरि-कथितसे विपरीत करना चाहिए। अर्थात् अशुभ स्वप्न देखनेके पश्चात् पुनः सो जाना चाहिए ॥१४॥ जिसके वात-पित्त आदि धातु सम है, जो प्रशान्त चित्त है, धार्मिक है, अत्यन्त नीरोग है, अर्थात् सर्वप्रकारके रोगोंसे रहित है और इन्द्रिय-जयी है, ऐसे पुरुषके द्वारा देखे गये शुभ और अशुभ स्वप्न सत्य होते हैं ॥१५॥ अनुभूत, श्रुत, दृष्ट, प्रकृतिके विकारजनित, स्वभावतः समुत्पन्न, चिन्ताओंकी परम्परासे उत्पन्न, देवता आदिके उपदेशसे उत्पन्न, धर्म-कर्मके प्रभाव-जनित, और पापके तीव्र उदयसे दिखनेवाले, इस प्रकार मनुष्योंके स्वप्न नव प्रकारके होते हैं ॥१६-१७॥ इनमेंसे आदिके छह प्रकारोंसे दिखनेवाले शुभ या अशुभ स्वप्न निरर्थक होते हैं। अन्तिम तीन प्रकारोंसे दिखनेवाले स्वप्न सत्य होते हैं ॥१८॥ रात्रिके चारों ही पहरोंमें देखे गये स्वप्न फलको देनेवाले होते हैं। वह क्रमसे प्रथम प्रहरमें देखा गया स्वप्न बारह मासमें, दूसरे पहरमें देखा गया स्वप्न छह मासमें, तीसरे पहरमें देखा गया स्वप्न तीन मासमें तथा चौथे पहरमें देखा गया स्वप्न एक मासमें फलको देता है ॥१९॥ रात्रि की अन्तिम दो घड़ीमें देखा गया स्वप्न दश दिन में निश्चयसे फलता है सूर्योदय-कालमें देखा गया स्वप्न सद्यः फल देता है ॥२०॥ माला-स्वप्न अर्थात् एकके बाद एक-एक करके देखे गये अनेक स्वप्न, तथा आधि (मानसिक चिन्ता) व्याधि (शारीरिक पीड़ा) से उत्पन्न होनेवाले एवं मल-मूत्रादिकी पीड़ा-जनित सभी स्वप्न निरर्थक होते हैं ॥२१॥ पहले अशुभ स्वप्न दिखे, पीछे शुभ स्वप्न दिखे, अथवा पहले शुभ स्वप्न दिखे और पीछे अशुभ स्वप्न दिखें, तो पीछे दिखने-वाला स्वप्न फलप्रद होता है। दुःस्वप्नके देखने पर शान्ति करना आवश्यक है। अर्थात् दुःस्वप्न देख कर उसकी शान्ति करनी चाहिए है ॥२२॥

पृथ्वीमें प्रवेश करते समय अर्थात् शय्यासे भूमिपर पैर रखते हुए सर्वप्रथम पूर्ण नासिका

वारुणीभूतत्त्वयोर्निद्राविच्छेदः शुभहेतवे । व्योमवाय्वग्नितत्त्वेषु स पुनर्दुःखदायकः ॥२४
शुक्लप्रतिपदो वायुश्चन्द्रेऽथार्के त्र्यहं त्र्यहम् । वहन् शस्तोऽनया रीत्या विपर्यासे तु दुःखदः ॥२५
सार्धघटिद्वयं नाडीरेकैकार्कोदयाद्वहेत् । अरहट्टघटी-भ्रान्तिर्वायोर्नाड्याः पुनः पुनः ॥२६

शतानि तत्र जायन्ते निश्वासोच्छ्वासयोर्नव ।
ख-ख-षडेक कर (२१६००) संख्याऽहोरात्रे सकले पुनः ॥१७

षट्त्रिंशद्गुरुवर्णानां या वेला भरणे भवेत् । सा वेला परतो नाड्यां-नाड्यां सञ्चरतो लगेत् ॥२८
प्रत्येकं पञ्च तत्त्वानि नाड्योश्च वहमानयोः । वहन्त्यहर्निशं तानि ज्ञातव्यानि पलात्मकम् ॥२९
ऊर्ध्वं वह्निरधस्तोयं तिरश्चीनं समीरणः । भूमिमध्यपुटे व्योम सर्वगं वहते पुनः ॥३०

वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं वहेत् क्रमात् ।
वहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा ॥३२

पृथ्व्याः पलानि पञ्चाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः । अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसो दश ॥३२
प्रवाहकाले संख्येयं हेतुर्बहुल्ययोरथ । पृथ्वी पञ्चगुणा तोयं चतुर्गुणमथानलः ॥३३

पक्षका आश्रय ले, अर्थात् नाकके चलनेवाले स्वरका विचार कर तदनुसार शय्यासे उठते हुए पहले पृथ्वी तलपर उसी पैरको रखे ॥२३॥ भावार्थ—यदि दाहिना स्वर चलता हो तो भूमिपर पहिले दाहिने पैरको रखे और यदि वाम स्वर चल रहा हो तो पहिले बायां पैर भूमिपर रखे। जलतत्त्व और भूमितत्त्वमें निद्राका विच्छेद हो, तो वह शुभ होता है। किन्तु आकाशतत्त्व, वायु-तत्त्व और अग्नितत्त्वमें निद्राका विच्छेद दुःख-दायक होता है ॥२४॥ प्रत्येक मास की शुक्ला प्रतिपदासे चन्द्रस्वरमें तीन दिन तक वायु बहे, पुनः तीन दिन तक सूर्यस्वरमें बहे, इस क्रमसे मासके अन्त-पर्यन्त बहनेवाली वायु प्रशस्त मानी गई है। इससे विपरीत क्रममें अर्थात् सूर्यस्वरमें तीन-तीन दिन तक, पुनः चन्द्रस्वरमें बहनेवाली वायु दुःखदायक कही गयी है ॥२५॥ सूर्योदयसे एक-एक नाड़ी अढ़ाई-अढ़ाई घड़ी तक बहती है। इस प्रकार अरहटकी घड़ीके समान वायुकी नाड़ीका पुनः पुनः परिभ्रमण होता रहता है ॥२६॥

एक नाड़ीके कालमें नव सौ (९००) श्वासोच्छ्वास होते हैं और सम्पूर्ण दिन-रातमें श्वासोच्छ्वासोंकी संख्या शून्य-शून्य, छह, एक और कर अर्थात् दो, इस प्रकार (२१६००) इक्कीस हजार छह सौ होती है ॥२७॥ छत्तीस गुरु वर्णोंके उच्चारणमें जितना समय लगता है, उतना एक नाड़ीका समय होता है। अतः परवर्ती (आगे बहनेवाली) प्रत्येक नाड़ीके संचारमें उतना-उतना समय लगता है ॥२८॥ भावार्थ—नाड़ीरूप बहनेवाले पाँचों तत्त्वोंमेंसे प्रत्येक तत्त्वका समय पलात्मक होकर दिन-रात चलता है। प्रत्येक नाड़ीके प्रवहमान श्वासोच्छ्वासोंमें पाँचों तत्त्व दिन-रात बहते रहते हैं। उन तत्त्वोंको पलात्मक अर्थात् पलके काल-प्रमाणसे जानना चाहिए ॥२९॥ इन पाँचों तत्त्वोंके जाननेका क्रम इस प्रकार है—अग्नितत्त्व ऊपर की ओर बहता है, जलतत्त्व नीचेकी ओर बहता है, वायुतत्त्व तिरछा बहता है, भूमितत्त्व मध्य पुटमें बहता है और आकाशतत्त्व सर्व ओर बहता है ॥३०॥ इस प्रकार ये पाँचों तत्त्व क्रमसे बहते हैं—वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और आकाश सूर्य और चन्द्र इन दोनों ही नाड़ियोंके बहनेमें सदा यह क्रम जानना चाहिए ॥३१॥ पृथ्वीतत्त्वका काल पचास पल है, जलतत्त्वका काल चालीस पल है, अग्नितत्त्वका काल तीस पल है, वायुतत्त्वका काल बीस पल है और आकाशतत्त्वका काल दस पल है ॥३२॥ तत्त्वोंके सामान्य रूपसे प्रवाह-कालमें पलोंकी यह संख्या कही गई है।

त्रिगुणो द्विगुणो वायुर्वियदेकगुणं भवेत् । गुणं प्रति दश पलान्युर्व्याः पञ्चाशदित्यपि ॥३४
एकैकहानिस्तोयादेस्तेऽथ पञ्चगुणा क्षितेः । गन्धो रसश्च रूपं च स्पर्शः शब्दः क्रमादमी ॥३५

तत्राभ्यां भूजलाभ्यां स्यात् शान्तेः कार्ये फलोन्नतिः ।
दीप्ताच्छिरादिके कृत्ये तेजो वाय्वम्बरैः शुभम् ॥३६

पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते । आद्यैः स्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्यकामोद्भवा परे ॥३७
तृतीये कोपसन्तापौ तुर्ये च चलितात्मनः । पञ्चमे शून्यतैव स्यादथवा धर्मवासना ॥३८
श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये । सृक्विण्योः प्रान्तकोपान्त्याङ्गुलीशेषे दृगन्तयोः ॥३९
न्यस्यान्तर्भ्रु पृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत् क्रमात् । पीतश्वेतारुणैः श्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधिखम् ॥४०
पीतः कार्यस्य संसिद्धिः बिन्दुः श्वेतः सुखं पुनः । भयं सन्ध्यारुणोद्भूतो हानिर्भृङ्गसमद्युतिः ॥४१
जीवितव्ये जये लाभे शस्योत्पत्तौ च वर्षणे । पुत्रार्थे युद्धप्रश्ने च गमनागमने तथा ॥४२

किन्तु किसी हेतुसे इनके पलोंकी संख्या अधिक या अल्प भी हो सकती है। पृथ्वीतत्त्वके पलोंकी संख्या पंचगुणी है, जलतत्त्वके पलोंकी संख्या चतुर्गुणी है, अग्नितत्त्वके पलोंकी संख्या तिगुनी है, वायुतत्त्वके पलोंकी संख्या दुगुनी है और आकाशतत्त्वके पलोंकी संख्या एक गुणी होती है। इस प्रकार गुणनके प्रति दश पलोंको जानना चाहिये। तदनुसार पृथ्वीतत्त्वके पल पचास होते हैं ॥३३–३४॥

इन जलादि तत्त्वोंमें एक-एककी हानि होती है। पृथ्वी तत्त्वकी पलसंख्या पचगुणी है। पृथ्वीका लक्षण गन्ध है, जलका लक्षण रस है, अग्निका लक्षण उसका भासुरायमान स्वरूप है, वायुका लक्षण स्पर्श है और आकाशका लक्षण शब्द है। इस क्रमसे तत्त्वोंके ये गुण कहे गये हैं ॥३५॥ इन उक्त तत्त्वोंमेंसे पृथ्वी और जल तत्त्वके द्वारा शान्तिक-पौष्टिक कर्मोंमें फलकी उन्नत्ति होती है। तेज तत्त्वमें उग्र और तीक्ष्ण कार्य सम्पन्न होते हैं, अर्थात् अभिचार, घात, परस्पर भेदोत्पादन और पशुओंके दमन आदि कार्य होते हैं। वायु और आकाश तत्त्वके द्वारा शुभ कार्योंकी प्रेरणा और पूर्ति होती है ॥३६॥

अब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन तत्त्वोंके चिह्न बतलाते हैं—आद्य पृथ्वी तत्त्वका चिह्न अपने चित्तकी स्थिरता है, जलतत्त्वका चिह्न शैत्य और काम-जनित अन्य भाव है, अग्नितत्त्वका चिह्न काप और सन्ताप है, चौथे वायुतत्त्वका चिह्न आत्माकी चंचलता है, पाँचवें आकाश तत्त्वका चिह्न शून्यता अथवा धर्म-चिन्तनरूप वासना है ॥३७-३८॥ दोनों हाथोंके अंगूठोंको दोनों कानोंमें, दोनों तर्जनियोंको दोनों नेत्रोंके कोनोंमें, दोनों मध्यमा अंगुलियोंको नाकके दोनों छिद्रोंमें, दोनों अनामिकाओंको मुखके दोनों किनारोंपर रखकर स्वर-साधन करे ॥३९॥

उक्त प्रकारसे वायुका दोनों भृकुटियोंके मध्यमें विन्यास करनेपर पृथ्वी आदि तत्त्वोंका परिज्ञान इस क्रमसे होता है—पृथ्वीका पीतवर्ण, जलका श्वेतवर्ण, अग्निका अरुण वर्ण और वायुका श्यामवर्ण वाली बिन्दुओंसे परिज्ञान होता है। तथा आकाशका उपाधिरहित शून्य रूपसे ज्ञान होता है ॥४०॥ पीतवर्णकी बिन्दु कार्यकी सम्यक् प्रकारसे सिद्धि करती है, श्वेतवर्णकी बिन्दु सुख-कारक है, सन्ध्याका अरुणतावाली बिन्दु भय उत्पन्न करती है, और भौंरेके समान कृष्णवर्णकी बिन्दु हानि-कारक है ॥४१॥ जीवितव्यमें, जयमें, लाभमें, धान्यकी उत्पत्तिमें, वर्षामें, पुत्रके प्रयोजनमें, अर्थात् सन्तान आदिके विषयमें, युद्धमें, तथा गमनागमनके प्रश्नमें

पृथ्व्यप्तत्त्वे शुभे स्यातां वह्निवातौ च नो शुभौ ।
अर्थसिद्धिः स्थिरोर्व्यां तु शीघ्रमम्भसि निर्दिशेत् ॥४३

निष्ठीवनेन दन्तादेस्तथा कुर्यान्निघर्षणम् । अङ्गदार्ढ्याय पाणिभ्यां वज्रीकरणमादिशेत् ॥४४
वज्रनामकमाकण्ठः वातपानमथवाऽन्यः । पाथः प्रसृतयोऽष्टौ वाम्योपा केचिद्वदन्त्यकः ॥४५

न स्वपेदन्योऽप्यमायासं कुर्यात्पीत्वा जलं सुधीः ।
आसीनः सपदि शास्त्रार्थान् दिनकृत्यानि च स्मरेत् ॥४६

प्रातः प्रथममेवाथ स्वपाणिं दक्षिणं पुमान् । पश्येद्वामं च वामाक्षी निजपुण्यप्रकाशकम् ॥४७
मौनी वस्त्रावृतः कुर्याद्दिने सन्ध्याद्वयेऽपि च । उदङ्मुखः शकृन्मूत्रे रात्रौ पास्या (?) नमः पुमान् ॥४८
नक्षत्रेषु नभस्थेषु भ्रष्ट तेजस्सु भास्वतः । यावद्बिम्बोदयस्तावत्प्रातः सन्ध्याभिधीयते ॥४९
भस्म-गोमय-गोस्थानवल्मीक-शकृदादिमत् । उत्तमद्रुमसप्तार्चिमार्गनीराश्रयादि च ॥५०
स्थानं चित्तादिविकृतं तथा कूलङ्कषातटम् । वर्जनीयं प्रयत्नेन वेगाभावेऽन्यथा न तु ॥५१

पृथ्वी और जलतत्त्व शुभ होते हैं। उक्त कार्योंमें अग्नि और वायुतत्त्व शुभ नहीं होते हैं। पृथ्वी तत्त्वमें स्थिर अर्थ को सिद्धि होती है। जलतत्त्वमें कार्यकी सिद्धि शीघ्र होती है, ऐसा कहना चाहिए ॥४२-४३॥

(उठकर) जलसे कुरला करनेके साथ दाँतों आदिका घर्षण करे। तथा शरीर को दृढ़ताके लिए दोनों हाथोंसे वज्रीकरणका निर्देश करे, अर्थात् दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर आजू-बाजू और पीछे पीठकी ओर ले जाना चाहिए ॥४४॥

अथवा कितने ही विद्वान् वज्रीकरण का यह भी अर्थ कहते है कि कण्ठ पर्यन्त वायुका पान करना चाहिए, या तीन प्रसृति (चुल्लु) या आठ प्रसृति प्रमाण जल-पान करके उसे गले में अगुलियाँ डालकर वापिस निकालना चाहिए ॥४५॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह जल पीकरके न सोवे और परिश्रमका कोई कार्य ही करे। प्रातःकाल उठकर एकान्तमें जहाँ पर किसीका पैर न पड़ा हो बैठकर शास्त्रके अर्थोका और दिनमें करने-योग्य कार्यो का विचार करना चाहिए ॥४६॥ प्रातः काल उठते समय सर्व प्रथम मनुष्य अपने पुण्य-प्रकाशक दाहिने हाथको देखे। तथा स्त्री अपने वाम हाथको देखे ॥४७॥

मनुष्यको चाहिए कि वह दोनों सन्ध्याओंमें, तथा दिनमें मौन रखता हुआ, वस्त्रोंसे आवृत होकर उत्तर दिशाकी ओर मुख करके मल-मूत्रका विमोचन करे। तत्पश्चात् शौच-शुद्धि कर (?) उपास्य जनोंको नमस्कार करे ॥४८॥

प्रातः काल जब आकाश-स्थित नक्षत्र तेज-भ्रष्ट हो जावें और जब तक सूर्यका उदय न होवे, तब तक का वह समय प्रातः कालीन सन्ध्याके नामसे कहा कहा जाता है ॥४९॥

भस्म (राख) गोबर, गायका स्थान, बल्मीक (साँपकी बाँमी) तथा विष्टावाला स्थान, पीपल-बड़ आदि उत्तम वृक्ष, अग्नि, मार्ग और जलके आशयभूत तालाब, बावड़ी आदि, तथा चित्तमें विकार करने वाला स्थान, एवं नदीका किनारा इत्यादि स्थानोंको मल-मूत्रके वेगके अभावमें प्रयत्न पूर्वक छोड़ना चाहिए, अर्थात् उक्त स्थानोंपर मल-मूत्र-विमोचन न करे। अन्यथा अर्थात् यदि मल-मूत्रका वेग प्रबल हो तो मनोनुकूल स्थानपर (जब जैसा अवसर हो) तब उक्त स्थानोंमेंसे कहीं किसी एक स्थानपर मल-मूत्रका विमोचन कर सकता है ॥५०-५१॥

उक्तं च—

वेगान्न धारयेद्वात-विण्मूत्रक्षुततृट्क्रुधा । निद्राकासश्रमश्वास-जृम्भाऽश्रुच्छर्दिरेतसाम् ॥५२
गन्धवाह-प्रवाहस्य निजं पृष्ठमनर्पयेत् । स्त्री-पूज्यागोचरे लोष्ठद्वये न्यस्तपदः सुधीः ॥५३
मन्दं-मन्दं ततः कृत्वा निरोधस्य विमोचनम् । निशाख्याकुष्टमृत्पिण्डेनोन्मृज्याच्च गुदान्तरम् ॥५४
शुक्रक्षुतशकृन्मूत्रं जायते युगपद्यदि । तत्र मासे दिने वत्सरान्ते तस्य मृतिर्भवेत् ॥५५
विमुच्यान्याः क्रियाः सर्वा जलशौचपरायणः । गुदां लिङ्गं च पाणी च पूतया शोधयेन्मृदा ॥५६
श्लेष्माधिक्येन कर्तव्यो व्यायामस्तद्विनाशकः । ज्वलिते जठराग्नौ च न कार्यो हितमिच्छता ॥५७
गतिशक्त्यर्थमेवासौ क्रियमाणः सुखावहः । गात्रस्य वृद्धिकार्यार्थं सोऽश्वानामिव स्वोचितः ॥५८
गजाद्यैर्वाहनैर्युक्तं व्यायामो दिवसोदये । अमृतोपम एवासौ भवेयुस्ते च शिक्षिताः ॥५९
दन्तदार्ढ्याय तर्जन्या घर्षयेद्दन्तपीठिकाम् : आदावत : परं कुर्याद्दन्तधावनमादरात् ॥६०
यद्याद्यवारि-गण्डूषाद् बिन्दुरेकः प्रधावति । कण्ठे तदा नरैर्ज्ञेयं शीघ्रमज्जनमुत्तमम् ॥६१

कहा भी है—वायुके वेगको, विष्टा, मूत्र, छींक, प्यास, क्रोध, निद्रा, खांसी, परिश्रम, श्वास, जंभाई, अश्रु-पात, वमन और वीर्य-पात इनके वेगको नहीं धारण करे। अर्थात् जब इनका वेग प्रबल हो तब तुरन्त ही उनका यथायोग्य स्थानपर विमोचन कर देना चाहिए। (अन्यथा अनेक प्रकारके रोगोंके उत्पन्न होनेका भय रहता है) ॥५२॥

मल-मूत्रके विमोचन करनेवाले मनुष्यको चाहिए कि वह पवनके प्रवाहको अपनी पीठ न देवे, अर्थात् जिस ओरसे वायु बह रही हो, उस ओर मुख करके मल-मूत्रका विमोचन करे। स्त्रीजनोंके और पूज्य पुरुषोंके अगोचर ऐसे स्थानपर दो लोष्ठोंपर पग रख करके बुद्धिमान् मनुष्यको धीरे-धीरे मल-विमोचन करना चाहिए। तत्पश्चात् तीक्ष्णता-रहित मृदु पीत मृत्पिण्डसे गुदाके मध्यभागका प्रमार्जन करे ॥५३-५४॥ यदि मल-मूत्र विमोचन करते समय वीर्य, छींक, मल और मूत्र ये चारों एक साथ हों तो उसका मरण उस दिन, एक मासमें, या वर्षके अन्तमें होगा, ऐसा जानना चाहिए ॥५५॥ मल-विमोचनके पश्चात् अन्य सर्व क्रियाएँ छोड़कर जलसे शौच शुद्धि करनेमें तत्पर पुरुषको पवित्र मिट्टीसे गुदा, लिंग और अपने हाथोंकी शुद्धि करनी चाहिए ॥५६॥

कफकी अधिकतावाले मनुष्यको कफ-विनाशक व्यायाम करना चाहिए। यदि जठराग्नि प्रज्वलित हो, अर्थात् भूख जोरसे लग रही हो तो आत्म-हितेच्छु पुरुष व्यायाम न करे ॥५७॥ गमन शक्तिके लिए अर्थात् शरीरमें रक्त संचारके लिए किया गया वह व्यायाम सुख-कारक होता है। वह व्यायाम जिस प्रकार घोड़ोंके दौड़ाने आदिसे उनकी शरीर वृद्धिके लिए होता है, उसी प्रकार मनुष्यके द्वारा किया गया व्यायाम शरीर-वृद्धिके लिए होता है ॥५८॥

सूर्योदयके समय हाथी-घोड़े आदिके द्वारा किया गया व्यायाम अमृतके समान शरीरको सुख-कारक होता है। परन्तु जिन हाथी-घोड़ों आदि पर बैठकर दौड़ाने आदिके रूपमें व्यायाम किया जावे, वे शिक्षित होने चाहिए ॥५९॥

दाँतोंकी दृढ़ताके लिए पहले तर्जनी अंगुलीसे दाँतोंकी पीठिकाको अर्थात् मसूड़ोंका घर्षण करे। तत्पश्चात् आदरसे सावधानी-पूर्वक दन्त-धावन करे ॥६०॥ जब प्रथम बार जलके कुल्लेसे एक बिन्दु कंठमें शीघ्र दौड़े, अर्थात् कंठके भीतर चला जावे, तब मनुष्यको 'उत्तम दन्त-मार्जन

अवक्रग्रन्थिसत्कूर्चं सूक्ष्माग्रं द्वादशाङ्गुलम् । कनिष्ठाग्रसमस्थौल्यं ज्ञातवृक्षं सुभूमिजम् ॥६२
अर्के वीर्यं वटे दीप्तिः करञ्जे विजयो रणे । प्लक्षे चार्थसम्पत्तिर्बदर्यां मधुरस्वरम् ॥६३
खदिरे मुखसौगन्ध्यं चिञ्चायां विपुलं धनम् । उदुम्बरे च वाक्-सिद्धिराम्रेणारोग्यमेव च ॥६४
अपामार्गे च धीर्विद्या प्रजाशक्तिर्वपुःद्युतिः । दाडिमे सिन्दुवारेण ककुभः कण्टकैस्तथा ॥६५
जातीतगरमन्दारै दुःस्वप्नं चैव नाशयेत् । अन्येषां वृक्षजातीनां न कुर्याद्दन्तधावनम् ॥६६
अर्धशुष्कं त्वचा हीनं यत्नेन परिवर्जयेत् । इष्टका-लोष्ठ-पाषाणैर्नखराङ्गुलिभिः सृणैः ॥६७
मृत्स्ना चानामिकाङ्गुष्ठैर्न कुर्याद्दन्तधावनम् । अलाभे दन्तकाष्ठे च निषिद्धदिवसे तथा ॥६८
यत्नैः संघर्षणं कुर्याद् गण्डूषैः पञ्चशस्त्रिभिः । द्वादशाङ्गुलं, विप्राणां क्षत्रियाणां दशाङ्गुलम् ॥६९
नवाङ्गुलं तु वैश्यानां शूद्राणामष्टमेव च । कनिष्ठिकानामिकयोरन्तरे दन्तधावनम् ॥७०
आदाय दक्षिणां दंष्ट्रां वामां वा संस्पृशेत्तले । तल्लीनमानस स्वस्थो दन्तमांसव्यथां त्यजेत् ॥७१
उत्तराभिमुखः प्राचीमुखो वा निश्चलासनः । दन्तान्मौनपरस्तेन घर्षयेद् वर्जयेत्पुनः ॥७२

दुर्गन्धं सुषिरं शुष्कं स्यादाम्लं लवणं यतः । (सार्धत्रयकलापकम्)

हुआ' ऐसा जानना चाहिए ॥६१॥ जिस दातुनसे मुख-शुद्धिकी जावे, वह वक्र और गाँठवाली न हो, जिसकी कूची अच्छी बन जावे, पतली हो, बारह अंगुल लम्बी हो, और कनिष्ठाके अग्रभागके समान मोटी हो, तथा उत्तम भूमिमें उत्पन्न हुए ज्ञात वृक्षकी हो ॥६२॥ अर्क (आकड़े) की दातुन वीर्यको बढ़ाती है, बड़की दातुन कान्तिको बढ़ाती है, करंजकी दातुन युद्धमें विजय कराती है, पिलखनकी दातुन धन-सम्पत्तिको बढ़ाती है, बेरीकी दातुन स्वरको मधुर करती है, खैरकी दातुन मुखमें सुगन्ध पैदा करती है, इमलीकी दातुन प्रभूत धनको देती है, ऊमरकी दातुन वाणीकी सिद्धि करती है, आमकी दातुन आरोग्य देती है, अपामार्गकी दातुन बुद्धि, विद्या, प्रजनन-शक्ति, एवं शरीरकी शोभा बढ़ाती है। अनार तथा सिन्दुवार कुकुभ (अर्जुन कवावृक्ष) तथा कंटक वाले बबूल, रेंजा आदिकी दातुन भी उत्तम होती है ॥६३-६५॥

जाति (चमेली) तगर और मन्दारकी दातुन द्वारा दुःस्वप्नका नाश करना चाहिए। इनके सिवाय अन्य जो वृक्ष जातियाँ हैं, उनकी दातुन नहीं करना चाहिए ॥६६॥ अर्धशुष्क और छाल-रहित दातुनका यत्नपूर्वक परित्याग करे। ईंट, लोष्ठ, पाषाणसे, तथा लम्बे नखवाली नोकदार अंगुलियोंसे मिट्टीसे, अनामिका और अंगुष्ठसे दन्तधावन न करे। काष्ठकी दातुनके न मिलनेपर तथा निषिद्ध दिनोंमें यत्नपूर्वक तीन बार पाँच-पाँच (१५) कुल्लोंके द्वारा दांतोंका प्रमार्जन करे। ब्राह्मणोंके लिए बारह अंगुलकी, क्षत्रियोंके लिए दश अंगुलकी, वैश्योंके लिए नव अंगुलकी और शूद्रोंके लिए आठ अंगुलकी दातुन कही गई है। कनिष्ठका और अनामिकाके मध्यमें दातुनको पकड़कर पहले दाहिनी दाढ़के पीछे बायीं दाढ़के तल भागका घर्षण करना चाहिए। दातुन करते समय स्वस्थ मनुष्यको तन्मय चित्त होकर दाँत और मसूड़ोंकी पीड़ा दूर करनी चाहिए ॥६७-७१॥ दातुन करते समय उत्तर दिशाकी ओर मुख करके, अथवा पूर्वदिशाकी ओर मुख करके निश्चल आसनसे बैठकर मौन-पूर्वक दातुनसे दांतोंको घिसना चाहिए। पुनः उसको छोड़ देना चाहिए ॥७२॥ दुर्गन्ध-पूर्ण, सुषिर (पोली) एवं सूखी और खट्टे तथा नमकीन स्वादवाली दातुनका त्याग करे। व्यतिपात योगमें, रविवारके दिन, संक्रान्तिके दिन, सूर्य,

व्यतीपाते रवेर्वारे सङ्क्रान्तौ ग्रहणेषु च । दन्तकाष्ठं नष्ट्याष्टम्यां भूतपक्षान्तषट्तिथौ ॥७३
अभावे दन्तकाष्ठस्य मुखशुद्धिविधिः पुनः । कार्यो वा दशगण्डूषैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदा ॥७४
विलिख्य रदनां जिह्वां विलेखिन्या शनैः शनैः । शुचिप्रदेशे प्रक्षाल्य दन्तकाष्ठं पुनस्त्यजेत् ॥७५
सम्मुखं पतितं स्वस्य ज्ञानाय विदिशां त्यजेत् । ऊर्ध्वस्थं च सुखाय स्यादन्यथा दुःखहेतवे ॥७६
ऊर्ध्वं स्थित्वा क्षणं पश्चात् पतत्येतद्यदा पुनः । मिष्टाहारं तदावेद्येत्तद्दिने शास्त्रकोविदैः ॥७७
कासश्वासज्वराजीर्णशोकतृष्णाऽऽस्यपाकयुक् । तन्न कुर्याच्छिरोनेत्रहृत्कर्णामयवानपि ॥७८
प्रातः शनैः शनैर्नस्यो रोगहृत् शुद्धवारिणः । गृह्णन्तो नासिकातोयं गजागर्जन्ति नीरुजः ॥७९

उक्तं च—

सुगन्धपवनाः स्निग्धनिःश्वना विमलेन्द्रियाः । निर्बली-पलितव्यङ्गा भवेयुर्नस्यशीलिनः ॥८०
आस्यशोषाधरस्फोटस्वरभङ्गनिवृत्तये । पारुष्यदन्तरुक्छित्त्यै स्नेहगण्डूषमुद्वहेत् ॥८१
केशप्रसाधनं नित्यं कारयेदथ निश्चलम् । कराभ्यां युगपत्कुर्यात्स्वोत्तमाङ्गे च तत्पुनः ॥८२
तिलकं द्रष्टुमादर्शो मङ्गलाय च वीक्ष्यते । दृष्टे देहे शिरोहीने मृत्युः पञ्चदशे दिने ॥८३
मातृ-प्रभृतिवृद्धेभ्यो नमस्कारं करोति यः । तीर्थयात्राफलं तस्य तत्कार्योऽसौ दिने दिने ॥८४

चन्द्र ग्रहणके समय दोनों षष्ठी और अष्टमी कृष्णा चतुर्दशी और अमावस्या इन छह तिथियोंमें काष्ठकी दातुन न करे ॥७३॥ काष्ठकी दातुनके अभावमें मुखकी शुद्धि दश कुल्लोंसे करे और जीभके मैल की सफाई तो सदा ही करनी चाहिए ॥७४॥ विलेखिनी (दातुन) से दांतोंको और जीभको धीरे-धीरे साफ करके उसे जलसे धोकर स्वच्छ स्थानमें डाल देना चाहिए ॥७५॥

सम्मुख गिरी हुई दातुन अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिए होती है, वक्र दिशामें दातुन न फेंके। ऊपरी स्थानपर गिरी हुई दातुन सुखके लिए होती है, इसके अतिरिक्त अन्यत्र गिरी हुई दातुन दुःखके लिए होती ॥७६॥ फेंकी हुई दातुन एक क्षण ऊपर ठहरकर पुनः नीचे गिरे तो उस दिन मिष्ट आहार मिलेगा, ऐसा शास्त्र-वेत्ताओंको कहना चाहिए ॥७७॥ खांसी, सांस, ज्वर, अजीर्ण, शोक, तृष्णा (प्यास) और मुख-पाकसे युक्त मनुष्यको दातुन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार शिर, नेत्र, हृदय और कानोंकी पीड़ावाला मनुष्य भी दातुन न करे ॥७८॥

प्रातः काल शुद्ध जलको धीरे-धीरे नाकके द्वारा ग्रहण करनेसे सर्व रोग दूर होते हैं। नाकसे जलको ग्रहण करनेवाले मनुष्य नीरोग रहते हैं और गजके समान गर्जना करते हैं ॥७९॥ कहा भी है—नासिकासे जल ग्रहण करनेवाले मनुष्य सुगन्धित पवन (दुर्गन्ध-रहित अपानवायु) वाले, स्निग्ध निःश्वासवाले, निर्मल इन्द्रियोंवाले, बलि (झुरिया) पलित (श्वेतकेश) और अंग-भंगसे रहित होते हैं ॥८०॥ मुख-शोष, अधर-स्फोट और स्वर-भंगकी निवृत्तिके लिए, तथा परुषता और दन्त-रोगोंके दूर करनेके लिए तैलके कुल्ले करना चाहिए ॥८१॥ दन्तधावन करनेके पश्चात् केशोंका प्रसाधन नित्य निश्चलरूपसे करावे। अथवा अपने दोनों हाथोंसे एक साथ अपने मस्तकमें तैल-मर्दन करे ॥८२॥ मस्तकपर तिलक लगानेके लिए और मंगलके लिए दर्पणमें मुख देखना चाहिए। दर्पणमें यदि शिर-विहीन शरीर दिखे तो पन्द्रहवें दिन मृत्यु होती है ॥८३॥ जो पुरुष प्रातःकाल माता, पिता आदि वृद्ध जनोंको नमस्कार करता है, उसे तीर्थयात्राका फल प्राप्त होता है। इसलिए प्रतिदिन मनुष्यको चाहिए कि वह वृद्धजनोंको नमस्कार करे ॥८४॥

उक्तं च—

मातृ-पित्रो रतौरस्कक्रियामुद्दिश्य याचकः । मृतशय्या प्रतिग्राही न पुनः पुरुषो भवेत् ॥८५

तथा—

वृद्धौ च माता-पितरौ साध्वी भार्या प्रियः सुतः । अपकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥८६

अन्यच्च—

अनुपासितवृद्धानामसेवितमहीभुजाम् । आचारमुक्तसुहृदां दूरे धर्मार्थतुष्टयः ॥८७
ततः स्नात्वा शिरस्कण्ठाद्यवयवेषु यथोचितम् । पवित्रयितुमात्मानं जलैर्मन्त्रक्रमेण वा ॥८८
वस्त्रशुद्धिं मनःशुद्धिं कृत्वा त्यक्त्वाऽथ दूरतः । नास्तिकादीनप्यस्पृश्य पुण्यपूजागृहान्तरे ॥८९
आश्रयन् दक्षिणां शाखामर्चयन्नथ देहलीम् । तामस्पृशन् प्रविशेत दक्षिणेनाङ्घ्रिणा पुनः ॥९०
सुगन्धैर्मधुरैर्द्रव्यैः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः । वामनाड्यां प्रवृत्तायां मौनवान् देवमर्चयेत् ॥९१
सङ्कुलाद्विजने भव्यः सुशब्दान्मौनवान् शुभः । मौनिना मानसः श्रेष्ठो जप्यः श्लाघ्यपरः परः ॥९२
पूजाद्रव्यार्जनोद्वाहे दुर्गादिसरिदाक्रमे । गमागमे जीविते च गृहक्षेत्रादिसङ्ग्रहे ॥९३

कहा भी है—माता-पिताके औरस पुत्रोचित श्राद्ध आदि क्रियाके उद्देश्यसे याचना करनेवाला और मृतशय्याको ग्रहण करनेवाला व्यक्ति पुनः (जन्मान्तरमें) पुरुष नहीं होता है ॥८५॥ भावार्थ—वैदिकों एवं स्मृतिकारोंके मतानुसार पितरोंका श्राद्ध करना आवश्यक है और मृत व्यक्तिके सूतक दूर होनेके दिन वस्त्रादि युक्त शय्याका दान करना भी आवश्यक है उसे दक्षिणामें लेनेवाला पुरुष नीच या निन्द्य माना जाता है। फिर भी यदि कोई निर्धन या याचक पुरुष उस मृतशय्याको ग्रहण करके अपने पितादिका श्राद्ध करता है तो वह स्वर्गका देव होता है।

तथा—वृद्ध माता-पिता, सती साध्वी नारी और शिष्ट पुत्र इनका भरण पोषण सैकड़ों अपकार्य करके भी करना चाहिए, ऐसा मनुने कहा है ॥८६॥ और भी कहा है—वृद्ध जनोंकी उपासनासे रहित, राजाओंकी सेवासे विहीन एवं आचारहीन मित्रोंके धर्म, धन और सन्तोषकी प्राप्ति दूर ही रहती है ॥८७॥

तत्पश्चात् शिर, कण्ठ आदि अंगोंका जलसे यथायोग्य स्नान करके शरीर-शुद्धि करे और आत्माको पवित्र करनेके लिए शास्त्रोक्त मंत्रोंके क्रमसे स्नान करे। पुनः वस्त्र-शुद्धि और मनः शुद्धि करके नास्तिक आदि जनोंको दूरसे छोड़कर उन्हें स्पर्श नहीं करता हुआ पुण्य (पवित्र) पूजा-गृहके भीतर जाता हुआ दक्षिण शाखाका आश्रय लेकर और पूजा-गृहकी देहलीकी अर्चा करता हुआ, उसे स्पर्श नहीं करके दाहिने पगसे उसमें प्रवेश करे ॥८८-९०॥ वहाँ पर पूर्व दिशाकी ओर अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके सुगन्धित मधुर द्रव्योंसे वाम नाडीके चलनेपर मौन रखता हुआ देवकी पूजन करे ॥९१॥ यदि देव-गृह जन-संकुल हो तो सुन्दर शब्दोंको उच्चारण करता हुआ भव्य पुरुष पूजन करे। यदि देव-गृह जन-रहित (एकान्त) हो तो मौन रखना ही शुभ है। मौन रखनेसे चित्त स्वच्छ एवं निर्मल होता है। तत्पश्चात् मौन-पूर्वक श्रेष्ठ जपका जाप करना श्रेष्ठसे श्रेष्ठ है ॥९२॥

पूजन करते समय, द्रव्यके उपार्जन करनेमें, विवाहमें, दुर्ग आदिके और नदीके पार करते समय, गमन और आगमनमें जीवित रहनेमें; गृह और क्षेत्र आदिके संग्रह करनेमें, वस्तुओंके क्रय

क्रय-विक्रयणे वृष्टौ सेवाकृषिद्विषज्जये । विद्यापट्टाभिषेकादौ शुभेऽर्थे च शुभे शशी ॥९४
अग्रस्थो वामगो वापि ज्ञेयः सोमदिशि स्थितः । पृष्ठस्थो दक्षिणस्थश्च विज्ञेयः सूर्यभागभाक् ॥९५
प्रश्ने प्रारम्भणे वापि कार्या नो वामनासिका । पूर्णा वायोः प्रवेशश्च तदा सिद्धिरसंशयम् ॥९६
योद्धा समाक्षराण्युच्चेद् दूतो वामे व्यवस्थितः । तदा जयो विपर्यासे ह्यजयं मतिमान् वदेत् ॥९७
प्रवाहो यदि चार्केन्द्वोः कथञ्चिद्युगपद् भवेत् । विजयादीनि कार्याणि समानि च तदाऽऽदिशेत् ॥९८
मुद्गलाद्यैर्गृहीतस्य विषार्तस्याथ रोगिणः । प्रश्ने समाक्षराण्युच्चेदित्यादि प्राग्वदादिशेत् ॥९९
नामग्रहं द्वये प्रश्ने जयाजयविधौ वदेत् । पूर्वोक्तस्य जयं पूर्णे पक्षे रिक्ते परस्य तु ॥१००
रोगिप्रश्ने च गृह्णीयात्पूर्वं ज्ञात्यभिधां यदि । पश्चाद् व्याधिमतो नाम तज्जीवति नान्यथा ॥१०१
योद्धृणां रोगितानां च प्रभ्रष्टानां निजात्पदात् । प्रश्ने युद्धविधौ वैरि-सङ्गमे सहसा भवेत् ॥१०२
स्नाने पानेऽशने नष्टान्वेषे पुत्रार्थमैथुने । विवादे दारुणेऽर्थे च सूर्यनाडी प्रशस्यते ॥१०३
नासायां दक्षिणस्यां तु पूर्णायामपि वायुना । प्रश्नाः शुभस्य कार्यस्य निष्फलाः सकला अपि ॥१०४
यथाशक्ति ततश्चिन्त्यं तयोर्नित्यं तदग्रतः । यस्य प्रभावतः सर्वाः सम्भवन्ति विभूतयः ॥१०५

और विक्रय में,वर्षाके समयमें, सेवा, कृषि और शत्रुको जीतनेके समय, विद्यारम्भमें'तथा पट्टाभिषेक आदि शुभ कार्यमें चन्द्रनाड़ी शुभ है ॥९३-९४॥

किसी वातको पूछनेके लिए आया हुआ मनुष्य यदि आगे आकर बैठे, या बांई ओर बैठे तो उसे चन्द्र दिशामें स्थित जानना चाहिए। यदि वह पीठकी ओर या दाहिनी ओर आकर बैठे तो सूर्य दिशा वाला जानना चाहिए ॥९५॥ प्रश्न करते समय अथवा किसी कार्यके प्रारम्भमें वाम-नासिका वाली नाड़ी नहीं होना चाहिए। दोनों नाड़ियोंका स्वर पूर्ण हो, और वायुका प्रवेश और निर्गमन हो रहा हो तो निःसन्देह कार्यकी सिद्धि होगी ॥९६॥ युद्ध करने वाले का दूत यदि समान अक्षर बोले और वाम दिशामें आकर बैठा हो प्रश्नकर्त्ता तथा उत्तरदाताका वाम स्वर हो तो उसकी जीत होगी। इससे विपरीत यदि वह विषय अक्षरोंको बोले और दक्षिण दिशामें आकर बैठे तो मतिवान् पुरुष पराजयको कहे ॥९७॥ यदि कदाचित् सूर्य और चन्द्रनाड़ीका प्रवाह एक साथ हो रहा हो तो विजय आदि कार्योंका समान निर्देश करना चाहिए, अर्थात् दोनों की परस्पर सन्धि हो जायगी ॥९८॥

मुद्गर, लाठी आदि लेकर आया हुआ, विषसे पीड़ित और रोगी पुरुषका दूत यदि समान अक्षरोंको बोले तो उसका शुभ फल कहे। और यदि वह विषम अक्षर बोले तो पूर्वके समान ही अशुभ फल कहे ॥९९॥ यदि विषार्त और रोगीके नाम सम-विषमाक्षरके हों तो उनके नामके अक्षरोंको ग्रहणकर जय और पराजय कहे। अथवा पूर्वोक्त पूर्ण स्वरमें समान अक्षर वालेकी जीत और रिक्त पक्षमें (खाली स्वरमें) दूसरेका पराजय कहे ॥१००॥ रोगीके प्रश्नमें पहले जातिका नाम आवे और पीछे व्याधिवालेका नाम बोला जावे तो वह जीवित रहता है, अन्यथा—इसके विपरीत दशामें वह जीता नहीं है ॥१०१॥

योद्धाओंके, रोगियोंके और अपने पदसे परिभ्रष्ट हुए लोगोंके प्रश्नमें, युद्ध-विधिमें और वैरीके समागममें सहसा मृत्यु, पराजय या पद भ्रष्टता होती है ॥१०२॥ स्नान करनेमें, खान-पानमें विनष्ट वस्तुके अन्वेषण करनेमें, पुत्रोत्पादनके लिए मैथुन-सेवन करनेमें, वाद-विवादमें, और दारुण कार्य करनेमें सूर्यनाड़ी प्रशस्त मानी गई है ॥१०३॥ दक्षिण नासिकाके वायुसे पूर्ण होनेपर भी शुभ कार्यके लिए किये गये सभी प्रश्न निष्फल होते हैं ॥१०४॥ जिसके प्रभावसे सभी प्रकार

धर्मशोकभयाहार-निद्राकामकलिक्रुधः । यावन्मात्रा विधीयन्ते तावन्मात्रा भवन्त्यमी ॥१०६
आपद्व्यपायने स्वामिसेवायां पोष्यपोषणे । धर्मकृत्ये च नो कर्तुं युज्यन्ते प्रतिहस्तकाः ॥१०७
संवृताङ्गः सभायां प्रायः पूर्वोत्तराननः । स्थिरासनसमासीनः संवृत्य चतुरो वसेत् ॥१०८
अधमर्णाचिरारात्यविग्रहोत्पादनेऽपि च । शून्यागस्यपि कर्तव्या सुखलाभजयार्थिभिः ॥१०९
स्वजनस्वामिगुर्वाद्या ये चान्ये हितचिन्तकाः । जीवाङ्गे ते ध्रुवं कार्या वाञ्छितार्थविधिः शुभ ॥११०
आचार्याणां कवीनां च पण्डितानां कलाभृताम् । समुत्पाद्यः सदानन्दः कुलीनेन कुलं यथा ॥१११
विशेषज्ञानविधिना कलिकालवशाद् गतम् । नित्यमेव ततश्चिन्त्यं बुधैश्चन्द्रबलादिकम् ॥११२
न निमित्तद्विषां क्षेमो नायुर्वेदद्विषामपि । न श्रीर्नीतिद्विषामेकमपि धर्मद्विषां न तु ॥११३
निरन्नैर्मैथुनं निद्रावारिणामर्कसेवनम् । एतानि विषतुल्यानि वर्जनीयानि यत्नतः ॥११४
सुकृताय न तृप्यन्ति सन्तः सन्ततमप्यहो । विस्मर्तव्यो न धर्मेऽपि समुपास्तिस्ततः क्वचित् ॥११५
धर्मस्थाने ततो गत्वा धीमद्भिः कृतभूषणैः । प्राक्पुण्यं दृश्यतेऽन्येषां स्वयमप्यत्रोपार्ज्यते ॥११६

की विभूतियाँ प्राप्त होती है, उस परमात्माके आगे इन दोनों स्वरोंका यथाशक्ति नित्य ही विचार करना चाहिए ॥१०५॥

धर्म, शोक, भय, आहार, निद्रा, काम, कलह और क्रोध, ये कार्य जितनी मात्रामें किये जाते हैं, उतनी ही मात्रामें ये पुनः उत्पन्न होते हैं। (इसलिए शोक आदि पाप कार्योंको कमसे कम और धार्मिक कार्योंको अधिकसे अधिक करना चाहिए) ॥१०६॥ आपत्तिके दूर करनेमें, स्वामी की सेवामें, पोष्य वर्गके पोषण करनेमें और धर्म-कार्य में दूसरेके द्वारा हस्तक्षेपका विचार नहीं किया जाता है ॥१०७॥ वस्त्र आदिसे जिसने अपने शरीरको भले प्रकारसे आवृत किया है, ऐसा चतुर पुरुष अपने शरीरके अंगोंका संवरण करके प्रायः पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके स्थिर आसनसे सावधान होकर सभामें बैठे ॥१०८॥ अधमर्ण (कर्जदार) के साथ, नवीन शत्रुके साथ अविग्रह (सन्धि) करनेमें, निरपराध पुरुष पर, सुख-शान्ति, अर्थलाभ और अपनी जीतिके इच्छुक पुरुषोंको अच्छा व्यवहार करना चाहिए ॥१०९॥ जो स्वजन है, अपना स्वामी है और जो गुरुजन आदि है, एवं अन्य जो अपने शरीर और आत्माके हित-चिन्तक व्यक्ति है, उनके साथ सद्-व्यवहार करना चाहिए ॥११०॥

जैसे कुलीन पुरुष अपने कुलके पुरुषोंको सदा आनन्दित रखता है, उसी प्रकार उसे आचार्योंको, कवियोंको, पंडितोंको और कलाकारोंको सदा आनन्दित करते रहना चाहिए ॥१११॥ कलिकालके वशसे विनष्ट हुए चन्द्र-बलादिके परिज्ञानको विशेष ज्ञानोपार्जन की विधिसे नित्य ही विद्वानोंके साथ चिन्तन करना चाहिए ॥११२॥ निमित्त शास्त्रसे द्वेष करने वालोंका कल्याण नहीं, आयुर्वेदसे द्वेष करने वालोंका भी कल्याण नहीं, हर किसीसे द्वेष करने वालोंका कल्याण नहीं, और धर्मसे द्वेष करने वालोंका कल्याण नहीं होता है। इन द्वेष करने वालोंमेंसे किसीको भी लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है ॥११३॥ भूखे पुरुषोंको मैथुन सेवन करना, निद्रा लेना, और निद्रा नहीं लेने वालोंको सूर्यकी धूपका सेवन करना, ये कार्य विष-तुल्य है, इनका प्रयत्न-पूर्वक परित्याग करना चाहिए ॥११४॥

अहो सन्तजन सुकृत कार्य करते हुए कभी तृप्त नहीं होते हैं। इसलिए धर्ममें भी उसकी उपासना करना कभी कहीं पर भी विस्मरण नहीं करना चाहिए ॥११५॥ इस प्रकार घरमें

नित्यं देवगुरुस्थाने गन्तव्यं पूर्णपाणिभिः । विधेयस्तत्र चापूर्वज्ञानाभ्यासो विवेकिभिः ॥११७
आजन्म गुरुदेवानामर्चने पूज्यता सताम् । रोगादिभिः पुनर्न स्याद्यदि तन्नैव दोषकृत् ॥११८
कुप्रवृत्तिं त्रिधा त्यक्त्वा दत्त्वा तिस्रः प्रदक्षिणाः । देवस्यार्चां त्रिधा कृत्वा तं ध्यायेत्सिद्धिदं सुधीः॥११९
अर्वाग्दृष्टिभिरग्राह्यो विश्वातिशयभासुरः । निःसंसारविकारश्च यो देवः सततं मतः ॥१२०
उपविष्टस्य देवस्योर्ध्वस्य वा प्रतिमा भवेत् । द्विधा अपि युवावस्था पर्यङ्कासनमादिमा ॥१२१
वामो दक्षिणजङ्घोर्वोरुपर्यंङ्घ्रि करोऽपि च । दक्षिणो वामजङ्घोर्वोस्तत्पर्यङ्कासनं मतम् ॥१२२
देवस्योर्ध्वस्य चर्चा स्याज्जानुलम्बि भुजद्वयम् । श्रीवत्सोष्णीषसंयुक्ते द्वे छत्रपरिवारिते ॥१२३
[1]छत्रत्रयं च नासोत्तारि सर्वोत्तमं भवेत् । नासा भालं तयोर्मध्यं कपोले वेधकृत् भवेत् ॥१२४
रक्षितव्यः परीवारे दृषदा वर्णसङ्करे । [2]न समाङ्गुलिसंख्येष्टा प्रतिमामानकर्मणि ॥१२५

देवार्चन करके श्रीमान् पुरुषोंको आभरणादिसे भूषित होकर तदनन्तर धर्म-स्थानमें जाकर अन्य जनोंके पूर्व पुण्यका जैसा अवलोकन हो, वैसा ही दिनमें स्वयं भी नवीन पुण्यका उपार्जन करना चाहिए ॥११६॥ देव-स्थानमें और गुरुके स्थानमें नित्य ही फलादिसे परिपूर्ण हाथोंके साथ विवेकी जनोंको जाना चाहिए, और वहाँ पर नवीन ज्ञानका अभ्यास करना चाहिए ॥११७॥ जन्म-पर्यन्त गुरुजनोंकी और इष्ट देवोंकी पूजन करनेपर सज्जनोंको पूज्यता प्राप्त होती है। यदि कदाचित् रोगादिके कारण देव या गुरुकी सेवा न की जा सके तो कोई दोष-कारक बात नहीं है। (किन्तु मनमें भावना तो सदा ही उनके उपासनाकी रखनी चाहिए।) ॥११८॥

खोटी प्रवृत्तिको मन वचन कायसे त्याग करके, तीन प्रदक्षिणा देकरके, और देव की त्रियोगसे पूजा करके बुद्धिमान् पुरुषको सिद्धि देने वाले उनका ध्यान करना चाहिए ॥११९॥ जो विश्वको चमत्कृत करने वाला है, अतिशयोंसे भासुरायमान और अल्पज्ञ दृष्टि वाले जनोके द्वारा जाननेमें नहीं आने वाला, तथा जो संसारके समस्त विकारोंसे रहित है, वही सच्चादेव माना गया है ॥१२०॥ पद्मासनसे बैठे हुए और खड्गासनसे खड़े हुये देवकी प्रतिमा होती है। दोनों ही प्रकारकी प्रतिमा युवावस्थावाली होती है। इनमेंसे बैठी हुई पहली प्रतिमा पर्यङ्कासन होती है ॥१२१॥ वाम पादको दक्षिण जांघपर रखकर पुनः दक्षिण पादको वाम जांघपर रखकर उन दोनोंके मध्यमें वाम हस्तके ऊपर दक्षिण हस्तको रखकर बैठनेको पर्यङ्कासन माना गया है ॥१२२॥ खड्गासनसे खड़े हुए देवकी प्रतिमा जानु-पर्यन्त लम्बित दोनों भुजावाली होती है। दोनों ही प्रकारकी प्रतिमाएँ वक्षःस्थलमें श्रीवत्ससे मस्तकपर उष्णीषसे और शिरपर छत्रसे संयुक्त होती हैं ॥१२३॥ शिर पर सर्वोत्तम तीन छत्र हों, जो नासाके अग्रभागमें उतारवाले न हों, अर्थात् नासिकाके समान ऊपरसे नीचेकी ओर वृद्धिगत हों, उनका विस्तार नासिका, ललाट, उनका मध्य भाग, और दोनों कपोलके विस्तारके अनुरूप होना चाहिए ॥१२४॥ भावार्थ—जिनमूर्तिके मस्तक, कपाल, कान और नाकके ऊपर बाहिर की ओर निकले हुए तीन छत्र होना चाहिए।

मूर्तिका जो यक्ष-यक्षिणीका परिवार है उसके निर्माणमें वर्णसंकर अर्थात् भिन्न वर्णवाला पाषाण रखना चाहिए। प्रतिमाके निर्माण-कार्यमें पाषाणकी सम अंगुलि-संख्या इष्ट नहीं है,

---

१. छत्तत्तय उत्तारं भालकपोलाओ सवणनासाओ ।
सुहयं जिणचरणग्गे नवग्गहा जक्ख-जक्खिणिया ॥ (वास्तुसार प्रकरण २ गाथा २)

२. सम-अंगुलप्पमाणं न सुंदरं हवइ कइयावि । (वास्तु० प्र० २, गा० ३ उत्तरार्ध)

[1]अन्योन्यजानुस्कन्धान्तस्तिर्यक्सूत्रनिपातनात् । केशान्ताञ्चलान्तावच्च सूत्रैक्याच्चतुरस्रता ॥१२६
सूत्रे जानुद्वये (?) तिर्यग्वक्षान्नाभौ च कण्ठिकाम् । प्रतिमायाः प्रतिसरो भवेदष्टादशाङ्गुलः ॥१२७
[2]नवतालं भवेद् रूपं तालश्च द्वादशाङ्गुलः । अङ्गुला नान्यवर्ष्माणः किन्तु रूपस्य तस्य हि ॥१२८
ऊर्ध्वं तु प्रतिमामानमष्टोत्तरशतांशतः । आसीनप्रतिमामानं षट्पञ्चाशद्विभागतः ॥१२९
[3]भालनासाहनुग्रीवहृन्नाभिगुह्यमूरुके । जानुजङ्घाङ्घ्रिचेत्येकादशाङ्गस्थानकानि तु ॥१३०
[4]चतुःपञ्चचतुर्वह्निसूर्यार्कार्कजिनाश्वयः । जिनाश्वयश्च मानाङ्क ऊर्ध्वादूर्ध्वस्वरूपकः ॥१३१

अर्थात् मूर्ति बनानेके लिए जो पाषाण लिया जावे वह विषम अंगुलि-संख्यावाला होना चाहिए ॥१२५॥ प्रतिमा समचतुरस्र संस्थानवाली होनी चाहिए। वह समचतुरस्रता इस प्रकार जाने—पद्मासनसे बैठी प्रतिमामें परस्पर जानुके सिरेसे स्कन्ध-पर्यन्त तिरछा सूत्र डालकर नापे, अर्थात् वाम जानुसे दाहिने कंधेतक सूत्रसे नापे, जो नाप हो, वही नाप दक्षिण जानुसे वाम कंधे तक होना चाहिए। पादपीठसे केशोंके अन्ततक तथा दोनों जानुओं के मध्यभागवर्ती अन्तरालका एकसूत्र इस प्रकार चारों सूत्रोंका एकमाप हो, इसे ही समचतुरस्रता कहते हैं ॥१२६॥ दोनों जानुओंका तिरछा अन्तर छत्तीस अंगुल हो, तथा नाभिसे लगाकर कण्ठ-पर्यन्त प्रतिमाका प्रतिसर (ऊँचाई) अठारह अंगुल होना चाहिए ॥१२७॥ मूर्तिका रूप नौ ताल होना चाहिए। ताल बारह अंगुल-प्रमाण होता है। अंगुल अन्य प्रतिमाके शरीरके नहीं, किन्तु उसी प्रतिमारूपके अंगुल लेना चाहिए ॥१२८॥

खड्गासन प्रतिमाका प्रमाण एक सौ आठ (१०८) अंगुल और पद्मासनसे बैठी प्रतिमाका प्रमाण शरीरके विभागसे छप्पन (५६) अंगुल कहा गया है ॥१२९॥ भाल (मस्तक) नासिका, हनु (ठोड़ी-दाढ़ी) ग्रीवा, हृदय, नाभि, गुह्यभाग, उरु, जानु, जंघा, और चरण ये एकादश स्थान खड्गासन प्रतिमामें होते हैं। इनका प्रमाण क्रमसे चार, पांच, चार, तीन, बारह, बारह, बारह, चौबीस, चार, चौबीस और चार अंगुल प्रमाण होता है। इस प्रकार ऊर्ध्वस्थ (खड्गासनसे खड़ी) मूर्तिका प्रमाण एक सौ आठ अंगुल होता है ॥१३०-१३१॥ पद्मासनसे बैठी प्रतिमाके भाल, नासिका, हनु, ग्रीवा, हृदय, नाभि, गुह्यभाग और जानु ये आठ अंक स्थान होते हैं और इनका प्रमाण खड्गासनके समान ही जानना चाहिए ॥१३२॥

समचतुरस्र का स्वरूप पद्मासन मूर्ति में—

१. अन्नुन्न जाणु कंधे तिरिए केसंत-अंचलंते यं । सुत्तेगं चउरंसं पज्जंकासणसुहं बिंबं ॥४॥

प्रतिमा की ऊँचाईका प्रमाण—

२. नवताल हवइ रूवं रूवस्स य बारसंगुलो तालो । अंगुल अट्ठहियसयं उड्ढं वासीण छप्पन्नं ॥५॥

खड़ी प्रतिमा के अंग विभाग—

३. भालं नासा वयणं गीव हियय नाहि गुज्झ जंघाइं । जाणु य पिंडि य चरणा इक्कारस ठाण णायव्वा ॥६॥

पाठान्तर—

भालं नासा वयणं थणसुत्तं नाहि गुज्झ ऊरू य । जाणु य जंघा चरणा इय दह ठाणाणि जाणिज्जा ॥

४. चउ पंच वेय रामा रवि दिणयर सूर तह य जिण वेया । जिण वेय भायसंखा कमेण इमं उड्ढरूवेणं ॥७॥

पाठान्तर—

चउ पंच वेय तेरस चउदस दिणणाहं तह य जिण वेया । जिण वेय भायसंख्या कमेण इअ उड्ढरूवे णं ॥

(वत्थुसार, द्वि० प्रक०)

[1]भालं नासा हनुग्रीवाहृन्नाभि-गुह्य-जानु च।
अष्टौ चासीनबिम्बस्याङ्गानां स्थानानि पूर्ववत् ॥१३२

[2]अतीताब्दशतं यस्याद्यच्च स्थापितमुत्तमैः। व्यङ्गमपि पूज्यं स्याद्बिम्बं तन्निष्फलं न यत् ॥१३३
[3]धातुलेप्यादिजं बिम्बं व्यङ्गं संस्कारमर्हति। काष्ठ-पाषाणनिष्पन्नं संस्कारार्हं पुनर्नहि ॥१३४
[4]नखाङ्गुलि-बाहुनासाङ्घ्रीणां भङ्गेष्वनुक्रमात्। शत्रुभिर्देशभङ्गश्च बन्धुकुलधनक्षयः ॥१३५
[5]पीठयानपरीवारध्वंसे सति यथाक्रमम्। जन-वाहन-भृत्यानां नाशो भवति निश्चितम् ॥१३६
[6]आरभ्यैकाङ्गुलाद्बिम्बाद्यावदेकादशाङ्गुलम्। गृहेषु पूजयेद् बिम्बमूर्ध्वं प्रासादगं पुनः ॥१३७
प्रतिमा काष्ठलेपाश्मभित्तिचित्रायसी गृहे। मानाधिकपरीवाररहिता नैव पूज्यते ॥१३८
[7]रौद्री निहन्ति कर्तारमधिकाङ्गा तु शिल्पिनाम्। कृशा द्रव्यविनाशाय दुर्भिक्षाय कृशोदरी ॥१३९

जो प्रतिमा विगत सौ वर्षसे पूजित चली आ रही हो और जिसे उत्तम पुरुषोंने स्थापित किया हो, तो वह व्यंगित (अंग-भंग) होनेपर भी पूज्य है। वह मूर्त्ति निष्फल नहीं है ॥१३३॥ धातु, लेप आदिसे बनाई गई मूर्त्ति यदि अंगहीन हो जावे तो वह संस्कार करनेके योग्य है। किन्तु काष्ठ या पाषाणसे निर्मित मूर्त्ति अंग-भंग होनेपर संस्कारके योग्य नहीं है ॥१३४॥ नखाङ्गुली, बाहु, नासिका और चरण इनके भंग होनेपर अनुक्रमसे शत्रुओंके द्वारा देशभंग, बन्धुजनोंका क्षय, कुलका क्षय और धनका विनाश होता है ॥१३५॥ मूर्त्तिके बैठनेका पीठयान और यक्षादि परिवारके विध्वंस होनेपर यथाक्रमसे जन-वाहनों और भृत्यजनोंका विनाश निश्चित है ॥१३६॥ एक अंगुलसे लेकर ग्यारह अंगुल तकके प्रमाणवाली मूर्तिको अपने घरोंमें स्थापित करके पूजे। इससे अधिक प्रमाणवाली मूर्तिको मन्दिरमें विराजमान करके पूजना चाहिए ॥१३७॥ घरमें काष्ठ, लेप, पाषाणकी भित्तिपर चित्रित प्रतिमा पूजनीय है। किन्तु प्रमाण से अधिक और परिवारसे रहित प्रतिमा पूजनीय नहीं है ॥१३८॥

रौद्र आकारवाली प्रतिमा निर्माण-कर्त्ताका विनाश करती है, अधिक अंगवाली प्रतिमा मूर्त्ति बनानेवाले शिल्पीका विनाश करती है, कृश (क्षीण) शरीरवाली प्रतिमा प्रतिष्ठाकारकके

---

१. भालं नासा वयणं गीव हियय णाहि गुज्झ जण्णू य।
आसीण बिंबमानं पुव्वविही अंक संखाई ॥८॥
२. वरिससयाओ उड्ढं जं बिंबं उत्तमेहिं संठविवं। वियलंगु वि पूइज्जइ तं बिंबं निप्फलं न जओ ॥३९॥
मुह-नक्क-नयण-नाही-कडिभंगे मूलनायगं चयह।
आहरण-वत्थ-परिगर-चिण्हायुहभंगि पूइज्जा ॥४०॥
३. धाउलेवाइबिम्बं वियलंगं पुणवि कीरए सज्जं। कट्ठ-रयण-सेलमयं न पुणो सज्जं च कइयापि ॥४१॥
४. नह-अंगुली अ बाहा-नासा-पय-भंगिणुक्कमेण फलं। सत्तुभयं देसभंगं बंधण-कुलनास-दव्वक्खयं ॥४४॥
५. पयपीढचिण्हपरिगर-भंगे जनजाणभिच्चहाणिकमे।
छत्त-सिरिवच्छ-सवणे लच्छी-सुह-बंधवाण खयं ॥४५॥
६. इक्कंगुलाइ पडिया इक्कारस जाव गेहि पूइज्जा। उड्ढं पासाइ पुणो इय भणियं पुव्वसूरीहिं ॥४३॥
७. पडिमा रउद्द जा सा करावयं हंति सिप्पि अहियंगा।
दुब्बल दव्वविणासा किसोअरा कुणइ दुब्भिक्खं ॥५०॥ (वास्तुसार, द्वि० प्रकरण)

[1]वक्रनासातिदुःखाय ह्रस्वाङ्गा क्षयकारिणी । अनेत्रा नेत्रनाशाय स्वल्पास्या भोगवर्जिता ॥१४०
[2]जायते प्रतिमा हीनकोटिराचार्यघातिनी । जङ्घाहीना भवेद् भ्रातृ-पुत्रपौत्र-विनाशिनी ॥१४१
[3]पाणि-पादविहीना तु धनक्षयविधायिनी । चिरपर्युषिता सा तु नादर्तव्या यतस्ततः ॥१४२
[4]यच्चार्हत्प्रतिमोत्ताना चिन्ताहेतुरधोमुखी । आधिप्रदा तिरश्चीना नीचोच्चस्था विदेशदा ॥१४३
[5]अन्यायद्रव्य-निष्पन्ना पर-वास्तुदलोद्भवा । हीनाधिकाङ्गी प्रतिमा स्व-परोन्नतिनाशिनी ॥१४४
प्रासादतुर्यभागेन समाना प्रतिमा मता । उत्तमायकृते सा तु कार्यैकोनाधिकाङ्गुला ॥१४५
अथवा स्वदशांशेन हीनस्याप्यधिकस्य च । कार्या प्रासादपादस्य शिल्पिभिः प्रतिमा मता ॥१४६
सर्वेषामपि धातूनां रत्न-स्फटिकयोरपि । प्रवालस्य च बिम्बेषु चैत्यमानं यथेच्छया ॥१४७

द्रव्यका विनाश करती है, कृश उदरवाली प्रतिमा दुर्भिक्ष करती है, वक्र नासिकावाली प्रतिमा अतिदुःख देती है, ह्रस्व अंगवाली प्रतिमा क्षय-कारक है, नेत्र-रहित प्रतिमा नेत्रका विनाश करती है, उचित मुख-प्रमाणसे कम मुख-प्रमाणवाली प्रतिमा भोगोंका विनाश करती है, हीन कोटिकी प्रतिमा प्रतिष्ठाचार्यका विनाश करती है, जंघा-हीन प्रतिमा भाई, पुत्र और पौत्रका विनाश करती है, हाथ और पादसे हीन प्रतिमा धनका क्षय करती है❀। जो प्रतिमा चिरकाल तक अप्रतिष्ठित पड़ी रहे, उसका आदर नहीं करना चाहिए ॥१३९-१४२॥ जो अर्हंत्प्रतिमा उत्तान होकर अधोमुखी हो, वह चिन्ताका कारण होती है। तिरछे मुखवाली प्रतिमा मानसिक चिन्ता पैदा करती है, अत्यन्त नीचे या ऊँचे स्थानपर स्थित प्रतिमा निर्माताको विदेश-प्रवास कराती है ॥१४३॥ जो प्रतिमा अन्यायके द्रव्यसे निर्माण कराई गई हो, दूसरेके वास्तुदल (क्षेत्र-भाग—) से उत्पन्न हुई हो, हीन या अधिक अंगवाली हो, वह अपनी एवं दूसरेकी उन्नतिका विनाश करती है ॥१४४॥

मन्दिरके चतुर्थ भागके समान प्रमाणवाली प्रतिमा उत्तम लाभकारक होती है। वह प्रतिमा एक अंगुल हीन या अधिक कराना चाहिए ॥१४५॥ अथवा मन्दिरके चतुर्थ भागके दशम अंशसे हीन प्रतिमा-निर्माण करावे। अर्थात् चतुर्थभागके दशभाग करना, उनमेंसे एकभाग चौथे भागमेंसे कमकर या बढ़ाकरके तत्प्रमाणवाली प्रतिमा शिल्पियोंके द्वारा बनवानी चाहिए ॥१४६॥ सभी धातुओंकी, रत्नोंकी और स्फटिक, तथा मूँगाकी प्रतिमा अपनी इच्छानुसार प्रमाणवाली बनवानी चाहिए ॥१४७॥

---

१. बहुदुक्ख वक्कनासा हस्संगा खयंकरी य नायव्वा । नयणनासा कुनयणा अप्पमुहा भोगहाणिकरा ॥४६॥
२. उद्धमुही धणनासा अप्पूया तिरियदिट्ठि विन्नेया ।
अइघट्टदिट्ठि असुहा हवइ अहोदिट्ठि विग्घकरा ॥५१॥
३. कडिहीणायरियहया सुयबंधवं हणइ हीणजंघा य ।
हीणासण रिद्धिहया धणक्खया हीणकर-चरणा ॥४७॥
४. उत्ताणा अत्थहरा वंकग्गीवा सदेस भंगकरा । अहोमुहा य सचिंता विदेसगा हवइ नीचुच्चा ॥४८॥
५. विसमासण वाहिकरा रोरकरण्णायदव्वणिप्पण्णा । हीणाहियंगपडिमा सपक्ख-परपक्खकट्ठकरा ॥४९॥
(वास्तुसार द्वि० प्रकरण)

❀ वस्तुतः उक्त हीनादि आकारवाली प्रतिमाएँ किसीका कुछ भी बुरा नहीं करती हैं, किन्तु उनके निर्माण करानेवालेके अशुभ भविष्य की सूचक होती हैं, यह भाव लेना चाहिए।—सम्पादक

[1]प्रासादे गर्भ-गेहार्धे भित्तितः पञ्चधाकृते ।
यक्षाद्याः प्रथमे भागे देव्यः सर्वा द्वितीयके ॥१४८
जिनार्कस्कन्दकृष्णानां प्रतिमाः स्युस्तृतीयके ।
ब्रह्मा तुर्यभागे स्याल्लिङ्गमीशस्य पञ्चमे ॥१४९
ऊर्ध्वदृग् द्रव्यनाशाय तिर्यग्दृक् भोगहानये ।
दुःखदा स्तब्धदृष्टिश्चाधोमुखी कुलनाशिनी ॥१५०
द्वारशाखाष्टभिर्भागैरधः पक्षा द्वितीयके ।
मुक्त्वाऽष्टमं विभागं तु यो भागः सप्तमः पुनः ॥१५१
तस्यापि सप्तमे भागे गजांशो यत्र संभवेत् ।
प्रासाद-प्रतिमादृष्टिर्नियोज्या तत्र शिल्पिभिः ॥१५२

अथ भूमिपरीक्षार्थं किञ्चित्प्रासादस्वरूपम्—

[2]अवृत्ता भूरदिग्मूढा चतुरस्रा शुभाकृतिः ।
अर्हंबीजोद्गमा धन्या पूर्वेशानोत्तरास्तु वा ॥१५३
[3]व्याधिं वल्मीकिनी वैश्यं मुखरा स्फुटिता मृतिम् ।
दत्ते भूशल्ययुक् दुःखं शल्यज्ञानमथोच्यते ॥१५४

जिन मन्दिरके गर्भालयके अर्धभागमें भित्तीसे पाँच विभाग करके यक्ष आदि देवताओंको प्रथम भागमें, सभी देवियोंको दूसरे भागमें, जिन सूर्य, स्कन्द और कृष्ण (विष्णु) की प्रतिमाको तीसरे भागमें, ब्रह्माको चौथे भागमें और महादेवके लिंगको पाँचवें भागमें स्थापित करे❀। ये सभी मूर्तियाँ यदि ऊर्ध्व दृष्टिवाली हों तो द्रव्यके विनाशके लिए और तिर्यग्-दृष्टिवाली हों तो भोगोंकी हानिके लिए होती हैं। स्तब्ध दृष्टिवाली दुःखोंको देती है और अधोमुखवाली कुलका नाश करती है ॥१४८-१५०॥

अब भूमिकी परीक्षाके लिए प्रासाद (मन्दिर) का कुछ स्वरूप करते हैं—मन्दिरकी भूमि वृत्त (गोल) आकारवाली न हो, दिग्-मूढ न हो, अर्थात् जहाँ खड़े होनेपर सभी दिशाओंका बोध सम्यक् प्रकारसे होता हो, चौकोर हो, शुभ आकारवाली हो, 'अर्हं' बीजकी उद्गमवाली हो, भाग्यशाली हो, पूर्व, ईशान या उत्तर दिशामें स्थितमें हो ॥१५३॥ साँपोंकी वल्मीकवाली भूमि मन्दिर बनानेवालेको व्याधि करती है, मुखर (अनेक छिद्रवाली) भूमी ऐश्वर्य-विनाशकारक होती है, स्फुटित (दरारवाली) भूमि मरणको करती है और शल्य-(अस्थि, लोह आदि) युक्त भूमि दुःखको देती है। इसलिए भूमिके शल्य-जाननेका उपाय कहते हैं ॥१५४॥

---

१. गब्भगिहड्ढ-पणंसा जक्खा पढमंसि देवया बीए । जिण किण्ह रवी तइए बंभु चउत्थे सिवं पणगे ॥४५॥
न हु गब्भे ठाविज्जइ लिंगं गब्भे चइज्ज तो कहवि । तिलअद्धं तिलमित्तं ईसाणे किं पि आसरिओ ॥४६॥

२. दिणतिग बीयप्पसवा चउरंसाऽवम्मिणी अफुट्टाय । अक्कुल्लर भू सुहया पुव्वेसाणुत्तरंबुवहा ॥९॥

३. वम्मइणी वाहिकरी ऊसर भूमीइ हवइ रोरकरी । अइफुट्टा मिच्चुकरी दुक्खकरी तह य ससल्ला ॥१०॥
(वास्तुसार द्वि० प्रकरण)

❀ ऐसा कथन अन्यत्र जैन प्रतिष्ठापाठ आदिमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ है।—सम्पादक

प	अ	क
श	य	च
ह	त	ट

[1]अ-क-च-ट-त-ह-श-प-य वर्णान् क्रमात् वर्णनिवासि च ।
नवकोष्ठीकृते भूमिभागे प्राच्यादि दिक्ततो लिखेत् ॥१५५
[2]प्रश्ने अः स्याद्यदि प्राच्यां नरशल्यं तदा भवेत् ।
सार्धहस्तप्रमाणेन तच्च मानुष्यमृत्यवे ॥१५६
अग्नेर्दिशि तु कः प्रश्ने खरशल्यं करद्वयम् ।
राजदण्डो भवेत्तस्मिन् भयं नैव निवर्तते ॥१५७
याम्यायां[3] दिशि चः प्रश्ने नरशल्यमधो भवेत् । तद्-गृहस्वामिनो मृत्युं करोत्याकटिसंस्थितम् ॥१५८
नैऋत्यां दिशि टः प्रश्ने सार्धहस्तादधस्तले । शुनोऽस्थिर्जायते तत्र डिम्भानां जनयेन्मृतिम् ॥१५९
तः प्रश्ने पश्चिमायां तु शिवा-शल्यं प्रजायते । सार्धहस्ते प्रवासाय भवनस्वामिनः पुनः ॥१६० ॐ
[4]वायव्यां दिशि हः प्रश्ने नराणां वा चतुःकरे । करोति मित्रनाशं ते दुःस्वप्नेऽस्य प्रदर्शनात् ॥१६१

जिस भूमिपर मन्दिर बनाना हो, उसपर नौ कोठे बना करके पूर्व दिशा आदिके क्रमसे अ, क, च, ट, त, ह, श, प और मध्य कोठेमें य इन अक्षरों को लिखे। (कोष्ठ-चित्र मूलमें दिया है ।) विशेषार्थ—'ओं ह्रीं श्रीं ऐं नमो वाग्वादिनि मम प्रश्ने अवतर अवतर' इस मंत्रसे खड़िया मिट्टीको मंत्रित करके किसी कन्याके हाथमें देकर कोष्ठगत किसी एक अक्षरको लिखावे। वह जिस भाग वाले कोष्ठगत अक्षरको लिखे, उस भागमें शल्य है अर्थात् भूमिके उस भागमें किसी पशु-मनुष्य आदि की हड्डी आदि है, ऐसा जानना चाहिए* ॥१५५॥

यदि पूछने वालेके प्रश्नके प्रारम्भमें 'अ' अक्षर हो तो उस भूमिकी पूर्व दिशामें डेढ़ हाथके नीचे नर-शल्य अर्थात् (मनुष्यकी हड्डी) होगी और वह मनुष्यकी मृत्युके लिए होगी ॥१५६॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'क' अक्षर हो तो आग्नेय दिशामें खर-शल्य है अर्थात् गधेकी हड्डी दो हाथके नीचे होगी और उसमें राज-दण्ड होगा, तथा भय निवृत्त नहीं होगा, अर्थात् सदा भय बना रहेगा ॥१५७॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'च' अक्षर हो तो दक्षिण दिशामें कटि (कमर) प्रमाण भूमिके नीचे नर-शल्य होगा और वह गृहस्वामीकी मृत्युको करेगा ॥१५८॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'ट' अक्षर हो तो नैऋत्य दिशामें डेढ़ हाथ नीचे भूमितलमें कुत्तेकी हड्डी होगी और वह बालकोंकी मृत्यु करेगी ॥१५९॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'त' अक्षर हो पश्चिम दिशामें डेढ़ हाथके नीचे भूमिमें शिवा (सियालनी) की हड्डी होगी और वह भवनके स्वामीके प्रवासका कारण होगी ॥१६०॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'ह' अक्षर हो तो भूमिकी वायव्य दिशामें चार हाथके नीचे मनुष्यों की हड्डियां होंगी और वे मित्रोंका नाश करेंगी और रात्रिमें दुःस्वप्न दिखाई देंगे ॥१६१॥ यदि

---

१. अकचटएहसपज्जा इअ नव वण्णा कमेण लिहियव्वा । पुव्वाइदिसासु तहा भूमिं काऊण नवभाए ॥११॥
२. अप्पण्हे नरसल्लं सड्ढकरे मिच्चुकारयं पुव्वे । कप्पण्हे खरसल्लं अग्गीए दुकरि निवदंडं ॥१३॥
३. जम्मे चप्पण्हेण नरसल्लं कडितलम्मि मिच्चुकरं । टप्पण्हे निरईए सड्ढकरे साणुसल्लु सिसुहाणी ॥१४॥
४. पच्छिम दिसि तयण्हे सिसुसल्लं करदुगम्मि परएसं । वायवि हपण्हि चउकरि अंगारा मित्तनासयरा ॥१५

ॐ श्लोक १५५ से १६४ तक के १० श्लोक विश्वकर्मप्रकाश में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। देखो विश्वकर्म प्रकाश अध्याय १२, श्लोक १२-२१ तक। सम्पादक

* खडिमंतिऊणवाडियं लिहावए कन्ना करे वाओ । आणाविज्जइ पण्हं इम अक्खरे सल्लं ॥१२॥

३

[1]उदीच्यां दिशि शः प्रश्ने विप्रशल्यं कटेरधः । तच्छीघ्रं निधनं स्वीयं प्रायोऽधनकमन्यथः ॥१६२
ईशान्यां दिशि यः प्रश्ने गोशल्यं सार्धहस्ततः । ततो गोधननाशाय जायते गृहमेधिनः ॥१६३
[2]मध्यकोष्ठे च यः प्रश्ने वक्षो मात्रादधस्तदा । केशा कपालं मर्त्यास्थि भस्म लोहं च मृत्यवे ॥१६४
शुभ्रस्थिताम्रते पात्रे कृते दीपचतुष्टये। । यदि दीप्ताश्चिरं दीप्राः स्यात्तदस्यंस्य भूः शुभा ॥१६५
सूत्रच्छेदे च मृत्युः स्यात्कीले चाऽधाङ्मुखे रुजः । स्मृतिर्नश्यति कुम्भस्य पुनः पातः स्वधोगतः ॥१६६
प्रासादगर्तसंपूरोऽम्बुपाषाककंरकाम्लगः । विधिना तत्र सौवर्णवास्तुमूर्तिर्नियोजयेत् ॥१६७
उदयस्त्रिगुणः प्रोक्तः प्रासादस्य स्वमानतः । प्रासादोच्छ्रयविस्तारा जगती तस्य चोत्तमा ॥१६८
मूलकोष्ठे चतुःकोणे बहिर्यः कुम्भकः स्थिरः । प्रासादहस्तसङ्ख्यानं, तस्य कोणद्वयात् पुनः ॥१६९
यः कोणो मूलरेखाया विस्तरः स पृथक् पृथक् । कलशे विस्तराद्दैर्ध्यं निगदः द्विगुणं पुनः ॥१७०
प्रासादे ध्वजनिर्मुक्ते पूजाहोमजपादिकम् । सर्वं हि लुप्यते यस्मात्तस्मात्कार्यो ध्वजोच्छ्रयः ॥१७१

प्रश्नके प्रारम्भमें 'श' अक्षर हो तो कटि-प्रमाण भूमिके नीचे उत्तर दिशामें ब्राह्मणकी हड्डी होगी और वह निर्माणकर्त्ताके स्वयं मरणके लिए होगी और प्राय: वह निर्धनता करेगी ॥१६२॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'प' अक्षर हो तो भूमिकी ईशान दिशामें डेढ़ हाथके नीचे गायकी हड्डी होगी और वह गृह-स्वामीके गौ और धनके नाशका कारण होगी ॥१६३॥ यदि प्रश्नके प्रारम्भमें 'य' अक्षर हो तो भूमिके मध्यमें वक्षःस्थल-प्रमाण नीचे मनुष्यकी हड्डी, केश, कपाल, भस्म और लोहा होगा और वे मृत्युके कारण होंगे ॥१६४॥ भावार्थ—जिस भूमिपर मन्दिर बनाना हो वह उक्त दोषोंसे रहित होना चाहिए।

मन्दिरके लिए निर्णीत भूमिपर चारों कोणोंपर कीले (खूंटी) गाड़े और शुभ्र स्थिर अमृत (ताम्र) पात्रमें चारों दिशाओंमें चार दीपक जला करके रखे। यदि दीपक बहुत समय तक प्रदीप्त (प्रकाश युक्त) बने रहें तो उसके मध्यवर्ती भूमि शुभ जानना चाहिए ॥१६५॥ यदि कीलोंसे बँधे हुए सूत्र (लच्छी धागे) में छेद हो जाय, अर्थात् टूट जाय तो निर्माण करानेवालेकी मृत्यु होगी। यदि कीले नीचेकी ओर झुक जावें, तो—निर्माताके रोग होगा। यदि वहाँ स्थापन किये हुए कलशका पतन हो जाय, या उल्टा मुख हो जाय तो निर्माताकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जायगी ॥१६६॥ मन्दिर की नींवके लिए खोदे गये गड्ढेको पूरनेके लिए जल, पाषाण-खंड-पत्थरकी मिट्टी और बालू डाले। पुनः विधि-पूर्वक सोनेके द्वारा बनायी गयी वास्तु-मूर्ति उस गड्ढेमें स्थापित करे ॥१६७॥

मन्दिरके विस्तारके प्रमाणसे उसकी ऊँचाई तिगुणी कही गई है। उस मन्दिर की ऊँचाई, विस्तार और जगती (कुर्सी) उत्तम होना चाहिए ॥१६७॥ मन्दिरका जो मूल कोष्ठ चतुष्कोण हो, उसके बाहिर स्थिर कलश स्थापन करे। पुनः उस कोष्ठके दोनों कोणोंसे मन्दिरके विस्तार आदिके हाथों की गणना करनी चाहिए ॥१६९॥ कोष्ठका जो कोण है और मूल रेखाका जो विस्तार है, वह पृथक्-पृथक् लेना चाहिए। पुनः विस्तारसे कलशमें ऊँचाई दुगुणी कही गई है ॥१७०॥ यतः ध्वजासे रहित मन्दिरमें पूजन, होम, जप आदिका करना सर्वथा व्यर्थ होता है,

---

१. उत्तरदिसि सप्पण्हे दियवरसल्लं कडिम्मि रोरकरं। पप्पण्हे गोसल्लं सड्ढकरे धणविणा समीसाणे ॥१६॥
२. जप्पण्हे मज्झगिहे अइच्छार-कवाल-केस बहुसल्ला। वच्छच्छलपामाणा पाएण य हुंति मिच्चुकरा ॥१७॥
(वास्तुसार, गृहप्रकरण पृ० ५-७)

एकाहमपि निष्पन्नं ध्वजहीनं न धारयेत् । दण्डः प्रकाश्यः प्रासादे प्रासादकरसंख्यया[1] ॥१७२
सान्धकारे पुनः कार्यो मध्यप्रासादमानतः । समाना शुकनासस्य वेदिकागूढमण्डपे ॥१७३
एतन्मानेन रङ्गाख्ये मण्डपेऽथ बलानके । गृहे देवगृहे चापि जीर्णं चोद्धर्तुमीप्सिते ॥१७४
प्रासादद्वारप्रमाणं च वास्तूपायेन युज्यते । .... ॥१७५
स्तम्भपट्टविस्तारस्तु यः प्रोक्तो गृहशालके । प्रासादेष्वपि स ज्ञेयः सम्प्रदायाच्च शिल्पिनाम् ॥१७६

अथ प्रतिमा-काष्ठ-पाषाण परीक्षा—

*निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा । विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मण्डलं भवेत् ॥१७७
मधु-भस्म-गुड व्योम-कपोतसदृशप्रभैः । मञ्जिष्ठारुणकैः पीतैः कपिलैः श्यामलैरपि ॥१७८

अतः मन्दिर पर ध्वजाको फहराना चाहिए ॥१७१॥ मन्दिरको एक दिन भी ध्वजासे विहीन नहीं रखना चाहिए। मन्दिरपर ध्वजाका दण्ड मन्दिरकी ऊँचाईके हाथों की संख्यासे निश्चित करना चाहिए ॥१७२॥

मन्दिरके तलभागको अन्धकारवाले अधोभागमें प्रासाद (मन्दिर) के प्रमाणके अनुसार बनवाना चाहिए। शुकनासकी रचना गूढ (मध्यवर्ती) सभामण्डपमें चारों ओर समान होना चाहिए ॥१७३॥ विशेषार्थ—शिखरकी चारों दिशाओंमें जिस पाषाणपर सिंहकी मूर्त्तियां स्थापित की जाती हैं, उसे शुकनास कहते हैं। समराङ्गण सूत्रधारमें कहा है—'शुकनासोच्छ्रितेरूर्ध्वं न कार्या मण्डपोच्छ्रितिः'। तथा 'शुकनाससमा घण्टा न्यूना श्रेष्ठा न चाधिका'। अर्थात् शुकनासकी ऊँचाईसे ऊपर मण्डपकी ऊँचाई न करे और घण्टा शुकनासके बराबर रखे या कम रखे, परन्तु अधिक न करे।

मन्दिरके प्रमाणसे ही रंग-मंडप और बलानक (बालकनी) निज-गृह और देव-गृहपर भी ध्वजारोहण करना चाहिए। तथा जीर्ण मन्दिरादिका उद्धार भी करना चाहिए ॥१७४॥ मन्दिर के द्वारका प्रमाण भी पूर्वके समान वास्तु-शास्त्रके उपायसे रखना योग्य है............ ....॥१७५॥ गृहशालाके निर्माणमें स्तम्भ, पट्ट आदि वस्तुओंका जो प्रमाण कहा गया है, वही प्रमाण मन्दिरोंके विषयमें ज्ञातव्य है और इसका विशेष विधान शिल्पी जनोंके सम्प्रदायसे जानना चाहिए ॥१७६॥

अब प्रतिमाके लिए काष्ठ और पाषाणकी परीक्षाका वर्णन करते हैं—

जिस पाषाण या काष्ठसे मूर्त्तिका निर्माण करना हो, उसे निर्मल कांजीके साथ पीठीसे और श्रीफल (बेलवृक्ष) की छालसे पीसकर विलेपन करनेपर मंडल (गोल आकार) प्रकट होगा ॥१७७॥ वह मंडल मधु, भस्म, गुड़, व्योम और कपोतके सदृश प्रभावाला हो, अथवा मंजीठके सदृश अरुण वर्णका हो, या पीत, कपिल और श्यामल वर्णका हो, अथवा चित्र-विचित्र वर्णवाला

---

१. इगहत्थे पासाए दंडं पउणंगुलं भवे। अद्धंगुल वुड्ढिकमे जा कर पन्नास कन्नुदए ॥३४॥ (वास्तु० प्र० २)
अर्थात् एक हाथके विस्तार वाले प्रासादमें ध्वजादंड पौन अंगुलका मोटा होना चाहिए। पुनः प्रत्येक हाथ पर आधे-आधे अंगुलके क्रमसे ध्वजा दंडकी मोटाई बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार पचास हाथके विस्तार-वाले प्रासादमें सवा पच्चीस अंगुलका मोटा ध्वजादंड करना चाहिए। तथा कानके बराबर ऊँचाईवाला (लम्बा) ध्वजादंड होना चाहिए।

* श्लोकाङ्क १७७ से श्लो० १८२ तक के ये सर्व श्लोक विवेक विलासमें शब्दशः समान हैं।—सम्पादक

चित्रैश्च मण्डलैरेभिरन्तर्ज्ञेया यथाक्रमम् । खद्योतो बालुकारक्तभेकोऽम्बुगृहगोधिका ॥१७९
दर्दुरः कृकलासश्च गोधाखू सर्पवृश्चिकौ । सन्तान-विभव-प्राणराज्योच्छेदश्च तत्फलम् ॥१८०
कीलिकाछिद्रसुषिरत्रासजालकसन्धयः । मण्डलानि च गारश्च महद्दूषणहेतवे ॥१८१
प्रतिमायां दवरका भवेयुश्चेत्कथञ्चन । सदृग्वर्णा न दुष्यन्ति वर्णान्यत्वे च दूषिताः ॥१८२
कृत्वेत्यादिकृत्यः सन्नुपदेशं गुरोः शुभम् । श्रोतुकामो गुरोः पार्श्वे गच्छेदत्यादरात् पुमान् ॥१८३
कदाचित् कार्यतः स्वस्य पार्श्वमेति यदा गुरुः । पर्युपास्तिं तदा कुर्यादेव शिष्यस्य युज्यते ॥१८४
अभ्युत्तिष्ठेद् गुरौ दृष्टेऽभिगच्छेत्तं तदागमे । उत्तमाङ्गे जलं न्यस्य ढौकयेत्स्वयमासनम् ॥१८५
नमस्कुर्यात्ततो भक्त्या पर्युपासीत चादरात् । तद्याते त्वनुयायाच्च क्रमोऽयं गुरुसेवने ॥१८६

मंडल हो और उसके भीतर यथा क्रमसे खद्योत, उलूक, लालवर्णका भेक (मेंढक) जल, गृहगोधिका (छिपकली) दर्दुर, (बड़ा मेंढक) कृकलास (गिरगिट) गोधा (गोह) मूषक, सांप और बिच्छू इनमेंसे कोई आकार दिखाई दे तो उसका फल सन्तान, वैभव, प्राण, और राज्यका उच्छेद जानना चाहिए ॥१७७-१८०॥ जिस पाषाण या काष्ठमें मूर्त्ति उत्कीर्णको जाना है उसमें कीलिका, *छिद्र, पोल, रेखा, मकड़ीका जाल, सन्धि और चक्राकार मंडल दिखाई देवें, अथवा गार (गीला-*पन) हो तो वह महान् दूषणका कारण है ॥१८१॥ भावार्थ—जिस पत्थर या काष्ठकी प्रतिमा बनाना हो उसपर पूर्वोक्त लेप करनेसे यदि मधुके वर्ण जैसा मंडल दिखाई दें तो भीतर खद्योत (जुगुनू) जाने। भस्म-सदृश मंडल दिखे तो बालू रेत, गुड़-सदृश मंडल दिखे तो भीतर लालमेंढक, आकाशवर्णका मंडल दिखे तो भीतर जल, कपोतवर्ण-सदृश मंडल दिखे तो भीतर छिपकली, मंजीठ-सदृश मंडल दिखे तो मेंढक, रक्तवर्ण मंडल दिखे तो भीतर गिरगिट, पीतवर्णका मंडल दिखे तो भीतर गोह, कपिल वर्णका मंडल दिखे तो भीतर उन्दुर (मूषक) काले वर्णका मंडल दिखे तो भीतर सर्प और चित्र (अनेक) वर्णका मंडल दिखे तो भीतर बिच्छू है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकारके दागवाले पत्थर या लकड़ीके होनेपर, सन्तान, लक्ष्मी, प्राण और राज्यका विनाश होता है। अतएव उक्त प्रकारके पाषाण या काष्ठमें मूर्त्ति उत्कीर्ण नहीं करनी चाहिए ॥१७८-१८१॥

प्रतिमामें यदि कदाचित् डोरे या धागे दिखाई दें और वे मूर्तिके समान ही वर्णवाले हों तो कोई दोष-कारक नहीं हैं। यदि उनका वर्ण मूर्तिके वर्णसे अन्य हो तो वे दोष-कारक हैं ॥१८२॥ इस प्रकार मन्दिरमें जाकर देव-पूजनादि आवश्यक कार्य करके गुरुके शुभ उपदेशको सुननेकी कामनासे गुरुके समीप उस पुरुषको अति आदरसे जाना चाहिए ॥१८३॥ यदि कदाचित् गुरु ही किसी कार्यसे अपने पास आवें तो शिष्यको उनकी भलीभाँतिसे पर्युपासना करना ही चाहिए ॥१८४॥ गुरुको आता हुआ देखकर अपने आसनसे उठ खड़ा हो, उनके आगमनपर सामने जावे, और मस्तकपर जल धारण करके उनको बैठनेके लिए स्वयं आसन प्रस्तुत करना चाहिए ॥१८५॥ तत्पश्चात् उन्हें भक्तिसे नमस्कार करे और आदर-पूर्वक उनकी उपासना करे। पुनः उनके जानेपर उनके पीछे कुछ दूरतक जावे। गुरुकी सेवा-उपासना करनेमें यही क्रम है ॥१८६॥

---

१. बिंबपरिवारमज्झे सेलस्स य वण्णसंकरं न सुहं । सम अंगुलप्पमाणं न सुंदरं हवइ कइया वि ॥
(वास्तुसार, प्र० २, गा० ३)

शुद्धप्ररूपको ज्ञानी क्रियावानुपकारकः । धर्मविच्छेदरक्षी यो गुरुर्गौरवमर्हति ॥१८७
विचारावसरे मौनी जिज्ञासुर्ज्ञानकेवलम् । सर्वत्र चाटुवादी च गुरुभक्तिपरो मतः ॥१८८

इत्थं महाब्रह्ममुहूर्तभावी कृत्याऽन्यथापि प्रहरस्य कृत्यम् ।
यस्य प्रकेशी तरणेरिवोच्चैर्भवेदवश्यं कमलावबोधः ॥१८९

इति श्रीजिनचन्द्राचार्यशिष्य-श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते
श्रावकाचारे दिनचर्यायां प्रथमोल्लासः ॥१॥

■

गुरु कैसा हो ? जो शुद्ध धर्मका निरूपक हो, ज्ञानी हो, क्रियावान् हो, दूसरोंका उपकारक हो, धर्मके विच्छेदकी रक्षा करनेवाला हो, ऐसा जो गुरु है, वही गौरवके योग्य है ॥१८७॥ शिष्य कैसा हो ? जो तत्त्वके विचार करनेके समय मौन धारण करे, एकमात्र ज्ञानोपार्जनका इच्छुक हो, गुरुको प्रसन्न रखनेवाला हो, और सर्वत्र गुरुके मनको अनुरंजन-कारक वचनोंका बोलनेवाला हो तथा गुरु भक्तिमें तत्पर हो । यही सच्ची गुरु भक्ति है ॥१८८॥ इस प्रकार महान् ब्रह्ममुहूर्तमें उठकर और आदिमें ही जो कार्य करनेके योग्य हैं, उन्हें करना चाहिए, तथा प्रथम पहरके जो कर्त्तव्य हैं उनको मैंने कहा । जिसके शिर पर गुरुजनोंका वरद हस्त है, वह अवश्य ही कमलोंको विकसित करनेवाले सूर्यके समान प्रकाशमान होगा ॥१८९॥

इस प्रकार श्री जिनचन्द्राचार्यके शिष्य श्री कुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें
दिनचर्याका वर्णन करनेमें यह प्रथम उल्लास समाप्त हुआ ।

■

अथ द्वितीयोल्लासः

द्वितीया वर्जिता स्नाने दशमी चाष्टमी तथा । त्रयोदशी चतुर्दशी षष्ठी पञ्चदशी कुहूः ॥१
आदित्यादिषु वारेषु तापं कान्तिं मृतिं धनम् । दारिद्र्यं दुर्भगत्वं च कामाप्तिः स्नानतः क्रमात् ॥२
नाग्न्यार्तः प्रोषितो यातः सचेलो भुक्तभुक्षितः । नैव स्नायादनुव्रज्य बन्धून् कृत्वा च मङ्गलम् ॥३
न पर्वे न च तीर्थेषु सङ्क्रान्तौ न च वैधृतौ । न विष्ट्यां न व्यतीपाते तैलाभ्यङ्गो न सम्मतः ॥४
स्नानं शुद्धाम्बुना यत्र न कदापि च विद्यते । तिथिवारादिकं यच्च तैलाभ्यङ्गे तदुच्यते ॥५
गर्भाशयाद् ऋतुमतीं गत्वा स्नायाह्निने परे । अनृतुस्त्रीगमे शौचं मूत्रोत्सर्गवदाचरेत् ॥६

राात्रौ स्नानं न शास्त्रीयं केचिदिच्छन्ति पर्वणि ।
तीर्थे स्नात्वाऽन्यतीर्थानां कुर्यान्निन्दास्तुती न च ॥७

अज्ञाते दुष्प्रवेशे च मलिनैर्दूषितेऽथवा । तरुच्छन्ने सशैवाले न स्नानं युज्यते जले ॥८
स्नानं कृत्वा जलैः शीतैः भोक्तुं गन्तुं न युज्यते । जलैरुष्णैस्तथा शीते तैलाभ्यङ्गश्च सर्वदा ॥९
स्नातस्य विकृता छाया दन्तघर्षः परस्परम् । देहे च शवगन्धश्चेन्मृत्युस्तद्दिवसत्रये ॥१०
स्नानमात्रस्य यच्छोषो वक्षस्यङ्घ्रिद्वयेऽपि च । षष्ठे दिने तथा ज्ञेयं पञ्चत्वं नात्र संशयः ॥११

स्नान करनेमें द्वितीया, षष्ठी, अष्टमी, दशमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पंचदशी पूर्णिमा और अमावस्या तिथि वर्जित कही गई है ॥१॥ आदित्य (रवि) आदि वारोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य क्रमसे सन्ताप, कान्ति, मरण-तुल्य कष्ट, धन, दरिद्रता, दुर्भाग्य और वांछित वस्तुको प्राप्त करता है ॥२॥ नग्न, पीड़ित, प्रवासमें रहते हुए, सचेल (वस्त्र पहिने हुए) भोजन करके, अति भूखा, बन्धुजनोंके पीछे गमन करनेवाला और मंगल कार्य करनेके पश्चात् स्नान नहीं करे ॥३॥ पर्वके दिन, तीर्थ स्थानोंपर, सक्रान्तिके समय और वैधृति योगमें तैल-मर्दन नहीं करे। इसी प्रकार विष्टि (भद्रा) में और व्यतीपातयोगमें तैल-मर्दन आचार्य-सम्मत नहीं है ॥४॥ जहाँपर जिस दिन शुद्ध जलसे स्नान करना कदापि सम्भव न हो, वहाँपर वे तिथि, वार आदिक तैल-मर्दन करनेके योग्य कहे गये हैं ॥५॥ गर्भ-धारण करनेके अभिप्रायसे ऋतुधर्मवाली स्त्रीके साथ समागम करके अगले दिन स्नान करे। जो स्त्री ऋतुधर्मसे युक्त नहीं है उसके साथ समागम करनेपर मूत्र-उत्सर्गके समान शौच आचरण करे ॥६॥ रात्रिमें स्नान करना शास्त्र-सम्मत नहीं है। किन्तु कितने ही आचार्य पर्वके दिन रात्रिमें स्नानको स्वीकार करते हैं। किसी तीर्थस्थानपर स्नान करके अन्य तीर्थस्थानोंकी निन्दा या प्रशंसा नहीं करनी चाहिए ॥७॥ अज्ञात जलस्थानमें, दुष्प्रवेशवाले जलमें, मलिन वस्तुओंसे दूषित जलमें, वृक्षोंसे ढँके हुए जलमें और शैवाल (शिवार) से युक्त जलमें स्नान न करे ॥८॥ शीतल जलसे स्नान करके भोजन करना, या गमन करना योग्य नहीं है। शीतकालमें सदा तैल-मर्दन करके उष्णजलसे स्नान करना चाहिए ॥९॥

स्नान करनेके बाद यदि शरीरकी छाया विकृत दिखाई देवे, परस्पर दांतोंका संघर्ष हो, और यदि शरीरमें शव (मृतदेह) के समान गन्ध आवे तो तीन दिनमें उसकी मृत्यु होगी ॥१०॥ स्नान करते ही यदि वक्षःस्थलपर और दोनों पैरोंपर सूखापन दिखे तो छठे दिन उसका मरण

न शुक्रसोमयोः कार्यं स्नानं रोगविमुक्तये । पौष्याश्लेषाध्रुवस्वातिपुनर्वसुमघासु च ॥१२
रिक्ता तिथिः कुजार्कौ च क्षीणेन्दुर्लग्नमस्थिरम् । द्विषष्ठैकादशाः क्रूरा नैवस्नानस्य शुद्धिदा ॥१३
रेतोवान्ते चिताभूमिस्पर्शे दुःस्वप्नदर्शने । क्षौरकर्मणि च स्नायाद् गालितैः शुद्धवारिभिः ॥१४
चतुर्थी नवमी षष्ठी चतुर्दश्यष्टमी तथा । अमावस्या च दैवज्ञैः क्षुरकर्मणि नेष्यते ॥१५
दिवाकीर्तिः प्रयोगेऽत्र वाराः प्रोक्ता मनीषिभिः । सौम्येज्य-शुक्रसोमानां क्षेमारोग्यसुखप्रदाः ॥१६
क्षौरं प्रोक्तं विपश्चिद्भिर्मृगे पुष्ये चरेषु च । ज्येष्ठाऽश्विनीकर-द्वन्द्वरेवतीषु च शोभनम् ॥१७
क्षौरे राजाज्ञया जाते नक्षत्रं नावलोक्यते । कैश्चित्तीर्थे च शोके च क्षौरमुक्तं सुखार्थिभिः ॥१८
रात्रौ सन्ध्यासु निर्ज्योते क्षौरं नोक्तं तथोत्सवे । भूषाभ्यङ्गासनस्थानपर्वयात्रारणेष्वपि ॥१९
कल्पयेदेकशः पक्षे रोमश्मश्रुकचान्नखान् । न चात्मदशनाग्रेण स्वपाणिभ्यां न चोत्तमः ॥२०
आत्मवित्तानुसारेण कलौचित्ये न सर्वदा । कार्यो वा नातिशृङ्गारो वयोऽवस्थानुसारतः ॥२१
वारा नवीनवस्त्रस्य परिधाने मताः शुभाः । सौम्यार्क-शुक्र-गुरवो रक्ते वस्त्रे कुजोऽपि च ॥२२

जानना चाहिए, इस विषयमें कोई संशय नहीं है ॥११॥ रोगसे मुक्ति पानेके बाद शुक्रवार और सोमवारको स्नान नहीं करना चाहिए। तथा पुष्य, आश्लेषा, ध्रुव संज्ञकमें (तीनों उत्तरा, रोहिणी और रविवार) स्वाति, पुनर्वसु और मघा इन नक्षत्रोंमें भी रोग-मुक्तिके बाद स्नान नहीं करना चाहिए ॥१२॥ रिक्तातिथिमें अर्थात् चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशीको, मंगलवार और रविवारको, अमावस्याको और अस्थिर लग्नमें भी रोग-मुक्तिके बाद स्नान नहीं करना चाहिए। दूसरे, छठे, ग्यारहवें भावमें गये हुए क्रूरग्रहमें रोग-विमुक्त हुए पुरुषको स्नान शुभ कारक है ॥१३॥

वीर्य-स्खलन होने पर, वमन करने पर, चिताभूमि (स्मशान) के स्पर्श करने पर, दुःस्वप्न के देखने पर, और क्षौर कर्म करने (बाल बनवाने) पर वस्त्रसे गाले गये (छने) शुद्ध जलसे स्नान करना चाहिए ॥१४॥ क्षौर कर्ममें चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी तथा अमावस्या इन तिथियोंको देवज्ञ (ज्योतिषी) शुभ नहीं कहते हैं ॥१५॥ दिवाकीर्त्ति प्रयोग (दिनके विचार) में मनीषी ज्ञानी जनोंने सौम्य (बुध) ईज्य (गुरु) शुक्र और सोम ये वार क्षेम, आरोग्य और सुख-प्रद कहे हैं ॥१६॥ इसी प्रकार मृगशिर, पुष्य, चर नक्षत्र (स्वाति, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शत-भिषा, सोमवार) ज्येष्ठा, अश्विनी, करद्वन्द्व, (हस्त और चित्रा) तथा रेवती इन नक्षत्रोंमें विद्वानों ने क्षौर कर्म उत्तम कहा है ॥१७॥ क्षौर कर्म करानेके लिए राजा की आज्ञा होने पर नक्षत्रादिका विचार नहीं देखा जाता है। कितने ही सुखके इच्छुक जनोंने तीर्थ स्थानमें जाने पर और गुरुजनों के मरणरूप शोक होने पर क्षौर कर्म करना कहा है अर्थात् इनमें नक्षत्रादिका विचार नहीं किया जाता है। रात्रिमें, सन्ध्याकालोंमें और प्रकाश-रहित स्थानमें भी क्षौर कर्म करना नहीं कहा है। तथा उत्सवके समय, वेष-भूषाके समय, तैल-मर्दनके समय, अपने आसन पर बैठे हुए, पर्वके दिन, यात्रामें और रण-संग्राममें भी क्षौर कर्मका निषेध किया गया है ॥१९॥ पक्षमें एक बार शिर और दाढ़ीके केशोंको तथा नखोंको बनवाना चाहिए। अपने दांतोंके अग्रभागसे और अपने दोनों हाथोंसे नख-केशादिका काटना उत्तम नहीं है ॥२०॥

अपने धनके अनुसार वेष-भूषादिरूप कला उचित हैं, किन्तु सर्वदा वैसा ही वेष बनाये रखना उचित नहीं है। अधिक शृंगार नहीं करना चाहिए। किन्तु अवस्थाके अनुसार ही करना चाहिए ॥२१॥ नवीन वस्त्र धारण करनेके लिए सौम्य, (बुध) रवि, शुक्र और गुरुवार शुभ माने

धनिष्ठा-ध्रुव-रेवत्यश्विनी-हस्तादिपञ्चकम् । पुष्यपुनर्वसू चैव शुभानि श्वेतवाससि ॥२३
पुष्यं पुनर्वसू चैव रोहिणी चोत्तरात्रयम् । कौसुम्भे वर्जयेद्वस्त्रे भर्तृघातो भवेद्यतः ॥२४
रक्तवस्त्र-प्रवालानां धारणं स्वर्ण-शङ्खयोः । धनिष्ठायां तथाऽश्विन्यां रेवत्यां करपञ्चके ॥२५
द्विजादेशे विवाहे च स्वामिदत्ते च वाससि । तिथि-वाराश्च शीतांशुविष्ट्याद्यान्न विलोकयेत् ॥२६
न धार्यमुत्तमैर्जीर्णं वस्त्रं न च मलीमसम् । विना रक्तोत्पलं रक्तपुष्पं च न कदाचन ॥२७
आकाङ्क्षन्नात्मनो लक्ष्मीं वस्त्राणि कुसुमानि च । पादत्राणानि चान्येन विधृतानि न धारयेत् ॥२८
नवभागीकृते वस्त्रे चत्वारस्तत्र कोणकाः । कर्णावर्तिद्वये द्वौ चाञ्चलौ मध्यं तथैककम् ॥२९
चत्वारो देवता-भागा द्वौ भागौ दैत्यनायकौ । उभौ तौ मानुषौ भागौ एक भागश्च राक्षसः ॥३०
पङ्काञ्जनादिभिर्लिप्तं त्रुटितं मूषकादिभिः । तुन्नितस्फाटितं दग्धं दृष्ट्वा वस्त्रं विचारयेत् ॥३१
उत्तमो दैवते लाभो दानवे रोगसम्भवः । मध्यमो मानुषे लाभो राक्षसे मरणं पुनः ॥३२

छत्रध्वजस्वस्तिकवर्धमान-श्रीवत्सकुम्भाम्बुजतोरणाद्यैः ।
छेदाकृतिर्नैर्ऋतभागगापि पुंसां विधत्ते न चिरेण लक्ष्मीः[1] ॥३३

गये हैं। लाल वस्त्र धारण करनेमें मंगलवार भी शुभ है। श्वेत वस्त्रको धारण करनेमें धनिष्ठा, ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र रेवती, अश्विनी हस्तादि पाँच नक्षत्र (हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा) पुष्य, और पुनर्वसु ये नक्षत्र शुभ हैं ॥२२-२३॥ कौसुम्भवर्ण रंग (हलका ताम्रवर्ण) का वस्त्र धारण करनेमें पुष्य पुनर्वसु, रोहिणी और तीनों उत्तरा नक्षत्र इनका त्याग करे, क्योंकि इन नक्षत्रोंमें कुसुमल रंगका वस्त्र पहरने पर पतिका घात होता है ॥२४॥ रक्त वस्त्र, प्रवाल (मूँगा) स्वर्ण और शंखको धनिष्ठा, अश्विनी रेवती और हस्तादि पाँच नक्षत्रोंमें धारण करना चाहिए ॥२५॥ ब्राह्मणके कहनेपर, विवाहके समय और स्वामीके द्वारा दिये गये वस्त्रके धारण करनेमें तिथि, वार, नक्षत्र, चन्द्र शुद्धि और विष्टि (भद्रा) आदिका विचार नहीं करना चाहिए ॥२६॥

उत्तम पुरुषोंको जीर्ण और मलिन वस्त्र नहीं धारण करना चाहिए। तथा लालकमलके बिना शेष लालपुष्प भी कभी नहीं धारण करना चाहिए ॥२७॥ यदि मनुष्य अपने लिए लक्ष्मीकी आकांक्षा करे तो दूसरोंके द्वारा धारण किये हुए वस्त्रोंको, पुष्पोंको और पादत्राणों (जूतों) को नहीं धारण करे ॥२८॥

नवीन वस्त्रके नौ भाग करे, उसमें चार भाग तो चारों कोणोंके होते हैं, कोनोंके समीपवाले दो भाग हैं, अंचलवाले दो भाग हैं और एक भाग मध्यवर्ती होता है ॥२९॥ इनमेंसे कोणोंवाले चार भाग देवताके भाग हैं, कोनोंके समीपवाले दो भाग दैत्योंके नायकोंके हैं, अंचलवाले दो भाग मनुष्यके हैं और मध्यभाग राक्षसका माना जाता है ॥३०॥

कीचड़, अंजन आदिसे लिप्त वस्त्र, मूषक आदिसे काटा गया वस्त्र, बुननेके स्थानसे फाड़ा गया वस्त्र और जले हुए वस्त्रको देखकर उसके फलका विचार करना चाहिए ॥३१॥ उपरिवर्णित भागोंमेंसे देवता-सम्बन्धी भाग उत्तम लाभ-कारक है, दैत्य-दानववाला भाग रोग-जनक है, मनुष्य भाग मध्यम लाभ-कारक है और राक्षस भागमें तो मरण होता है ॥३२॥

छत्र, ध्वजा, स्वस्तिक, वर्धमानक (नन्द्यावर्त) श्रीवत्स, कलश, कमल, और तोरण आदिके

---

1. भद्रबाहु संहिता, परि० श्लोक १९४, (पृ० ३९५)।

कङ्कूलबोलूक-कपोतकाक-क्रव्यादगोमायु-खरोष्ट्रसर्पैः ।
छेदाकृतिर्दैवतभागगापि पुंसां भयं मृत्युसमं करोति[1] ॥३४

नागवल्लीदलास्वादो युज्यते क्रमुकैः समम् । एलालवङ्गकक्कोलकर्पूरान्वितैरपि ॥३५
चूर्ण-पूगाधिक्ये साम्ये पत्र सिताधिकात् । दुर्गन्धगन्धसौगन्ध्य-बहुरङ्गान् विदुर्बुधाः ॥३६
पित्तशोणितवातार्त-रूक्षक्षीणाक्षिरोगिणाम् । न पथ्यं विषार्तस्य क्षीबशोषबलोऽपि च ॥३७
कामदं षड्-रसाधारमुष्णं श्लेष्मापहं तथा । कान्तिदं कृमिदुर्गन्धवातानां च विनाशकम् ॥३८
यःस्वादयति ताम्बूलं वक्त्रभूषाकरं नरः । तस्य दामोदरस्येव न श्रीस्त्यजति मन्दिरम् ॥३९
स्वापान्ते वमने स्नाने भोजनान्ते सभास्वपि । तत्पुनर्ग्राह्यमल्पीयः सुखदं मुखशुद्धिकृत् ॥४०
सुधीरर्थार्जने यत्नं कुर्यान्न्यायपरायणः । न्याय एवानपायो यः सूपायः सम्पदां मतः ॥४१

आकारका छिद्र यदि राक्षसवाले भागमें हो जावे तो मनुष्योंको लक्ष्मीकी प्राप्ति अचिर कालसे अर्थात् शीघ्र होती है ॥३३॥ कंकपक्षी, लवापक्षी, उल्लू, कबूतर, काक, मांस-भक्षी पशु, गीदड़, गर्दभ, ऊँट और सांप इनके आकारके छेद यदि देववाले भागमें हो जाये तो पुरुषोंको मृत्युके समान भयको करता है ॥३४॥

विशेष ज्ञातव्य यह है कि भद्रबाहु संहिताके परिशिष्ट अध्यायमें चौतीसवां श्लोक पहिले और तेतीसवां श्लोक पीछे दिया हुआ है। (देखो पृ० १९५)

नागवेलके पत्र अर्थात् ताम्बूलका आस्वादन सुपारीके साथ और इलायची, लोंग, कंकोल, कपूर आदि सुगन्धित वस्तुओंके साथ करना योग्य है ॥३५॥ ताम्बूल भक्षणमें चूना, सुपारी और पान इनकी अधिकतामें और समानतामें चूनाके क्रमसे दुर्गन्ध, निर्गन्ध, सौगन्ध और बहुरंगको विद्वज्जन कहते हैं। भावार्थ—पानके लगानेमें यदि चूनाकी अधिकता हो तो मुखमें दुर्गन्ध उत्पन्न होगी, यदि सुपारीकी अधिकता हो तो मुख निर्गन्ध रहेगा, यदि पानका भाग अधिक होगा तो मुख सुगन्धित रहेगा। तथा तीनों समान परिमाणमें होंगे तो मुखका रंग सुन्दर होगा और अच्छा स्वाद आयगा ॥३६॥ पित्त रोगी, रक्त-क्षयवाला, पीड़ित, रूक्ष शरीरी, क्षीण देही, और आंखके रोगी पुरुषोंके लिए ताम्बूल-भक्षण करना अपथ्य है। तथा विषसे पीड़ित, क्षीव (मद-मत्त नशेलची) और शोषवाले दुर्बल पुरुषको भी वह अपथ्य है ॥३७॥ ताम्बूलका भक्षण काम-वर्धक, छहों रसोंका आधार, उष्ण, कफनाशक, कान्ति-दायक, और कृमि, दुर्गन्ध और वातरोग का विनाशक है ॥३८॥ जो मनुष्य मुखको भूषित करनेवाले ताम्बूलका आस्वादन करता है, उसके घरको लक्ष्मी उस प्रकारसे नहीं छोड़ती है, जिस प्रकारसे कि लक्ष्मी विष्णुका साथ नहीं छोड़ती है। अर्थात् ताम्बूल खानेवाले पुरुषके घर सदा लक्ष्मीका निवास रहता है ॥३९॥ सोनेके अन्तमें, वमन होने पर, स्नान करने पर, भोजनके अन्तमें, सभामें सुखद और मुखकी शुद्धि करनेवाला ताम्बूल अल्प परिमाणमें ही ग्रहण करना चाहिए ॥४०॥

बुद्धिमान् मनुष्यको न्याय-परायण होकर धनके उपार्जनमें प्रयत्न करना चाहिए। न्याय-पूर्वक उपार्जन किया हुआ धन ही अपाय (विनाश-) रहित होता है, क्योंकि वह नवीन अर्थो-

---

1. भद्रबाहु परि० संहिता, श्लोक १९३ (पृष्ठ १९५)।

दत्तः स्वल्पोऽपि भद्राय स्यादर्थो न्यायसञ्चितः । अन्यायात्तः पुनर्दत्तः पुष्कलोऽपि फलोज्झितः ॥४२
धर्मकर्माविरोधेन सकलोऽपि कुलोचितः । निस्तन्द्रेण विधेयोऽत्र व्यवसायः सुमेधसाम् ॥४३
प्रसूनमिव निर्गन्धं तडागमिव निर्जलम् । कलेवरमिवाजीवं को-नि:सेवेत निर्धनम् ॥४४
अर्थ एवं ध्रुवं सर्वपुरुषार्थ-निबन्धनम् । तत्रायानाहृता ये ते जीवन्तोऽपि शवोपमाः ॥४५
कृष्यादिभिः सदोपायैः सूरिभिः समुपार्ज्यते । दयादानादिभिः सम्यग्धन्यैर्धर्म इव ध्रुवम् ॥४६
आरम्भोऽयं महानेव पृथ्वी-कर्षणकर्मणि । सुतीर्थविनियोगेन विना पापाय केवलम् ॥४७
वापकालं विजानाति भूमिभावं च कर्षकः । कृषि-साध्यं पथि क्षेत्रं यथेप्सति स वर्धते ॥४८
पशुपाल्यं श्रियो वृद्धयै कुर्वन्नोज्झेद्दयालुताम् । तत्कृत्येषु स्वयं जाग्रच्छविच्छेदान् विवर्जयेत् ॥४९
श्रेयान् धर्मः पुमर्थेषु स्वोपार्ज्यस्तदनन्तरम् । तन्नित्यं तौ च सङ्ग्राह्यौ कथं दद्यादसङ्ग्रही ॥५०
सङ्ग्रहेऽर्थोऽपि जायेत प्रस्तावे तस्य विक्रयात् । उद्धारेऽनुचितः सोऽपि वैर-विग्रह कारिणि ॥५१
सर्वदा सर्वभाण्डेषु माणकेषु च शिक्षितः । जानीयात् सर्वभाषाविद् वस्तुसञ्ज्ञां वणिग्वरः ॥५२
एकद्वित्रिचतुःसञ्ज्ञां तर्जन्याद्यङ्गुलिग्रहे । साङ्गुष्ठानां पुनस्तासां सङ्ग्रहे पञ्च सञ्ज्ञिताः ॥५३

पार्जनका सुन्दर उपाय है ॥४१॥ न्यायसे संचय किया गया धन यदि अल्प परिमाणमें भी दान किया जाय, तो भी वह कल्याणके लिए होता है। किन्तु अन्यायसे प्राप्त धन यदि विपुल परिमाणमें भी दान किया जावे तो भी फलसे रहित होता है ॥४२॥ इसलिए बुद्धिमानोंको प्रमाद-रहित हो करके धर्म-कर्मके अविरोधसे अपने कुलके उचित सभी व्यवसाय करना चाहिए ॥४३॥

गन्ध-रहित पुष्पके समान, जल-रहित तालाबके समान, और जीव-रहित शरीरके समान धन-रहित पुरुषकी कौन सेवा करेगा ? कोई भी नहीं ॥४४॥ सभी पुरुषार्थोंका कारण निश्चयसे धन ही है। जो पुरुष धनोपार्जन करनेमें आदरशील नहीं होते हैं वे जीते हुए भी मृतकके समान हैं ॥४५॥ इसलिए बुद्धिमान् लोग सदा ही कृषि आदि न्यायोचित उपायोंके द्वारा धनका उपार्जन करते हैं। जैसे कि धन्य पुरुष दया-दान आदिके द्वारा निश्चयसे धर्मका उपार्जन करते हैं ॥४६॥ यद्यपि पृथ्वीके कर्षण-कर्ममें अर्थात् खेती करनेमें महा आरम्भ हो है अर्थात् यह महा हिंसाका कार्य है। कृषिसे उपार्जित धन उत्तम तीर्थ-पात्र आदिमें दान देनेके विना वह केवल पापके लिए ही है ॥४७॥ कृषि करनेवाला मनुष्य वीज-वपनको और भूमिके भावको जानता है, इसलिए खेतीके मार्गमें कृषि-साध्य खेतको वह जैसा चाहता है, वैसा उसे बढ़ा लेता है ॥४८॥

लक्ष्मीकी वृद्धिके लिए गाय आदि पशुओंका पालन करना चाहिए। किन्तु पशु-पालनमें दयाका परित्याग न करे। पशुपालनके कार्यमें स्वयं जागृत (सावधान) रहे और पशुओंके अंगका छेदन-भेदन आदि कार्योंका त्याग करे ॥४९॥ मनुष्यके सभी पुरुषार्थोंमें धर्म-पुरुषार्थ सबसे श्रेष्ठ है और उसके अनन्तर धनका उपार्जन करना भी उत्तम है। इसलिए धर्म और अर्थ इन दो पुरुषार्थोंका सदा संग्रह करना चाहिए, क्योंकि धनका संग्रह नहीं करनेवाला पुरुष दूसरेको दान कैसे दे सकेगा ? अर्थात् नहीं दे सकेगा ॥५०॥ धन-धान्यादिके संग्रह करने और अवसर आनेपर उसके विक्रयसे भी धनका उपार्जन होता है। किन्तु वैर और विग्रह करनेवाले उधार देनेके धन्धेमें धनका उपार्जन करना अनुचित है ॥५१॥

सर्व प्रकारके भांडों और वस्त्रोंके व्यापारमें शिक्षित हुए उत्तम वैश्यको सभी भाषाओं और वस्तुओंकी संज्ञाओं (संकेतों) को भी जानना चाहिए ॥५२॥ तर्जनीको आदि लेकर अंगुलियोंके

कनिष्ठादि-तलस्पर्शे षट्सप्ताष्टौ नव क्रमात् । तर्जन्या दश विज्ञेयास्तदादीनां नखाहते ॥५४
एकद्वित्रिचतुर्युक्ता दश ज्ञेया यथाक्रमम् । हस्तस्य तलसंस्पर्शे पुनः पञ्चदश स्मृताः ॥५५
तले च कनिष्ठानां तु षट्सप्ताष्टनवाधिकाः । क्रमशो दश विज्ञेया हस्तसञ्ज्ञा-विशारदैः ॥५६
तर्जन्यादौ द्वित्रिचतुःपञ्चग्राहे यथाक्रमम् । विंशतिस्त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशतां परिकल्पना ॥५७
कनिष्ठाद्यङ्गुलितले: षष्टिसप्तत्यशीतयः । नवतिश्च क्रमाज्ज्ञेया तर्जन्यर्धग्रहे शतम् ॥५८
सहस्रमयुतं लक्षं पूर्वयुक्तं च विश्रुतम् । मणिबन्धे पुनः कोटी हस्तसञ्ज्ञाविदो विदुः ॥५९
क्रयाणकेऽदृष्टेषु न सत्यङ्कारमर्पयेत् । दद्याच्चेद्बहुभिः सार्धं मिच्छेल्लक्ष्मीं वणिग्यदि ॥६०
कुर्यात्तत्रार्थसम्बन्धमिच्छेद्यत्र न सौहृदम् । यदृच्छया न तिष्ठेच्च प्रतिष्ठाभङ्गभीरुकः ॥६१
व्यापारिभिश्च विप्रैश्च सायुधैश्च वणिग्वरः । श्रियमिच्छन् न कुर्वीत व्यवहारं कदाचन ॥६२
नटे पण्याङ्गनायां च द्यूतकारे विटे तथा । दद्यादुद्धारकं नैव धनरक्षापरायणः ॥६३
धर्मबाधाकरं यच्च यच्च तस्कराद्धृतम् । भूरिलाभकरं ग्राह्यं पुण्यं पुण्यार्थिभिर्न तत् ॥६४

ग्रहण करने पर क्रमशः एक, दो, तीन और चारका संकेत जानना चाहिए। तथा अंगूठेके साथ उन सभी अंगुलियोंके पकड़नेपर पाँचका संकेत जानना चाहिए ॥५३॥ पुनः कनिष्ठा आदिके तलभागके स्पर्श करनेपर दशका संकेत जानना चाहिए। पुनः तर्जनीको आदि लेकर शेष अंगुलियोंको नखसे दबानेपर यथाक्रमसे एक, दो, तीन और चारसे युक्त दश अर्थात् क्रमसे ग्यारह, बारह, तेरह और चौदहका संकेत जानना चाहिए। हाथके तलभागका स्पर्श करनेपर पन्द्रहका संकेत माना जाता है ॥५४-५५॥ कनिष्ठा आदि अंगुलियोंके तलभागके स्पर्श करनेपर क्रमसे छह, सात, आठ और नौसे अधिक दशका संकेत हस्तसंज्ञाके विशारद पुरुषोंको जानना चाहिए ॥५६॥ पुनः तर्जनी आदिके आदि भागको लेकर यथाक्रमसे दो, तीन, चार और पाँचके ग्रहण करनेपर क्रमशः बीस, तीस, चालीस और पचासकी कल्पना करनी चाहिए ॥५७॥ पुनः कनिष्ठा आदि अंगुलियोंके तलभागके ग्रहण करनेपर यथाक्रमसे साठ, सत्तर, अस्सी और नब्बे तथा तर्जनीके अर्धभागके ग्रहण करनेपर सौका संकेत जानना चाहिए ॥५८॥ पुनः अनामिकाके मध्य-भागके ग्रहण करनेपर हजारका, मध्यमाके मध्यभागके ग्रहण करनेपर दश हजारका, तर्जनीके मध्यभागके ग्रहण करनेपर लाखका और अंगूठेके मध्यभागके ग्रहण करनेपर दश लाखका संकेत प्रसिद्ध है। हाथके मणिबन्ध (पहुँचा) पकड़नेपर करोड़का संकेत हस्तसंज्ञाके विज्ञजन जानते हैं ॥५९॥

किरानाकी वस्तुओंके नहीं देखनेपर सत्यकार (लेना पक्का करनेके लिए अग्रिम मूल्य) नहीं देवे। यदि देवे भी, तो यदि व्यापारी लक्ष्मीको चाहता है तो बहुत जनोंके साथ उनकी साक्षीसे देवे ॥६०॥ जहाँ मित्रता न चाहे, वहींपर व्यापारीको धनका सम्बन्ध करना चाहिए। तथा अपनी प्रतिष्ठाके भंगसे डरनेवाले व्यापारीको बिना किसी प्रयोजनके जहाँ कहीं नहीं ठहरना चाहिए ॥६१॥

लक्ष्मीकी इच्छा करनेवाले श्रेष्ठ वैश्यको चाहिए कि वह व्यापारियोंके साथ, ब्राह्मणोंके साथ और शस्त्रधारी पुरुषोंके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ॥६२॥ धनकी रक्षा करनेमें तत्पर वैश्यको चाहिए कि वह नटको, बाजारू स्त्री वेश्याको, जुआरीको तथा विट (भांड) नट आदि कुत्सित पुरुषोंको धन उधार न देवे ॥६३॥ जो धर्ममें बाधा करनेवाला हो, तथा जो चोरी करके लाया हुआ हो, ऐसा बहुत भी लाभकारी धन पवित्र पुण्यके इच्छुक जनोंको नहीं ग्रहण करना

धनं यदर्ज्यते किञ्चित्कूटमानतुलादिभिः । नश्येत्तन्नैव दृश्येत तप्तपात्रेषु बिन्दुवत् ॥६५
धनी न्यासापहारं च वणिक्पुत्रः परित्यजेत् । अङ्गीकुर्यात्क्षमामेकां भूपतौ दुर्गतोऽपि च ॥६६
स्वच्छस्वभावविश्वस्ता गुरुनायककालकाः । देवा वृद्धाश्च न प्राज्ञैर्वञ्चनीया कदाचन ॥६७
भाव्यं प्रतिभुवोऽन्नेव दक्षिणेन न साक्षिणा । कोशपानादिकं चैव न कर्तव्यं यतस्ततः ॥६८
साध्वर्थे जीवरक्षायै गुरुदेवगृहादिषु । मिथ्याकृतैरपि नृणां शपथैर्नास्ति पातकम् ॥६९
असम्पत्त्या स्वमात्मानं नैवावगणयेद् बुधः । किन्तु कुर्याद् यथाशक्ति व्यवसायमुपायवित् ॥७०
वृष्टिशीतातपक्षोभकाममोहक्षुधादयः । न घ्नन्ति यस्य कार्याणि सो गुणी व्यवसायिनाम् ॥७१
यो द्यूत-धातुवादादिसम्बन्धाद् धनमीहते । स मषीकूर्चकैर्धाम धवलीकर्तुमीहते ॥७२
अन्यायिदेवपाखण्डिजनानां धनेन यः । वृद्धिमिच्छति मुग्धोऽसौ विषमत्ति जिजीविषुः ॥७३
गोदेवकरणारक्षतलावर्तकपट्टकाः । ग्रामोत्साराश्च न प्रायाः सुखा व्यक्तं भवन्त्यमी ॥७४
अभिगम्यो नृभिर्योगक्षेमसिद्ध्यर्थमात्मनः । राजादिर्नायकः कश्चिदिन्दुनेव दिवाकरः ॥७५
निन्दन्तु मानिनः सेवां राजादीनां सुखैषिणः । सवज्जना (?) स्वजनोद्धार-संहारौ न बिना तथा ॥७६

चाहिए ॥६४॥ हीनाधिक नाप-तौल आदिके छल-प्रपंचसे जो कुछ भी धन उपार्जन किया जाता है, वह इस प्रकारसे नष्ट हो जाता है, जैसे कि अग्निसे सन्तप्त लोह पात्र (तवा) पर गिरा हुआ जल-बिन्दु दिखाई नहीं देता है ॥६५॥

धनी वणिक्-पुत्रको न्यास (धरोहर) के अपहरणका परित्याग करना चाहिए। राजासे दुर्गतिको प्राप्त हुए भी वणिक्को एकमात्र क्षमा ही अंगीकार करनी चाहिए ॥६६॥ बुद्धिमान् पुरुषोंको चाहिए कि वे निर्मल स्वभाववाले विश्वस्त पुरुषोंको, गुरुजनोंको, स्वामियोंको, अधिकारियोंको, देवोंको और वृद्ध मनुष्योंको कदाचित् भी नहीं ठगें ॥६७॥ भूमि-पतिके अन्नके समान मनुष्यको देनेमें कुशल होना चाहिए। साक्षी नहीं होना चाहिए। तथा इसीलिए शपथ-सौगन्ध आदि भी नहीं करनी चाहिए ॥६८॥ साधुके लिए, जीव-रक्षाके लिए, गुरुजनोंके लिए तथा देवालय आदिके विषयमें मिथ्या की गई शपथोंसे भी मनुष्योंको कोई पाप नहीं लगता है ॥६९॥ सम्पत्ति न होनेसे बुद्धिमान् पुरुष अपनी आत्माको नीचा न गिने। किन्तु अर्थोपार्जनके उपायोंको जानकर यथाशक्ति योग्य व्यवसायको करे ॥७०॥

वर्षा, शीत, आतप (गर्मी) क्षोभ, काम, मोह और भूख-प्यास आदिके कष्ट जिस पुरुषके कार्योंको नष्ट नहीं कर पाते हैं, वह व्यवसाय करनेवालोंमें गुणी है ॥७१॥ जो मनुष्य जुआ, धातुवाद आदिके सम्बन्धसे धनको उपार्जन करनेकी इच्छा करता है, वह काली स्याहीकी कूँचीसे भवनको धवल करनेकी इच्छा करता है ॥७२॥ जो अन्यायी पुरुषोंके धनसे, देव-धन (निर्माल्य-द्रव्य) से और पाखण्डी जनोंके धनसे अपने धनकी वृद्धि चाहता है, वह मूढ़ जीनेकी इच्छा करता हुआ विषको खाता है ॥७३॥ गौ, देव और करण (अदायक) आरक्षक (कोटवाल) तलावर्तक (गुप्तचर) पट्टक (पट्टबन्ध, पटेल आदि) और गाँवका धन खानेवाले, ये सभी पुरुष प्रायः प्रकटरूपसे सुखी नहीं होते हैं ॥७४॥

अपने योग (धनोपार्जन) और क्षेम (उपार्जित धनके संरक्षण) की सिद्धिके लिए मनुष्योंको राजा, नायक आदि किसी श्रेष्ठ पुरुषके साथ समागम करना चाहिए। जैसे कि चन्द्र सूर्यके साथ समागम करता है ॥७५॥ सुखके इच्छुक स्वाभिमानी पुरुष राजा आदिकी सेवा

अकर्णदुर्बलः शूरः कृतज्ञः सात्त्विको गुणी । वदान्यो गुणरागी च प्रभुः पुण्यैरवाप्यते ॥७७
स्वतन्त्रः स्वयमिद्धात्मा सेवकाऽऽगमनस्पृही । उचित्पथि (?) क्षमी दक्षः सलज्जो दुर्लभः प्रभुः ॥७८
विद्वानपि परित्याज्यो नेता मूर्खजनावृतः । मूर्खोऽपि सेव्य एवासौ बहुश्रुतपरिच्छदः ॥७९
स्वामिसम्भाविनैश्वर्यः सेव्यः सेव्यगुणान्वितः । सत्क्षेत्रबीजवत्कालान्तरेऽपि स्यान्न निष्फलः ॥८०
स्वामिभक्तो महोत्साहः कृतज्ञो धार्मिकः शुचिः । अकर्कशः कुलीनश्च स्मृतिज्ञः सत्यवाचकः ॥८१
विनीतः स्थूललक्ष्यश्चाव्यसनो वृद्धसेवकः । अक्षुद्रः सत्त्वसम्पन्नः प्राज्ञः शूरोऽचिरक्रियः ॥८२
राज्ञा परीक्षितः सर्वोपधासु निजदेशजः । राजार्थस्वार्थलोकार्थकारको निस्पृहः वशी ॥८३
अमोघवचनः काम्यः पालिताशेषदर्शनः । पुरोचित्येन सर्वत्र नियोजितपराक्रमः ॥८४

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिकृतः समः ।
क्रमागतो वणिक्पुत्रैः सेव्यो मन्त्री न चापरः ॥८५॥ (कुलकम्)

अभ्यासी वाहने शास्त्रे, शस्त्रे च विजये रणे । स्वामिभक्तो जितायासः, सेव्यः सेनापतिः श्रिये ॥८६
अवञ्चकः स्थिरः प्राज्ञः, प्रियवाग्विक्रमः शुचिः । अलुब्धः सोद्यमो भक्तः सेवकः सद्भिरिष्यते ॥८७

करनेकी भले ही निन्दा करें, किन्तु उनकी सेवाके बिना स्वजनोंका उद्धार और दुर्जनोंका संहार होना सम्भव नहीं है ॥७६॥ जो कानोंका दुर्बल न हो, शूर हो, कृतज्ञ हो, सात्त्विक स्वभावी हो, गुणी हो, उदार हो और गुणोंका भण्डार हो, ऐसा स्वामी पुण्यसे ही प्राप्त होता है ॥७७॥ स्वतंत्र, स्वयं पवित्रात्मा, सेवक जनोंके आगमनका इच्छुक, उचित मार्गपर चलनेवाला, क्षमाशील, चतुर और लज्जावान् स्वामी मिलना दुर्लभ है ॥७८॥

मूर्खजनोंसे घिरा रहनेवाला विद्वान् भी नेता परित्याज्य है और उत्तम शास्त्रज्ञ पुरुषोंके परिवारवाला मूर्ख भी नेता सेवा करनेके योग्य है ॥७९॥ जिसमें स्वामीके योग्य ऐश्वर्य की संभावना हो और जो सेवन करनेके योग्य गुणोंसे युक्त हो, ऐसा स्वामी सेवा करनेके योग्य है। क्योंकि वह उत्तम खेतमें बोये गये बीजके समान कालान्तरमें भी फलको देगा, किन्तु निष्फल नहीं रहेगा ॥८०॥

अब राजाका मन्त्री कैसा हो ? यह बतलाते हैं—जो स्वामीका भक्त हो, महान् उत्साहवाला हो, कृतज्ञ हो, धार्मिक हो, पवित्र हृदयवाला हो, कर्कश स्वभावी न हो, कुलीन हो, स्मृति-शास्त्र का वेत्ता हो, सत्यभाषी हो, विनीत हो, विशाल लक्ष्यवाला हो, व्यसन-रहित हो, वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाला हो, क्षुद्रता-रहित हो, सत्त्वसे सम्पन्न हो, बुद्धिमान् हो, शूरवीर हो, शीघ्र कार्य करनेवाला हो, राजाके द्वारा सभी विषयोंमें परीक्षित हो, जिसका अपने ही देशका जन्म हो, राजा के अर्थका, अपने प्रयोजनका और लोगोंके स्वार्थका करनेवाला हो, लोभ-लालचसे रहित हो, शासन करनेवाला हो, व्यर्थके वचन न बोलता हो, सुन्दर हो, सभी दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंका पालक हो, सर्व लोगोंपर पुरोचित व्यवहारको करता हो, आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता और दण्ड नीति से कार्य करनेवाला हो, समभावी हो, और कुल-परम्परागत क्रमका ज्ञाता हो, ऐसा मन्त्री ही वणिक्-पुत्रोंके द्वारा सेवा करनेके योग्य है, अन्य नहीं ॥८१-८५॥

अब सेनापति कैसा हो ? यह निरूपण करते हैं—जो घोड़े आदिकी सवारी करनेमें अभ्यासवाला हो, शास्त्रोंमें और शस्त्र-संचालनमें कुशल हो, रणमें विजय प्राप्त करनेवाला हो, स्वामीका भक्त हो, और दुर्व्यसनोंका जीतनेवाला हो, ऐसा सेनापति अपने कल्याणके लिए सेवनीय है ॥८६॥ सेवक कैसा हो ? यह बतलाते हैं—जो वंचक न हो, स्थिर स्वभावी हो, बुद्धिमान्

सेवकः स गुणो नम्रः स्वाम्याकूते विशेत्सदा । स्वमार्गेणोचिते स्थाने गत्वा चासीत संवृतः ॥८८

आसीत स्वामिनः पार्श्वे तन्मुखेक्षी कृताञ्जलिः ।
स्वभावं चास्य विज्ञाय दक्षः कार्याणि साधयेत् ॥८९

नात्यासन्नो न दूरस्थो न समोच्चासनस्थितः । न पुरस्थो न पृष्ठस्थस्तिष्ठेत्सदसि तु प्रभोः ॥९०
आसन्ने स्यात् प्रभोर्बाधा दूरस्थेऽप्यप्रगल्भताम् । पुरः स्थितेऽप्यन्यकोपस्तस्मिन् पश्चाददर्शनः ॥९१
प्रभु-प्रिये प्रियत्वं च प्रभुवैरिणि वैरिता । तस्यैवाव्यभिचारेण नित्यं वर्तेत सेवकः ॥९२
प्रसादात्स्वामिना दत्तं वस्त्रालङ्करणादिकम् । प्रीत्याधार्यं स्वयं देयं न चान्यस्मै तदग्रतः ॥९३
स्वामिनो ह्यधिको वेषः समानो वा न युज्यते । स्रस्तं वस्त्रं क्षुतं जृम्भां नेक्षेतास्य स्त्रियं तथा ॥९४
विजृम्भणक्षुतोद्गारहास्यादीन् पिहिताननः । कुर्यात्सभासु नो नासाशोधनं हस्तमोटनम् ॥९५
कुर्यात्पर्यस्तिकां नैव नैव पादप्रसारिकाम् । न निद्रां विकथां नापि सभायां कुक्रियां न च ॥९६
श्रोतव्या सावधानेन स्वामिवागनुजीविना । भाषितः स्वामिना जल्पेन्न चैकवचनादिभिः ॥९७
आज्ञा-लाभादयः सर्वे यस्मिन् लोकोत्तरा गुणाः । स्वामिनं नावजानीयात्सेवकस्तं कदाचन ॥९८
एकान्ते मधुरैर्वाक्यैः शान्तयेत्तर्हि तत्प्रभुम् । वारयेदन्यथा हि स्यादेव स्वयमुपेक्षितः ॥९९

हो, प्रियवादी हो, पराक्रमी हो, पवित्र हो, लोभ-रहित हो, उद्यमशील हो और स्वामीका भक्त हो, ऐसा व्यक्ति ही सज्जनोंके द्वारा सेवक कहा गया है ॥८७॥ वह सेवक नम्र हो, स्वामीके अभिप्रायमें सदा प्रवेश करनेवाला हो और अपने मार्गसे जाकर उचित स्थानमें शरीरका संवरण करके बैठे ॥८८॥ स्वामीके समीप उनके मुखको देखता हुआ अंजली बाँधकर बैठे और स्वामीके स्वभाव (अभिप्राय) को जानकर वह दक्ष सेवक कार्योंको सिद्ध करे ॥८९॥ सेवकको चाहिए कि वह सभामें स्वामीके न अतिसमीप बैठे, न अति दूर बैठे, न समान आसन पर बैठे, न बिलकुल सामने बैठे और न बिलकुल पीछे बैठे। (किन्तु यथोचित स्थान पर बांई ओर बैठे) ॥९०॥ स्वामीके अति समीप बैठनेपर स्वामीके कार्यमें बाधा आती है, अति दूर बैठने पर मूर्खता प्रकट होती है, सामने बैठनेपर अन्य पुरुषका उसपर कोप होता है और पीछे बैठनेपर स्वामीको उसका दर्शन नहीं होता है ॥९१॥ स्वामीके प्रिय पुरुषपर प्रेमभाव रखे, और स्वामीके वैरीपर वैरभाव रखे। स्वामीकी इच्छाके अनुसार ही सेवकको नित्य कार्यमें प्रवर्तन करना चाहिए ॥९२॥ स्वामीके द्वारा प्रसन्नतासे दिये गये वस्त्र और अलंकरण आदिको प्रीति-पूर्वक स्वयं धारण करना चाहिए। तथा स्वामीके आगे उन्हें अन्य पुरुषको नहीं देना चाहिए ॥९३॥ स्वामीसे अधिक या समान वेषधारण करना सेवकको योग्य नहीं है। स्वामीके सामने ढीला वस्त्र पहिरना, छींकना और जंभाई लेना उचित नहीं है। तथा स्वामीकी स्त्रीको भी नहीं देखे ॥९४॥ उबासी, डकार, हँसी आदिको मुख ढँककर करे। तथा सभामें नासा-मलका शोधना और हाथोंका मोड़ना भी उचित नहीं है ॥९५॥ सभामें पालथी मार करके भी न बैठे, न पैरोंको पसारे, न निद्रा लेवे, न विकथा करे और न कोई खोटी क्रियाको ही करे ॥९६॥ सेवकको सावधानीसे स्वामीके वचन सुनना चाहिए। स्वामीके द्वारा कोई कार्य करनेके लिए कहा जावे तो उसके उत्तरमें एक वचन आदि से न बोले। किन्तु आदर-सूचक बहुवचनका प्रयोग करे ॥९७॥ जिसमें आज्ञा, लाभ आदि सभी लोकोत्तर गुण हैं, ऐसे स्वामीका सेवकको कभी अपमान या अवहेलना नहीं करनी चाहिए ॥९८॥ यदि कदाचित् स्वामी कोई अनुचित या रोषभरी बात कहे, तो एकान्तमें मधुर वाक्योंसे स्वामीको

मौनं कुर्यादपि स्वामी युक्तमप्यवमन्यते । प्रभोरग्रे न कुर्वीत वैरिणो गुणकीर्तनम् ॥१००
प्रभोः प्रसादेऽप्राप्तेऽपि प्रकृतिर्नैव कोपयेत् । आपाद्यितश्च कार्येषु याचेताभ्यधिकं पौरुषम् ॥१०१॥
कोपप्रसादचिह्नैर्वचनैरिङ्गितैः स्वकायाऽथवा । अनुरक्तं विरक्तं च विजानीयात्प्रभोर्मनः ॥१०२
हर्षो दृष्टे धृतिः पार्श्वे स्थिते चासनदापनम् । स्निग्धोक्तिरुक्तकारित्वं प्रसन्नप्रभुलक्षणम् ॥१०३
आपद्युक्ते हि नालोकेन्मानहानिरदर्शनम् । दोषोक्तिरप्रदानं च विरक्तप्रभुलक्षणम् ॥१०४
दोषैकेन न तस्त्याज्यः सेवकः सगुणोऽधिपैः । धूमदोषभयाद्वह्निः किमु केनाप्यपास्यते ॥१०५
चलादपि चलः श्लाघ्यो धनात्पुरुषसङ्ग्रहः । असदप्यर्ज्यते वित्तं पुरुषैश्च व्यवसायिभिः ॥१०६
अनल्पैः किमहो जल्पैर्व्यवसायः श्रियो मुखम् । अर्ज्या श्रीः सदयाकृत्ये दान-भोगकरी च या ॥१०७
व्यवसाये निधौ धर्म-भोगयोः पोष्य-पोषणे । चतुरश्चतुरो भागानर्थस्यैवं नियोजयेत् ॥१०८
न लालयति यो लक्ष्मीं शास्त्रीयविधिनामुना । सर्वथैव स निःशेषपुरुषार्थबहिष्कृतः ॥१०९
सा च सञ्जायते लक्ष्मी रक्षण-व्यवसायतः । प्रावृषेण्यपयो वाहादिव काननकाम्यता ॥११०
व्यवसायोऽप्यसौ पुण्यनैपुण्यसचिवो भवेत् । सफलः सर्वदा पुंसां वारिसेकादिव द्रुमः ॥१११

शान्त करे, किन्तु तत्काल ही उसके कथनकी अवहेलना न करे। अन्यथा वह सेवक स्वयं उपेक्षित हो जायगा ॥९९॥ यदि स्वामी योग्य भी कही गई बातकी अवमानना या उपेक्षा करे, तो सेवकको मौन-धारण करना चाहिए। तथा स्वामीके आगे उनके वैरीका कभी गुणगान नहीं करना चाहिए ॥१००॥ स्वामीकी प्रसन्नता नहीं पानेपर भी सेवकको अपनी प्रकृति कुपित नहीं करनी चाहिए। स्वामीके द्वारा कार्योंमें लगाये जानेपर और भी अधिक पुरुषार्थवाले कार्यकी याचना करनी चाहिए ॥१०१॥

क्रोध या प्रसादके चिह्नोंसे, वचनोंसे अथवा चेष्टासे स्वामीके मनको अपने विषयमें अनुरक्त या विरक्त जानना चाहिए ॥१०२॥ दिखाई देनेपर हर्ष प्रकट करे, समीप पहुँचनेपर धैर्य प्रदर्शित हो, खड़े होनेपर आसन देवे, स्नेहभरे वचन कहे और जो सेवक कहे उसे करे तो ये सब स्वामीके प्रसन्न होनेके लक्षण हैं ॥१०३॥ आपत्तिसे युक्त होनेपर भी नहीं देखे, मानहानि करे, दर्शन न दे, दोषोंको कहे और आसन प्रदान न करे, तो ये सब स्वामीकी विरक्तताके लक्षण हैं ॥१०४॥ अनेक गुणोंसे युक्त सेवक किसी एक दोषके कारण स्वामीजनोंको नहीं छोड़ना चाहिए। धुँआके दोषके भयसे क्या अग्नि किसीके द्वारा त्यागी जाती है? नहीं त्यागी जाती ॥ १०५ ॥

चंचलसे भी चंचल धन प्रशंसाके योग्य है। इसलिए पुरुषको धनका संग्रह करना चाहिए। व्यवसायी पुरुष असत् भी धनका उपार्जन करते हैं ॥१०६॥ अहो, अधिक कहनेसे क्या लाभ है, व्यवसाय करना लक्ष्मीका मुख है। अतएव दयाके कार्य करनेके लिए उस लक्ष्मीका उपार्जन करना ही चाहिए, जो कि दान और भोगोंको करनेवाली है ॥१०७॥ व्यापारमें उपार्जित धनके इस प्रकारसे चार भाग करना चाहिए—एक भाग भण्डारमें रखे, एक भाग धर्मकार्यमें लगावे, एक भाग अपने भोग-उपभोगमें खर्च करे और एक भाग अपने अधीन पोष्यवर्गके पोषणमें लगावे ॥१०८॥ जो पुरुष इस शास्त्रीय विधिसे लक्ष्मीका लालन-पालन नहीं करता है, वह सर्वथा ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंसे बहिष्कृत रहता है ॥१०९॥ वह लक्ष्मी संरक्षण और व्यवसायसे पैदा होती है। जैसे कि वर्षाके जल-प्रवाहसे वन-उद्यानके हरे-भरे रहनेकी कामना की जाती है ॥११०॥

पुण्यमेव मुहुः केऽपि प्रमाणीकुर्वतेऽलसाः । निरीक्ष्य तद्वतां द्वारि ताम्यतो व्यवसायिनः ॥११२
तदयुक्तं यतः पुण्यमपि निर्व्यवसायकम् । सर्वथा फलयन्नात्र कदाचिदवलोक्यते ॥११३
द्वौ तथेतौ ततो लक्ष्म्या हेतू न तु पृथक्-पृथक् । तेन कार्यो न गृहस्थेन व्यवसायोऽनुवासरे ॥११४
कालेन सूचितं वस्त्रममलं सदनं निजम् । अर्थोप्यर्थाधिकाश्चैतद्व्यवसायतरोः फलम् ॥११५
इत्थं किल द्वितीय-तृतीय-प्रहरार्धमखिलमपि । हट्टे कुर्वन्तः सन्तः कृत्यविधौ नात्र मुह्यन्ति ॥११६

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे दिनचर्यायां द्वितीयोल्लासः ।

●

मनुष्योंका वह व्यवसाय भी पुण्यकी निपुणताकी सहायतासे सफल होता है। जैसे कि जलके सिंचनसे वृक्ष फलीभूत होता है ॥१११॥

पुण्यवालोंके द्वारपर व्यवसायी लोगोंको तमतमाते हुए खड़े देखकर कितने ही आलसी पुरुष बार-बार पुण्यको ही प्रमाण मानते हैं ॥११२॥ किन्तु उनका यह मानना अयुक्त है, क्योंकि पुण्य भी व्यवसायके विना सर्व प्रकारसे फलता हुआ कभी भी यहाँ दिखाई नहीं देता है ॥११३॥ इसलिए पुण्य और व्यवसाय ये दोनों ही लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण है। ये पृथक्-पृथक् लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारण नहीं हैं। इसलिए गृहस्थको प्रतिदिन केवल व्यवसाय ही नहीं करना चाहिए। (अपि तु पुण्यका भी उपार्जन करना चाहिए) ॥११४॥ समयके अनुसार निर्मल उत्तम उचित वस्तु मिलना, अपना सुन्दर भवन होना, धन और धन-प्राप्तिके उपायोंका संयोग होना, ये सब व्यवसायरूपी वृक्षके फल हैं ॥११५॥

इस प्रकार व्यवसायी पुरुष दूसरे और तीसरे पहरके अर्ध भागतक या तीसरे तक भी हाट-बाजारमें व्यवसाय करते हैं। क्योंकि सज्जन पुरुष इस लोकमें अपने कर्तव्यको करनेमें विमोहित नहीं होते हैं। किन्तु उल्लास-पूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं ॥११६॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें दिनचर्याके
वर्णन करनेमें दूसरा उल्लास पूर्ण हुआ।

■

अथ तृतीयोल्लासः

बहिस्तोऽभ्यागतो गेहमुपविश्य क्षणं सुधीः । कुर्याद् वस्त्रपरावर्तं देहशौचादि कर्म च ॥१
स्थूलसूक्ष्मविभागेन जीवाः संसारिणो द्विधा । मनोवाक्काययोगैस्तान् गृही हन्ति निरन्तरम् ॥२
पेषणी खण्डनी चुल्ही गर्गरी वर्धनी तथा । अमी पापकराः पञ्च गृहिणो धर्मबाधकाः ॥३
गदितोऽस्ति गृहस्थस्य तत्पातकविघातकः । धर्मः सविस्तरो वृद्धैरश्रीकस्तं समाचरेत् ॥४
दया दानं दमो देवपूजा भक्तिर्गुरौ क्षमा । सत्यं शौचस्तपोऽस्तेयं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ॥५
अनन्यजन्यं सौजन्यं निर्माय (?) मधुरा गिरः । सारः परोपकारश्च धर्म-कर्मविदामिदम् ॥६
दीनोद्धरणमद्रोहो विनयेन्द्रियसंयमौ । न्यायवृत्तिर्मृदुत्वं च धर्मोऽयं पापसंछिदे ॥७
कृत्वा माध्याह्निकीं पूजां निवेश्यान्नादि भाजने । नरः स्वगृहदेवेभ्योऽन्यदेवेभ्यश्च ढौकते ॥८
अतिथीनर्थिनो दुःस्थान् भक्ति-शक्त्यनुकम्पनैः । कृत्वा कृतार्थानौचित्याद् भोक्तुं युक्तं महात्मना ॥९
अनाहूतमविज्ञातं दानकाले समागतम् । जानीयादतिथिं प्राज्ञ एतस्माद् व्यत्यये परम् ॥१०

आर्त्तस्तृषाक्षुधाभ्यां योऽपि त्रस्तो वा स्वमन्दिरम् ।
आगतः सोऽतिथिः पूज्यो विशेषेण मनीषिणा ॥११

बाहिरसे घर आये हुए बुद्धिमान् पुरुषको कुछ क्षण बैठकर वस्त्रोंका परिवर्तन और शारीरिक शौच आदि कार्य करना चाहिए ॥१॥ स्थूल (त्रस) और सूक्ष्म (स्थावर) के विभागसे संसारी जीव दो प्रकारके कहे गये हैं। गृहस्थ मनुष्य गृह-कार्योंको करते हुए मन वच कायके योगसे उन जीवोंको निरन्तर मारता है ॥२॥ चक्की, उखली, चूल्हा, जलकुम्भी और बुहारीके ये पाप-कारक पाँच कार्य गृहस्थके धर्म-सेवनमें बाधक हैं ॥३॥ इन पाँचों पापोंका विनाश करनेवाला गृहस्थके धर्मका विस्तार वृद्ध पुरुषोंने कहा है। इसलिए धर्मरूपी लक्ष्मीसे रहित गृहस्थको उसका सदा आचरण करना चाहिए ॥४॥ दया, दान, इन्द्रिय-दमन, देव-पूजन, गुरु-भक्ति, क्षमा, सत्य, शौच, तपका आचरण और चोरीका परित्याग यह गृहस्थोंका धर्म कहा गया है ॥५॥ अन्य पुरुषोंमें नहीं पायी जानेवाली सज्जनताको धारण करके मधुर वाणी बोलना, और परका उपकार करना, यह धर्मके जानकारोंका सारभूत कर्तव्य है ॥६॥ दीन-हीन जनोंका उद्धार करना, किसीसे द्रोह नहीं करना, विनय भाव रखना, इन्द्रियोंका संयम पालना, न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन करना और मृदुतासे व्यवहार करना, यह व्यवहारिक धर्म गृहस्थके पापोंका विच्छेद करनेके लिए आवश्यक है ॥७॥

गृहस्थ मनुष्य मध्याह्न कालकी पूजाको करके अन्नादिको पात्रमें रखकर अपने घरके देवोंके लिए और अन्य देवोंके लिए समर्पण करता है ॥८॥ अतिथि जनोंको, याचकोंको और दुखित-भुखित्तोंको भक्ति और शक्तिके अनुसार दयापूर्वक भोजन कराके कृतार्थी महापुरुषको अपने औचित्यके साथ भोजन कराना योग्य है ॥९॥ विना बुलाये, अज्ञात और दानके समय आये हुए पुरुषको बुद्धिमान् मनुष्य अतिथि जाने। इससे विपरीत पुरुषको अभ्यागत आदि जानना चाहिए ॥१०॥ जो भूख-प्याससे पीड़ित है, अथवा अन्य प्रकारसे दुःखी है, ऐसा जो मनुष्य अपने

कोविदोऽथवा मूर्खो मित्रं वा यदि वा रिपुः । निदानं स्वर्गभोगानामशनावसरेऽतिथिः ॥१२
न प्रश्नो जन्मनः कार्यो न गोत्राचारयोरपि । श्रुति-सांख्यादिमूर्द्धानां सर्वधर्ममयोऽतिथिः ॥१३
तिथिपर्वहर्षशोकास्त्यक्ता येन महात्मना । धीमद्भिः सोऽतिथिर्मान्यः परः प्राघूर्णिको मतः ॥१४
मन्दिरादिगुणो यस्य गच्छत्यतिथिपुङ्गवः । जायते महती तस्य पुण्यहानिर्मनस्विनः ॥१५

उक्तं च—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते । स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥१६
क्षुधाक्रान्तस्य जीवस्य पञ्च नश्यन्त्यसंशयम् । सुवासनेन्द्रियबलं धर्मकृतिरती स्मृतिः ॥१७
एकतः कुरुते वाञ्छां वासवः कीटकोऽन्यतः । आहारस्य ततो दक्षैर्दानं देयं शुभार्थिभिः ॥१८
देवसाधुपुरस्वामिस्वजने व्यसने सति । ग्रहणे न च भोक्तव्यं सत्यां शक्तौ विवेकिना ॥१९
पितुर्मातुः शिशूनां च गर्भिणीवृद्धरोगिणाम् । प्रथमं भोजनं दत्त्वा स्वयं भोक्तव्यमुत्तमैः ॥२०
चतुष्पदानां सर्वेषां धृतानां च तथा नृणाम् । चिन्तां विधाय धर्मज्ञः स्वयं भुञ्जीत नान्यथा ॥२१
जलपानं पिपासायां बुभुक्षायां च भोजनम् । आयुर्बलं च धर्मं च संवर्धयति देहिनाम् ॥२२

घर पर आया हो तो वह अतिथि विशेष रूपसे मनीषी पुरुषके द्वारा पूजनेके योग्य है ॥११॥ भोजनके समय पर घर आया हुआ अतिथि चाहे विद्वान् हो, अथवा मूर्ख हो, मित्र हो, यदि वा शत्रु हो, किन्तु वह गृहस्थके लिए स्वर्गके भोगोंका कारण है ॥१२॥ भोजनके समय घरपर आये हुए अतिथिसे न जन्मका प्रश्न करना चाहिए कि तुम्हारा किस कुलमें जन्म हुआ है ? और न गोत्र और आचारको भी पूछना चाहिए । तुमने क्या पढ़ा है, ऐसा शास्त्र-विषयक एवं सांख्यादि वेष-सम्बन्धी भी प्रश्न नहीं पूछना चाहिए, क्योंकि अतिथि सर्वदेव स्वरूप माना गया है ॥१३॥ जिस महात्माने तिथि, पर्व, हर्ष और शोकका त्याग कर दिया है, बुद्धिमानोंके द्वारा वह अतिथि मान्य हैं । इससे भिन्न पुरुष प्राघूर्णिक (पाहुना) माना जाता है ॥१४॥

जिस गृहस्थके घरसे श्रेष्ठ अतिथि आहारके बिना जाता है, उस मनस्वीके पुण्यकी भारी हानि होती है ॥१५॥ कहा भी है—जिसके घरसे अतिथि निराश होकर वापिस लौटता है, वह उस गृहस्थके लिए दुष्कृत (पाप) देकर और पुण्य लेकर जाता है ॥१६॥ भूखसे पीड़ित पुरुषके सुवासना (उत्तम भावना) इन्द्रिय-बल, धर्म-कार्य, धर्मानुराग और स्मरण शक्ति ये पाँच कार्य निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥१७॥ एक ओर देव-पुरुष आहार देनेकी इच्छा करता है और दूसरी ओर कीटक (क्षुद्र प्राणी) लेनेकी इच्छा करता है । इसलिए कल्याणके इच्छुक दक्ष जनोंको आहार-का दान अवश्य ही देना चाहिए ॥१८॥

देव, साधु, नगरका स्वामी और स्वजन इनके कष्टमें पड़नेपर तथा सूर्य-चन्द्रके ग्रहण होने पर विवेकी पुरुषको शक्तिके होते हुए भोजन नहीं करना चाहिए ॥१९॥ पिताको, माताको, बालकोंको गर्भिणी स्त्रीको, वृद्ध जनोंको और रोगियोंको पहिले भोजन देकर पीछे उत्तम पुरुषोंको स्वयं भोजन करना चाहिए ॥२०॥ घरपर रखे हुए गाय, भैंस आदि चौपायोंकी, तथा अपने आश्रित मनुष्योंकी भोजन-सम्बन्धी चिन्ता करके धर्मज्ञ पुरुषको पीछे स्वयं भोजन करना चाहिए, अन्यथा नहीं ॥२१॥

प्यास लगनेपर जलपान करना और खानेकी इच्छा होनेपर भोजन करना प्राणियोंके आयु,

अजीर्णे पुनराहारो गृह्यमाणः प्रकोपयेत् । वातं पित्तं तथा श्लेष्मदोषमाशु शरीरिणाम् ॥२३
रोगोत्पत्तिः किलाजीर्णाच्चतुर्धा तत्पुनः स्मृतः । रसशेषाम-विष्टब्ध-विपक्वादिविभेदतः ॥२४
रसशेषे भवेज्जृम्भा समुद्गारस्तथामिके । अङ्गभङ्गश्च विष्टब्धे धूमोद्गारः विपक्वतः ॥२५
निद्रानुवमन-स्वेद-जलपानादिकर्मभिः । सदा पथ्या विवादान्ता शान्तिमायात्यनुक्रमात् ॥२६
स्वस्थानस्थेषु दोषेषु जीर्णेऽभ्यवहृते पुनः । ख्यातौ स्पष्टौ शकृन्मूत्रवेगौ वातानुलोम्यतः ॥२७
स्रोतोमुखहृदुद्गारा विशुद्धाः स्युः क्षणात्तथा । स्पष्टत्वलब्धये (?) स्यातां तथेन्द्रियशरीरयोः ॥२८

अतिप्रातश्च सन्ध्यायां रात्रौ कुर्वन् पथि व्रजन् ।
सव्याङ्घ्रौ दत्तपाणिश्च नाद्यात्पाणिस्थितं तथा ॥२९

संकाशे सातपे सान्धकारे द्रुमतले तथा । कदाचिदपि नाश्नीयादूर्ध्वीकृत्य च तर्जनीम् ॥३०
अधौतमुखहस्ताङ्घ्रिर्नग्नश्च मलिनांशुकः । सव्यहस्तेन नाश्नीयात्पात्रे भुञ्जीत न क्वचित् ॥३१
एकवस्त्रान्वितश्चार्द्रवासोवेष्टितमस्तकः । अपवित्रोऽतिगार्ध्यंश्च न भुञ्जीत विचक्षणः ॥३२

बल और धर्मको बढ़ाता है ॥२२॥ अन्नका अजीर्ण होनेपर ग्रहण किया जानेवाला आहार शरीर-धारियोंके वात, पित्त और कफके दोषको शीघ्र प्रकुपित करता है ॥२३॥ अजीर्णसे जिन रोगोंकी उत्पत्ति होती है, वे रस-शेष, आम-विकार, विष्टब्धता और विपक्वता आदिके भेदसे चार प्रकारके माने गये हैं ॥२४॥ रस-शेष होनेपर जंभाई आती है, आम-विकार होनेपर डकारें आती हैं, विष्टब्धता होनेपर अंग-भंग होता है और विपक्वतासे धूमोद्गार (खट्टी डकारोंका आना) होता है ॥२५॥ इन चारों दोषोंसे आक्रान्त जो मनुष्य अपने दोषोंका अन्त करना चाहते हैं उन्हें अनुक्रमसे निद्रा लेना, वमन करना, प्रस्वेद (पसीना) लेना और जलपान आदि करना चाहिए। भावार्थ—रसशेष अजीर्णके होनेपर निद्रा लेवे, आम-विकारके होनेपर वमन करे, विष्टब्धताके होनेपर पसीना लेवे और विपक्वताके होनेपर जलको खूब पीवे। इन उपायोंसे शान्ति प्राप्त होती है तथा पथ्या (हरड) तो चारों प्रकारोंके अजीर्णोंमें सदा निर्विवाद गुणकारी है ॥२६॥ चारों प्रकारके अजीर्ण दोषोंके स्वस्थानस्थ हो जानेपर अर्थात् शान्त हो जानेपर और वात, पित्त, कफके साम्य होनेपर, तथा पुनः खाये गये भोजनके जीर्ण अर्थात् भलीभाँतिसे परिपाक होनेपर वातकी अनुलोमतासे मल और मूत्रका वेग स्पष्ट स्वाभाविकरूपसे होने लगता है, यह प्रख्यात ही है ॥२७॥ उपर्युक्त चारों प्रतीकारोंसे शरीरके मल-प्रवाही स्रोत, मुख, हृदय और उद्गार (डकार) क्षणमात्रमें विशुद्ध (निर्मल) हो जाते हैं, तथा शरीर और इन्द्रियोंमें स्पष्टता और स्फूर्त्तिकी प्राप्ति होती है ॥२८॥

अति प्रातःकालमें, सायंकालमें, रात्रिमें, मार्गमें गमन करते हुए और वाम पैरपर हाथ रखकर हाथमें रखी वस्तु कभी नहीं खाना चाहिए ॥२९॥ सूर्यके आतापवाले स्थानपर, संकाश (तत्सदृश उष्णस्थान) स्थानपर, अन्धकारयुक्त मकानमें और वृक्षके नीचे बैठकर तथा तर्जनीको ऊँची करके कदाचित् भी नहीं खाना चाहिए ॥३०॥ बिना मुख, हाथ और पैरोंको धोये, नंगे शरीर और मलिन वस्त्र पहने हुए तथा वाम हाथसे कभी नहीं खावे। तथा कहींपर किसीके पात्रमें अथवा जिस पात्रमें भोजन बना हो उसी पात्रमें भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥३१॥ एक वस्त्र पहिनकर और गीले वस्त्रसे मस्तकको ढककर, अपवित्रता और अतिगृद्धतासे बुद्धिमान् पुरुषको कभी नहीं खाना चाहिए ॥३२॥

उपानत्सहितो व्यग्रचित्तश्च भूमिसंस्थितः । पर्यङ्कस्थो विदिग्याम्याननो नाद्यात्कदाचन ॥३३
आसनस्थोऽयवो नाद्यात् श्वचाण्डालैर्निरीक्षितः । पतितैश्च तथा स्फुटिते भाजने मलिने तथा ॥३४
अमेध्यसम्भवं नाद्याद् दृष्टो भ्रूणादिघातकैः । रजस्वलापरिप्लुष्टमघ्राताङ्गः श्वपक्षिभिः ॥३५
अज्ञातागममज्ञातं पुनरुष्णीकृतं सदा । युक्तं चचचचाशब्दैर्नाद्याद्वक्त्रविकारकृत् ॥३६
आह्वानोत्पादितप्रीतिः कृतदेवाभिधास्मृतिः । समपृथ्व्यनत्युच्चैर्निविष्टं विष्टरे स्थिरे ॥३७
मातृस्वस्रम्बिकामामिभार्याद्यैः पक्वमादरात् । शुचिभिर्युक्तिवद्भिश्च दत्तं चाद्याज्जनैः स्वकैः ॥३८

कुक्षिम्भरिर्न कोऽप्यत्र बह्वाधारः पुमांश्च यः ।
ततस्तत्कालमायातान् भोजयेद् बान्धवादिकान् ॥३९

दत्त्वा दानं सुपात्राय स्मृत्वा च परमेष्ठिनम् । येऽश्नन्ति ते नरा धन्या किमन्यैश्च नराधमैः ॥४०
ज्ञानयुक्तः क्रियाधारः सुपात्रमभिधीयते । दत्तं बहुफलं तत्र धेनुक्षेत्रनिदर्शनात् ॥४१
कृतमौनमवक्राङ्गं वहद्दक्षिणनासिकम् । प्रतिभक्ष्यसमाघ्राणहतदृग्दोषविक्रियम् ॥४२

जूतोंको पहिने हुए, व्यग्रचित्त होकर भूमिमें बैठकर, पलंग-खाटपर बैठकर, दक्षिण दिशा और विदिशाओंकी ओर मुख करके भी कभी नहीं खावे ॥३३॥ गादी आदि आसनपर बैठकर, अयोग्य स्थानपर बैठकर, कुत्तों और चाण्डालोंके द्वारा देखे जाते हुए, तथा जाति और धर्मसे पतित पुरुषोंके साथ, फूटे और मैले भाजनमें भी रखे हुए भोजनको नहीं खावे ॥३४॥ अपवित्र वस्तु जनित भोजन नहीं खावे। तथा भ्रूण आदिकी हत्या करनेवालोंके द्वारा देखा गया, रजस्वलाके द्वारा बनाया गया, परोसा गया या छुआ भोजन भी नहीं खावे। श्वान (कुत्ता) और पक्षी आदिके द्वारा जिसका शरीर सूंघ लिया गया हो, उस पुरुषको भी तत्काल भोजन नहीं करना चाहिए। (किन्तु शुद्ध होनेके बाद ही खाना चाहिए) ॥३५॥ अज्ञात स्थानसे आये हुए भोजनको, अज्ञात वस्तुको, तथा पुनः उष्ण किये गये भोजनको भी नहीं खावे। मुखसे चच-चच या चप-चप शब्द करते और मुखको विकृत करते हुए भी नहीं खाना चाहिए ॥३६॥ भोजनके लिए बुलानेसे जिसके प्रीति उत्पन्न हुई है और जिसने अपने इष्टदेवके नामका स्मरण किया है, ऐसा गृहस्थ मनुष्य समान पृथ्वीपर रखे हुए न अति ऊँचे और न अति नीचे ऐसे स्थिर आसनपर बैठकर माता, सासु, अम्बिका, मामी और भार्या आदिके द्वारा पकाये गये तथा पवित्रतायुक्त और युक्तिवाले व्यक्तियोंके द्वारा आदरपूर्वक परोसे गये आहारको अपने आत्मीय जनोंके साथ भोजन करे ॥३७-३८॥

इस लोकमें कोई केवल अपनी कुक्षिको भरने वाला न हो। किन्तु जो पुरुष बहुत पुरुषोंके जीवनका आधार है, उसे चाहिए कि वह भोजनके समय आये हुए व्यक्तियोंको और बन्धु-बान्धव जनोंको भोजन करावे ॥३९॥ जो पुरुष सुपात्रके लिए दानको देकर और पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करके भोजन करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं। अन्य पुरुष जो ऐसा नहीं करते हैं उन अधम मनुष्योंसे क्या लाभ है ॥४०॥

जो पुरुष ज्ञानसे युक्त है और क्रिया-चारित्रका आधार है वह सुपात्र कहा जाता है उसे दिया गया दान बहुत फलको फलता है, जिस प्रकारसे कि गायको खिलाया गया भोजन बहुत मिष्ट दुग्धको देता है, तथा उत्तम क्षेत्रमें बोया गया बीज भारी सुफलको देता है ॥४१॥ जब नासिकाका दक्षिण स्वर प्रवाहमान हो, तब मौन-पूर्वक अंगको सीधा करके प्रत्येक भक्ष्य वस्तुकी

नातिक्षारं न चात्यम्लं नात्युष्णं नातिशीतकम् । नातिशाकं नातिगोल्यं मुखरोचकमुच्चकैः ॥४३
सुस्वादु विगतास्वादं विकथापरिवर्जितम् । शास्त्रवर्जितनिःशेषाहारत्यागमनोहरम् ॥४४
मक्षिकाकूलनिर्मुक्तं नात्याहारमनल्पकम् । प्रतिवस्तुप्रधानत्वं सङ्कल्पस्वादुसुन्दरम् ॥४५
विपन्नसृतपानीयमर्धभुक्ते महाभृतिः । भुञ्जीत वर्जयन्नन्ते छन्नाह्वं (?) पुष्कलं जलम् ॥४६
सुस्निग्धं मधुरं पूर्वमश्नीयादन्विते रसैः । कषायाम्लौ च मध्ये च पर्यन्ते कटुतिक्तकम् ॥४७
नामिश्रं लवणं ग्राह्यं तन्नाद्याच्च पिपासितः । रसानपि न वैरस्यहेतून् संयोजयेन्मिथः ॥४८
त्यजेत् क्षीरप्रभूतान्नमन्नं दध्नाधिकं त्यजेत् । कदस्थिप्रमुखैर्युक्तमुच्छिष्टं वाऽखिलं त्यजेत् ॥४९
धेन्वा नवप्रसूताया दशाहान्तर्भवं पयः । आरण्यकाविकोष्ट्रश्च तथा चैकशफं त्यजेत् ॥५०
निःस्वादमन्नं कटु वाऽहृद्यमाश्रयो यदि । तत्स्वस्यान्यस्य वा कष्टं मृत्युः स्वस्यारुचौ पुनः ॥५१
भोजनानन्तरं सर्वरसलिप्तेन पाणिना । एकः प्रतिदिने पेयो जलस्य चुलुकोऽङ्गिना ॥५२
न पिबेत्पशुवत्तोऽयं पीतशेषं तु वर्जयेत् । यथानाञ्जलिना पेयं पयः पथ्यं मितं यतः ॥५३
करेण सलिलार्द्रेण न गण्डौ नापरं करम् । न स्पृशेत् किञ्चित्स्पृष्टव्ये·········जानुनिश्रिये ॥५४

गन्धको लेता हुआ और अपनी दृष्टिके दोषविकारको दूर करता हुआ अर्थात् भोज्य पदार्थोंको आँखोंसे भली-भाँति देखता हुआ भोजन करे ॥४२॥ भोजन न अतिखारा हो, न अधिक खट्टा हो, न अति उष्ण हो और न अति शीतल हो, न अधिक शाक वाला हो, और न अति गुड़-शक्कर वाला हो। किन्तु अच्छी तरहसे मुखको रुचिकर हो, सुस्वादु हो, अस्वादु न हो, ऐसे भोजनको विकथाएँ न करते हुए खावे। वह भोजन शास्त्र-निषिद्ध, समस्त प्रकारके अभक्ष्य आहारसे रहित और मनको हरण करने वाला हो ॥४३-४४॥ भोजन मक्खियों और मकड़ी-जालादिसे विमुक्त हो, न बहुत अधिक हो और न बिलकुल कम हो, प्रत्येक भोज्य वस्तु श्रेष्ठ हो, मनमें संकल्पित स्वादसे सुन्दर हो ॥४५॥ पीनेका जल शुद्ध, वस्त्र-निःसृत (गालित) या प्रासुक हो, उसे आधे भोजन करनेपर अर्थात् मध्यमें पीवे। अधिक जल न पीवे। अन्तमें अधिक जल-पानका परिहार करते हुए भोजन करे ॥४६॥ भोजन करते हुए सबसे पहिले मिष्ट रसोंसे युक्त स्निग्ध मधुर पदार्थ खावे, मध्यमें कसैले और खट्टे पदार्थोंको खावे और सबसे अन्तमें कटु और तिक्त रसवाले नमकीन-पापड़ आदिको खावे ॥४७॥ अन्य वस्तुओंसे नहीं मिले हुए कोरे नमकको नहीं ग्रहण करना चाहिए। जब प्यास अधिक लगी हो, तब भोजन न करे (किन्तु पानी पीवे)। विरसताके कारणभूत विरोधी रसोंको भी परस्पर न मिलावे ॥४८॥ दूधकी अधिकतावाले अन्नका त्याग करे, दहीकी बहुलतावाले अन्नको भी छोड़े। कड़ी और खोटी गुठलीकी अधिकतावाले शाक-फलादिसे युक्त तथा उच्छिष्ट सभी प्रकारके आहारका परित्याग करे ॥४९॥ नवप्रसूता गायका दूध दश दिन तक ग्रहण न करे। जंगली भेड़-बकरी, ऊँटनी और एक खुर-टाप वाले पशुओंके दूधका भी त्याग करे ॥५०॥ जो भोजन स्वाद-रहित हो, कटुक हो, हृदयको प्रिय न हो, अथवा जीव-जन्तुओंका आश्रयभूत हो, जो अपनेको या अन्य प्राणीको कष्ट या मृत्यु-कारक हो, उसे ग्रहण न करे। जो भोजन अपने लिए अरुचिकर हो, उसका भी परित्याग करे ॥५१॥

भोजनके अनन्तर सभी रसोंसे लिप्त हाथसे एक चुल्लुभर जल मनुष्यको प्रतिदिन पीना चाहिए ॥५२॥ मनुष्य जलको पशुके समान न पीवे और पीनेसे शेष रहे जलका परित्याग करे। क्योंकि अंजलीके द्वारा पिया गया परिमित जल पथ्य है ॥५३॥ जलसे गीले हाथके द्वारा न दोनों

उक्तं च—

मा करेण करं पार्थं मा गण्डौ मा च चक्षुषी । जानुनी स्पृश राजेन्द्र भर्तव्या बहवो यदि ॥५५

समानजातिशीलाभ्यां स्वसाम्याधिक्यसंस्पृशाम् ।
भोजनाय गृहे गच्छेन्न गच्छेद्दोषवतां गृहे ॥५६

मुमूर्षुवध्यचौराणां कुटिलालिङ्गिवैरिणाम् । बहुवैरियुतां कल्यपालोच्छिष्टान्नभोजिनाम् ॥५७
कुकर्मजीविनामुग्रपतितासवपायिनाम् । रङ्गोपजीविविकृतिस्वाम्यविकृतयोषिताम् ॥५८
धर्मविक्रयिणां राज-महाराजविरोधिनाम् । स्वयं हनिष्यमानानां गृहे भोज्यं न जातुचित् ॥५९
अङ्गमर्दन-नीहारभारोत्क्षेपोपवेशिनाम् । स्नानाद्यं च कियत्कालं भुक्त्वा कुर्यान्न बुद्धिमान् ॥६०
भोजनान्तरं वामकटिस्थो घटिकाद्वयम् । शयीत निद्रया हीनं यद्वा पादशतद्वयम् ॥६१
दशताम्रपलावर्तपात्रे वृत्तीकृते सति । घटिकायां समुत्सेधो विधातव्यः षडङ्गुले ॥६२
विष्कम्भं तत्र कुर्वीत प्रमाणो द्वादशाङ्गुलम् । षष्ट्याम्भःपलपूरेण घटिका सद्भिरिष्यते ॥६३

गंडस्थलोंका स्पर्श करे, न दूसरे हाथका स्पर्श करे और न जानु-जंघाओंका ही स्पर्श करे ॥५४॥

कहा भी है—हे पार्थ (अर्जुन)। हाथसे हाथका स्पर्श न करो, न गंडस्थलोंका, न आँखों का और न दोनों जानुओंका ही स्पर्श करो। राजेन्द्र, यदि तुम्हारे आश्रित अनेक व्यक्ति भरण-पोषणके योग्य उपस्थित (तो उनको विना भोजन कराये स्वयं भोजन न करो) हैं ॥५५॥

जो व्यक्ति तुम्हारी जाति और शीलसे समान हैं, अथवा जो अपनी समानतासे अधिकता वाले हैं और स्पर्श करनेके योग्य हैं उनके घर पर भोजनके लिए जावे। किन्तु दोष-युक्त पुरुषोंके घर भोजनके लिए न जावे ॥५६॥ जो व्यक्ति मरनेके इच्छुक हैं, वध करनेके योग्य हैं, चोर हैं, कुटिल है, कुलिंगी हैं, वैरी हैं, जिनके अनेक लोग शत्रु हैं, कल्पपाल (मद्य-विक्रेता) हैं, उच्छिष्ट (जूँठे) अन्नके खानेवाले हैं, खोटे कर्मों से आजीविका करने वाले हैं, उग्र हैं, पतित हैं, मद्य-पान करने वाले हैं, वस्त्रादि रंग करके जीवन-यापन करते हैं, विकार-युक्त है, जिनकी स्त्रियां भी विकार-युक्त हैं, धर्मको बेचने वाले हैं, राजा-महाराजाओंके विरोधी हैं, और जो स्वयं मारे जाने वाले हैं ऐसे लोगोंके घरपर कदाचित् भी भोजन नहीं करना चाहिए ॥५७-५९॥ इसी प्रकार जो शरीर-मर्दन करने वाले हैं, मल-मूत्रादिका भार क्षेपण करते हैं और जो उनके समीप निवास करते हैं उनके घर भी भोजन नहीं करना चाहिए। तथा बुद्धिमान् पुरुषको भोजन करके कुछ काल तक स्नानादि भी नहीं करना चाहिए ॥६०॥

भोजनके पश्चात् वाम कटिस्थ होकर दो घटिका (घड़ी) तक निद्रा न लेकर विश्राम करे। अथवा दो सौ पद- (कदम-) प्रमाण परिभ्रमण करे ॥६१॥

घटिकाका प्रमाण निकालनेकी विधि यह है—ताँबेके दश पल (माप विशेष) प्रमाण छह अंगुल ऊँचा पात्र बनावे, उसका विष्कम्भ। (विस्तार) बारह अंगुलका हो और उसके भीतर साठ चिह्न बनावे। उन सभी चिह्नोंके जलसे पूरित प्रमाण कालको सज्जन लोग एक घटी कहते हैं ॥६२-६३॥

विशेषार्थ—घटिकाका प्रमाण निकालनेकी विधि—तांबेके दशपल (मापविशेष) प्रमाण छह अंगुल उँचाईके गोल आकारवाले पात्रको बनावे, जिसकी चौड़ाई बारह अंगुल हो। उस

चतुर्युक्तचत्वारिंशत्त्रिंशत्तदर्धविंशती । पञ्चदशत्रिंशदपि चत्वारिंशच्चतुर्युतः ॥६४
षष्टिमद्द्वासप्तती षष्टीरशीतिश्च द्विसप्ततिः । षष्टिश्च चैत्रमासादौ ध्रुवाङ्काः शतसंयुताः ॥६५
रविदक्षिणतः कृत्वा ज्ञेया छाया पदानि च । तदाब्दे सप्तसंयुक्तैर्भागं कृत्वा ध्रुवाङ्कतः ॥६६
लब्धाङ्केन घटीसंख्यां विजानीयाद् बुधः सदा । पूर्वाह्णे गतकालस्य शेषस्थं त्वपराह्णके ॥६७
[1]मित्रावाशी न विषम सये ग भ् छ ग ग्रये (?) । भवत्यभ्यवहार्येषु विषाश्लेषो हि कर्हिचित् ॥६८
आत्मं स स्वहिता (?) सम्यगमीभिर्लक्षणैः स्फुटैः । प्रयुक्तमरिभिर्दुष्टं विषं जानन्ति तद्यथा ॥६९
अविक्लेद्यं भवेदन्नं पच्यमानं विषान्वितम् । चिराच्च पच्यते सद्यः पक्वः पर्युषितोपमम् ॥७०
स्तब्धं सूष्मैर्विनिमुक्तं पिच्छिलं चन्द्रिकाञ्चितम् । वर्णगन्धरसान्यत्वदूषितं च प्रजायते ॥७१

गोल वृत्ताकार पात्रमें भीतर एक अंगुलमें दश चिह्न बनावे । इस प्रकार पूरे छह अंगुलमें साठ चिह्न बनावे । इस प्रकार यह घटिका यन्त्र बननेपर उसके नीचे तलभागके केन्द्रमें सूईके दशवें भाग-प्रमाण छेद बनाकर उसे किसी अन्य जल-परिपूरित पात्रमें डाल देवे । उस घटिका यन्त्ररूप ताम्रपात्रमें जितने चिह्नप्रमाण जल भरता जावे, उतने ही पल-प्रमाण काल जानना चाहिए । इस प्रकारसे पूरे छह अंगुल या साठ चिह्न प्रमाण जल भरनेपर एक घटीका प्रमाण होता है ।

चैत्र आदि मासोंमें सौसे संयुत चवालीस (१४४) सौ से संयुत तीस (१३०) सौसे संयुत तीसके आधे अर्थात् पन्द्रह (११५) सौसे संयुत बीस (१२०) सौसे संयुत पन्द्रह (११५) सौसे संयुत तीस (१३०) सौसे संयुत चवालीस (१४४) सौसे संयुत साठ (१६०) सौसे संयुत साठयुक्त बारह (१७२) सौसे संयुत साठ (१६०) सौसे संयुत अस्सी (१८०) सौसे संयुत बहत्तर (१७२) और सौसे संयुत साठ (१६०) ये ध्रुवाङ्क होते हैं । सूर्यको अपने दक्षिण भागकी ओर करके छाया जाननी चाहिए । उस छायाको पैरोंसे नाप लेनेपर जो संख्या आवे वह संख्या वर्तमान संवत्सरकी संख्यामें सातयुक्त जोड़कर जो राशि होगी उस राशिमें उस मासके ध्रुवाङ्कसे भाग देनेपर जो लब्धाङ्क आवेगा, उतनी घटी-संख्या विद्वान् पुरुष जानें । यदि पूर्वाह्णमें छाया नापी गई है तो उतनी घटी-प्रमाण काल बीता है । एवं मध्याह्नोत्तर नापी गई छायाके लब्धाङ्क-प्रमाण कालको दिन-शेषका प्रमाण जाने ॥६४-६७॥

मित्रके द्वारा खिलाया गया अन्न मूर्च्छा आदि तीन लक्षणोंसे (मूर्च्छा, वमन और विरेचनसे) प्रमाणित होनेपर वह अन्न विष-मिश्रित है, ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि कभी-कभी भोज्य पदार्थोंमें विष-मिश्रणका प्रयोग होता है ॥६८॥

खानेमें आनेवाली वस्तुओंमें कदाचित् किसीके द्वारा विषका मिश्रण भी हो सकता है ॥६८॥ शत्रुओंके द्वारा प्रयुक्त विषको बुद्धिमान् पुरुष इन आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे आत्म-हितार्थ स्पष्टरूपसे जानते हैं । वे लक्षण इस प्रकार हैं—॥६९॥ विषसे संयुक्त पकाया जानेवाला अन्न भलीभाँतिसे पकेगा नहीं, अथवा बहुत देरसे पकेगा । तथा पका हुआ अन्न शीघ्र ही बासे अन्नके समान हो जायगा ॥७०॥ स्थिर ऊष्मासे विमुक्त हो जायगा, कीचड़ जैसा दिखेगा, चन्द्रकी चन्द्रिकासे युक्त अर्थात् शीघ्र शीतल हो जायगा । तथा विष-मिश्रित अन्न स्वाभाविक वर्ण, गन्ध और इससे भिन्न अन्य प्रकारके रससे दूषित हो जाता है ॥७१॥ विषयुक्त व्यञ्जन

---

१. मूल श्लोकका अर्थ वैद्यक-सम्मत दिया गया है । मूल पाठ प्रयत्न करने पर भी शुद्ध नहीं किया जा सका । —सम्पादक

सविषाणि क्षणादेव शुष्यन्ति व्यञ्जनान्यपि । क्वाथे तु श्यामता फेने समन्ताद् बुद्बुदास्तथा ॥७२
जायन्ते राजयो नीला रसे क्षीरे च लोहिताः । स्युर्मद्यतोययोः कृष्णा दध्नि श्यामास्तु राजयः ॥७३
तक्रे च नील-पीता स्यात्कापोताभा तु मस्तुनि । कृष्णा सौवीरके राजिर्घृते तु जलसन्निभा ॥७४
द्रवौषधे तु कपिला क्षौद्रे सा कपिला भवेत् । तैलेऽरुणा वसागन्धः पाके आमे फलं क्षणात् ॥७५
सपाकानां फलानां च प्रकोपः सहसा तथा । जायते ग्लानिरार्द्राणां सङ्कोचश्च विषादिह ॥७६
शुष्काणां श्यामतोपेतं वैवर्ण्यं मृदुता पुनः । कर्कशानां मृदूनां च काठिन्यं जायते क्षणात् ॥७७

मालानां म्लानता स्वल्पो विकाशो गन्धहीनता ।
स्याद् धाममण्डलत्वं च संव्यानास्तरणेर्विषात् ॥७८

मणि-लोहमयानां च पात्राणां मलदिग्धता । वर्णरागप्रभास्पर्शो गौरव-स्नेहसंक्षयः ॥७९
तन्तूनां सततं रोमपक्ष्मणां च भवेद् विषाद् । सन्देहे तु परीक्षेत तान्यग्न्यादिषु तद्यथा ॥८०
अन्नं हालाहलाकीर्णं क्षिप्तं वैश्वानरे भृशम् । एकावर्तस्तथा रूक्षो मुहुश्चटचटायते ॥८१
इन्द्रायुधमिवानेकवर्णमालां दधाति च । स्फुरत्कुणपगन्धश्च मन्दतेजाश्च जायते ॥८२

(शाक आदि) भी क्षणभरमें ही सूख जाते हैं। विष-मिश्रित (काढ़ा) यदि पक रहा हो तो सर्व ओर फेनमें बबूले उठने लगते हैं ॥७२॥ ईख आदिके रसमें नीले रंगकी रेखाएँ हो जाती हैं और विष-मिश्रित दुग्धमें लाल रँगकी रेखाएँ हो जाती हैं मदिरा और पानीमें कृष्णवर्णकी रेखाएँ हो जाती हैं और दहीमें श्याम रेखाएँ दिखने लगती हैं ॥७३॥ तक्र (छांछ) में नीले और पीले रंगके समान रेखाएँ हो जाती हैं। मस्तु (मक्खन) में कपोत वर्णके समान रेखाएँ हो जाती हैं। सौवीरक (सिरका, कांजी) में काली रेखाएँ हो जाती हैं और घृतमें जल-सदृश रेखाएँ ही जाती है ॥७४॥

द्रव (तरल) औषधिमें विष-मिश्रणसे कपिलवर्णकी रेखाएँ हो जाती हैं और मधुमें भी कपिलवर्णकी रेखाएँ हो जाती हैं। तेलमें अरुणवर्णकी रेखाएँ हो जाती हैं और वसा (चर्वी) जैसी गन्ध आने लगती है। कच्ची वस्तु क्षणभरमें पक जाती है, अथवा कच्चा फल क्षणभरमें पक जाता है ॥७५॥ विषके योगसे पाकयुक्त फलोमें सहसा प्रकोप दिखने लगता है तथा उनके खानेपर ग्लानि होने लगती है। इसी प्रकार विषके प्रभावसे गीले फलोंका संकोच होने लगता है ॥७६॥ विषके संयोगसे सूखे और कर्कश फलोंके वर्ण-विपरीतता और मृदुता हो जाती हैं, तथा कोमल-मृदु फलोंके क्षणभरमें काठिन्य आ जाता है ॥७७॥ पुष्प-मालाओंके म्लानता आ जाती है अर्थात् खिले हुए फूल क्षणभरमें मुरझा जाते है। खिलनेवाले पुष्पोंमें अतिअल्प विकास होता है और वे गन्धहीन हो जाते हैं। विषके योगसे सूर्यका विस्तीर्ण किरण-मण्डल संकीर्ण-सा दिखने लगता है ॥७८॥ मणि-निर्मित तथा लोहमयी पात्रोंके मल-व्याप्तता हो जाती है। पदार्थोंके स्वाभाविक वर्ण-राग और प्रभाके स्पर्श करनेपर गौरव और स्नेह (चिक्कणता) का सर्वथा क्षय हो जाता है ॥७९॥ इसी प्रकार विषके प्रभावसे तन्तुओं (धागों और रेशों) का तथा रोमवाले पक्षियोंके रोमोंका क्षय हो जाता है। किसी वस्तुमें विषके मिश्रणका सन्देह होनेपर उसे अग्नि आदिमें डालकर वक्ष्यमाण प्रकारोंसे इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिए ॥८०॥ हालाहल विषसे व्याप्त अग्निमें डाला गया अन्न एक भंवरके रूपमें हो जाता है, रूखा पड़ जाता हैं, तथा बार-बार अत्यन्त चट-चट शब्द करता है ॥८१॥ इसी प्रकार वह अग्निमें डाला गया अन्न इन्द्र-धनुषके

शिरोऽर्ति: पीनस: श्लेष्मा लाला नयनयोस्तथा । आकुलत्वं क्षणाद् रोमहर्षं धूमसेवनात् ॥८३
विषदुष्टाशनास्वादात्काक: क्षामस्वरो भवेत् । लीयते मक्षिका नात्र विलीना वा विपद्यते ॥८४
अन्नं सविषमाघ्राय भृङ्गस्त्यजति चाधिकम् । सारिका सविषान्ने तु विक्रोशति यथा शुक: ॥८५
विषान्नदर्शनान्नेत्रे चकोरस्य विरज्यत: । म्रियते कोकिलोन्मत्ता क्रौञ्चो माद्यति तत्क्षणात् ॥८६
नकुलो हृष्टरोमा स्यान्मयूरस्तु प्रमोदते । अस्य चालोकमात्रेण विषं मन्दायते क्षणात् ॥८७
उद्वेगं याति मार्जार: पुरीषं कुरुते कपि: । गति: स्खलति हंसस्य ताम्रचूडो विरौति च ॥८८
साविषं देहिभि: सर्वं भक्ष्यमाणं करोत्यलम् । तुष्टेमि विमामास्ये दाहं लाला जलप्लवम् ॥८९
हनुस्तम्भं रसज्ञायां कुरुते शूलगौरवे । तथा क्षाररसाज्ञानं दाता चास्याकुलो भ्रमेत् ॥९०
स्फाटिकष्टङ्कणक्षारो धार्य: पुंसां मुखान्तरे । वेत्ति न क्षारतां यावद्विद्युक्तं स्थावरे विषे ॥९१

इत्थं चतुर्थप्रहरार्धकृत्यं सूर्योदयादत्र मया बभाषे ।
यत्कुर्वतां देहभृतां नितान्तं आविर्भवत्येव न रोगयोग: ॥९२॥

समान अनेक वर्णोंकी माला जैसे रूपोंको धारण करता है। अग्नि फैलती हुई सड़ी वस्तुकी गन्धवाली और मन्द तेजवाली हो जाती है ॥८२॥ विष-मिश्रित अन्नवाली अग्निके सेवनसे शिरमें पीड़ा हो जाती है, नाकमें पीनस रोग हो जाता है, कंठमें कफकी वृद्धि हो जाती है, मुखसे लार बहने लगती है, तथा नेत्रोंसे आँसू बहने लगते हैं, शरीरमें आकुलता हो जाती है और रोम खड़े हो जाते हैं ॥८३॥ विष-मिश्रित अन्नके खानेसे काकका स्वर क्षीण हो जाता है। विष-मिश्रित अन्नपर प्रथम तो मक्खियाँ बैठती नहीं है और कदाचित् बैठ भी जाय, तो शीघ्र मर जाती हैं ॥८४॥ विषयुक्त अन्नको सूंघकर भौंरा और अधिक शब्द करने लगता है। तथा स-विष अन्नके देखने-सूंघनेपर सारिका (मैना) शुक (तोता) के समान शब्दोंको बोलने लगती है ॥८५॥ विषयुक्त अन्नके देखनेसे चकोर पक्षीके नेत्र विवर्ण हो जाते हैं, उन्मत्त कोयला मरणको प्राप्त हो जाती है और क्रौंच पक्षी तत्क्षण मूर्च्छित हो जाता है ॥८६॥ नकुल (नेवला) के रोम, हर्षित हो उठते हैं, मयूर प्रमोदको प्राप्त होता है और उसके अवलोकन मात्रसे विष क्षणभरमें मन्द पड़ जाता है ॥८७॥ विषयुक्त अन्नके देखनेसे मार्जार (बिलाव) उद्वेगको प्राप्त हो जाता है, बन्दर मल-मोचन करने लगता है। हंसकी चाल स्खलित होने लगती है और ताम्रचूड़ (मुर्गा) जोर-जोरसे शब्द करने लगता है ॥८८॥ प्राणियोंके द्वारा खाया गया विष या विष-मिश्रित अन्न सारे शरीरको विषयुक्त कर देता है, मुखमें दाह होने लगता है, लाला जल-प्लावित हो जाती है, अर्थात् मुखसे बार-बार प्रचुर लार गिरने लगती है ॥८९॥ हनु (ठोड़ी) स्तब्ध हो जाती है अर्थात् अकड़ जाती है, रसोंका स्वाद जाननेवाली रसना (जीभ) के शूल जैसी पीड़ा और भारीपनका अनुभव होने लगता है तथा विष खानेवालेके खारे रसका ज्ञान नहीं होता। और विषका दाता आकुल-व्याकुल होकर परिभ्रमण करने लगता है ॥९०॥ विषको खाये हुए पुरुषोंके मुखके भीतर रखे गये स्फटिक और टंकण (सुहागा) के क्षारको वह तबतक नहीं जानता है जबतक कि स्थावर (पार्थिव) विष उसके शरीरमें प्रभाव-युक्त रहता है ॥९१॥

इस प्रकार इस उल्लासमें मैंने सूर्योदयसे लेकर भोजन करके विश्राम करने तक चतुर्थ पहरके अर्धभाग तकके कर्तव्योंको कहा। इन कर्तव्योंका परिपालन करनेवाले मनुष्योंके कभी भी रोगका संयोग सर्वथा आविर्भूत नहीं होता है ॥९२॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें दिनचर्याके
वर्णन करनेमें तीसरा उल्लास पूर्ण हुआ।

अथ चतुर्थोल्लासः

उत्थाय शयनोत्सङ्गाद् वपुःशौचमथाचरेत् । विचिन्त्यायव्ययौ सम्यग्मन्त्रयेदथ मन्त्रिभिः ॥१
ततो वैकालिकं कार्यमिताहारमनुत्सुकम् । घटिकाद्वयशेषेऽह्नि कालौचित्याशनेन तु ॥२
.... ॥३
भानोः करैरसंस्पृष्टमुच्छिष्टं प्रेतसञ्चरात् । सूक्ष्मजीवाकुलं चापि निशिभोज्यं न युज्यते ॥४
शौचमाचर्य मार्तण्डबिम्बार्धस्तमिते सुधीः । धर्मकृत्यैः कुलायातैर्निजात्मानं पवित्रयेत् ॥५
न शोधयेन्न कण्डूयेन्न क्रमेवङ्घ्रिमङ्घ्रिणा । न च प्रक्षालयेत् कांस्ये न कुर्यात्स्वामिसम्मुखम् ॥६
सन्ध्यायां श्रीद्रुहं निद्रां मैथुनं दुष्टगर्भकृत् । पाठं वैकल्यदं रोगप्रदां भुक्तिं च नाचरेत् ॥७
अर्केऽर्धास्तमिते यावन्नक्षत्राणि नभस्तले । द्वित्राणि नैव वीक्ष्यन्ते तावत्सायं विदुर्बुधाः ॥८
सूर्योदयात्तिथेस्तथ्यमतिसायं विचक्षणैः । शयनस्थानपानीयप्रमुखैः कार्यमाचरेत् ॥९

आद्यगोऽनीते (?) यामयुग्मे विधेयं यामार्धेषु प्रोक्तमित्थं चतुर्षु ।
अन्तश्चित्तं चिन्त्यमेतच्च सम्यक् स्थेयः काङ्क्षयेत्क्षुन्नदीभिः ॥१०

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे दिनचर्यायां चतुर्थोल्लासः ।

मध्याह्नमें तीसरे पहर विश्रामके पश्चात् शय्याके मध्यसे उठकर शौच आदि शारीरिक शुद्धिको करे । तदनन्तर अपने सलाहकार लोगोंके साथ आय और व्ययका विचार करके भले प्रकारसे परामर्श करे ॥१॥ तत्पश्चात् वैकालिक अर्थात् चौथे पहरमें करने योग्य कार्य करे । जब दो घड़ी दिन शेष रह जावे, तब उत्सुकता-रहित ऋतुके अनुसार उचित अशन-पानसे परिमित आहार करे ॥२॥ .... ॥३॥
सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे रहित, भूत-प्रेतोंके संचारसे उच्छिष्ट और सूक्ष्म जीवोंसे व्याप्त ऐसा रात्रि-भोजन करना योग्य नहीं है ॥४॥ सायंकाल शौचशुद्धि करके सूर्यके अर्ध अस्तंगत होनेके समय बुद्धिमान् श्रावक कुल-क्रमागत धार्मिक कृत्योंके द्वारा अपनी आत्माको पवित्र करे ॥५॥

एक पाद (पैर) से दूसरे पादको न शोधे, न खुजलावे और न संचालन करे । कांसेके पात्रमें पादोंको धोवे भी नहीं और न स्वामीका सामना ही करे ॥६॥ सन्ध्याके समय श्रीद्रोहका कार्य न करे, निद्रा न लेवे, दुष्ट गर्भका कारणभूत मैथुन सेवन न करे, विकलता करनेवाले शास्त्रका पठन-पाठन भी न करे । तथा रोग बढ़ानेवाला भोजन भी न करे ॥७॥ सूर्यके अर्ध अस्तंगत होनेपर जबतक नभस्तलमें दो-तीन नक्षत्र दिखाई नहीं देते हैं, तब तकके समयको ज्ञानी लोग सायंकाल कहते हैं ॥८॥ सूर्योदयसे लेकर तिथिके तथ्य(पन्द्रहवें मुहूर्त)तकके समयको विचक्षण पुरुष 'अतिसायं-काल' कहते हैं । उस समय शयन, स्थान और पीने योग्य प्रमुख द्रव्योंसे कार्य करना चाहिए ॥९॥

सूर्योदयसे लेकर पहलेके दो पहरोंमें करने योग्य कार्योंको, तत्पश्चात् आधे पहरमें करने योग्य कार्यको, पुनः अन्तिम पहरमें करने योग्य कार्योंको कहा । इस प्रकार चारों ही पहरोंमें अपने करने योग्य कार्योंका विचार करना चाहिए । तथा आत्म-हितके इच्छुक पुरुष उक्त प्रकारसे अपनी दिनचर्याको सन्तुलित कर आत्म-चिन्तन करें, जैसे कि छोटी-छोटी नदियाँ समुद्रमें मिल कर स्थायित्वका अनुभव करती हैं ॥१०॥

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे
दिनचर्यायां चतुर्थोल्लासः ॥३॥

अथ पंचमोल्लासः

दीपो दक्षिणदिग्वर्ती निःप्रकम्पोऽतिभासुरः। आयनोदितमूर्त्तिश्च निःशब्दो रुचिरस्तथा ॥१
चञ्चत्काञ्चनसङ्काशप्रभामण्डलमण्डितः। गृहालोकाय माङ्गल्यः कर्तव्यो रजनीमुखे ॥२
प्रस्फुलिङ्गोऽल्पमूर्तिश्च वामावर्त्तस्तनुप्रभः। वायूत्कटाद्यभावेऽपि विध्यायेत्तैलवर्जितम् ॥३
विकीर्णार्चिः सशब्दश्च प्रदीपो मन्दिरे स्थितः। पुरुषाणामनिष्टानि प्रकाशयति निश्चितम् ॥४
रात्रौ न देवतापूजां स्नानदानाशनानि च। न वा खदिरताम्बूलं कुर्यान्मन्त्रं च नो सुधीः ॥५
खट्वां जीवाकुलां ह्रस्वां भग्नकाष्ठां मलीमसाम्। प्रतिपादान्वितां वह्निदारुजातां च सन्त्यजेत् ॥६
शयनासनयोः काष्ठमाचतुर्योगतः शुभम्। पञ्चादिकाष्ठयोगे तु नाशः स्वस्य कुलस्य च ॥७
पूज्योर्ध्वस्थो न नार्द्राङ्घ्रिर्नग्नोत्तरापरा शिरः। नानुवंशं न पादान्तं नागदन्तः स्वपेत्पुमान् ॥८
देवानां धाम्नि वल्मीके भूरुहाणां तलेऽपि च। तथा प्रेतवने चैव सुप्यान्नापि विदिक्-शिरः ॥९
वपुः शीलं कुलं वित्तं वयो विद्याऽऽसनं तथा। एतानि यस्य विद्यन्ते तस्मै देया निजा सुता ॥१०
मूर्ख-निर्धन-दूरस्थ-शूर-मोक्षाभिलाषिणाम्। त्रिगुणाधिकवर्षाणां चापि देया न कन्यका ॥११

रात्रिके समय जलाया जानेवाला दीपक दक्षिण-दिग्वर्ती हो, प्रकम्प-रहित हो और प्रकाशवान् हो, प्रातःकाल उदित होते हुए सूर्यके समान मूर्त्तिवाला हो, शब्द-रहित और कान्तिवाला हो, तथा चमकते हुए सुवर्णके सदृश प्रभा-मंडलसे युक्त हो। ऐसा मांगलिक दीपक रात्रि-प्रारम्भ होनेके समय गृहके प्रकाशके लिए जलाना चाहिए ॥१॥ जिसमेंसे स्फुलिंग निकल रहे हों, अल्प मूर्त्तिवाला हो, वाम आवर्त्त-युक्त हो, अल्प प्रभावाला हो, वायुकी उत्कटता आदिके अभावमें भी बुझ जाता हो, तेलसे रहित हो, जिसकी ज्योति बिखर रही हो, और चट-चट आदि शब्दको कर रहा हो, ऐसा भवनमें स्थित दीपक निश्चयरूपसे पुरुषोंके अनिष्टोंको प्रकट करता है ॥३-४॥

बुद्धिमान् पुरुष रात्रिमें न देवताओंकी पूजा करे, न स्नान, दान और भोजन ही करे, न कत्था-ताम्बूलका भक्षण करे और न मंत्रको ही सिद्ध करे ॥५॥ जो खटमल आदि जीवोंसे व्याप्त हो, छोटी हो, जिसके काठ टूटे हुए हों, मलिनता युक्त हो, जिसका प्रत्येक पाया हलन-चलनसे युक्त हो, और जो जली हुई लकड़ीसे बनाई गई हो, ऐसी खाटका परित्याग करे ॥६॥ शय्या और आसनका काष्ठ चारके संयोगसे बना हुआ शुभ हैं। पाँच आदि काष्ठोंके संयोग से बना हुआ होनेपर वह अपना और कुलका नाश करता है ॥७॥ पूज्य पुरुषोंसे ऊँचे पलंग आदिपर न सोवे, गीले पैरोंसे भी नहीं सोवे, नंगा न सोवे, उत्तर और पश्चिम दिशाकी ओर शिर करके न न सोवे, ? वांसकी बनी खाट पर नहीं सोवे, किसी व्यक्ति व्यक्तिके पैरोंके अन्तमें नहीं सोवे और न पान आदिको दाँतोंमें दबाकर पुरुषको सोना चाहिए ॥८॥ देवोंके मन्दिरमें नहीं सोवे, वल्मीक (बांभी) के ऊपर, वृक्षोंके तल-भागमें और श्मशान भूमिमें भी नहीं सोवे, तथा विदिशाओंमें शिर करके भी नहीं सोना चाहिए ॥९॥

शरीर, शील, कुल, सम्पत्ति, अवस्था, विद्या तथा आसन ये जिसके विद्यमान हों, उस व्यक्तिके लिए अपनी कन्या देना चाहिए ॥१०॥ मूर्ख, निर्धन, दूरदेशवर्ती, शूरवीर, मुक्ति प्राप्तिके

वक्षो वक्त्रं ललाटं च विस्तीर्णं शस्यते त्रयम् । गम्भीरं त्रितयं शस्यं नाभिः सत्त्वं सरस्तथा ॥१२
कण्ठं पृष्ठं च लिङ्गं च जङ्घयोर्युगलं तथा । चत्वारि यस्य ह्रस्वाणि पूजामाप्नोति सोऽन्वहम् ॥१३
स्वाङ्गुलीपर्वभिः केशैर्नखैर्दन्तैस्त्वचापि च । सूक्ष्मकैः पञ्चभिर्मर्त्यो भवन्ति चिरजीविनः ॥१४
स्तनयोर्नेत्रयोर्मध्यं दोर्द्वयं नासिका हनू । पञ्च दीर्घाणि यस्य स्युः स धन्यः पुरुषोत्तमः ॥१५
नासा ग्रीवा नखाः कक्षा हृदयं च स्कन्धः सदा । षड्भिरप्युन्नतैर्मर्त्यः सदैवोन्नतिभाजनः ॥१६
नेत्रान्तरसज्ञा तालु नखरा चाधरोऽपि च । पाणिपादतले चापि सप्त रक्तानि सिद्धये ॥१७
देहे प्रशस्यते वर्णस्ततस्नेहस्ततः स्वरः । अतस्तेज इतः सत्त्वमिदं द्वात्रिंशतोऽधिकम् ॥१८
सात्त्विकः सुकृती दानी राजसो विषयी भ्रमी । तामसः पातकी लोभी सात्त्विको मानुषोत्तमः ॥१९
सद्धर्मः सुभगो नीरुग् सुस्वप्नः सनयः कविः । सूचयत्यात्मनः श्रीमान्नरः स्वर्गगमागमौ ॥२०
निर्दम्भः सदयो दानी दान्तो दन्तः सदा ऋजुः । मर्त्ययोनेः समुद्भूतो भावी चात्र नरः पुनः ॥२१
मायालोभक्षुधाऽऽलस्यबह्वारम्भादिचेष्टितैः । तिर्यग्योनिसमुत्पत्तिं ख्यापयत्यात्मनः पुमान् ॥२२
सरोगः स्वजनद्वेषी कटुवाग्मूर्खसङ्गकः । शास्ति स्वस्य गतायातं नरो नरकवर्त्मनि ॥२३

इच्छुक और तिगुनी अधिक वर्षोंकी आयुवाले पुरुषोंको अपनी कन्या नहीं देना चाहिए ॥११॥ वक्षस्थल, मुख और ललाट ये तीनों विस्तीर्ण (चौड़े) हों तो प्रशस्त माने जाते हैं। नाभि, सत्त्व और सरोवर ये तीनों गम्भीर हों तो प्रशंसनीय होते हैं ॥१२॥ कण्ठ, पृष्ठ (पीठ) लिंग और जंघा-युगल ये चारों जिसके ह्रस्व होते हैं, वह व्यक्ति प्रतिदिन पूजाको प्राप्त होता है ॥१३॥

अपनी अंगुलियोंके पर्व (पोर भाग) केश, नख, दन्त और त्वक् (चमड़ा) ये पाँच यदि सूक्ष्म हों तो मनुष्य चिरजीवी होते हैं ॥१४॥ दोनों स्तनोंका मध्य भाग, दोनों नेत्रोंका मध्य भाग, दोनों भुजाएँ, नासिका और हनू (ठोढ़ी ठुड्डी) ये पाँचों जिसके दीर्घ होते हैं, वह पुरुषोत्तम और धन्य है ॥१५॥ नासिका, ग्रीवा, नख, कक्षा (कांख) हृदय और कन्धा ये छह अंग यदि उन्नत होते हैं तो वह मनुष्य सदैव उन्नतिका पात्र होता है ॥१६॥ नेत्रोंका प्रान्त (कोण) भाग, जिह्वा तालु, नख, अधर ओष्ठ, हस्ततल और चरणतल ये सातों रक्त वर्ण हों तो वे अभीष्ट सिद्धिके कारण होते हैं ॥१७॥ शरीरमें वर्ण (रंग-रूप) प्रशंसनीय होता है, वर्णसे भी स्नेह (चिक्कणपना) उत्तम होता है। स्नेहसे स्वर श्रेष्ठ होता है, स्वरसे तेज श्रेष्ठ होता है और तेजसे सत्त्व उत्तम होता है। यह सत्त्व पूर्वोक्त बत्तीस लक्षणोंसे अधिक उत्तम माना जाता है ॥१८॥

सात्त्विक प्रकृतिवाला मनुष्य सुकृत करने वाला और दानी होता है, राजस प्रकृतिवाला मनुष्य विषयी और भ्रमस्वभावी होता है और तामस प्रकृतिवाला व्यक्ति पापी और लोभी होता है। इनमें सात्त्विक प्रकृतिवाला व्यक्ति पुरुषोंमें उत्तम माना जाता है ॥१९॥

उत्तम धर्मका पालने वाला, सौभाग्यवान्, नीरोग, शुभ स्वप्नदर्शी, सुनीतिवाला, कवि और श्रीमान् मनुष्य अपने स्वर्गसे आगमन और गमनको सूचित करता है ॥२०॥ दम्भ-रहित, दया-युक्त, दानी, इन्द्रिय-जयी, उदार और सदा सरल स्वभावी व्यक्ति मनुष्ययोनिसे उत्पन्न हुआ है और आगामी भवमें भी वह पुनः मनुष्ययोनिमें ही उत्पन्न होनेवाला है ॥२१॥ मायाचार, लोभ-भूख-प्यास, आलस्य और बहुत आरम्भ आदि चेष्टाओंसे मनुष्य अपनी तिर्यग्योनिकी उत्पत्तिको प्रकट करता है ॥२२॥ सदा रोगी रहनेवाला, स्वजनोंसे द्वेष करनेवाला, कटुक वचन बोलने वाला, मूर्ख और मूर्खोंकी संगति करनेवाला मनुष्य अपना गमन-आगमन नरकके मार्गमें सूचित करता है ॥२३॥

नासिका-नेत्र-दन्तोष्ठ-नखकर्णाङ्घ्रिका नराः । समाः समेन विज्ञेया विषमा विषमेन तु ॥२४
गतिस्वरास्थित्वग्मांसनेत्रस्रोतोऽङ्गकैर्नृणाम् । यानमाज्ञा धनं भोगः सुखं योषित् क्रमाद् भवेत् ॥२५
आवर्तो दक्षिणे भागे दक्षिणे शुभकृन्नृणाम् । वामो वामेन निन्द्यश्च दिगन्यत्वे तु मध्यमः ॥२६
[1]उत्पातः पटिको लक्ष्म तिलको मसको व्रणः । स्पर्शनं स्फुरणं पुंसः शुभायाङ्गे प्रदक्षिणे ॥२७
[2]वामभावं पुनर्वामे त्रिंशकस्य नरस्य च । घातोऽपि दक्षिणे कैश्चिन्मस्याङ्गेऽशुभो मतः ॥२८
पृष्ठं पादौ च देहस्य लक्षणं चाप्यलक्षणम् । इतराद् बाध्यते तेन बलवत्फलदं भवेत् ॥२९
मणिबन्धात्परः पाणिस्तस्य लक्षणमुच्यते । तत्र चाङ्गुष्ठ एकः स्याच्चतस्रोऽङ्गुलयः पुनः ॥३०
नामान्यासां यथार्थानि ज्ञेयान्यङ्गुष्ठतः क्रमात् । तर्जनी मध्यमानामा कनिष्ठा च चतुर्थिका ॥३१
अकर्मकठिनः पाणिर्दक्षिणो वीक्ष्यते नृणाम् । वामभ्रुवां पुनर्वामः स प्रशस्योऽतिकोमलः ॥३२

[3]श्लाघ्य उष्णोऽरुणोऽस्वेदोऽच्छिद्रः स्निग्धश्च मांसलः ।
श्लक्ष्णस्ताम्रनखो दीर्घाङ्गुलीको विपुलः करः ॥३३

नासिका, नेत्र, दन्त, ओष्ठ, नख, कान और पाद ये अंग जिनके समान हों, उन मनुष्योंको समस्वभावी जानना चाहिए। यदि ये अंग विषम हों तो उन्हें विषमस्वभावी जानना चाहिए ॥२४॥ गति, स्वर, अस्थि, त्वक् (ऊपरी चमड़ी) मांस और नेत्रोंके स्रोत इन अंगोंके द्वारा क्रमसे मनुष्योंके यान-वाहन, आज्ञा, धन, भोग, सुख और स्त्री इनकी प्राप्ति होती है ॥२५॥ शरीरके दक्षिण भागमें यदि रोम-राजि-दक्षिण-आवर्त्त वाली हो, तो वे मनुष्योंके कल्याण-कारक होते हैं और यदि वह वाम-आवर्त्त हो, तो वह निन्दनीय होता है यदि वह अन्य दिशाकी ओर हो, तो मध्यम जानना चाहिए ॥२६॥

पुरुषके दक्षिण अंगमें यदि उत्पात (चोटका निशान) पटिक (फोड़ा आदिका चिह्न) लक्षण, तिल, मस्सा, व्रण (शस्त्रघात) स्पर्शन (छिपकली आदिका स्पर्श) और अंग-स्फुरण हो तो वह शुभ-सूचक है ॥२७॥ यदि ये सब वाम अंगमें हों तो वे अशुभ-सूचक होते हैं। तीस वर्षकी अवस्थावाले पुरुषके उक्त फल जानना चाहिए। कितने ही आचार्य पुरुषके दक्षिण अंगमें घातको भी अशुभ मानते हैं ॥२८॥ पीठ और दोनों पाद इनमेंसे यदि कोई शुभ लक्षण और कोई अशुभ लक्षणवाला हो तो वे परस्पर में एक दूसरेसे बाधित होते हैं। इनमें जो बलवान् होता है वह फल-दायक होता है ॥२९॥

अब मणिबन्ध (हाथ मूल) से परवर्त्ती जो हस्ततल है, उसके लक्षण कहते हैं। उस हाथ में एक अंगूठा और चार अंगुलियाँ होती हैं ॥३०॥ अंगूठेसे लेकर कमसे इनके जैसे नाम हैं, वैसे ही इनके अर्थ भी जानना चाहिए। उनमेंसे पहिली अंगुलीका नाम तर्जनी है, दूसरीका मध्यमा, तीसरीका अनामा या अनामिका और चौथीका नाम कनिष्ठा है ॥३१॥ मनुष्योंका दाहिना हाथ विना कठोर कर्म किये ही कठिन देखा जाता है और वाम भृकुटीवाली स्त्रियोंका हाथ अतिकोमल और प्रशंसनीय होता है ॥३२॥ जिसकी अंगुलियोंवाला हस्ततल अरुणवर्ण (गुलाबी) हो, स्निग्ध हो, छिद्र-रहित हो, मांसल हो, चिकना हो, ताम्रवर्णके नख हों, अंगुलियाँ लम्बी हों, और विशाल

---

१. हस्तसं० पृ० ७७ श्लोक ७। २. हस्तसं० पृ० ७७ श्लोक ८। ३. हस्तसं० पृ० ७७ श्लोक १०।

[१]पाणेस्तलेन शोणेन धनी नीलेन मद्यपः । पीतेनागम्यनारीगः कल्माषेण धनोज्झितः ॥३४

[२]वृत्तोन्नततले पाणौ निम्नो पितृधनोज्झितः । धनी संवृत्तनिम्ने स्याद्विषमे निर्धनः पुनः ॥३५

अरेखं बहुरेखं वा यस्य पाणितलं भवेत् । ते स्युरल्पायुषो निस्वा दुःखिता नात्र संशयः ॥३६

[३]करपृष्ठं सुविस्तीर्णं पीनं स्निग्धं समुन्नतम् । श्लाघ्यो गूढशिरो नृणां फणभृत्फणसन्निभः ॥३७

[४]विवर्णं परुषं रूक्षं रोमसं मांसवर्जितम् । मणिबन्धसमं निम्नं न श्रेष्ठं करपृष्ठकम् ॥३८

[५]पाणिमूलं दृढं गूढं श्लाघ्यं सुश्लिष्टसन्धिकम् । श्लथं सशब्दं हीनं च निर्धनत्वादिदुःखदम् ॥३९

[६]दीर्घनिर्मांसपर्वाणः सूक्ष्मा दीर्घाः सुकोमलाः । सुघनाः सरला वृत्ताः स्त्रीणामङ्गुलयः श्रिये ॥४०

[७]यच्छन्ति विरलाः शुष्काः स्थूला वक्रा दरिद्रताम् ।
शस्त्राघातं बहिर्निम्नाश्चेटित्वं चिपटाश्च ताः ॥४१

अनामिकस्य रेखाया कनिष्ठा स्याद्यदाधिका । धनवृद्धिस्तदा पुंसां मातृपक्षो बहुस्तदा ॥४२

मध्यमा-प्रान्तरेखाया अधिका यदि तर्जनी । प्रचुरस्तत्पितुः पक्षः श्रीश्च व्यत्ययतोऽन्यथा ॥४३

हस्ततल हो, वह पुरुष प्रशंसनीय होता है ॥३३॥ हाथका तल-भाग लाल होनेसे मनुष्य धनिक होता है, नीला होनेसे मद्यपायी होता है, पीला होनेसे अगम्य नारी गमन करने वाला होता है, अर्थात् गुरु-पत्नी आदि पूज्य और ज्येष्ठ स्त्रियोंका सेवन करता है । तथा कालावर्ण होनेसे मनुष्य धनसे रहित होता है ॥३४॥ यदि हस्ततल गोल और गहरा हो तो मनुष्य धनी होता है, और यदि वह विषम हो तो मनुष्य धनसे रहित होता है । उन्नत हस्ततल होनेपर दान देनेवाला होता है और निम्न हस्ततल होनेपर पिताके धनसे रहित होता है ॥३५॥ जिसका हस्ततल रेखाओंसे रहित हो, या बहुत रेखाओं वाला हो तो वे मनुष्य अल्पायु, निर्धन और दुःख भोगनेवाले होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३६॥ जिसके हाथका पृष्ठभाग सुविस्तीर्ण हो, पुष्ट हो, स्निग्ध हो, उन्नत हो, गूढ नसोंवाला हो और सांपके फण-सदृश हो, वह मनुष्य प्रशंसनीय होता है ॥३७॥ जिसके हाथका पृष्ठभाग, विवर्ण, परुष, रूक्ष, रोमवाला और मांससे रहित हो, तथा मणिबन्धके समान निम्न हो वह उत्तम नहीं है ॥३८॥ जिसके हाथका मूलभाग दृढ़ और परस्पर मिली हुई सन्धि-वाला हो, वह प्रशंसनीय होता और जिसका शिथिल, शब्दयुक्त और हीन होता है, वह निर्धनता आदि दुःखोंको देनेवाला होता है ॥३९॥

स्त्रियोंकी अंगुलियाँ मांस-सहित लम्बी, पोरवाली, पतली, दीर्घ, सुकोमल, सुघन, सरल और गोल हो तो वे लक्ष्मी प्राप्त करानेवाली होती हैं ॥४०॥ विरल (दूर-दूर) शुष्क, स्थूल और वक्र अंगुलियाँ दरिद्रताको देती है यदि अँगुलियाँ बाहिरकी ओर निम्न हों तो शस्त्र-घात करानेवाली होती हैं और यदि चिपटी होती हैं तो चेटी या दासीपनेको प्रकट करती हैं ॥४१॥ अनामिका अंगुलीकी रेखासे यदि कनिष्ठा अंगुली अधिक बड़ी हो तो पुरुषोंके धनकी वृद्धि होती है और उसका मातृ-पक्ष बहुत बड़ा होता है ॥४२॥ मध्यमा अंगुलीकी समीपवर्ती रेखासे यदि तर्जनी अधिक बड़ी होती है तो पितृ-पक्ष बहुत बड़ा होता है और उसके लक्ष्मी भी होती हैं । यदि मध्यमा अंगुलीकी समीपवर्ती रेखासे तर्जनी छोटी होती हैं तो पितृ-पक्ष छोटा होता है और

---

१. हस्तसं० पृ० ७८ श्लोक १२ । २. हस्तसं० पृ० ७८. श्लोक १३ । ३. हस्तसं० पृ० ७८ श्लोक १४ । ४. हस्तसं० श्लोक ७८ पृ० १५ । ५. हस्तसं० पृ० ७८ श्लो० ११ । ६. हस्तसं० पृ० ७९ श्लोक २ । ७. हस्त सं० पृ० ८० श्लोक ३ ।

अङ्गुष्ठस्याङ्गुलीनां च यद्यूर्ध्वाधिकता भवेत् । धनैर्धान्यैस्तथा हीनो नरः स्यादायुषापि च ॥४४
मणिबन्धे यवश्रेण्यस्तिस्रश्चेत् स नृपो भवेत् । यदि ता पाणिपृष्ठेऽपि ततोऽधिकतरं फलम् ॥४५
द्वाभ्यां तु यवमालाभ्यां राजमन्त्री धनी बुधः । एकया यवपङ्क्त्या तु श्रेष्ठो बहुधनोर्चितः ॥४६

[1]सूक्ष्माः स्निग्धाश्च गम्भीरा रक्ता वा मधुपिङ्गलाः ।
अव्यावृत्ता गतच्छेदाः कररेखाः शुभा नृणाम् ॥४७

[2]त्यागाय शोणगम्भीराः सुखाय मधुपिङ्गलाः । सूक्ष्माः श्रिये भवेयुस्ते सौभाग्याय च मूलकाः ॥४८

[3]छिन्ना सपल्लवा रूक्षा विषमाः स्थानकच्युताः ।
विवर्णाः स्फुटिताः कृष्णा नीलीस्तन्व्यश्च नोत्तमाः ॥४९

[4]क्लेशं सपल्लवा रेखा छिन्ना जीवितसंशयम् । कदन्नं परुषाद् द्रव्यविनाशं विषमार्पयेत् ॥५०
मणिबन्धात्पितुर्लेखा करभाद्विभवायुषोः । लेखे द्वे यान्ति तिस्रोऽपि तर्जन्यङ्गुष्ठकान्तरे ॥५१
एषा रेखा इमास्तिस्रः सम्पूर्णा दोषवर्जिताः तेषां गोत्रधनायूंषि सम्पूर्णान्यन्यथा न तु ॥५२

वह व्यक्ति लक्ष्मीसे हीन भी रहता है ॥४३॥ यदि अँगूठेकी अँगुलियोंकी निम्न भागवाली पोरसे अधिकता हो, अर्थात् लम्बाई अधिक हो तो वह मनुष्य धन और धान्यसे हीन होता है और आयुसे भी हीन होता है ॥४४॥

मणिबन्धमें यदि तीन यव-श्रेणी (जौके आकारवाली तीन श्रेणियाँ) हों तो वह व्यक्ति राजा होता है। और यदि वे ही जौके आकारवाली तीन श्रेणियो हाथके पृष्ठभागमें भी हों तो उसका उससे भी अधिक फल होता है, अर्थात् वह महाराज या माण्डलिक राजा होता है ॥४५॥ मणि-बन्धमें दो जौके आकारवाली श्रेणियोंसे मनुष्य राज-मंत्री, धनी और विद्वान् होता है। एक यव-पंक्तिसे मनुष्य बहुत धनसे पूजित और श्रेष्ठ होता है ॥४६॥ मनुष्योंके हस्त-रेखाएँ यदि सूक्ष्म, स्निग्ध, गम्भीर, रक्त वर्णवाली या मधुके समान पिंगल वर्णवाली, परस्पर मिलीं और गतच्छेद अर्थात् एकसे दूसरी कटी हुई न हों तो वे शुभ होती हैं ॥४७॥ रक्तस्वर्णवाली और गंभीर हस्त-रेखाएँ त्याग (दान) के लिए, मधुके समान पिंगल वर्णवाली रेखाएँ सुखके लिए, सूक्ष्म रेखाएँ लक्ष्मीके लिए और मूलभागसे (जिस रेखाका जो उद्गम स्थान है, वहाँसे) उत्पन्न हुई रेखाएँ सौभाग्यकी सूचक होती है ॥४८॥ यदि रेखाएँ कटी हुई हों, पल्लव-सहित हों, रूक्ष हों, विषम हों, स्थानसे च्युत हों, विवर्ण हों, स्फुटित हों, काली या नीली हों, छोटी या पतीली हों तो वे उत्तम नहीं होती है ॥४९॥ पल्लव-सहित रेखाएँ क्लेश करती हैं, छिन्न (छिन्न) रेखाएँ संशय-युक्त जीवनको सूचित करती है, परुष रेखाएँ खोटे अन्नका भोजन करना बतलाती हैं और विषम—रेखाएँ द्रव्यके विनाशको सूचित करती हैं, ऐसा जाना चाहिए ॥५०॥

मणि बन्धसे पितृ-रेखा और करभ अंगुलीके मूलसे वैभव एवं आयुकी रेखा प्रारम्भ होती है। ये दोनों तथा तीनों ही तर्जनी और अंगूठेके मध्य तक जाती हैं ॥५१॥ जिनके हाथमें यह पितृ-रेखा और वैभव एवं आयुकी रेखा ये तीनों ही रेखाएँ पूर्ण तथा दोष-रहित हैं, उनके गोत्र (कुटुम्ब-परिवार) धन और आयु सम्पूर्ण (भर-पूर) होते हैं। यदि उक्त रेखाओंमें दोष होता है,

---

१. हस्तसं० पृ० ८५ श्लो० १०। २. हस्तसं० पृ० ८५ श्लो० ११। ३. हस्तसं० पृ० ८५ श्लोक १२।
४. हस्तसं० पृ० श्लोक १३।

उल्लङ्घ्यन्ते च यावन्त्योऽङ्गुल्यो जीवितरेखया । पञ्चविंशतयो ज्ञेयास्तावन्तः शरदां बुधैः ॥५३
मणिबन्धोन्मुखा आयुर्लेखायां यत्र पल्लवाः । सम्पदस्ते बहिर्भावा विपदोऽङ्गुलिसम्मुखाः ॥५४
ऊर्ध्वरेखा मणेर्बन्धादूर्ध्वगा सा तु पञ्चधा । अङ्गुष्ठाश्रयणी सौख्या राज्यलाभाय जायते ॥५५
राजा राजसदृक्षो वा तर्जनीगतयाऽनया । मध्यमागतयाचार्यः ख्यातो लोकेऽथ सैन्यपः ॥५६
अनामिकां प्रयान्त्यां तु सार्थवाहो महाधनः । कनिष्ठां गतया श्रेष्ठः सप्रतिष्ठो भवेद् ध्रुवम् ॥५७
आयुर्लेखावसानाभिर्लेखाभिर्मणिबन्धतः । स्पृष्टाभिर्भ्रातरोऽस्पष्टाश्चाभिरामयः पुनः ॥५८
आयुर्लेखा कनिष्ठान्ता लेखाः स्युर्गृहिणीप्रदा । समाभिः शुभशीलास्ताः विषमाभिः कुशीलता ॥५९
अस्पष्टाभिरदीर्घाभिर्भ्रातृजाद्याश्च सूचिकाः । यवैरङ्गुलमूलोत्थैस्तत्सङ्ख्याः सूनवो नृणाम् ॥६०
यवैरङ्गुष्ठमध्यस्थैर्विद्याख्यातिविभूतयः । शुक्ले पक्षे तथा जन्म दक्षिणाङ्गुष्ठगैश्च तैः ॥६१
कृष्णपक्षे नृणां जन्म वामाङ्गुष्ठगतैर्यवैः । बहूनामथ चैकस्य यवस्य स्यात्फलं समम् ॥६२

एकोऽप्यभिमुखः स्वस्य मत्स्यः श्रीवृद्धिकारणम् ।
सम्पूर्णं किं पुनः सोऽपि पाणिमूले स्थितो नृणाम् ॥६३

तो उक्त तीनों भर-पूर नहीं होते हैं ॥५२॥ जीवनकी रेखाके द्वारा जितनी अंगुलियाँ उल्लंघन की जाती हैं बुद्धिमानोंको उसकी आयु उतने ही पच्चीस शरदृतु-प्रमाण जानना चाहिए ॥५३॥ जिस आयु-रेखामें पल्लव मणिबन्धके सम्मुख होते हैं, वे सम्पत्तिके बहिर्भावके सूचक हैं और यदि वे अंगुलियोंके सम्मुख होते हैं तो वे विपत्तिके सूचक हैं ॥५४॥ ऊर्ध्व रेखा पाँच प्रकार की होती है वह यदि मणिबन्धसे ऊर्ध्व-गामिनी हो तो और पांचों अंगुलियोंके आश्रयसे पांच प्रकारके फलकी सूचक होती है। यदि वह ऊर्ध्व रेखा अंगूठेका आश्रय लेती हैं, तो वह सुखकारक एवं राज्य-लाभके लिए होती है ॥५५॥ यदि वह ऊर्ध्व रेखा तर्जनीका आश्रय लेती है तो वह व्यक्ति राजा अथवा राजाके सदृश महापुरुष होता है। यदि वह ऊर्ध्व रेखा मध्यमा अंगुलीका आश्रय लेती है तो वह व्यक्ति प्रसिद्ध आचार्य अथवा सेनापति होता है ॥५६॥ यदि वह ऊर्ध्वरेखा अनामिका अंगुलीका आश्रय लेती है, तो वह व्यक्ति महाधनी सार्थवाह (व्यापारी) होता है। यदि वह ऊर्ध्व रेखा कनिष्ठा अंगुलीको प्राप्त होती है तो वह व्यक्ति निश्चयसे प्रतिष्ठा-युक्त श्रेष्ठ पुरुष होता है ॥५७॥

मणिबन्धसे लेकर आयु-रेखा तक जितनी रेखाएँ स्पर्श करती हैं, वे उतने भाइयोंकी सूचक होती हैं। यदि वे स्पष्ट न हों, तो वे रोगादि व्याधियोंकी सूचक होती है ॥५८॥ आयु-रेखा कनिष्ठा अंगुली तक हो और अन्य रेखाएँ भी हों तो वे गृहिणी-प्रदान करती हैं। यदि वे रेखाएँ सम हों तो उत्तम शीलवाली स्त्रियोंको देती हैं और यदि वे विषम हों तो कुशील स्त्रियोंको देती हैं ॥५९॥ अस्पष्ट और छोटी रेखाएँ भाई-भतीजे आदिकी सूचक हैं। अंगुलिके मूलभागसे उठे हुए यवोंसे तत्संख्या-प्रमाण मनुष्योंके पुत्रोंकी संख्या जानना चाहिए ॥६०॥ अंगूठेके मध्यमें स्थित यवोंसे मनुष्योंकी विद्या, ख्याति और विभूति सूचित होती है। तथा दाहिने हाथके अंगूठेमेंके यवोंसे मनुष्योंका जन्म शुक्ल पक्षमें हुआ जानना चाहिए ॥६१॥ यदि वे यव वाम अंगूठेमें उत्पन्न हुए हों तो मनुष्योंका जन्म कृष्णपक्षमें हुआ जानना चाहिए। अंगुष्ठ-गत बहुतसे यवोंका और एक यवका फल समान ही होता है ॥६२॥ हस्त-तलमें एक भी अभिमुख मत्स्य-चिह्न अपने लिए लक्ष्मीकी वृद्धिका कारण है और यदि वह मत्स्य-चिह्न पूर्णरूपसे हाथके मूलभागमें स्थित हो तो फिर मनुष्योंकी लक्ष्मीका कहना ही क्या है ? अर्थात् वह अपार सम्पत्तिका स्वामी होता है ॥६३॥

शफरो मकरः शङ्खः पद्मं पाणौ स्वसम्मुखः । फलदः सर्वदैवान्त्यकाले पुनरसम्मुखः ॥६४
शतं सहस्रं लक्षं च कोटिनः स्युर्यथाक्रमम् । मीनादयः करे स्पष्टाश्छिन्नभिन्नादयोऽल्पदाः ॥६५
सिंहासन-दिनेशाभ्यां नन्द्यावर्तेन्दुतोरणैः । पाणिरेखास्थितैर्मर्त्याः सार्वभौमा न संशयः ॥६६
आतपत्रं करे यस्य दण्डेन सहितं पुनः । चामरद्वितयं चापि चक्रवर्ती स जायते ॥६७
श्रीवत्सेन सुखी चक्रेणोर्वीशः पविना धनी । भवेदेव कुलाकार-रेखाभिर्धार्मिकः पुनः ॥६८
यूपयानरथाश्वेभवृषरेखाङ्किताः कराः । येषां ते परसैन्यानां हठग्रहण-कर्मठाः ॥६९
एकमप्यायुधं पाणौ षड्त्रिंशन्मध्यतो यदि । तदा परैरयोध्यः स्याद्वीरो भूमिपतिर्जयी ॥७०
उडुपो मङ्गिनी पोतो यस्य पूर्णः कराङ्कुरे । स्वरूप-स्वर्णरत्नानां पात्रं सांयात्रिकः परः ॥७१
त्रिकोणरेखया सीर-मूशलोदूखलादिना । वस्तुना हस्तजातेन पुरुषः स्यात् कृषीवलः ॥७२

गोमन्तः स्युर्नराः शौचैर्दामभिः पाणिसंस्थितैः ।
कमण्डलुध्वजौ कुम्भस्वस्तिकौ श्रीप्रदौ नृणाम् ॥७३

अनामिकान्तपर्वस्था प्रतिरेखा प्रभुत्वकृत् । ऊर्ध्वा पुनस्तले तस्य धर्मरेखेयमुच्यते ॥७४
रेखाभ्यां मध्यमस्थाभ्यामाभ्यां प्रोक्तविपर्ययः । तर्जनी गृहबन्धान्तर्लेखा स्यात्सुखमृत्युदा ॥७५
अङ्गुष्ठा पितृरेखान्तस्तिर्यग्-रेखाफलप्रदा । अपत्यरेखाः सर्वाः स्युर्मत्स्याङ्गुष्ठतलान्तरे ॥७६

हस्ततलमें मत्स्य, मकर, शंख और कमलके चिह्न यदि स्व-सम्मुख हो तो वह सर्वदा ही फलप्रद होते हैं। यदि वे सम्मुख न हों तो अन्तिम समयमें फलप्रद होते हैं ॥६४॥ जिसके हस्ततलमें मीन आदि चिह्न स्पष्ट होते हैं तो वे यथाक्रमसे शत, सहस्र, लक्ष और कोटि-प्रमाण धन-सम्पदाके देनेवाले होते हैं। यदि वे स्पष्ट न हों, या छिन्न-भिन्न आदिके रूपमें हों तो वे अल्प फल-प्रद होते हैं ॥६५॥ यदि हाथकी रेखाओंमें सिंहासन, सूर्य, नन्द्यावर्त्त, चन्द्र और तोरणके चिह्न अवस्थित हों तो मनुष्य सार्वभौम चक्रवर्ती होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ॥६६॥ जिसके हाथमें दंड-सहित छत्र हो और चामर-युगल भी हो तो वह मनुष्य चक्रवर्ती होता है ॥६७॥ हाथमें अवस्थित श्रीवत्ससे मनुष्य सुखी, चक्रसे भूपति, वज्रसे धनी और कुलाकार (वंशानुरूप) रेखाओंसे धार्मिक होता है ॥६८॥ यूप (यज्ञकाष्ठ) यान (नाव, जहाज) रथ, अश्व, गज और वृषभ (बैल) की रेखाओंसे अंकित जिनके हाथ होते हैं, वे शत्रुकी सेनाओंको हठ-पूर्वक ग्रहण करनेमें कर्मठ होते हैं ॥६९॥ जिसके हाथमें छत्तीस आयुधोंके मध्यमेंसे यदि एक भी आयुधका चिह्न होता है तो वह पुरुष दूसरोंके द्वारा अजेय, वीर, भूमिपति और विजयी होता है ॥७०॥ जिसके हाथमें उडुप (डोंगी या छोटी नौका) मंगिनी (बड़ी नौका) और पोत (जहाज) पूर्णरूपसे विद्यमान हो, वह व्यक्ति सुन्दर स्वरूप, सुवर्ण और रत्नोंका पात्र उत्कृष्ट ऐसा समुद्र-व्यापारी होता है ॥७१॥ हथेलीमें उत्पन्न हुई त्रिकोण रेखा, हल, मूशल, उखली आदि चिह्नोंसे मनुष्य उत्तम खेती करनेवाला किसान होता है ॥७२॥ हाथमें अवस्थित स्पष्ट पवित्र मालाओंसे मनुष्य गोधनवाले होते हैं। कमण्डलु, ध्वजा कुम्भ और स्वस्तिक चिह्न मनुष्योंको लक्ष्मीप्रद होते हैं ॥७३॥ अनामिका अंगुली-पर्यन्त पर्वमें स्थित प्रति-रेखा प्रभुता-कारक होती है। और यदि वह हस्ततलमें ऊपरकी ओर जा रही हो तो वह धर्म-रेखा कही जाती है ॥७४॥ मध्यमा अंगुलीपर अवस्थित इन दोनों रेखाओंके द्वारा उपर्युक्त फलसे विपरीत फल जानना चाहिए। तर्जनीसे गृहबन्ध तक जानेवाली अन्तर्लेखा सुखपूर्वक मृत्युको देती है ॥७५॥ अंगूठे और पितृ-रेखाके मध्यवर्ती तिर्यग्-रेखा उत्तम फलप्रद होती है। मत्स्य

अङ्गुष्ठस्य तले यस्य रेखा काकपदाकृतिः । तस्य स्यात्पश्चिमे भागे विपत्तिः शूलरोगतः ॥७७
श्लिष्टान्यङ्गुलिमध्यानि द्रव्यसंग्रहहेतवे । तानि चेच्छिद्रयुक्तानि त्यागशीलस्ततो नरः ॥७८
तर्जनी-मध्यमारन्ध्रं मध्यमानामिकान्तरे । अनामिका-कनिष्ठान्तश्छिद्रे सति यथाक्रमम् ॥७९
जन्मनः प्रथमे भागे द्वितीयेऽथ तृतीयके । भोजनावसरे दुःखं केऽप्याहुः श्रीमतामपि ॥८०

आवर्ता दक्षिणाः शस्ताः साङ्गुष्ठाङ्गुलिपर्वसु ।
ताम्रस्निग्धोच्छिखोत्तुङ्गपर्वार्धोत्था नखाः शुभाः ॥८१

श्वेतैर्यतित्वमस्वाद्यैर्नैःस्वं पीतैः सरोगता । पुष्पितैर्दुष्टशीलत्वं क्रौर्यं व्याघ्रोपमैर्नखैः ॥८२
शुक्त्याभैः श्यामलैः स्थूलैः स्फुटिताग्रैश्च पीतकैः । अद्योतरूक्षवक्रैश्च नखैः पातकिनोऽधमाः ॥८३
नखेषु बिन्दवः श्वेताः पाण्योश्चरणयोरपि । आगन्तवः प्रशस्ताः स्युरिति भोजनृपोऽवदत् ॥८४
तर्जन्यादिनखैर्भग्नैर्जातमात्रस्य तु क्रमात् । अर्धं त्रिंशच्चतुर्थांशाष्टांशाः स्युः सहजायुषः ॥८५
अङ्गुष्ठस्य नखे भग्ने धर्मतीर्थरतो नरः । कूर्मोन्नताङ्गुष्ठनखे नरः स्याद् भोगवर्जितः ॥८६

अथ वधूलक्षणम्—

वधूलक्षणलावण्यकुलजात्याद्यलङ्कृताम् । कन्यकां वृणुयाद् रूपवतीमव्यङ्गविग्रहाम् ॥८७

और अंगुष्ठ-तलके मध्यमें अवस्थित सभी रेखाएँ पुत्र-सूचक जानना चाहिए ॥७६॥

अंगूठेके तलभागमें जिसकी रेखा काक-पदके आकारवाली होती है उसके जीवनके अन्तिम भागमें शूलरोगसे विपत्ति आती है ॥७७॥ पुरुषकी अंगुलियोंके मध्यभाग परस्पर मिले हुए हों तो वे धन-संग्रहके कारण होते हैं। और यदि वे छिद्रयुक्त हों तो वह मनुष्य त्याग-मनोवृत्तिवाला होता है ॥७८॥ तर्जनी और मध्यमाका मध्यवर्ती छिद्र, मध्यमा और अनामिका मध्यवर्ती छिद्र, अनामिका और कनिष्ठाका मध्यवर्त्ती छिद्र यथाक्रमसे जीवनके प्रथम भागमें, द्वितीय भागमें और तृतीय भागमें श्रीमन्त पुरुषोंको भी भोजनके समय दुःख-दायक होते हैं, ऐसा कितने ही विद्वान् कहते हैं ॥७९-८०॥

अंगूठे और अंगुलियोंके पर्वोंमें दक्षिण आवर्त प्रशस्त माने जाते हैं। ताम्रवर्णके स्निग्ध और ऊपरकी ओर शिखावाले उत्तुंग पर्वके अर्धभागमें उठे हुए नख शुभ होते हैं ॥८१॥ श्वेत वर्णवाले नख यतिपनाके, अस्वेत (कृष्ण) वर्णवाले नख निर्धनताके, पीतवर्णवाले नख सरोगिता के, पुष्पित नख दुष्ट शीलताके और व्याघ्रके समान नख क्रूरताके सूचक होते हैं ॥८२॥ सीपके समान आभावाले, श्याम वर्ण वाले, स्थूल, पीत वर्ण वाले, फटे हुए अग्रभाग वाले, प्रभा-रहित, रूक्ष और वक्र नखोंसे मनुष्य पापी और अधम होते हैं ॥८३॥ यदि हाथ और पैरोंके नखोंमें श्वेत बिन्दु होते हैं तो वे आगामी कालमें उत्तम फलके सूचक हैं, ऐसा भोजराजाने कहा है ॥८४॥ तर्जनीको आदि लेकर कनिष्ठा-पर्यन्त भग्न नखोंके द्वारा उत्पन्न होने वाले व्यक्ति मात्रके क्रमसे स्वाभाविक आयुका अर्ध भाग, तीसवर्ष-प्रमाण वाला तृतीय भाग, चतुर्थ भाग और अष्टम भाग होता है, ऐसा जानना चाहिए ॥८५॥ अंगूठेका नख भग्न होनेपर मनुष्य धर्म-सेवन और तीर्थ-यात्रामें निरत होता है। यदि अंगूठेका नख कच्छपके समान उन्नत हो तो मनुष्य भोगोंसे रहित होता है ॥८६॥

अब वधू (स्त्री) के लक्षण कहते हैं—

जो कन्या वधूके उत्तम लक्षणोंसे, सौन्दर्यसे उत्तम कुल और जाति आदिसे अलंकृत हो,

अष्टमाद् वर्षतो यावद् वर्षमेकादशं भवेत् । तावत्कुमारिका लोके न्याय्यमुद्वाहमर्हति ॥८८
पादाङ्गुल्यौ सुजङ्घे च जानुनी मेढ्रमुष्ककौ । नाभिकटयौ च जठरं हृदयं तु स्तनान्वितम् ॥८९
हस्त-स्कन्धौ तथैवोष्ठ-कन्धरे दृग्भ्रुवौ तथा । भालमौली दश क्षेत्राण्येतान्याबाल्यतोऽङ्गके ॥९०
एकैकक्षेत्रसम्भूतलक्षणं चाप्यलक्षणम् । दशभिर्दशभिर्वर्षैः स्त्रीभ्यो दत्ते निजं फलम् ॥९१
यत्पदाङ्गुलयः क्षोणीं कनिष्ठाद्याः स्पृशन्ति न । एकद्वित्रिचतुःसङ्ख्यान् क्रमान्मारयते पतीन् ॥९२
यत्पदाङ्गुलिरेकापि भवेद्धीना कथञ्चन । येन केनापि सार्धं सा प्रायः कलहकारिणी ॥९३
अल्पवृत्तेन वक्रेण शुष्केण लघुनापि च । चिपिटेनापि रक्तेन पादाङ्गुष्ठेन दूषिता ॥९४

कृपणा स्यान्महापार्ष्णिर्दीर्घा पार्ष्णिस्तु कोपना ।
दुःशीला समपार्ष्णिश्च निन्द्या विषमपार्ष्णिका ॥९५

उच्छलद्धूलिचरणा सर्वस्थूलमहाङ्गुलिः । बहिर्विनिष्पतत्पादा दीर्घपादप्रदेशिनी ॥९६
विरलाङ्गुलिकौ स्थूलौ पृथू पादौ च बिभ्रती । सशब्दगमना स्थूलगुष्फा स्वेदयुताङ्घ्रिका ॥९७
उद्बद्धपिण्डिका स्थूलजङ्घा वायसजङ्घिका । निर्मांसघटबुध्नाभविश्लिष्टकृशजानुका ॥९८
बहुधारा प्रस्रविका शुष्कसङ्कटकट्यपि । चतुर्विंशतितो हीनाधिकाङ्गुलिकटी तथा ॥९९
मृदङ्गयवकूष्माण्डोदरिका उच्चनाभिका । दधती वलिभं रोमावर्तितं कुक्षिमुन्नतम् ॥१००

रूपवती हो और जिसके शरीरका कोई भी अंग वंगित न हो, ऐसी कन्याको वरण करना चाहिए ॥८७॥ आठ वर्षसे लेकर ग्यारह वर्ष तककी कन्या लोकमें कुमारी कहलाती है, वह न्याय-पूर्वक विवाहके योग्य होती है ॥८८॥ पैरोंकी अंगुलियाँ, दोनों उत्तम जंघाएँ, दोनों घुटने और अण्डकोषयुक्त गुह्यस्थान नाभि-कटिभाग, उदर, स्तन-युक्त हृदय (वक्षः स्थल) हाथ, कन्धे, तथा ओठ और कन्धरा (पीठ भाग) नेत्र-भ्रुकुटी, भाल और मस्तक ये दश क्षेत्र लड़कीके अंगमें बाल्यकालसे होते हैं ॥८९-९०॥ उक्त एक-एक क्षेत्रमें उत्पन्न शुभ लक्षण और कुलक्षण दश-दश वर्षोंके द्वारा स्त्रियोंके लिए अपना-अपना फल देते हैं ॥९१॥ कनिष्ठाको आदि लेकर जिसके अंगुलियाँ पृथ्वीका स्पर्श नही करती है, वह क्रमसे एक, दो, तीन और चार पतियोंको मारती है ॥९२॥ जिस कन्याके पैरकी एक भी अंगुली यदि किसी प्रकारसे हीन होती है तो वह प्रायः जिस किसी भी पुरुषके साथ कलह करने वाली होती है ॥९३॥ जिसके पैरका अंगूठा अल्प गोलाई वाला हो, वक्र हो, शुष्क हो, लघु हो, चिपटा हो और रक्त वर्ण वाला हो वह कन्या दोष युक्त होती है ॥९४॥ मोटी एड़ीवाली कन्या कृपण होती है। ऊँची एड़ीवाली क्रोधी स्वभावकी होती है, समान एड़ीवाली कुशीलिनी होती है और विषम एड़ीवाली निन्दनीय होती है ॥९५॥

चलते समय जिसके पैरोंसे धूलि उछलती हो, जिसकी अंगुलियां स्थूल और बड़ी हों, चलते हुए जिसका पैर बाहिरकी ओर पड़ता हो, जिसके पैरकी प्रदेशिनी (अंगूठेके पासवाली अंगुली) लम्बी हो, अंगुलियां दूर-दूर हों स्थूल और मोटे पैरोंको धारण करती हो, गमन करते समय जिसके पैरोंसे आवाज आती हो, स्थूल गुष्पा (एड़ी) हो, प्रस्वेद-युक्त पैर वाली हो, जिसकी पिण्डिका उद्बद्ध (ऊपर उठी) हो, जंघाएँ स्थूल हों, काकके समान जंघाएँ हो, जिसकी जांघें मांस-रहित, घड़ेके समान उतार-चढ़ाववाली, परस्पर श्लेष-रहित और कृश जानुएँ हों, जिसके मूत्र की अनेक धाराएँ निकलती हों, जिसकी कटि सूखी और संकीर्ण हो, तथा चौबीस अंगुलसे हीन या अधिक कमरवाली हो, मृदंग, यव, और कूष्माण्डके समान उदर वाली हो, ऊँची नाभिवाली हो, जो

अष्टादशाङ्गुलिन्यूनाधिकवक्षोरुहान्तरा। तिलकं लक्ष्म वा श्यामं बिभ्राणा वामकस्तने ॥१०१
कुचे वराङ्गपार्श्वे च वामे चोच्चैर्मनाक्तितः। नारी-प्रसूतिनी नारी दक्षिणे तु नरप्रसूः ॥१०२
सङ्कीर्णपृथुलप्रोच्चनिर्मांसांसयुतापि वा। स्थूलोच्चकुटिलस्कन्धान्यमूनिर्मांसकुक्षिका ॥१०३
मेषवल्लघुग्रीवा च दीर्घग्रीवा च कोटवत्। व्याघ्रास्या श्यामचिबुका हास्ये कूपकपोलिका ॥१०४
श्यामश्वेतस्थूलजिह्वातिहासा काकतालुका। जम्बूतरुफलच्छाया दशनावलिपिच्छिका ॥१०५
आकेकराक्षिमार्जारनेत्रा पारावतेक्षणा। तृष्णाक्षी चञ्चलालोकातिमौना बहुभाषिणी ॥१०६
स्थूलाधरशिरावक्त्रनासिका सूर्पकर्णिका। हीनाधरी प्रलम्बोष्ठी मिलद्भ्रूयुग्मिका तथा ॥१०७
अतिसङ्कीर्णविषमा दीर्घा रोमसवालिका। अङ्गुलीत्रितयादूनाधिकभालस्थलापि वा ॥१०८
भालेनाखण्डरेखेण रेखा हीनातिनिन्दिता। रूक्षस्थूलस्फुटिताग्रकटघुल्लङ्किकचयोच्चयम् ॥१०९
एकस्मिन् कूपके स्थूलबहुरोमसमन्विता। सुपुष्पनखरा श्वेतनखा सूर्पनखी तथा ॥११०
उत्कटस्नायुदुर्दर्शकपिलद्युतिधारिणी। अतिश्यामातिगौरी चातिस्थूला चातितन्विका ॥१११
अतिह्रस्वातिदीर्घा च विषमाङ्गाधिकाङ्गिका। हीनाङ्गा शौचविकला रूक्षकर्कशकाङ्गिका ॥११२
सञ्चरिष्णुरुगाघ्राता धर्मविद्वेषिणी तथा। धर्मान्तररता चापि नीचकर्मरतापि च ॥ ११३

बलिभंगवाली, रोमावर्त्तयुक्त उन्नत कुक्षिको धारण करती हो, जिसके स्तनोंके मध्यभागका अन्तर अठारह अंगुलियोंसे कम या अधिक हो, वाम स्तनपर काला तिल या लक्षण (चिह्न) धारण करती हो, दोनों स्तन और वरांग (योनि) के पार्श्वभाग वाम हों उच्च और कुछ विरल हों, ऐसी स्त्री कन्याओंको जन्म देनेवाली होती है, यदि दोनों स्तन और वरांगके पार्श्व भाग दक्षिणकी ओर झुके हुए हों तो वह पुत्रोंको जन्म देनेवाली होती है। जिस कन्याके कन्धे संकीर्ण हों, मोटे, ऊँचे और मांस-रहित हों, अथवा स्थूल, उच्च और कुटिल कन्धे हों, कुक्षि मांस-रहित शुष्क हो, मेंढेके समान लघु ग्रीवा हों अथवा कोट (ऊँट) के समान दीर्घग्रीवा हो, व्याघ्रके समान मुख हो, श्यामवर्णकी चिबुक (ठोड़ी) हो, हंसते समय जिसके कपोलों (गालों) पर कूप जैसे गड्ढे पड़ जाते हों, जिसकी जीभ काली, या श्वेतवर्णकी और मोटी हो, जो अधिक हँसती हो, जिसका तालुभाग काकके समान हो, जम्बु-वृक्षके फल जामुनके सदृश, जिसकी दन्त-पंक्तिका ऊपरी भाग (मसूड़े) हो जिसके नेत्र केकर (कैरे) मार्जार, पारावत (कपोत और मेढ़े) के सदृश हों, नेत्रोंसे तृष्णा झलकती हो, चंचल हो, अधिक मौन रहती हो, अथवा अधिक बोलनेवाली हो, जिसके अधर (नीचेके ओठ) मोटे हों, नसाजाल, मुख और नासिका स्थूल हों, सूपके समान कानवाली हो, हीन अधरवाली हो, या लम्बे ओठोंवाली हो, जिसकी दोनों भौंहें परस्पर मिल रही हों, अथवा भौंहें अतिसंकीर्ण, विषम और दीर्घ हों, शरीरपर रोमोंकी प्रचुरता हो, जिसका भालस्थल (ललाट) तीन अँगुलसे कम या अधिक हो, अखंड रेखावाले ललाटसे जिसको रेखाहीन और अतिनिन्दित हों, जिसके शिरके केश रूक्ष, स्थूल हों, जिनके अग्रभाग स्फुटित हों और कटि-भाग-का भी एक-एक रोम-कूप बहुतसे रोमोंसे युक्त हो, जिसके नख सुपुष्पके समान हों, अथवा श्वेत नखवाली हो, या सूपेके समान नख हों, जिसकी स्नायु उत्कट हों, दुर्दर्शनीय कपिलवर्णकी कान्तिको धारण करनेवाली हो, अत्यधिक श्याम वर्णवाली हो, या अधिक गोरी हो, अधिक मोटी हो, या अधिक पतली हो, अति ठिगनी हो, या अतिलम्बी हो, विषम अंगवाली हो, या अधिक अंगवाली हो, या हीन अंगवाली हो, शौच-पवित्रतासे रहित हो, रूक्ष और कर्कश अंग-

अजीवप्रसवस्तोकप्रसवस्वसृमातृका । रसवत्यादिविज्ञानरहितेदृक्कुमारिका ॥११४
दुःशीला दुर्भगा वन्ध्या दरिद्रा दुःखिताधमा । अल्पायुर्विधवा कन्या स्यादेभिर्दुष्टलक्षणैः ॥११५

(विंशत्या कुलकम्)

उपाङ्गमथवाङ्गं स्याद्यदीयं बहुरोमकम् । वर्जयेत्तां प्रयत्नेन विषकन्यां महोदरीम् ॥११६
कटिकृकाटिका शीर्षोदरभालेषु मध्यगः । नासान्तेऽशुभः स्यादावर्तः सृष्टिगोऽपि सन् ॥११७
आवर्ता वामभागेऽपि स्त्रीणां संहारवृत्तये । न शुभा शुभभाले च दक्षिणाङ्गे समुत्थितः ॥११८
देवोरगनदीशैलवृक्षनक्षत्रपक्षिणाम् । श्वपाक-प्रेष्यभीष्माणोसञ्ज्ञापादनितां त्यजेत् ॥११९
धराधान्यलतागुल्मसिंहव्याघ्रफलाभिधाम् । त्यजेन्नारीं भवेद्दोषा स्वैराचारप्रिया यतः ॥१२०
नापरीक्ष्य स्पृशेत्कन्यामविज्ञातां कदाचन । निघ्नन्ति येन योगैस्ताः कदाचिद्विषनिर्मितैः ॥१२१
महौषधप्रयोगेण कन्या विषमयी किल । जातेति श्रूयते ज्ञेया तैरेतैः सापि लक्षणैः ॥१२२
यस्याः केशांशुकस्पर्शान्म्लायन्ति कुसुमस्रजा । स्नानाम्भसि विपद्यन्ते बहवः क्षुद्रजन्तवः ॥१२३

वाली हो, कुल-परम्परागत रोगोंसे व्याप्त हो, धर्मसे विद्वेष करनेवाली हो, अथवा पतिके धर्मसे भिन्न अन्य धर्ममें संलग्न रहनेवाली हो, तथा नीच कर्म करनेमें संलग्न रहती हो, निर्जीव सन्तानको प्रसव करनेवाली हो, या अल्पप्रसववाली या बहिनोंको प्रसव करनेवाली जिसकी माता हो, और जो रसोई बनाने आदि स्त्रियोंचित कलाओंके विज्ञानसे रहित हो, ऐसी कुमारी कन्याका वरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इन उपयु क्त खोटे लक्षणोंसे वह कन्या दुःशील, दुर्भागिनी, वन्ध्या, दरिद्र, दुःख भोगनेवाली अधम, अल्पायु और विधवा होती है ॥९६-११५॥

जिसका अंग अथवा उपांग यदि बहुत रोमोंवाला हो और बड़ा उदर हो, ऐसी विषकन्या-को प्रयत्न-पूर्वक छोड़े, अर्थात् उसके साथ विवाह-सम्बन्ध न करे ॥११६॥ जिसकी कटि कृकाटिका (गल-घंटिका) के समान हो, शिर, उदर और ललाटमें मध्यवर्ती और नासिकाके अन्तमें जन्मसे उत्पन्न आवर्त्त (दक्षिणावर्त्त रोमावली) अशुभ माना गया है ॥११७॥ स्त्रियोंके वामभागमें होनेपर भी आवर्त्त संहारवृत्तिके सूचक होते है। उत्तम ललाटमें भी आवर्त शुभ-सूचक नहीं होते हैं। तथा दाहिने अंगमें तो जन्मजात आवर्त स्त्रियोंके अशुभ ही होते हैं ॥११८॥

देव, सर्प, नदी, पर्वत, वृक्ष, नक्षत्र, पक्षी, श्वपाक (चाण्डाल) दास, एवं भीष्म (भयकारी) संज्ञावाले नामोंकी धारक स्त्रीका भी परित्याग करे ॥११९॥ धरा (पृथिवी) धान्य, लता, गुल्म, सिंह, व्याघ्र और फलोंके नामवाली स्त्रीका भी परित्याग करे, क्योंकि उक्त प्रकारके नामोंको धारण करनेवाली स्त्री दोषयुक्त और स्वच्छन्द आचरण-प्रिय (व्यभिचारिणी) और स्वेच्छाचारिणी होती है ॥१२०॥ अविज्ञात कन्याकी परीक्षा किये बिना कदाचित् भी स्पर्श न करे। क्योंकि ऐसी अज्ञात या अपरिचित कन्याएँ कभी-कभी विष-निर्मित योगोंके द्वारा स्पर्श करनेवाले पुरुषोंको मार डालती हैं ॥१२१॥ महाऔषधियोंके प्रयोगसे कन्या विषमयी बना दी जाती है, ऐसा वात्स्यायन शास्त्र आदिमें सुना जाता है और उसे निम्नोक्त विष-प्रदर्शक लक्षणोंसे जान लेना चाहिए ॥१२२॥

अब उन लक्षणोंको कहते हैं—जिसके शिरके केशोंके ऊपर ओढ़े हुए वस्त्रके स्पर्शसे फूल-मालाएँ मुरझा जाती हैं, जिसके स्नानके जलमें बहुतसे छोटे-छोटे जन्तु मर जाते हैं, जिसकी

म्रियन्ते मत्कुणास्तल्पे तथा यूकास्तु वाससि । वातश्लेष्मव्यथामुक्ता या च पित्तोदयान्विता ॥१२४
भौमार्कशनिवाराणां वारः कोऽपि भवेद्यदि । तथाश्लेषाशतभिषकृत्तिकानां च भं यदि ॥१२५
द्वादशी वा द्वितीया वा सप्तमी वा तिथिर्यदि । ततस्तत्र सुता जाता कीर्त्यते विषकन्यका ॥१२६
गुरुशिष्यसुहृत्स्वामिस्वजनाङ्गनया सह । मातृजामि (?) सुतात्वेन व्यवहर्त्तव्यमुत्तमैः ॥१२७
सम्बन्धिनी कुमारी च लिङ्गिनी शरणागता । वर्णाधिका च पूज्यत्वसङ्कल्पेन विलोक्यते ॥१२८
सदोषां बहुलोमां च बहुग्रामान्तरप्रियाम् । अनीप्सितसमाचारां चञ्चलां च रजस्वलाम् ॥१२९
अशौचां हीनवर्णां चातिवृद्धां कौतुकप्रियाम् । अनिष्टां स्वजनद्विष्टां सगर्भां नाश्रयेत् स्त्रियम् ॥१३०
परस्त्री विधवा भर्त्रा त्यक्ता त्यक्तव्रतापि च । राजकुलप्रतिबद्धा संत्याज्या यत्नतो बुधैः ॥१३१
दुर्गा-दुर्गतिदूतीषु वैरचित्रकभित्तिषु । साधुवादद्रुशस्त्रीषु परस्त्रीषु रमेत कः ॥१३२
जगत्समक्षं स्त्रीपुम्से विवाहे दक्षिणं करम् । अन्योन्यव्यभिचाराय दत्तं किल परस्परम् ॥१३३
ततो व्यभिचरतो तौ निजपुण्यं विलुम्पतः । अन्योन्यघातकौ स्यातां परस्त्रीपुङ्गवावपि ॥१३४
बाला लेखनकैः कालैर्दत्तैर्दत्तफलाशनैः । मोदते यौवनस्था तु वस्त्रालङ्करणादिभिः ॥१३५

शय्यापर मत्कुण (खटमल) मर जाते हैं, तथा जिसके वस्त्र पर यूक (जूं) मर जाते हैं, जो वात और कफ-जनित व्याधियोंसे मुक्त रहती है, और जो पित्तके उदयसे संयुक्त रहती है, मंगल, रवि और शनिवारमेंसे यदि कोई दिन हो, तथा आश्लेषा, शतभिषा और कृतिका नक्षत्र उसदिन हो, तथा द्वादशी, द्वितीय या सप्तमी तिथि हो, ऐसे वार, नक्षत्र और तिथिके योगमें जो उत्पन्न हुई हो तो वह विष कन्या कहीं जाती है, ऐसा जानना चाहिए ॥१२३-१२६॥

गुरु, शिष्य, मित्र, स्वामी और स्वकुटुम्बी जनोंकी स्त्रियोंके साथ यथा सम्भव माता, बहिन और पुत्रीके रूपमें उत्तम जनोंको व्यवहार करना चाहिए ॥१२७॥ अपने रिश्तेदारीसे सम्बन्ध रखने वाली स्त्रीको, कुमारी कन्याको, तापस वेष धारिणीको, शरणमें आई हुई को और अपने वर्णसे ऊँचे वर्ण वाली स्त्रीको पूज्यपनेके भावसे देखना चाहिए ॥१२८॥ सदोष स्त्रीका, बहुत लोम-वाली स्त्रीका, अन्य अनेक ग्रामवालोंको प्रिय स्त्रीका, अनिच्छित आचरण करने वाली, चंचल स्वभाववाली, रजस्वला, अशौचवती, हीनवर्णवाली, अतिवृद्धा, कौतुक प्रिय स्त्रीका, अनिष्ट करने वाली एवं स्वजनोंसे द्वेष करने वाली स्त्रीका तथा गर्भिणी स्त्रीका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिए ॥१२९-१३०॥ परायी स्त्री, विधवा, पतिद्वारा छोड़ी हुई, व्रतोंका परित्याग करने वाली और राजकुलसे संबद्ध स्त्रीका ज्ञानी जनोंको प्रयत्न पूर्वक परित्याग करना चाहिए ॥१३१॥ जो दुष्ट स्वभाववाली है, दुर्गतिमें ले जानेके लिए दूतीका काम करती है, ऐसी स्त्रियोंमें, तथा बैर रखनेवालोंकी स्त्रियोंमें चित्र-लिखित एवं भित्तियोंमें उत्कीर्ण या चित्रित स्त्री-चित्रोंमें, साधुवाद अर्थात् प्रशंसाके योग्य कार्यसे द्रोह करनेवाली और शस्त्र-धारण करनेवाले पुरुषोंकी स्त्रियोंमें तथा पर-स्त्रियोंमें कौन बुद्धिमान् रमण करेगा ? कोई भी नहीं ॥१३२॥ विवाहके अवसरपर लोगों-के समक्ष जिस स्त्री-पुरुषका दाहिना हाथ परस्पर एक दूसरेके साथ काम-सेवनके लिए दिया गया है, वे दोनों यदि परस्त्री या पर पुरुषके साथ व्यभिचार करते हैं तो वे अपने पुण्यका ही विलोप करते हैं, वे दोनों परस्पर एक दूसरेके घातक हैं और उन्हें परस्त्री और परपुरुषके सेवनमें शिरोमणि जानना चाहिए ॥१३३-१३४॥

बाला स्त्री समयपर दी गई लिखने-पढ़ने और खेलनेकी वस्तुओंसे, तथा दिये गये फलोंके

तुष्यन्मध्यवया प्रौढरतिक्रीडासु कौशलैः । वृद्धा तु मधुरालापैर्गौरवेण च रज्यते ॥१३६
षोडशाब्दा भवेद् बाला त्रिंशताद्भुतयौवना । पञ्च-पञ्चाशता मध्या वृद्धा स्त्री तदनन्तरम् ॥१३७
पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा । तत्तदिष्टविधानेनानुकूला स्त्री विचक्षणैः ॥१३८
आसने चाथ शय्यायां जीवांशे विनियोजिता । जायन्ते नियतं वश्याः कामिन्यो नात्र संशयः ॥१३९
न ज्वरवती तृप्यत्यश्लथाङ्गी पथि विक्लवा । मासैकप्रसवा नारी काम्या षण्मासगर्भिणी ॥१४०
वृक्षाद् वृक्षान्तरं गच्छन् प्राशैश्चिन्त्योऽत्र वानरः । मनो यत्र स्मरस्तत्र ज्ञानं वश्यङ्करं ह्यदः ॥१४१
कम्पननर्तनहास्याश्रुमोक्षप्रोच्चैः स्वरादिकम् । प्रमदा सुरतोन्मत्ता कुरुते तत्र निःस्पृहा ॥१४२
रतान्ते श्रूयतेऽकस्माद् घण्टानादस्तु नुच्छिदः । येन तस्यैव पञ्चत्वं पञ्चमासान्तरे भवेत् ॥१४३
पक्षान्निदाघे हेमन्ते नित्यमन्यर्तुषु त्र्यहात् । स्त्रियं कामयमानस्य जायते न बलक्षयः ॥१४४

भक्षणसे प्रसन्न होती है, युवावस्थावाली स्त्री वस्त्र और आभूषण आदिसे प्रमुदित होती है। मध्य अवस्था वाली स्त्री प्रौढ़ रति-क्रियाओंमें कौशलोंसे आनन्दित होती है और वृद्धा स्त्री मधुर वचनालापोंसे तथा गौरव-प्रदान करनेसे अनुरंजित होती है ॥१३५-१३६॥ सोलह वर्ष तककी स्त्री बाला कहलाती है, तीस वर्ष तककी स्त्री अद्भुत यौवन वाली युवती कहलाती है, पचवन वर्ष तककी आयुवाली स्त्री मध्य-अवस्थावाली कहलाती है और उसके अनन्तर आयुवाली स्त्री वृद्धा कही जाती है ॥१३७॥

स्त्रियाँ चार प्रकारकी होती हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। विचक्षण पुरुष उक्त प्रकारकी स्त्रीको उस उसके योग्य इष्ट विधानसे अपनेमें अनुरक्त करते हैं। विशेषार्थ—पद्मिनी स्त्रीके केश सघन, स्तन गोल एवं दन्त छोटे और शोभायुक्त होते हैं। चित्रिणी स्त्रीके केश कुटिल वक्र, स्तन सम, और दन्त भी सम होते हैं। शंखिनी स्त्रीके केश दीर्घ, स्तन दीर्घ (लम्बे) और दन्त भी दीर्घ होते हैं। हस्तिनी स्त्रीके केश अल्प (विरल) स्तन विकट और दन्त उन्नत होते हैं। पद्मिनीके शब्द हंसके समान, हस्तिनीके हाथीके समान, शंखिनीके रूक्ष और चित्रिणीके काक-समान होते हैं। पद्मिनीकी शारीरिक गन्ध कमलके समान हस्तिनीकी हाथीके समान, शंखिनीकी क्षार-समान और चित्रिणी की गन्ध शून्य होती है ॥१३८॥

आसन और शय्यापर काम-कुतूहलोंके द्वारा मैथुन-सेवनमें विनियोजित स्त्रियाँ नियत रूपसे अपने अधीन होती हैं, इनमें संशय नहीं है ॥१३९॥ ज्वरवाली स्त्री, शिथिल अंगवाली, मार्गमें थकानसे विकल चित्तवाली, एक मासकी प्रसूतिवाली और छह मासके गर्भवाली स्त्री कामना की जाने पर भी तृप्त नहीं होती हैं, अतएव उनके साथ काम-सेवन नहीं करना चाहिए ॥१४०॥

जैसे एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर जाता हुआ वानर चंचल होता है उसी प्रकार कामासक्त मन भी अति चंचल होता है। उसे वशमें करनेवाला एकमात्र ज्ञान ही है ॥१४१॥ काम-सेवनमें निःस्पृह भी प्रमदा स्त्री शरीर-कम्पन, नर्तन, हास्य, अश्रु-पात और उच्च स्वरादिकसे सुरत-सेवनके लिए उन्मत्त कर दी जाती हैं ॥१४२॥ यदि स्त्री-रमणके अन्तमें अकस्माद् घण्टाका शब्द सुनाई देता है, तो उससे उसी व्यक्तिका मरण पाँच मासके भीतर होगा, ऐसा जानना चाहिए ॥१४३॥

ग्रीष्म ऋतुमें एक पक्षसे, हेमन्त ऋतुमें नित्य, तथा अन्य ऋतुओंमें तीन दिनसे स्त्रीको कामना करनेवाले पुरुषका बल क्षीण नहीं होता है ॥१४४॥

इतीदं वात्स्यायनोक्तम् । वाग्भट्टस्त्वित्थमाह—

त्र्यहाद्वसन्तशरदोः पक्षाद्वर्षानिदाघयोः । सेवेत कामतः कामं हेमन्ते शिशिरे बली ॥१४५

अतीर्ष्यातिप्रसङ्गो निदानमत्यागमस्तथा ।
चत्वारोऽपि न कर्त्तव्या कामिभिः कामिनीजने ॥१४६

अतीर्ष्यातो हि रोषः स्यादुद्वेगोऽतिप्रसङ्गतः । लोभो निदानतः स्त्रीणामत्यागमादलज्जताम् ॥१४७
वितन्वती क्षुतं जृम्भां स्नान-पानाशनानि च । मूत्रकर्म च कुर्वाणां कुर्वेषां च रजस्वलाम् ॥१४८
तथान्यनरसंयुक्तां पश्येत्कामी न कामिनीम् । एवं हि मानसं तस्यां विरज्येतास्य निश्चितम् ॥१४९
अत्यालोकादनालोकात्तथाऽनलपनादपि । प्रवासमतिमानाच्च त्रुटयति प्रेम योषिताम् ॥१५०
न प्रीतिवचनं वत्ते नालोकयति सुन्दरम् । उक्ता धत्ते क्रुधं द्वेषन्मित्रद्वेषं करोत्यलम् ॥१५१
विरहे हृष्यति व्याजादीर्ष्यामपि करोति च । योगे सीदति सा बाधवदनं मोटयत्यथ ॥१५२
शेते शय्यागता शीघ्रं स्पर्शादुद्विज्यते तराम् । कृतं किमपि न स्तौति विरक्तं लक्षणं स्त्रियः ॥१५३
विश्रम्भोक्ति पुमालम्भमाङ्गिकं वैकृतं तथा । रतक्रीडां च कामिन्यां नापरां तु प्रकाशयेत् ॥१५४
कामिन्या वीक्ष्यमाणाया जुगुप्साजनकं बुधः । श्लेष्मक्षेपादि नो कुर्याद् विरज्येत तथा हि सा ॥१५५

यह वात्स्यायनने कहा है । किन्तु वाग्भट्टने तो इस प्रकारसे कहा है—

वसन्त और शरद् ऋतुमें तीन दिनसे, वर्षा और ग्रीष्म ऋतुमें एक पक्षसे, काम-सेवन करे । किन्तु बलवान् पुरुष हेमन्त और शिशिर ऋतुमें अपनी कामेच्छाके अनुसार स्त्रीका सेवन करे ॥१४५॥

अति ईर्ष्या, अति प्रसंग, निदान और अति समागम ये चार कार्य कामिनी स्त्रीजनमें कामी पुरुषोंको नहीं करना चाहिए ॥१४६॥ क्योंकि अति ईर्ष्यासे स्त्रियोंमें रोष प्रकट होता है, अति प्रसंगसे उद्वेग पैदा होता है, निदानसे लोभ जागता है और अति समागमसे निर्लज्जता आती है ॥१४७॥ छींकती हुई जम्भाई लेती हुई, स्नान करती हुई, खान-पान करती हुई, मूत्र-विमोचन करती हुई स्त्रीको, रजस्वलाको तथा अन्य पुरुषसे संयुक्त कामिनी स्त्रीको पुरुष कभी नहीं देखे । क्योंकि ऐसी दशाओंमें कामी पुरुषके देखने पर उसका मन उस स्त्रीमें विरक्त हो जायगा, यह निश्चित है ॥ ४८-१४९॥ स्त्रियोंको अधिक देखनेसे, अथवा सर्वथा नहीं देखनेसे, वार्तालाप नहीं करनेसे, प्रवास करनेसे और अतिमानसे स्त्रियोंका प्रेम टूट जाता है ॥१५०॥

विरक्त स्त्रियोंके ये लक्षण जानना चाहिए—बोलनेपर भी प्रेमयुक्त वचन नहीं बोलती है, हर्ष-पूर्वक अच्छी तरहसे नहीं देखती है, कुछ कहनेपर क्रोधको धारण करती है, अपनेसे द्वेष करती हुई अपने मित्रोंके साथ भी बहुत अधिक द्वेष करती है, अपने विरह-कालमें हर्षित होती है और छलसे ईर्ष्या भी करती है, अपना संयोग होनेपर अवसादको प्राप्त होती हुई अपने मुखको मोड़ लेती है, अपनी शय्यापर आते ही शीघ्र सो जाती है, स्पर्श करनेसे अत्यधिक उद्वेगको प्राप्त होती है और अपने द्वारा किये गये उत्तम कार्यकी कुछ भी प्रशंसा नहीं करती हैं । ये सब विरक्त स्त्रीके लक्षण हैं ॥१५१-१५३॥ स्त्रियोंकी विश्वास-पूर्वक कही हुई बातको, पुरुषोंके साथ किये गये उपालम्भको, शारीरिक विकृतिको और रति-क्रीड़ाको अन्य स्त्रीके सामने प्रकाशित नहीं करना चाहिए ॥१५४॥ अपनी ओर देखती हुई कामिनीके सम्मुख ग्लानि-जनक कफ-क्षेपणादि कार्य

अथ कुलस्त्रीणां धर्मः—

दत्ता या कन्यका यस्मै माता भ्राता पिताथवा । देवतेव तया पूज्यो गतसर्वगुणोऽपि सः ॥१५६

पितृभर्तृसुतैर्नार्यो बाल्ययौवनवार्धके । रक्षणीया प्रयत्नेन कलङ्कः स्यात्कुलेऽन्यथा ॥१५७

दक्षा तुष्टा प्रियालापा पतिचित्तानुगामिनी ।
कालौचित्याद् व्ययकरी सा स्त्री लक्ष्मीरिवापरा ॥१५८

स्वपयेद्दयिते शेते तस्मात्पूर्वं विबुध्यते । भुक्ते भुक्तवति ज्ञाते सकुला स्त्रीमतल्लिका ॥१५९

न कुत्सयेद्वरं बाला श्वसुरप्रमुखांश्च या । ताम्बूलमपि नादत्ते दत्तमन्येन सोत्तमा ॥१६०

न गन्तव्यमुत्सवे···· चत्वरे पथि···· ··· । देवयात्राकथास्थाने न तथा रङ्गजागरे ॥१६१

या दृष्ट्वा पतिमायान्तमभ्युत्तिष्ठति सम्भ्रमात् ।
तत्पादन्यस्तदृष्टिश्च दत्ते तस्य मनः स्वयम् ॥१६२

भाषिता तेन सव्रीडं नम्रीभवति तत्क्षणात् । स्वयं सविनयं तस्य परिचर्यां करोति च ॥१६३

निर्व्याजहृदया पत्युः श्वश्रूषु व्यक्तिभक्तिभाक् । सदा नम्रानना नृणां बद्धस्नेहा च बन्धुषु ॥१६४

सपत्नीष्वपि सत्प्रीतिः परिचितेष्वतिवत्सला । सनर्मपेशलालापा कामितुर्मित्रमण्डले ॥१६५

या च ते द्वेषिषु द्वेषा सक्लेशकलुषाशया ।
गृहश्रीरिव सा साक्षाद् गृहिणी गृहमेधिनः ॥१६६॥ कुलकम् ।

नहीं करना चाहिए। क्योंकि वैसा करनेपर वह विरक्त हो जाती है ॥१५५॥

अब कुल-वधुओंका धर्म कहते हैं—जिस पुरुषके लिए माता, पिता अथवा भाईने कन्याको दिया है, अर्थात् विवाह किया है, उसे वह पुरुष देवताके समान पूजना चाहिए, भले ही वह पतिके योग्य सर्वगुणोंसे रहित ही हो ॥१५६॥ बाल्यकालमें स्त्रियोंकी रक्षा पिताओंको, यौवनकालमें भाइयोंको और वृद्धावस्थामें पुत्रोंको प्रयत्न-पूर्वक करनी चाहिए, अन्यथा कुल कलंकित हो जाता है ॥१५७॥ वह स्त्री साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान है जो चतुर हो, सन्तुष्ट रहती हो, प्रिय वचन बोलती हो, पतिके चित्तके अनुसार कार्य करती हो और योग्य समयका ध्यान रखकर धन-व्यय करती हो ॥१५८॥ जो पतिके सो जानेपर पीछे सोती है और पतिसे पहिले जाग जाती है तथा पतिने भोजनकर लिया है, यह ज्ञात होनेपर पीछे स्वयं भोजन करती है, वह स्त्री सर्व स्त्रियोंमें शिरोमणि है ॥१५९॥ जो स्त्री पतिसे घृणा नहीं करती है और श्वसुर आदि गृहके प्रमुखजनोंके साथ भी ग्लानि नहीं करती है, तथा अन्य पुरुषके द्वारा दिये गये ताम्बूलको भी ग्रहण नहीं करती है, वह उत्तम स्त्री कहलाती है ॥१६०॥ कुलवधूको अकेले किसी उत्सव, मेला आदिमें नहीं जाना चाहिए, चौराहोंपर भी नहीं जावे, देवयात्रा, कथा-स्थानक तथा रात्रिके रंगोत्सवके जागरणमें भी अकेले नहीं जाना चाहिए ॥१६१॥ जो पतिको आता हुआ देखकर हर्षसे उठ खड़ी होती है। उसके आनेपर उसके चरणोंपर अपनी दृष्टि रखती है, उसके मनकी वस्तु स्वयं देती है, पतिके द्वारा बोली जानेपर सलज्जित होकर तत्काल विनम्र हो जाती है और स्वयं ही विनय-पूर्वक उसकी यथोचित परिचर्या करती है, छल-कपटसे रहित हृदयसे पतिकी माता आदि वृद्धाजनोंकी व्यक्तरूपसे भक्ति करती है, मनुष्योंके आगे सदा विनम्र मुख रहती है, अपने कुटुम्बी बन्धुजनोंपर गाढ़ स्नेह रखती है, अपनी सौतोंपर भी उत्तम प्रीति रखती है परिचित जनोंपर अतिवात्सल्यभाव धारण करती है, पतिके मित्र-मण्डलपर लज्जाके साथ कोमल मधुर वार्तालाप करती है और जो पतिके द्वेषी जनोंपर क्लेश-युक्त कलुषित चित्त होकर

निषिद्धं हि कुलस्त्रीणां गृहाद् द्वार-निषेवणम् । वीक्षणं नाटकादीनां गवाक्षावस्थितिस्तथा ॥१६७
अङ्गप्रकटनं क्रीडा कौतुकं जल्पनं परैः । कर्मणा शीघ्रयातं च कुलस्त्रीणां न युज्यते ॥१६८
अङ्गप्रक्षालनाभ्यङ्गमर्दनोद्वर्तनादिकम् । कदाचित्पुरुषैर्नैव कारयेयुः कुलस्त्रियः ॥१६९

लिङ्गिन्या वेश्यया दास्या स्वैरिण्या कारकस्त्रिया ।
युज्यते नैव सम्पर्कः कदाचित् कुलयोषिताम् ॥१७०
मङ्गलाय क्रियांस्तन्व्याऽलङ्कारो धार्य एव हि ।
प्रवासे प्रेयसि स्थानं युक्तं श्वश्र्वादिसन्निधौ ॥१७१

कोपोऽन्यवेश्मसंस्थानं सम्पर्को लिङ्गिभिस्तथा । उद्यानगमनं पत्युः प्रवासे दूषणं स्त्रियः ॥१७२
अञ्जनं भूषणं गानं नृत्यदर्शनमार्जनम् । धर्मक्षेपं च शारादिक्रीडां चित्रादिदर्शनम् ॥१७३

अङ्गरागं च ताम्बूलं मधुरं-द्रव्य-भोजनम् ।
प्रोषिते प्रेयसि प्रीतिप्रदमन्यच्च सन्त्यजेत् ॥१७४॥ (युग्मम्)

सदैव वस्तुनः स्पर्शं रजन्यां तु विशेषतः । सन्ध्याटनमुडुप्रेक्षा धातुपात्रे च भोजनम् ॥१७५

माल्याञ्जने दिनस्वापं दन्तकाष्ठं विलेपनम् ।
स्नानं पुष्टाशनादर्शालोकं मुञ्चेद् रजस्वला ॥१७६॥ युग्मम् ।

द्वेषभाव रखती है, वह गृहिणी गृहस्थ पुरुषकी साक्षात् दूसरी गृह-लक्ष्मीके समान है ॥१६२-१६६॥

कुलीन स्त्रियोंका घरसे बाहिरके द्वारपर बैठना निषिद्ध है, नाटक आदिका देखना, तथा खिड़की आदिमें बैठकर बाहिरकी ओर झांकना, दूसरोंके सामने अपने अंगोंका प्रकट करना, क्रीड़ा करना, कौतुक-हास करना, दूसरोंके साथ बोलना और कार्यसे शीघ्र जाना भी कुलीन स्त्रियोंके योग्य नहीं है ॥१६७-१६८॥ कुलीन स्त्रियोंको पर-पुरुषोंके द्वारा अपने अंगका प्रक्षालन उबटन-तैल-मर्दन, मालिश आदि कदाचित् भी नहीं कराना चाहिए ॥१६९॥ वेष-धारिणी स्त्रीके साथ, वेश्या, दासी, व्यभिचारिणी और व्यभिचार करानेवाली स्त्रीके साथ कुलीन स्त्रियोंका सम्पर्क करना कभी भी योग्य नहीं है ॥१७०॥ विवाहिता कुलवधूको मंगलके लिए कितना ही अलंकार धारण ही करना चाहिए। तथा पतिके प्रवासमें जानेपर सासु आदिके समीप अवस्थान करना चाहिए ॥१७१॥

पतिके प्रवासकालमें कोप करना, अन्यके घरमें रहना, वेष-धारिणी स्त्रियोंके साथ सम्पर्क रखना और उद्यान आदिमें जाना ये सब स्त्रीके दूषण हैं ॥१७२॥ पतिके परदेशमें रहते समय आँखोंमें अंजन लगाना, आभूषण पहिरना, गान करना, नृत्य देखना, शरीरका रगड़-रगड़करके प्रमार्जन करना, धर्म-कार्यमें हस्तक्षेप करना, शतरंज-गोट आदि खेलना, चित्र आदिका देखना, शरीरका चन्दनादिसे विलेपन करना, पान खाना, मधुर मिष्ट भोज्य द्रव्योंका भोजन करना एवं इसी प्रकारके अन्य प्रीति-प्रदान करनेवाले कार्य कुलीन स्त्रीको सर्वथा छोड़ना चाहिए ॥१७३-१७४॥

दिनके समय सदा ही सभी वस्तुओंका स्पर्श करना, और रात्रिके समय तो विशेषरूपसे स्पर्श करना, सन्ध्याके समय इधर-उधर घूमना, नक्षत्रोंका देखना, धातुके पात्रमें भोजन करना, माला धारण करना, नेत्रोंमें अंजन लगाना, दिनमें सोना, लकड़ीकी दातुन करना, विलेपन करना, स्नान करना, पौष्टिक भोजन करना और दर्पणमें मुखको देखना, ये सर्व कार्य रजस्वला

मृत्तिकाकाष्ठपाषाणपात्रेऽश्नीयाद् रजस्वला। देवस्थाने सकृद्-गोष्ठरजःसु न रजः क्षिपेत् ॥१७७
स्नात्वैकान्ते चतुर्थेऽह्नि वर्जयेदन्यदर्शनम्। सुश्रृङ्गारा स्वभर्तारं सेवेत कृतमङ्गला ॥१७८

निशाः षोडश नारीणामृतुः स्यात्तासु चादिमाः।
तिस्रः सर्वैरपि त्याज्याः प्रोक्ता तुर्यापि केनचित् ॥१७९

उक्तं च—

चतुर्थ्यां जायते पुत्रः स्वल्पायुर्गुणवर्जितः। विद्याचारपरिभ्रष्टो दरिद्रः क्लेशभाजनः ॥१८०
समायां निशि पुत्रः स्याद् विषमायां तु पुत्रिका। स्त्रीणामृतुरते कार्यं न च दन्तनखक्षतम् ॥१८१
दिवा कार्यो न सम्भोगः सुधिया पुत्रमिच्छता। दिवासम्भोगतः पुत्रो जायते ह्यबलांशकः ॥१८२
पुत्रार्थमेव सम्भोगः शिष्टाचारवतां मतः। ऋतुस्नाता पवित्राङ्गी गम्या नारी नरोत्तमैः ॥१८३
अन्यो व्यसनिनां कामः स च धर्मार्थबाधकः। सद्भिः पुनः स्त्रियः सेव्याः परस्परमबाधया ॥१८४
ऋतावेव ध्रुवं सेव्या नारी स्यान्मैथुनोचिता। सेव्या पुत्रार्थमापञ्चपञ्चाशद्वत्सरं पुनः १८५
बलक्षयो भवेदूर्ध्वं वर्षेभ्यः पञ्चसप्ततेः। स्त्री-पुन्सयोर्न च युक्तं तन्मैथुनं तदनन्तरम् ॥१८६
स्त्रियां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिहायनः। बुद्धिमानुद्यमं कुर्याद् विशिष्टसुतकाम्यया ॥१८७

स्त्रीको छोड़ना चाहिए ॥१७५-१७६॥ रजस्वला स्त्रीको मिट्टी, काष्ठ या पाषाणके पात्रमें भोजन करना चाहिए, देवस्थानमें, मल-मूत्र विसर्जनके स्थानपर, गायोंके बैठनेके स्थानपर और धूलिपर अपना रज-रक्त नहीं फेंकना चाहिए। चौथे दिन एकान्तमें स्नान करके अन्य पुरुषका दर्शन न करे किन्तु उत्तम शृङ्गार करके मांगलिक कार्यकर अपने पतिका सेवन करे ॥१७५-१७८॥ स्त्रियोंके रजःस्रावसे लगाकर सोलह रात्रियाँ ऋतुकाल कहलाता है। उनमें आदिकी तीन रात्रियाँ तो सभी जनोंके त्याज्य हैं। कोई-कोई विद्वान्‌ने चौथी रात्रि भी त्यागनेके योग्य कही है ॥१७९॥

कहा भी है—ऋतुमती स्त्रीके साथ चौथी रात्रिमें समागम करनेसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र अत्यल्प आयुका धारक, गुणोंसे रहित, विद्या एवं आचारसे भ्रष्ट दरिद्र और दुखोंको भोगने वाला होता है ॥१८०॥

ऋतु धर्म होनेके पश्चात् चौथी, छठी आदि सम संख्यावाली रात्रिमें समागम करनेसे पुत्र उत्पन्न होता है और पाँचवीं, सातवीं आदि विषम सख्यावाली रात्रिमें समागम करनेसे पुत्री उत्पन्न होती है। स्त्रियोंके ऋतुकालमें दन्तक्षत और नखक्षत नहीं करना चाहिए ॥१८१॥ पुत्रके उत्पन्न करनेकी इच्छावाले बुद्धिमान् पुरुषको दिनमें स्त्री-संभोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि दिन में संभोग करनेसे निर्बल वीर्यका धारक पुत्र पैदा होता है ॥१८२॥ शिष्ट आचारवाले मनुष्योंका स्त्री-संभोग पुत्रके लिए ही माना गया है। उत्तम पुरुषोंको ऋतुकालमें स्नान की हुई पवित्र शरीरवाली नारी ही गमन करनेके योग्य होती है ॥१८३॥

व्यसनी पुरुषोंका अन्यकालमें काम-सेवन धर्म और अर्थका बाधक होता है। इसलिए सत्पुरुषोंको परस्परकी बाधा-रहित स्त्रियोंका सेवन करना चाहिए ॥१८४॥ मैथुन-सेवनके उचित नारी ऋतुकालमें ही निश्चयसे सेवन करनेके योग्य होती है। पचपन वर्ष तक की आयुवाली स्त्री पुत्रोत्पत्तिके लिए सेवन करनेके योग्य है ॥१८५॥ इससे आगे पचहत्तर वर्ष तक की आयु-वाली स्त्रीका सेवन करनेसे पुरुषके बलका क्षय होता है। इसलिए पचपन वर्षके अनन्तर स्त्री और पुरुषका मैथुन-सेवन करना युक्त नहीं है ॥१८६॥ सोलह वर्षकी स्त्रीमें पच्चीस वर्षका बुद्धि-

तथा हि प्राप्तवीर्यौ तौ सुतं जनयतः परम् । आयुर्बलसमायुक्तं सर्वेन्द्रियसमन्वितम् ॥१८८
न्यूनषोडशवर्षायां न्यूनाब्दपञ्चविंशतेः । पुमान् यं जनयेद् गर्भं स गर्भः स्वल्पजीवितः १८९
अल्पायुर्बलहीनो वा दरिद्रोऽपद्रुतोऽथवा । कुष्टादिरोगी यदि वा भवेद्वा विकलेन्द्रियः ॥१९०
प्रशस्तचित्त एकान्ते भजेन्नारीं नरो यदि । यादृग्मनः पिता धत्ते पुत्रस्तत्सहजो भवेत् ॥१९१
भजेन्नारीं शुचिः प्रीतः श्रीखण्डादिभिरुन्मदः । अश्राद्धभोजी तृष्णादिबाधया परिवर्जितः ॥१९२
सविभ्रमवचोभिश्च पूर्वमुल्लास्य वल्लभाम् । समकाले पतेन्मूलकमले क्रोडरेतसम् ॥१९३
पुत्रार्थं रमयेद् धीमान् वहेद्दक्षिणनासिकः । प्रवहद्वामनाडीस्तु कामयेतान्यदा पुनः ॥१९४॥ (युग्मम्)
गर्भाधाने मघा वर्ज्या रेवत्यपि यतोऽनयोः । पुत्रजन्मदिने मूलाश्लेषयुते च दुःखदः ॥१९५
रत्नानीव प्रसन्नेऽह्नि जाताः स्युः सूनवः शुभाः । अतो मूलमपि त्याज्यं गर्भाधाने शुभार्थिभिः ॥१९६
आधानाद्दशमे जन्म दशमे कर्म नामभाक् । कर्म भात्पञ्चमे मृत्युं कुर्यादिषु न किञ्चन ॥१९७
पापषट्त्र्यायगा सौम्यास्तनुत्रिकोणकेन्द्रगाः । स्त्रीसेवासमये सौम्ययुक्ता दुःपुत्रजन्मदाः ॥१९८

मान् पुरुष विशिष्ट गुणयुक्त पुत्र उत्पन्न करने की कामनासे उद्यम करे ॥१८७॥ इस प्रकारसे परिपक्व वीर्यको प्राप्त स्त्री और पुरुष आयुर्बलसे संयुक्त और सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे सम्पन्न उत्तम पुत्रको उत्पन्न करते हैं ॥१८८॥ सोलह वर्षसे कम आयुवाली स्त्रीमें पच्चीस-वर्षसे हीन आयुवाला पुरुष जिस गर्भको उत्पन्न करता है, वह गर्भ अल्प जीवनवाला होता है ॥१८९॥ अपरिपक्व रज-वीर्यवाले स्त्री पुरुष जिस पुत्रको उत्पन्न करते हैं, वह अल्पायु, बलहीन, दरिद्र, और रोगोंसे पीड़ित रहता है। अथवा कोढ़ आदि रोगवाला या विकल इन्द्रियोंका धारक होता है ॥१९०॥

प्रसन्न एवं उत्तम चित्तवाला पुरुष यदि एकान्तमें स्त्रीका सेवन करे तो पिता जैसा मन रखता है, वैसे ही मनवाला पुत्र सहज ही उत्पन्न होगा ॥१९१॥ पवित्र शरीर और प्रीतियुक्त पुरुष श्रीखण्ड आदिके सेवनसे मदमस्त होकर स्त्रीका सेवन करे। स्त्री-समागमके दिन उसे श्राद्ध भोजन नहीं करना चाहिए और तृष्णा आदिकी बाधासे परिवर्जित होना चाहिए ॥१९२॥ हास-विलासयुक्त वचनोंके द्वारा प्राण-वल्लभाको पहिले उल्लासयुक्त करके एक साथ समान कालमें स्त्रीके मूलकमलमें वीर्यपात करना चाहिए ॥१९३॥ नासिकाका दक्षिण स्वर चलते हुए बुद्धिमान् पुरुष पुत्रके लिए स्त्रीका रमण करे। अन्यथा अन्य समय वाम स्वरके चलते हुए स्त्रीका सेवन करे ॥१९४॥

गर्भाधानके समय मघा ओर रेवती नक्षत्रका वर्जन करे, क्योंकि इन दोनों नक्षत्रोंमें, तथा मूल और आश्लेषायुक्त दिनमें पुत्रका जन्म दुःखदायी होता है ॥१९५॥ प्रसन्न दिनमें अर्थात् नक्षत्रादि-दोषसे रहित दिनमें उत्पन्न हुए पुत्र रत्नोंके समान शुभ लक्षणवाले और कल्याणकारक होते हैं। इसलिए अपना शुभ चाहनेवाले पुरुषोंको गर्भाधानमें मूलनक्षत्र भी त्यागनेके योग्य है ॥१९६॥

गर्भाधानके दशवें मासमें सन्तानका जन्म होता है। तदनुसार दशवें दिन नाम-संस्कार करना चाहिए। जन्म दिनसे पाँच दिनके भीतर नाम-संस्कार करनेसे मृत्यु हो जाती है, इसलिए इन दिनोंमें संस्कारका कोई कार्य नहीं करना चाहिए ॥१९७॥ स्त्रीके गर्भाधानके समय लग्नसे तीसरे, छठे और ग्यारहवें स्थानमें पाप-ग्रह गये हों और लग्न त्रिकोण, पंचम, नवम केन्द्रगत (१, ४, ७, १०) स्थानोंमें शुभ ग्रह गये हों तो ऐसे समयमें गर्भाधानसे खोटे पुत्रोंका जन्म

पुराणे रजनीर्क्षाणि न वाक्-शुक्रसंक्षये । स्त्रीणां गर्भाशये जीवः स्वकर्मवशगो भवेत् ॥१९९
नारी रक्ताधिके शुक्रे नरः साम्यान्नपुंसकः । अतो वीर्याभिवृद्ध्यर्थं वृष्ययोगं पुमान् श्रयेत् ॥२००

वृष्यलक्षणमुक्तम्—
यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम् । हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥२०१
पितुः शुक्रं जनन्याश्च शोणितं कर्मयोगतः । आसाद्य कुरुते जीवः सद्यो वपुरुपक्रमम् ॥२०२
भवेदेतदहोरात्रैः सप्तभिः सप्तभिः क्रमात् । कललं चार्बुदश्चैव ततः पेशी ततो घनम् ॥२०३
प्रथमे मासि तत्तावत्कर्षान्न्यूनं तरलं भवेत् । द्वितीये त्वधिकं किञ्चित्पूर्वस्मादपि जायते ॥२०४
जनन्या कुरुते गर्भस्तृतीये मासि दोहदम् । गर्भानुभावतश्चैतदुत्पद्येत शुभाशुभम् ॥२०५

पुन्नाम्नि दोहदे जाते पुमान् स्त्रीसञ्ज्ञके पुनः ।
स्त्री क्लीबाह्वे पुनः क्लीबं स्वप्नेऽप्येवं विनिर्दिशेत् ॥२०६

अपूर्णदोहदाद्वायुःकुपितोऽन्तःकलेवरम् । सद्यो विनाशयेद् गर्भं विरूपं कुरुतेऽथवा ॥२०७
मातुरङ्गानि तुर्ये तु मासे मांसलयेत्फलम् । पाणिपादशिरोऽङ्कुरा जायन्ते पञ्च पञ्चमे ॥२०८

होता है ॥१९८॥ पुराण अर्थात् गर्भाधान-काल बीतने पर गर्भाधानके नक्षत्रादि गुरु-शुक्रास्त आदि-का दोष नहीं माना जाता है, क्योंकि स्त्रियोंके गर्भाशयमें जीव अपने कर्मके वशवर्ती होकर उत्पन्न होता है ॥१९९॥ स्त्रीका रज (रक्त) अधिक होनेपर पुत्री उत्पन्न होती है, पुरुषका वीर्य अधिक होनेपर पुत्र पैदा होता है और दोनोंके रज और वीर्यकी समानतासे सन्तान नपुंसक होती है, अतः अपने वीर्यकी अभिवृद्धिके लिए पुरुष वृष्य (पौष्टिक वीर्य-वर्धक) योगोंका आश्रय लेवे । अर्थात् बाजीकरण औषधियोंका सेवन करे ॥२००॥

वृष्य पदार्थोंका लक्षण इस प्रकारसे कहा गया है—जो कोई वस्तु मधुर, स्निग्ध वीर्य-वर्धक एवं बलको बढ़ानेवाली है और जिसके सेवनसे मनको हर्ष उत्पन्न हो, वह सर्व वस्तु-योग्य वृष्य कहा जाता है ॥२०१॥ कर्मयोगसे पिताके वीर्यको और माताके रक्तको प्राप्त कर गर्भस्थ जीव शीघ्र ही अपने शरीरका उपक्रम करता है ॥२०२॥ यहाँ शरीरका उपक्रम सात-सात अहो-रात्रियोंके द्वारा क्रमसे पहिले कललरूप, पुनः अर्बुदरूप, पुनः पेशीरूप और पुनः घनरूप होता है ॥२०३॥ प्रथम मासमें वह शरीर-उपक्रम एक कर्ष (माप विशेष) से कुछ कम और तरल रहता है । द्वितीय मासमें पूर्वसे कुछ अधिक परिमाणवाला होता है ॥२०४॥ तीसरे मासमें गर्भ माताके दोहला उत्पन्न करता है । गर्भके प्रभावके अनुसार यह दोहला शुभ और अशुभ दोनों प्रकारका उत्पन्न होता है ॥२०५॥ भावार्थ—यदि सन्तान उत्तम उत्पन्न होनेवाली हो तो शुभ दोहला उत्पन्न होता है और यदि वह खोटी उत्पन्न होनेवाली हो, तो अशुभ दोहला उत्पन्न होता है । पुरुष-नामवाला दोहला होने पर पुत्र होता है, स्त्री-संज्ञक दोहला होने पर पुत्री उत्पन्न होती है और नपुंसक जातीय दोहला होने पर सन्तान नपुंसक उत्पन्न होती है । यही नियम गर्भाधानके समय आने-वाले स्वप्नके विषयमें भी कहना चाहिए ॥२०६॥

यदि माताके उत्पन्न हुए दोहलेको पूरा न किया जावे तो कुपित हुई वायु गर्भस्थ कलेवर का शीघ्र विनाश कर देती है, अथवा गर्भको विकलरूप कर देता है ॥२०७॥ दोहलेके परिपूर्ण होने पर चौथे मासमें माताके अंग मांसलता (परिपुष्टता) रूप फलको प्राप्त होते हैं । पांचवें

षष्ठे रूपं चिनोत्युच्चैरात्मनः पित्तशोणिते । सप्तमे पूर्वमानात्तु पेशी पञ्चशती गुणाः ॥२०९
करोति नाडीप्रभवां नाडीसप्तशती तथा । नवसंख्यां पुनस्तत्र धमनी रचयत्यसौ ॥२१०
नाडी सप्तशतानि स्युर्विंशत्यूनानि योषिताम् । भवेयुः खण्डदेहे तु त्रिंशदूनानि तान्यपि ॥२११
नव स्रोतांसि पुंसां स्युरेकादश तु योषिताम् । दन्तस्थानानि कस्यापि द्वात्रिंशत्पुण्यशालिनः ॥२१२
सन्धीन् पृष्ठकरण्डस्य कुरुतेऽष्टादश स्फुटम् । प्रत्येकमन्त्रयुग्मं च व्यानपञ्चकमानकम् ॥२१३
करोति द्वादशाङ्के च पांशुलीनां करण्डकाः । तथा पांशुलिकाषट्कं मध्यस्थः सूत्रधारवत् ॥२१४
लक्षाणां रोमकूपानां कुरुते कोटिमत्र च । अर्धं तुर्या रोमकोटीतिस्रस्तु श्मश्रुमूर्धजा ॥२१५
अष्टमे मासि निष्पन्नः प्रायः स्यात्सकलोऽप्यसौ । तथौजो रूपमाहारं गृह्णात्येष विशेषतः ॥२१६
गर्भे जीवो वसत्येवं वासराणां शतद्वयम् । अधिकं सप्तसप्तत्याद्दिवसाद्यैर्न तु ध्रुवम् ॥२१७
गर्भे त्वधोमुखो दुःखी जननीपृष्ठसम्मुखम् । यद्वीजलिलंकाटे च पच्यते जठराग्निना ॥२१८

असौ जागर्ति जागर्त्यां स्वपित्यां स्वपिति स्फुटम् ।
सुखिन्यां सुखवान् दुःखी दुःखवत्यां च मातरि ॥२१९

पुरुषो दक्षिणे कुक्षौ वामे स्त्री यमले द्वयोः । ज्ञेयमुदरमध्यस्थं नपुंसकमसंशयम् ॥२२०

मासमें दोनों हाथ, दोनों पाद और शिरके ये पांच अंकुर प्रकट होते हैं ॥२०८॥ छठे मासमें गर्भस्थ जीव अपने पित्त और रक्तके अनुसार रूपका संचय करता है। सातवें मासमें प्रथम मासके पूर्व प्रमाण मांस-पेशी पांच सौ गुणी हो जाती हैं ॥२०९॥ तथा इसी मासमें पूर्व नाड़ीसे उत्पन्न हुई नाड़ियाँ सात सौ गुणीकर देता है। पुनः वह उन्हींमें नौ संख्यावाली धमनियोंको रचता है ॥२१०॥ स्त्रियोंकी नाड़िया बीस कम सात सौ अर्थात् छह सौ अस्सो होती है। किसी स्त्रीके खण्डदेहमें वे तीस कम सात सौ अर्थात् छह सौ सत्तर भी होती हैं ॥२११॥

पुरुषोंके शरीरमें मल-प्रवाहक नौ स्रोत (द्वार) होते हैं और स्त्रियोंके शरीरमें दो स्तन-स्रोतोंके योगसे ग्यारह स्रोत होते हैं। तथा किसी ही पुण्यशाली पुरुषके बत्तीस दन्तस्थान अर्थात् दाँत होते हैं ॥२१२॥ पृष्ठ-करण्डकी स्पष्ट अठारह अस्थि सन्धियोंको गर्भस्थ जीव कर्मयोगसे रचता है। प्रत्येक अस्थि-सन्धि और दो आँतोंको पांच व्यान (वायुविशेष) प्रमाण करता है ॥२१३॥ तथा शरीरमें बारह पांशुलियों (पशुलियों) के (करण्डक) करता है और मध्यमें स्थित छह पांशुलिकाओंको सूत्रधारके समान निर्माण करता है ॥२१४॥ निर्माण नामकर्म इस शरीरमें लाखों रोमकूपोंकी कोटिको रचता है। सर्व रोम साढ़े तीन कोटि होते हैं। दाढ़ी, मूँछ और शिर इन तीन स्थानों पर केश उत्पन्न होते हैं ॥२१५॥ आठवें मासमें यह शरीर प्रायः सम्पूर्ण सम्पन्न हो जाता है। इस मासमें यह जीव विशेष रूपसे ओज रूप आहारको ग्रहण करता है ॥२१६॥ इस प्रकार यह जीव गर्भसे सतहत्तर अधिक दोसौ दिन (२७७) निवास करता है। ध्रुव रूपसे यह नियम नहीं है, क्योंकि कोई-कोई जीव इससे कम दिन भी गर्भमें रहता है ॥२१७॥

गर्भमें यह जोव अधोमुख होकर माताकी पीठकी ओर मुख करके दुःखी रहता है। और ···· ··········ललाटमें जठराग्निसे पचता है ॥२१८॥ माताके जागने पर वह जागता है और माताके सोने पर वह भलीभाँतिसे सोता है। माताके सुखी रहने पर वह सुखी और दुःखी होने पर वह दुःखी होता है ॥२१९॥ स्त्रीको दक्षिण कुक्षिमें पुत्र, वाम कुक्षिमें पुत्री और दोनों कुक्षियों में गर्भके प्रतीत होने पर युगल सन्तान उत्पन्न होती है। यदि गर्भस्थ जीव उदरमें स्थित प्रतीत हो तो निःसन्देह नपुंसक जानना चाहिए ॥२२०॥

गण्डान्तमूलमाश्लेषा ऋक्षस्थानगता ग्रहाः । कुदिनं मातृदुःखं च न स्युर्भाग्यवतां जनौ ॥२२१
पितुर्मातुर्धनस्य स्यान्नाशो यां त्रितयं क्रमात् । शुभो मूलतुर्येऽङ्घ्रिरश्लेषाया व्यतिक्रमात् ॥२२२
आद्यः षष्ठस्त्रयोविंशो द्वितीयो नवमोऽष्टमः । अष्टाविंशस्य मूलस्य मुहूर्तो दुःखदो जनौ ॥२२३
भौमार्कशुक्रवाराश्चेदसम्पूर्णं च भं तथा । भद्रातिथेस्तु संयोगे परजातः पुमान् भवेत् ॥२२४
गुरुर्न प्रेक्षते लग्नं सोऽर्केन्दुं च तथा बुधः । सक्रूरेन्दुयुतोऽर्कश्चेच्चतुर्थे च परात्मजः ॥२२५
यदि दन्तैः समं जन्म यदि वा दशना शिशोः । स्युर्मध्ये सप्तमासानां कुलनाशस्तथा ध्रुवम् ॥२२६
शान्तिकं तत्र कर्तव्यं दुर्निमित्तविनाशनम् । जन्मप्रभृति नो दन्ताः पूर्णाः स्युर्वत्सरे द्वये ॥२२७
सप्तमाद्दशवर्षान्तं निपत्योद्यन्ति ते पुनः । राजा द्वात्रिंशता दन्तैर्भोगी स्यादेकहीनतः ॥२२८
त्रिंशता तनुपुष्टोऽष्टाविंशत्या सुखितः पुमान् । एकोनत्रिंशता निःस्वो हीनैर्दन्तैरतोऽधमाः ॥२२९
कुन्दपुष्पोपमाः सूक्ष्माः स्निग्धारुणपीठिकाः । तीक्ष्णदंष्ट्रा घना दन्ता धनभोगसुखप्रदाः ॥२३०

गण्डान्त मूल आश्लेषा तथा रेवती, आश्विनी, मघा इन नक्षत्रोंके स्थान-गत ग्रह एवं कुदिन अर्थात् भद्रा तिथि, वैधृति और व्यतिपात योग और गण्डान्त लग्न भाग्यवान्के जन्म-समय नहीं होते हैं और न उन्हें माताके वियोगका दुःख होता है। मूल-गत गण्डान्त भागके प्रथम चरण में बालकक जन्म होने पर पिताका नाश, द्वितीय चरणमें जन्म होने पर माताका नाश, और तृतीय चरणमें जन्म होने पर धनका नाश होता है। इसी प्रकार आश्लेषा नक्षत्रके गण्डान्तके चतुर्थ चरणमें जन्म होने पर पिताका, तृतीय चरणमें जन्म होने पर माताका और द्वितीय चरण में जन्म होने पर धनका नाश होता है। किन्तु मूल गण्डान्तके चतुर्थ चरणमें और आश्लेषा गण्डान्तके प्रथम चरणमें जन्म शुभकारक होता है ॥२२१-२२२॥

जन्म-कालमें दिनका प्रथम, द्वितीय, षष्ठ, अष्टम, नवम, तेवीसवां और अट्ठाईसवां मुहूर्त शूलके दुःखको देता है ॥२२३॥ मंगल, रवि, और शुक्रवार हो, तथा उस दिन नक्षत्र असम्पूर्ण हो और भद्रा तिथिका संयोग हो तो पुरुष पर-जात (जारज) होगा ॥२२४॥ यदि जन्म लग्नको सूर्य, चन्द्र, बुध और गुरु न देखते हों, तथा सूर्य और चन्द्र क्रूर ग्रहसे युक्त चतुर्थ स्थानमें हों तो जातक जारज होगा ॥२२५॥

यदि शिशुका जन्म सदन्त होता है तो सात मासके भीतर अपना अथवा कुलका निश्चयसे नाश करता है ॥२२६॥ दुर्निमित्तकी शान्तिके लिए शान्ति कराना आवश्यक है। क्योंकि जन्म कालसे उत्पन्न होनेवाले दांत अशुभ होते हैं और वे दांत दो वर्षमें पूर्ण होते हैं ॥२२७॥

यदि उपर्युक्त अशुभ योगोंमें जन्म हो तो उन दुर्निमित्तोंका विनाशक शान्तिकर्म करना चाहिए। उत्पन्न हुई सन्तानके जन्मकालसे लेकर दो वर्ष तक दांत पूरे प्रगट होते हैं ॥२२७॥ सात वर्षसे लेकर दशवर्षकी अवस्था तक जन्मजात दांत गिरकर पुनः उत्पन्न होते हैं। बत्तीस दांतवाला पुरुष राजा होता है। एककम अर्थात् इकतीस दांतवाला पुरुष भोगी होता है ॥२२८॥ तीस दांतवाला पुरुष शरीरसे पुष्ट होता है और अट्ठाईस दांतवाला पुरुष सुखी होता है। उनतीस दांतवाला मनुष्य निर्धन होता है। इससे कम दांतोंसे मनुष्य अधम होते हैं ॥२२९॥ कुन्द पुष्पके समान उज्ज्वलवर्णवाले, सूक्ष्म (छोटे) स्निग्ध और अरुण पीठिकावाले, सघन दांत और

खरद्विपरदा धन्याः पापास्त्वाखुरदास्तथा । द्विपङ्क्तिलक्षिता श्यामा करालसमदन्तकाः ॥२३१

अथ निद्रा—

निरोधनं समाधाय परिज्ञाय तदास्पदम् । विमृश्य जलमासन्नं कृत्वा द्वारनियन्त्रणम् ॥२३२
इष्टदेवनमस्कारं कृत्वापमृतिभिः शुचिः । रक्षणीयपवित्रायां शय्यायां पृथुतायुषि ॥२३३
सुसंवृतपराधानसर्वाहारविवर्जितः । वामपार्श्वेन कुर्वीत निद्रां सौख्याभिलाषुकः ॥२३४

(त्रिभिर्विशेषकम्)

अनादिप्रभवा जीवा तमोहेतुस्तमोमयी । प्राचुर्यात्तमसः प्रायो निद्रा प्रादुर्भवेन्निशि ॥२३५
श्लेष्मावृतानि स्रोतांसि श्रमादुपरतानि च । यदाक्षाणि स्वकर्मभ्यस्तदा निद्रा शरीरिणाम् ॥२३६
निवृत्तानि यदाक्षाणि विषयेभ्यो मनः पुनः । विनिवर्तेत पश्यन्ति तदा स्वप्नान् शरीरिणः ॥२३७
अत्यासक्त्याऽनवसरे निद्रा नैव प्रशस्यते । एषा सौख्यायुषी कालरात्रिवत्प्रणिहन्ति यत् ॥२३८
संवर्धयति सैवेह युक्ता निद्रा सुखायुषी । अनवच्छिन्नसन्ताना सूक्ष्मा कुल्येव वीरुधः ॥२३९
रजन्यां जागरो रूक्षः स्निग्धस्वापश्च वासरे । रूक्षस्निग्धमहोरात्रमासीनप्रचलायितम् ॥२४०

तीक्ष्ण दाढ़ें, धन, भोग और सुखको देते हैं ॥२३०॥ खर (गर्दभ) और द्विप (गज) जैसे दाँतवाले धन्य पुरुष होते हैं, तथा आखु (मूषक) जैसे दाँतवाले पुरुष पापी होते हैं। दो पंक्तियोंमें दिखने-वाले, श्यामवर्ण और कराल (वक्र) दांतवाले पुरुष भी पापी होते हैं ॥२३१॥

अब निद्राका वर्णन किया जाता है—दैनिक कार्योंका निरोध करके, निद्रा-योग्य स्थानको जानकर, विचार-पूर्वक जलको समीप रखकर, शयनागारके द्वारको बन्दकर, इष्टदेवको नमस्कार कर, अपमृत्यु-सूचक निमित्तोंसे पवित्र और सावधान होकर अपनी दीर्घ आयुकी कामना करते हुए सुरक्षित पवित्र शय्यापर, अपने अंगोंको भलीभाँति संवृत (ढंक) कर, पराधीनता और सर्व प्रकारके आहार-पानसे रहित होकर सुखका अभिलाषी मनुष्य वाम पार्श्वसे निद्राको लेवे ॥२३२-२३४॥

जीव अनादि-कालिक हैं और उनके निद्रा भी अनादिकालसे उत्पन्न हुई चली आ रही है, यह निद्रा तमोहेतुक है और तमोमयी है अर्थात् तामसभाव और अन्धकारका कारण है और स्वयं तामसभावरूप और अन्धकाररूप है। तामस भावकी प्रचुरतासे प्रायः निद्रा रात्रिमें प्रकट होती है ॥२३५॥ जब शरीरके स्रोत (द्वार) कफसे आवृत हो जाते हैं, अंग परिश्रम करनेसे थक जाते हैं और इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्योंसे निवृत्त हो जाती हैं, तब प्राणियोंको निद्रा आती है ॥२३६॥ इसी प्रकार जब इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं और मन भी विषयोंसे निवृत्त होता है, तब जीव स्वप्नोंको देखते हैं ॥२३७॥ अतिआसक्तिसे अनवसरमें नींद लेना प्रशंसनीय नहीं है। यह निद्रा अवसरपर ली जाय तो सुख और आयु-वर्धक है। किन्तु यदि वही अनवसरमें ली जाय तो कालरात्रिके समान प्राणोंका विनाश करती है ॥२३८॥ यह निद्रा यदि थकान होनेपर योग्य समयपर ली जाती है तो सुख और आयुको बढ़ाती है, जैसे कि अनवच्छिन्न (लगातार) प्रवाहवाली कुल्या (पानीकी नहर) छोटी-छोटी लताओंको बढ़ाती है ॥२३९॥

रात्रिमें जागरण करना शरीरमें रूक्षता उत्पन्न करता है, दिनमें स्निग्ध स्वाप अर्थात् गहरी नींद लेना भी रूक्षता उत्पन्न करता है। तथा दिन और रात बैठे-बैठे प्रचला निद्रा लेना

क्रोधभीशोकमद्यस्त्रीभारयानाध्वकर्मभिः । परिक्लान्तैरतीसारश्वासहिक्काविकारिभिः ॥२४१
वृद्धबालबलक्षीणैस्तृट्शूलक्षयविह्वलैः । अजीर्णप्रमुखैः कार्यो-दिवास्वापोऽपि कर्हिचित् ॥२४२

उक्तं च—

धातुसाम्यं वपुःपुष्टिस्तेषां निद्रागमो भवेत् । रसस्निग्धो घनश्लेष्ममेदास्त्वह्निशयी ननु ॥२४३
वातोपचयरूक्षाभ्यां रजन्याश्चाल्पभावतः । दिवास्वापः सुखी ग्रीष्मे सोऽन्यदा श्लेष्मपित्तकृत् ॥२४४

उक्तं च—

दिवास्वापो निरन्नानामपि पाषाणपाचकः । रात्रिजागरकालार्धं भुक्तानामप्यसौ हितः ॥२४५

यातेऽस्ताचलचूलिकान्तरभुवं देवे रवौ यामिनी-
यामार्धेषु विधेयमित्यभिदधे सम्यङ्मया सप्तसु ।
यस्मिन्नाचरिते चिराय दधते मैत्रीमिवाकृत्रिमां
आयन्तेऽत्र सुसंवदाः सुविधिना धर्मार्थकामाः स्फुटम् ॥२४६

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे दिनचर्यायां पञ्चमोल्लासः ।

●

रूक्ष-स्निग्धताका कारण है ॥२४०॥ क्रोध, भय, शोक, अग्निमन्दता, मादकता, स्त्री-सेवन, भार-वहन, मार्ग-गमन तथा थकान, अतीसार (पेचिस) श्वास, हिचकी आदि कारणोंसे वृद्धजनों, बालकों, क्षीणबली पुरुषोंको एवं प्यास, शूल, क्षय रोगी, विह्वल तथा पुरुषोंको अजीर्ण आदि रोगोंसे ग्रस्त व्यक्तियोंको कभी कदाचित् दिनमें शयन भी करना चाहिए ॥२४१-२४२॥

कहा भी है—जिनके शरीरमें धातुओंकी समानता होती है और शारीरिक पुष्टता रहती है, उनके निद्राका आगमन होता है। किन्तु दिनमें सोनेवाला पुरुष तो स्निग्ध रस, सघन कफ और मेदावाला होता है ॥२४३॥

वायुके संचयसे. शारीरिक रूक्षतासे और रात्रिके छोटी होनेसे ग्रीष्म ऋतुमें दिनको सोना सुख-कारक है। इसके सिवाय अन्य ऋतुमें दिनका सोना कफ और पित्तको करता है ॥२४४॥

कहा भी है—दिनका सोना अन्न नहीं खानेवाले अर्थात् भूखे पुरुषोंको भी पाषाण-पाचक है। तथा रात्रि-जागरणके आधे काल दिनमें सोना भोजन करनेवाले पुरुषोंको भी हित-कारक है ॥२४५॥

सूर्य देवके अस्ताचलकी चूलिकाके मध्यवर्ती भूमिको प्राप्त होने पर, और रात्रिके आधे पहरोंके बीतने पर निद्रा लेना चाहिए, यह बात मैंने सम्यक् प्रकारसे सात स्थानों पर कही है। जिसके आचरण करने पर मनुष्य अकृत्रिम (स्वाभाविक) मैत्रीके समान चिरकालके लिए निद्राको धारण करता है, अर्थात् रात्रिभर गहरी सुखकी नींद सोता है। इस प्रकारसे इस उल्लासमें वर्णित कार्योंके करनेमें जो सुधी पुरुष विधिपूर्वक समुद्यत रहते हैं, उनके धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ भलीभाँतिसे सिद्ध होते हैं ॥२४६॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारके अन्तर्गत
दिनचर्याके वर्णनमें पंचम उल्लास समाप्त हुआ।

●

अथ षष्ठोल्लासः

कालमाहात्म्यमस्त्येव सर्वत्र बलवत्तराम् । ऋत्वौचित्यमाहार-विहारादि-समाचरेत् ॥१
वसन्तेऽभ्यधिकं क्रुद्धं श्लेष्माग्नि हन्ति जाठरम् । तस्मादत्र दिवास्वापः कफकृद्वस्तुवत्त्यजेत् ॥२
व्यायामधूम्रकवलग्रहणोद्वर्तनाञ्जनम् । वमनं चात्र कर्तव्यं कफोद्रेकनिवृत्तये ॥३
भोज्यं शाल्यादि च स्निग्धं तिक्तोष्णकटुकादिकम् । अतिस्निग्धं गुरु शीतं पिच्छलामद्रवं न तु ॥४
श्लेष्मघ्नान्युपभुञ्जीत मात्रया पानकानि च । स्वं कृष्णागुरुकाश्मीरचन्दनैश्च विलेपयेत् ॥५

पवनो दक्षिणश्चूतमञ्जरीमल्लिकास्रजः ।
ध्वनिर्भृङ्गपिकानां च मधुः कस्योत्सवाय न ॥६॥ (वसन्तः)

ग्रीष्मे भुञ्जीत सुस्वादु शीतं स्निग्धं द्रवं लघु । यदत्र रसमुष्णांशुः कर्षयत्पवनैरपि ॥७
पयःशाल्यादिकं सर्पिरथमस्तु सशर्करम् । यत्राश्नीयाद् रसालां च पानकानि हिमानि च ॥८
पिबेज्ज्योत्स्नाहतं तोयं पाटलागन्धबन्धुरम् । मध्याह्नं कायमाने वा नयेद् धारागृहेऽपि वा ॥९
वल्लभा मालतीस्पर्शा तापञ्चात्र प्रशामयेत् । व्यजनं सलिलार्द्रं च हर्षोत्कर्षाय जायते ॥१०॥
सौधोत्सङ्गे स्फुरद्वायौ मृगाङ्कद्युतिमण्डिते । चन्दनद्रवलिप्ताङ्गो गमयेत् यामिनीं पुनः ॥११

कालका माहात्म्य सर्वत्र अत्यन्त बलवान् है, इसलिए विज्ञ पुरुषोंको ऋतुके योग्य आहार-विहार आदिका आचरण करना चाहिए ॥१॥ वसन्त ऋतुमें अधिक कुपित हुआ कफ उदरको श्लेष्माग्निको नष्टकर देता है। इसलिए इस ऋतुमें दिनको सोना कफ-कारक वस्तुओंके समान छोड़ना चाहिए ॥२॥ इस वसन्त ऋतुमें कफकी अधिकता दूर करनेके लिए व्यायाम, अजवाइन आदिका धूम्र-पान सेवन, उद्वर्तन अंजन और वमन करना चाहिए ॥३॥ इस ऋतुमें उत्तम शालि-धान्यवाले चावल आदि अन्न, स्निग्ध भोज्य पदार्थ, तिक्त, उष्ण और कटुक द्रव्य खाना चाहिए। किन्तु अधिक स्निग्ध पदार्थ, पचनेमें भारी पक्वान्न, ठण्डे पदार्थ, घी, दूध आदिसे व्याप्त पदार्थ, खट्टे और तरल पदार्थ नहीं खाना चाहिए ॥४॥ जो पदार्थ कफके विनाशक हैं, उन्हें खाना चाहिए और उचित मात्रासे पीने योग्य पानकोंको पीना चाहिए। तथा अपने शरीरको कृष्ण अगुरु एवं केशर-चन्दनसे विलेपन करना चाहिए ॥५॥ इस ऋतुमें दक्षिण दिशाका पवन, आम्र-मंजरी, मल्लिका पुष्पोंकी मालाएँ और भौंरो तथा कोयलोंकी ध्वनि किसके उत्सवके लिए नहीं होती है। अर्थात् सभी जीवोंके लिए आनन्द देनेवाली होती हैं ॥६॥

ग्रीष्म ऋतुमें सुस्वादु, शीतल, स्निग्ध, तरल और हलका भोजन करना चाहिए। क्योंकि इस ऋतुमें सूर्य तीक्ष्ण किरणोंसे और पवनके द्वारा शरीरके रसको खींचता है ॥७॥ इस ऋतुमें दूध, शालि चावल आदि अन्न, घी और शक्कर-युक्त रसवाली वस्तुएँ खानी चाहिए, तथा शीतल पेय पदार्थ पीना चाहिए ॥८॥ चन्द्रिकासे शीतल हुआ, तथा गुलाब-केवड़ाकी सुगन्धसे सुवासित जल पीवे। ग्रीष्म ऋतुमें मध्याह्नकालमें, अथवा जब गर्मी प्रतीत हो, तब जलधारा-गृहमें अर्थात् फुव्वारावाले घरमें समय बितावे ॥९॥ मालती-पुष्पके समान शीतल स्पर्शवाली प्राण-वल्लभाके साथ इस ऋतुका सूर्य-ताप शान्त करना चाहिए। जलसे गीला बीजना (पंखा) इस ऋतुमें हर्षकी वृद्धिके लिए होता है ॥१०॥ वायुके चलनेपर चन्द्रकी चन्द्रिकासे मण्डित चूनेसे

दुर्बलाङ्गस्तथा चाम्लकटूष्णलवणान् रसान् । नाद्याद् व्यायाममुद्दामव्यवायं च सुधीस्त्यजेत् ॥१२

मृद्वीका-हृद्यपानानि सितांशुकविलेपनैः ।
धारागृहाणि च ग्रीष्मे मदयन्ति मुनीनपि ॥१३॥ (ग्रीष्मः)

प्रावृषि प्राणिनो दोषाः क्षुभ्यन्ति पवनाग्नयः । मेघपातधराबाष्पजलसङ्करयोगतः ॥१४
एते ग्रीष्मेऽतिपानाद्धि क्षीणाङ्गानां भवन्त्यलम् । धातुसाम्यप्रदस्तस्माद्विधिः प्रावृषि युज्यते ॥१५
कूपवाप्योः पयः पेयं न सरः-सरितां पुनः । नावश्यायातपः ग्रामयानाम्भःक्रीडनं पुनः ॥१६
वसेद् वेश्मनि निर्वाते जलोपद्रववर्जिते । स्फुरच्छकटिकाङ्गारे कुङ्कुमोद्वर्तनान्वितः ॥१७
केशप्रसाधनाशक्तो रक्तधूपितवस्त्रभृत् । सुस्मिताननो यस्मै स्पृहयन्ति स्वयं स्त्रियः ॥१८ (वर्षा ऋतुः)
प्रावृट्-काले स्फुरत्तेजः पुञ्जस्यार्कस्य रश्मिभिः । तप्तानां कुप्यति प्रायः प्राणिनां पित्तमुल्बणम् ॥१९
पानमन्नं च तत्तस्मिन् मधुरं लघु शीतलम् । सतिक्तकं च संसेव्यं क्षुधितेनाशु मात्रया ॥२०
रक्तमोक्षविरेकौ च श्वेतमाल्य-विलेपने । सरोवारि च रात्रौ च ज्योत्स्नामत्र समाश्रयेत् ॥२१
पूर्वानिलमवश्यायं दधि व्यायाममातपम् । क्षारं तैलं च यत्नेन त्यजेदत्र जितेन्द्रियः ॥२२

निर्मित भवनकी ऊपरी छतपर चन्दनके रससे लिप्त अंगवाला भाग्यशाली पुरुष रात्रिको बितावे ॥११॥ तथा इस ऋतुमें दुर्बल शरीरवाला मनुष्य खट्टे, कुछ गर्म और लवण रसोंको नहीं खावे। बुद्धिमान् पुरुषको व्यायाम और अधिक काम-सेवनका भी परित्याग करना चाहिए ॥१२॥ द्राक्षा-रससे मनोहर पेय पदार्थ, श्वेत वस्त्र, चन्दन आदिका विलेपन और जलधारावाले गृह ये सब पदार्थ मुनिजनोंको भी मदयुक्त कर देते हैं ॥१३॥

वर्षा ऋतुमें (श्रावण-भाद्रपद मासमें) मेघोंके जल बरसनेसे, उठी हुई भूमिकी भापसे, तथा पुराने जलमें नवीन जलके मिलनेके योगसे प्राणियोंके वात आदि दोष क्षुब्ध हो जाते हैं ॥१४॥ क्षीण अंगवाले पुरुषोंको ग्रीष्म ऋतुमें अधिक शीतल जलादिके पीनेसे ये वात-प्रकोप आदिके दोष वर्षा ऋतुमें प्रचुरतासे हो जाते हैं, इसलिए धातुओंको समता प्रदान करनेवाली विधि वर्षा कालमें करना योग्य है ॥१५॥ इस ऋतुमें कुआं और बावड़ीका जल ही पीना चाहिए, किन्तु सरोवर और नदियोंका पानी नहीं पीना चाहिए। सर्दी-जुकामसे बचनेके लिए सूर्य-ताप, ग्रामोंका गमन और जल-क्रीड़ा करना भी उचित नहीं है ॥१६॥ इस ऋतुमें निर्वात और जलके उपद्रवसे रहित, तथा प्रज्वलित सिगड़ीके अंगार-युक्त भवनमें कुंकुमके उबटनसे संयुक्त पुरुषको निवास करना चाहिए ॥१७॥ वर्षा ऋतुमें जो मनुष्य शिरके केशोंके प्रसाधनमें आसक्त रहता है, धूप-सुवासित लाल वर्णके वस्त्रोंको धारण करता है और मुस्कराते हुए मुख रहता है, उसके लिए स्त्रियाँ स्वयं इच्छा करती हैं ॥१८॥

प्रावृट्-कालमें (आश्विन-कार्तिक मासमें) स्फुरायमान तेज-पुंजवाले सूर्यकी प्रखर किरणों से सन्तप्त प्राणियोंका उग्र पित्त प्रायः कुपित हो जाता है, इसलिए इस ऋतुमें मधुर, लघु, शीतल, और तिक्त रससे युक्त अन्न-पान भूखके अनुसार यथोचित मात्रासे सेवन करना चाहिए ॥१९-२०॥ इस समय रक्त-विमोचन और मल-विरेचन करे, तथा श्वेत पुष्पोंकी मालाका धारण और चन्द-नादिका विलेपन करे, सरोवरका निर्मल जल पीवे और (रात्रिमें चन्द्रकी) चाँदनीका आश्रय लेवे ॥२१॥ इस ऋतुमें पूर्वी पवन और ओसका सेवन, दहीका भक्षण, व्यायाम, सूर्यकी धूप, क्षार

सौरभ्योद्गारसाराणि पुष्पाण्यामलकानि च ।
क्षीरमिक्षुविकारांश्च शरदङ्गस्य पुष्टये ॥२३ (शरदः)

हेमन्ते शीतबाहुल्याद् रजनीदीर्घतस्तथा । वह्निः स्यादधिकस्तस्माद् युक्तं पूर्वाह्णभोजनम् ॥२४
अम्लस्वादूष्णसुस्निग्धमन्नं क्षीरं च युज्यते । नैवोचितं पुनः किञ्चिद् वस्तु जाड्यविधायकम् ॥२५
कुर्यादभ्यङ्गमङ्गस्य तैलेनातिसुगन्धिना । कुङ्कुमोद्वर्तनं चात्र व्यायामो वसीति (?)च ॥२६
सेवनीयं च निर्वातं कर्पूरागुरुधूपितम् । मन्दिरं भासुराङ्गारशकटीसुन्दरं नरैः ॥२७
युवती साङ्गरागात्र पीनोन्नतपयोधरा । शीतं हरति शय्या च मृदूष्णस्पर्शशालिनी ॥२८

उत्तराशानिलाद् रूक्षं शीतमत्र प्रवर्तते ।
शिशिरेऽप्यखिलं ज्ञेयं कृत्यं हेमन्तवद्बुधैः ॥२९ ॥ (हेमन्त-शिशिरौ)

ऋतुगतमिति सर्वं कृत्यमेतन्मयोक्तं निखिलजनशरीरक्षेमसिद्धयर्थमुच्चैः ।
निपुणमतिरिदं यः सेवते तस्य न स्याद् वपुषि गदसमूहः सर्वदा वर्ण्यवर्ती ॥३०

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे ऋतुचर्यावर्णनो नाम षष्ठोल्लासः ।

■

रस और तेलका जितेन्द्रिय पुरुष यत्नसे परित्याग करे ॥२२॥ सुगन्धके उद्गार सारवाले पुष्प, आँवला, दूध, और इक्षुका रस आदि शरद् ऋतुमें शरीरकी पुष्टिके लिए होते है ।

हेमन्त ऋतुमें (मार्गशीर्ष-पौषमें) शीतकी अधिकतासे, तथा रात्रियोंकी दीर्घतासे उदरकी अग्नि अधिक प्रज्वलित हो जाती है, इसलिए इस ऋतुमें पूर्वाह्ण भोजन करना योग्य है ॥२४॥ तथा आम्ल रसवाले, स्वादिष्ट, उत्तम स्निग्धरस-युक्त अन्नका भोजन और दुग्धपान करना योग्य है । किन्तु शरीरमें जड़ता उत्पन्न करनेवाली किसी भी वस्तुका सेवन उचित नहीं है ॥२५॥ इस ऋतुमें अति सुगन्धित तेलसे शरीरका मर्दन करना चाहिए । कुंकुमका उबटन और व्यायामका करना भी हितकारक है ॥२६॥ रात्रिके समय निर्वात, कपूर अगुरुसे धूपित और धधकते हुए अंगारोंवाली सिगड़ीसे सुन्दर मन्दिरका भाग्यशाली पुरुषोंको सेवन करना चाहिए ॥२७॥

इस ऋतुमें अंगरागसे युक्त, पुष्ट और उन्नत स्तनोंको धारण करनेवाली युवती तथा कोमल, उष्ण स्पर्शशालिनी शय्या मनुष्योंके शीतको दूर करती है ॥२८॥ इस समय उत्तर दिशाके पवनसे रूक्ष शीत प्रवर्तता है, इसलिए उससे अपनी रक्षा करनी चाहिए। शिशिर ऋतुमें (माघ-फाल्गुन मासमें) भी सभी करनेके योग्य कार्य बुद्धिमानोंको हेमन्त ऋतुके समान जानना चाहिए ॥२९॥

इस प्रकार मैंने सर्वजनोंके शारीरिक कल्याणकी सिद्धिके लिए विस्तारके साथ छहों ऋतु-सम्बन्धी सर्व करने योग्य कार्योंको कहा । जो निपुण बुद्धिवाला पुरुष इन कर्तव्योंका सर्वदा पालन करता है उसके शरीरमें कभी भी शारीरिक रोगोंका समूह नहीं होता है ॥३०॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें ऋतुचर्याका
वर्णन करनेवाला छठा उल्लास समाप्त हुआ ।

■

अथ सप्तमोल्लासः

दुष्प्राप्यं प्राप्य मानुष्यं कार्यं तत्किञ्चिदुत्तमैः । मुहूर्तमेकमेकस्य नैव याति वृथा तथा ॥१
दिवा यामचतुष्केण कार्यं किमपि तन्नरैः । निश्चिन्तहृदयैर्येन यामिन्यां सुप्यते सुखम् ॥२
तत्किञ्चिदष्टभिर्मासैः कार्यं कर्म विवेकिना । एकत्र स्थीयते येन वर्षाकाले यथा सुखम् ॥३
यौवनं प्राप्य सर्वार्थसारसिद्धिनिबन्धनम् । तत्कुर्यान्मतिमान् येन वार्धिको सुखमश्नुते ॥४
अर्जनीयं कलावद्भिस्तत्किञ्चिज्जन्मनामुना । ध्रुवमासाद्यते येन शुद्धं जन्मान्तरं पुनः ॥५
प्रतिवर्षं सहस्रेण निजवित्तानुमानतः । पूजनीया सधर्माणो धर्माचार्यश्च धीमता ॥६
गोत्रवृद्धास्तथा शक्त्या सन्मान्या बहुमानतः । विधेया तीर्थयात्रा च प्रतिवर्षं विवेकिभिः ॥७
प्रतिसंवत्सरं ग्राह्यं प्रायश्चित्तं गुरोः पुरः । शोध्यमानोऽभवेदात्मा येनादर्श इवोज्ज्वल : ॥८
जातस्य नियतं मृत्युरिति ज्ञापयितुं जनौ । पित्रादिदिवसः कार्यः प्रतिवर्षं महात्मभिः ॥९

इति स्फुटं वर्षविधेयमेतल्लोकोपकाराय मयाऽभ्यधायि ।
जायेत लोकद्वितयेऽप्यवश्यं यत्कुर्वतां निर्मलता जनानाम् ॥१०

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे वर्षाचार्यो नाम सप्तमोल्लासः ।

■

यह अतिदुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकरके उत्तम जनोंको एक दिनमें एक मुहूर्त्त भी कुछ वह श्रेष्ठ कार्य करना चाहिए, जिससे कि मनुष्यभवका पाना वृथा नहीं जावे है ॥१॥ दिनके चार पहरों द्वारा पुरुषोंको कोई भी कार्य करना चाहिए, जिससे कि वे रात्रिमें निश्चिन्त हृदय होकर सुख-पूर्वक सो सकें ॥२॥ आठ मासोंके द्वारा विवेकी पुरुषको वह व्यापार-सम्बन्धी कार्य करना चाहिए, जिससे कि वर्षाकालमें वह एक स्थानपर सुखपूर्वक निवासकर सके ॥३॥ सर्व पुरुषार्थोंका सारभूत और आत्म-सिद्धिका कारण-स्वरूप यौवन पाकरके बुद्धिमान् मनुष्यको वह कार्य करना चाहिए, जिससे कि वृद्धावस्थामें वह सुख प्राप्त कर सके ॥४॥ कलावान् पुरुषोंको इस जन्म-द्वारा कुछ ऐसा धर्म-पुण्य उपार्जन करना चाहिए जिससे कि पुनः दूसरा जन्म निश्चित रूपसे शुद्ध उत्तम प्राप्त हो सके ॥५॥

बुद्धिमान् गृहस्थ पुरुषको प्रतिवर्ष अपने वित्तके अनुमानसे सहस्रोंकी संख्यामें साधर्मी बन्धुजनोंको और धर्माचार्यको पूजना चाहिए ॥६॥ अपने कुल और गोत्रमें जो वृद्धजन हों, उनका अपनी शक्तिके अनुसार बहुत आदरके साथ सन्मान करना चाहिए। इसी प्रकार विवेकी जनोंको प्रतिवर्ष तीर्थयात्रा भी करना चाहिए ॥७॥ गृहस्थको प्रतिवर्ष गुरुके आगे किये गये पापोंका प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना चाहिए, जिससे कि विशुद्ध किया गया आत्मा दर्पणके समान उज्ज्वल होवे ॥८॥ संसारमें जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है, यह बात संसारमें बतलानेके लिए महापुरुषोंको प्रतिवर्ष पिता आदिका श्राद्ध दिवस भी करना चाहिए ॥९॥

इस प्रकार लोकोपकारके लिए मेरे द्वारा कहे गये वर्षके भीतर करनेयोग्य कार्य भले प्रकारसे श्रावकको करना चाहिए, जिनके करनेवाले मनुष्योंकी दोनों लोकोंमें अवश्य ही निर्मलता होवे, अर्थात् दोनों भव सफल होवें ॥१०॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें वर्षके भीतर आचरण करने योग्य कार्योंका वर्णन करनेवाला सप्तम उल्लास समाप्त हुआ ॥७॥

●

अथाष्टमोल्लासः

सद्धर्म-दुर्ग-सुस्वामि-व्यवसाय-जलेन्धने । स्वजातिलोकरम्ये च देशे प्रायः सदा वसेत् ॥१
गुणिनः सूनृतं शौचं प्रतिष्ठा गुणगौरवम् । अपूर्वज्ञानलाभश्च यत्र तत्र वसेत्सुधीः ॥२
सम्यग्देशस्य सीमादिस्वरूपस्वामिनस्तथा । जातिमित्रविपक्षाद्यमवबुध्य वसेन्नरः ॥३
बालराज्यं भवेद्यत्र द्विराज्यं यत्र वा भवेत् । स्त्रीराज्यं मूर्खराज्यं वा यत्र स्यात्तत्र नो वसेत् ॥४
स्ववासदेशक्षेमाय निमित्तान्यवलोकयेत् । तस्योत्पातादिकं वीक्ष्य त्यजति पुनरुद्यमान् ॥५
[1]प्रकृतस्यान्यथाभाव उत्पातः स त्वनेकधा । स यत्र तत्र दुर्भिक्षं देश-राष्ट्र-प्रजाक्षयः ॥६
[2]देवानां वैकृतं भङ्गश्चित्रेष्वायतनेषु च । ध्वजश्चोर्ध्वमुखो यत्र तत्र राष्ट्राद्युपप्लवः ॥७
[3]जलस्थलपुरारण्ये जीवान्यस्थानदर्शनम् । शिवा-काकादिकाक्रन्दः पुरमध्ये पुरच्छिदे ॥८
[4]छत्रप्राकारसेनादिदाहाद्यैर्नृपतीन् पुनः । शस्त्राणां च ज्वलनं कोशान्निर्गमः पराजये ॥९

गृहस्थ पुरुषको उस देशमें बसना चाहिए, जहां पर सद्धर्मका प्रचार हो, उत्तम दुर्ग (गढ़-किला) हो, न्यायवान स्वामी हो, अच्छा व्यापार हो, जल और इन्धन सुलभ हो, तथा जो अपनी जातिके लोगोंसे रमणीय हो ॥१॥ जिस देशमें गुणीजन रहते हों, सत्य, शौच, प्रतिष्ठा, गुण-गौरव और अपूर्व ज्ञानका लाभ हो, उस देशमें निवास करना चाहिए ॥२॥ उस देशकी सीमा आदिका स्वरूप, स्वामीका परिचय तथा जाति, मित्र और शत्रु आदिको सम्यक् प्रकारसे जानकर मनुष्यको बसना चाहिए ॥३॥ जिस देशमें बालक राजाका राज्य हो, अथवा जहां पर दो-तीन राजाओंका राज्य हो, या स्त्रीका राज्य हो, अथवा मूर्ख पुरुषका राज्य हो, उस देशमें नहीं बसना चाहिए ॥४॥ अपने निवासयोग्य देशके क्षेम-कल्याणके लिए शास्त्रोक्त निमित्तोंका अवलोकन करना चाहिए। उस देशके उत्पात आदिको देखकर उद्यमी पुरुष उसे छोड़ देते हैं ॥५॥

वस्तु या देश आदिके स्वाभाविक स्वरूपका अन्यथा होना उत्पात कहलाता है। वह उत्पात अनेक प्रकारका होता है। वह उत्पात जहांपर होता है, वहांपर दुर्भिक्ष, देशका विनाश, राष्ट्र और प्रजाका क्षय होता है ॥६॥ जहांपर देवोंका आकार विकृत हो जाय, चित्रोंमें और धर्मस्थानोंमें देव-मूर्तियां भंगको प्राप्त होवें, और जहापर फहरती हुई ध्वजा ऊर्ध्वमुखी होकर उड़ने लगे, वहांपर राष्ट्र आदिका विप्लव होता है ॥७॥ जलभाग, स्थलभाग, नगर और वनमें अन्य स्थानके जीवोंका दर्शन हो, तथा शृगालिनी, काकादि आक्रन्दन नगरके मध्यमें हो, तो वे पुर-नगरके विच्छेदके सूचक उत्पात हैं ॥८॥ राज-छत्र, नगर-प्राकार (परकोटा) और सेना आदिका दाह हो, तथा शस्त्रोंका जलना और म्यानसे खड्गका स्वयं निर्गमन हो, अन्याय और दुराचारका प्रचार हो, लोगोंमें पाखण्डकी अधिकता हो और सभी वस्तुएँ

---

१. प्रकृतेर्यो विपर्यासः स चोत्पातः प्रकीर्तितः ।
दिव्यान्तरिक्षभौमश्च व्यासमेषां निबोधत ॥ (भद्रबा० १४, २) वर्ष प्रबोध १, १ ।

२. वर्षप्रबोध १, २ । ३. वर्षप्रबोध १, ३ । ४. वर्षप्रबोध १, ४ ।

[1]अन्यायश्च दुराचारः पाखण्डाधिकता जने । सार्वमाकस्मिकं जातं वैकृतं देशनाशनम् ॥१०
सम्प्राप्येन्द्रधनुर्दुष्टं वह्निः सूर्यस्य सम्मुखम् । रात्रौ दुष्टं सदा दोषकाले वर्णव्यवस्थया ॥११
[2]सितं रक्तं पीतकृष्णं सुरेन्द्रस्य शरासनम् । भवेद् विप्रादिवर्णानां चतुर्णां नाशनं क्रमात् ॥१२
[3]अकाले पुष्पिता वृक्षाः फलिताश्चान्यभूभुजः । अन्योन्यं महती प्राज्यं दुर्निमित्तफलं वदेत् ॥१३
[4]अश्वत्थोदुम्बरवटप्लक्षाः पुनरकालतः । विप्रक्षत्रियविट्शूद्रवर्णानां क्रमतो भयम् ॥१४
[5]वृक्षे पत्रे फले पुष्पे वृक्षं पत्रं फलं दलम् । जायते चेत्तदा लोके दुर्भिक्षादिमहा भयम् ॥१५
[6]गोध्वनिर्निशि सर्वत्र कलिर्वा दर्दुराः शिखी । श्वेतकाकश्च गृद्धादिभ्रमणं देशनाशनम् ॥१६
अपूज्यपूजाः पूज्यानामपूजा करणीमदः । शृगालोऽह्नि रुदन्नाशो तित्तिरश्च जगद्भये ॥१७
खरस्य रसतश्चापि समकालं यदा रसेत् । अन्यो वा नखरी जीवो दुर्भिक्षादि तदा भवेत् ॥१८
अन्यजातेरन्यजातेर्भाषणं प्रसवे शिशुः । मैथुनं च खरीसूतिदर्शनं चापि भीतिदम् ॥१९

अकस्मात् विकृत हो जावें, वहाँपर देशका नाश होता है ॥९–१०॥ इन्द्र-धनुष दोष-युक्त दिखे, अग्नि सूर्यके सम्मुख हो, रात्रिमें और प्रदोष कालमें सदा दुष्ट संचार हो तो वर्ण-व्यवस्थासे उपद्रव होता है ॥११॥ यदि सुरेन्द्रका शरासन अर्थात् इन्द्र-धनुष श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्णका दिखे तो क्रमसे ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंका नाश होता है। अर्थात् इन्द्रधनुष श्वेत वर्ण का दिखे तो ब्राह्मणोंका, रक्तवर्णका दिखे तो क्षत्रियोंका, पीतवर्णका दिखे तो वैश्योंका और कृष्ण वर्णका दिखे तो शूद्रोंका विनाश होता है ॥१२॥ यदि वृक्ष अकालमें फूलें और फलें तो अन्य राजाके साथ महान् युद्ध होता है, ऐसा उक्त दुर्निमित्तका फल कहना चाहिए ॥१३॥ पीपल, उदुम्बर, वट और प्लक्ष (पिलखन) वृक्ष यदि अकालमें फूलें और फलें तो क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णके लोगोंके भय होता है ॥१४॥ यदि वृक्षमें, पत्रमें, फलमें और पुष्पमें क्रमसे अन्य वृक्ष, अन्य पत्र, अन्य फल और अन्य पुष्प उत्पन्न हो, तो लोकमें दुर्भिक्ष आदिका महाभय होता है ॥१५॥ यदि रात्रिमें गाय-बैलोंका रंभाना चिल्लाना हो, अथवा परस्पर कलह हो, तथा प्रचुरतासे मेंढक, मयूर, श्वेत काक, और गीध आदि पक्षियोंका परिभ्रमण हो तो देशका विनाश होता है ॥१६॥

यदि अपूज्य लोगोंकी पूजा होने लगे और पूज्य पुरुषोंकी पूजा न हो, हथिनीके गण्डस्थलोंसे मद झरने लगे, दिनमें शृगाल रोवें-चिल्लावें और तीतरोंका विनाश हों तो जगत्में भय उत्पन्न होता है ॥१७॥ गर्दभके रेंकनेके समकालमें ही, अन्य गर्दभ रेंकने लगे, अथवा अन्य नाखूनी पंजेवाले जीव चिल्लाने लगे, तब दुर्भिक्ष आदि होता है ॥१८॥ अन्य जातिके पशु-पक्षीका अन्य जातिके पशु-पक्षीके साथ बोलना, अन्य जातिसे प्रसवमें शिशु होना, अन्य जातिके पशु-पक्षीके साथ अन्य जातिके पशु-पक्षीका मैथुन करना और गर्दभकी प्रसूतिका देखना भी भय-प्रद होता है ॥१९॥

---

१. वर्षप्रबोध १, ५। २. वर्षप्रबोध १, ७। ३. वर्षप्रबोध १, ८।

४. क्षत्रियाः पुष्पितेऽश्वत्थे ब्राह्मणाश्चाप्युदुम्बरे ।
वैश्याः प्लक्षेऽथ पीड्यन्ते न्यग्रोधे शूद्रदस्यवः ॥ (भद्र बा० १४, ५७) वर्ष प्रबोध १, ९।

५. वर्षप्रबोध १, १०। ६. वर्षप्रबोध १, ११।

मांसाशनं स्वजातेश्च बिलौसून् भुजगांस्तिमान् । काकादेरपि भक्ष्यस्य गोपनं शस्यहानये ॥२०
अन्तःपुर-पुरानीक-कोषामत्यपुरोधसाम् । राजपुत्र प्रकृत्यादेरप्यरिष्टफलं भवेत् ॥२१
पक्षमासर्तुषण्मासवर्षमध्येऽह्नि चेत्फलम् । नष्टं तद्-व्यर्थमेव स्यादुत्पन्ने शान्तिरिष्यते ॥२२
दौस्थ्यैर्भावनिदेशस्य निमित्तं शकुनाः स्वराः । दिव्यो ज्योतिषमानादिः सर्वं व्यभिचरेच्छुभम् ॥२३
प्रवासयन्ति प्रथमं स्वदेवान् परदेवताः । दर्शयन्ति निमित्तानि भङ्गे भाविनि चान्यथा ॥२४
[1]विशाखा-भरणी-पुष्याः पूर्वफा-पूर्वभा-मघाः । कृत्तिका-सप्तभिर्धिष्ण्यैराग्नेयं मण्डलं मतम् ॥२५
[2]चित्रा हस्ताश्विनी-स्वातिर्मार्गशीर्षं पुनर्वसू । उत्तराफाल्गुनीत्येतद् भवेद्वायव्यमण्डलम् ॥२६
[3]पूर्वाषाढोत्तराषाढाश्लेषाऽऽर्द्रामूलरेवती । शतभिषक् चेति नक्षत्रैर्वारुणं मण्डलं भवेत् ॥२७
[4]अनुराधाभिजिज्ज्येष्ठोत्तराषाढा धनिष्ठिका । रोहिणी श्रवणोऽप्येभिर्ऋक्षैर्माहेन्द्रमण्डलम् ॥२८
एषूत्पातोदये लोकाः सर्वे मुदितमानसाः । सन्धिं कुर्वन्ति भूमीशाः सुभिक्षं मङ्गलोदयः ॥२९
उल्कापातादयः सर्वेऽमीषु स्व-स्वफलप्रदाः । वर्षाकालं विना ज्ञेया वर्षाकाले तु वृष्टिदाः ॥३०
माहेन्द्रं सप्तरात्रेण सद्यो वारुणमण्डलम् । आग्नेयमर्धमासेन फलं मासेन वायवम् ॥३१
सुभिक्षं क्षेममारोग्यं राज्ञां सन्धिः परस्परम् । अन्त्यमण्डलयोर्ज्ञेयं तद्विपर्ययमाद्ययोः ॥३२

स्वजातिवाले पशु-पक्षीका स्वजातिवाले पशु-पक्षियों द्वारा मांसका खाना, बिल्लीके सिवाय अन्यके द्वारा साँपोंका खाया जाना, और काक आदिके द्वारा भक्षण करने योग्य पदार्थका गुप्त रखना, धान्यकी हानिके लिए होता है ॥२०॥ अन्तःपुर, नगर-सैन्य, कोष-रक्षक, मंत्री और पुरोहितोंकी प्रकृति विकार आदिके अरिष्ट-सूचक उत्पातोंके फलको ज्योतिषी कहे ॥२१॥ जिस अरिष्ट या उत्पातका फल एक पक्ष, मास, दो मास, छह मास, या वर्षके मध्यवर्ती दिनमें होना संभव हो, वह नष्ट या व्यर्थ ही होता है। फिर भी उस उत्पातके होनेपर शान्ति करना कहा गया है ॥२२॥ दुस्थित अर्थात् प्रकृतिसे विपरीत—को बतानेवाले निमित्त, शकुन, स्वर और दिव्य (अन्तरिक्ष) ज्योतिष-मान आदि सर्वशुभ कार्य व्यभिचारको प्राप्त होते हैं ॥२३॥ अन्य देवता पहिले अपने कुलक्रमागत देवोंको प्रवासित करते हैं, पुनः भविष्य-सूचक निमित्तोंको दिखाते है। तथा आगामी कालमें होनेवाले शुभ कार्यके भंगमें अन्यथा भी निमित्त दिखलाते हैं ॥२४॥

विशाखा, भरणी, पुष्य, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा, मघा और कृत्तिका इन सात नक्षत्रोंके द्वारा विद्वज्जनोंने आग्नेय मण्डल माना है ॥२५॥ चित्रा, हस्त, अश्विनी, स्वाति, मृगशिरा, पुनर्वसू और उत्तराफाल्गुनी इन सात नक्षत्रोंका वायव्यमण्डल होता है ॥२६॥ पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, आश्लेषा, आर्द्रा, मूल, रेवती और शतभिषा इन सात नक्षत्रोंसे वारुण मण्डल होता है ॥२७॥ अनुराधा, अभिजित्, ज्येष्ठा, उत्तराषाढा, धनिष्ठा रोहिणी और श्रवण इन सात नक्षत्रोंसे माहेन्द्रमण्डल होता है ॥२८॥

इन उपर्युक्त मण्डलोंमें उत्पात होनेपर सब लोग आनन्दसे रहते हैं, राजा लोग परस्परमें सन्धि करते हैं, देशमें सुभिक्ष और आनन्द मंगल होता है ॥२९॥ उल्कापातादिक भी इनमें अपने-अपने फलको वर्षाकालके बिना देते हैं और वर्षाकालमें तो वृष्टि करते ही हैं ॥३०॥ माहेन्द्र-मण्डलका फल सात दिनमें, वारुणमण्डलका फल शीघ्र ही, अग्निमण्डलका फल अर्धमासमें और वायुमण्डलका फल एक मासमें होता है ॥३१॥ सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य और राजाओंकी परस्पर

---

१. वर्षप्रबोध १, ३३। २. वर्षप्रबोध १, ४२। ३. वर्षप्रबोध १, ४६। ४. वर्षप्रबोध १, ५०।

त्रिमासिकं तु आग्नेयं वायव्यं च द्विमासिकम् । मासमेकं च वारुण्यं माहेन्द्रं सप्तरात्रिकम्॥* ॥३३
[1]मण्डलेऽग्नेरष्टभिर्मासैर्द्वाभ्यां वायव्यके शुभः । पुनरित्युक्तेनास्मिन् सर्वं शुभदं भवेत् ॥३४
आग्नेये पीडयते याम्यां वायव्ये पुनरुत्तराम् । वारुणे पश्चिमां तत्र पूर्वां माहेन्द्रमण्डलम् ॥३५
[2]मासर्क्षपूर्णिमा हीना समाना यदि वाऽधिका । समर्घं समार्घं च महार्घं च क्रमाद् भवेत् ॥३६
एकमासे रवेर्वाराः स्यु. पञ्च न शुभप्रदाः । आमावास्यार्कवारेण महार्घस्य विधायिनी ॥३७
वारेऽवर्कार्किभौमानां सङ्क्रान्तिर्मृगकर्कयोः । यदा तदा महर्घं स्यादभियुद्धादिकं तथा ॥३८
मृगकर्काजगोमीनेष्वर्को वामाङ्घ्रिणा निशि । अह्नि सप्तसु शेषेषु प्रचलेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा ॥३९
स्वे स्वे राशौ स्थिते सौस्थ्यं भवेद्दौस्थ्यं व्यतिक्रमे । चिन्तनीयस्ततो यत्नाद्रात्र्यहं प्रोक्तसङ्क्रमः ॥४०
आर्द्रान्त्यर्धे तथा स्वातौ सति राहौ यदा शशी । रोहिणीशकटस्यान्तर्याति दुर्भिक्षकृत्तदा ॥४१

सन्धि यह अन्तिम दो मण्डलोंमें जाने। इससे विपरीत आदिके दो मण्डलोंमें फलको जानना चाहिए ॥३२॥ उक्त आग्नेयादि मण्डलोंमें होनेवाले लक्षण आठ मास या दो मासके द्वारा शुभप्रद होते हैं किन्तु ऐसा कहना सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि आग्नेयमण्डल यमदिशाको पीड़ित करता है, वायव्यमण्डल उत्तर दिशाको, वारुणमण्डल पश्चिम दिशाको और माहेन्द्रमण्डल पूर्व दिशाको पीड़ित करता है ॥३४-३५॥ मासके नक्षत्रसे यदि पूर्णमासी हीन, समान या अधिक हो तो क्रमशः वस्तुओंके मूल्य समर्घ (सस्ते) समार्घ (सम) और महार्घ (तेज) होते हैं ॥३६॥ भावार्थ—यदि विवक्षित मासकी पूर्णमासी उस नक्षत्रसे हीन है, अर्थात् उस मासके नामवाला नक्षत्र पूर्णमासीके दिन नहीं है, तो वस्तुओंके मूल्य तेज होंगे। यदि पूर्णमासीके दिन माससंज्ञिक नक्षत्र है तो वस्तुओंके मूल्य सम (स्थिर) रहेंगे। यदि माससंज्ञिक नक्षत्रकी वृद्धि हो तो वस्तुओंके मूल्य मन्दे होंगे।

यदि एक मासमें रविवार पाँच हों तो शुभप्रद नहीं हैं। रविवारके साथ यदि अमावस्या होती है तो वह वस्तुओंके मूल्यको बढ़ानेवाली होती है ॥३७॥ जब रविवार, शनिवार और भौमवारके दिनमें मृग (मकर) और कर्ककी संक्रान्ति होती हैं, तब वस्तुओंके मूल्य बढ़ते हैं, तथा सामनेवाले व्यक्तिके साथ युद्ध आदिक होते हैं ॥३८॥ मकर, कर्क, वृष, मिथुन, मीन इन राशियोंके सूर्य होनेपर रात्रिमें वामपाद आगे करके गमन करे। शेष सात राशियोंमें सूर्य होनेपर दिनमें दक्षिणपादको आगे करके चले ॥३९॥ सूर्य और चन्द्रके अपनी अपनी राशिमें स्थित होनेपर गमन करनेमें स्वस्थता रहती है और व्यतिक्रम होनेपर दुःस्थिता रहती है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक रात और दिनमें उपरि-कथित गमन करनेका विचार चिन्तनीय है ॥४०॥ आर्द्राके अन्त्यार्धसे

---

* यहाँ आदर्श प्रतिमें श्लोकाङ्क २९ से ३३ तकके श्लोक नहीं थे, उन्हें वर्ष-प्रबोधसे लेकर स्थान-पूर्ति की गई है।—सम्पादक।

१. वर्षप्रबोध १,५७।

२. मासाभिधाननक्षत्रं राकायां क्षीयते यदि। महार्घत्वं तदा नूनं वृद्धौ ज्ञेया समर्घता।
मासनामकनक्षत्रं राकायां न भवेद् यदा। महर्घं च तदावश्यं तत्तद्योगनिमित्ततः॥
ऋक्षवृद्धौ रसाधिक्यं कणाधिक्यं च निश्चितम्। योगाधिक्ये रसच्छेदो दिनार्घप्रत्यहं स्फुटः॥
(वर्षप्र० ८, श्लोक ४६-४८)

भौमस्याधो गुरुश्चेत्स्याद् गुर्वधोऽपि शनैश्चरः । ग्रहाणां मुशलं ज्ञेयमिदं जगदरिष्टकृत् ॥४२
शनिर्मीने गुरुः कर्के तुलायामपि मङ्गलम् । यावच्चरति लोकस्य तावत्कष्टपरम्परा ॥४३
गुरोः सप्तान्त्यपञ्चद्विस्थानगा वीक्षगा अपि । शनिराहुकुजादित्याः प्रत्येकं देशभङ्गकाः ॥४४
शुक्रार्किभौमजीवानामेकोऽपीन्दुं भिनत्ति चेत् । पतत्सुभटकोटीभिः सप्त प्रेता तदाजिभूः ॥४५
कुम्भी-मीनान्तरेऽष्टम्यां नवम्यां दशमी दिने । रोहिणी चेत्तदा वृष्टिरल्पा मध्याह्निका क्रमात् ॥४६
शाकस्त्रिघ्नो युतो द्वाभ्यां चतुर्भक्तावशेषतः । समशेषे स्वल्पका वृष्टिर्विषमे प्रचुरा पुनः ॥४७
मेघाश्चतुर्विधास्तेषां द्रोणाह्वः प्रथमो मतः । आवर्तः पुष्करावर्तः तुर्यः संवर्तकस्तथा ॥४८
आषाढे दशमी कृष्णा सुभिक्षाय सरोहिणी । एकादशी तु मध्यस्था द्वादशी कालभञ्जनी ॥४९
रविराशेः पुरो भौमो वृष्टिसृष्टि-निरोधकः । भौमाद्या याम्यगाश्चन्द्रश्चोत्तरो वृष्टिनाशनः ॥५०
चित्रास्वातिविशाखासु यस्मिन् मासे प्रवर्षणम् । तन्मासे निर्जला मेघा इति गार्ग्यमुनेर्वचः ॥५१
रेवती रोहिणीपुष्यमघोत्तरपुनर्वसू । इत्येते चेन्महीसूनुरूनं तज्जगदम्बुदैः ॥५२
.... ॥५३

स्वाति-पर्यन्त रोहिणी शकट कहलाता है। चन्द्र और राहु यदि एक साथ हों तो यह योग दुर्भिक्ष-कारक होता है ॥४१॥

यदि मंगलके नीचे गुरु हो और गुरुके भी नीचे शनैश्चर हो तो यह ग्रहोंका मुशल योग जानना चाहिए और यह योग जगत्में अरिष्ट-कारक होता है ॥४२॥ जबतक शनि मीन-राशिमें, गुरु कर्क-राशिमें और मंगल तुला-राशिमें चलता है, तब तक कष्टोंकी परम्परा बनी रहती है ॥४३॥ गुरुसे सप्तम, द्वादश, पंचम और द्वितीय स्थानमें गये हुए अथवा उन स्थानोंको देखनेपर भी शनि, राहु, मंगल और सूर्य ये प्रत्येक ग्रह देशका भंग करनेवाले होते है ॥४४॥ यदि शुक्र, शनि, मंगल और गुरु इनमेंसे कोई एक ग्रह चन्द्रभुक्त नक्षत्रको भोगता है, तो रणभूमि धराशायी होते हुए सुभट कोटियोंसे भूत-प्रेतोंवाली होती है। अर्थात् युद्धमें करोड़ों योद्धाओंका विनाश होता है ॥४५॥ कुम्भ और मीन राशिके अन्तरालमें अष्टमी, नवमी और दशमीके दिन रोहिणी नक्षत्र हो तो क्रमसे वर्षा अल्प, मध्यम और अधिक होती है ॥४६॥ शकसंवत्सरको तीनसे गुणा करके दो जोड़नेपर जो राशि आवे उसमें चारसे भाग देनेपर यदि समराशि शेष रहे तो स्वल्पवृष्टि और विषम शेष रहनेपर प्रभूत वृष्टि होगी ॥४७॥ मेघ चार प्रकारके होते हैं—उनमें प्रथम द्रोण नामका मेघ है, दूसरा आवर्त, तीसरा पुष्करावर्त और चौथा संवर्तक मेघ है ॥४८॥ आषाढ़ मासमें कृष्णा दशमी रोहिणी नक्षत्रके साथ हो तो वह सुभिक्षके लिए होती है। यदि कृष्णा एकादशी रोहिणी नक्षत्रके साथ हो तो वह मध्यस्थ होती है और यदि कृष्णा द्वादशी रोहिणी नक्षत्रके साथ हो तो वह काल-भंजनी होती है ॥४९॥ रविराशिके आगे मंगल हो तो वह वृष्टिको सृष्टिका निरोधक है। यदि मंगल आदि ग्रह (मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि) दक्षिण दिग्वर्ती हों और चन्द्र उत्तर दिग्वर्ती हो तो भी यह योग वृष्टिका नाशक है ॥५०॥ जिस मासमें चित्रा, स्वाति और विशाखा नक्षत्रमें वर्षा हो तो उस मासमें मेघ निर्जल रहते हैं, ऐसा गार्ग्यमुनिका वचन है ॥५१॥ यदि रेवती रोहिणी, पुष्य, मघा, तीनों उत्तरा और पुनर्वसु ये नक्षत्र मंगलग्रहके साथ हों तो संसार मेघोंसे हीन रहता है, अर्थात् वर्षा नहीं होती है ॥५२॥ ....
.... ॥५३॥

तुलासङ्क्रान्तिषट्कं चेत्स्वस्मात्तु तिथेश्चलेत् । तदा दुस्थं जगत्सर्वं दुर्भिक्षडमरादिभिः ॥५४
दीपोत्सवदिने भौमवारो वह्निभयावहः । सङ्क्रान्तीनां च नैकट्यं शुभमर्घावकं न हि ॥५५
अस्तः स्यान्नं रवेर्ज्येष्ठामावस्यां वीक्ष्य चिह्नितान् । तदुत्तरे स्याच्चेद्विम्बोरस्तं तच्छुभदं भवेत् ॥५६
यावती भुक्तिराषाढे शुक्लप्रतिपदादिने । पुनर्वसोश्चतुर्मास्यां वृष्टिः स्यात्तावती स्फुटम् ॥५७

अथवास्तु-शुद्धिगृहक्रमः—

[1]वैशाखे श्रावणे मार्गे फाल्गुने क्रियते गृहम् । शेषमासे पुनः पुण्यं पौषे वाराहसम्मतः ॥५८
मृगसिंहकर्ककुम्भे प्राक्प्रत्यग्मुखं गृहम् । वृषाजालितुलास्थे तु दिग्दक्षिणमुखं शुभम् ॥५९
कन्यायां मिथुने मीने धनुस्थे च रवौ सति । नैव कार्यं गृहं कैश्चिद्विदमप्यभिधीयते ॥६०
स्वयोन्यर्क्षं स्वतारांशं स्थिरांशमधिकायकम् । अव्यिद्वादशकं त्रित्रिकोण-षट्काष्टकं शुभम् ॥६१
समाधिकव्ययं कर्तुः समानाय यथांशकम् । कुमासधिष्ण्यतारांश्च गृहं वर्ज्यं प्रयत्नतः ॥६२

यदि तुला-संक्रान्तिषट्क (तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, मीन) अपनी तिथिसे (?) चलते हैं अर्थात् जिस तिथिको तुला संक्रान्ति हो, उससे अग्रिम तिथिमें क्रमसे उक्त संक्रान्तियां होनेसे सारा जगत् दुर्भिक्ष, डमर ईति-भीति आदिसे दुःस्थित रहता है ॥५४॥ यदि दीपोत्सव (दीपावली) के दिन मंगलवार हो तो वह अग्निका भय-करता है। संक्रान्तियोंकी निकटतासे वस्तुओंकी मन्दी अच्छी नहीं होती ॥५५॥ ज्येष्ठ मासकी अमावस्याके दिन सायंकालके समय रविमण्डलमें चिह्न (परिवेश) दिखाई दे और उत्तरकालमें यदि चन्द्र अस्त हो तो यह योग शुभ-प्रद हैं ॥५६॥

विशेषार्थ—श्लोक-प्रतिपादित ऐसा योग तब आता है जबकि उस दिन अमावस्या उदय-कालमें १-२ घड़ी ही हो और दूसरे दिन द्वितीयाका क्षय हो तो अमावस्याकी रात्रिमें कुछ क्षण को चन्द्र-दर्शन और चन्द्रास्त होना संभव है।

आषाढ़ मासमें शुक्ला प्रतिपदाके दिन पुनर्वसु नक्षत्रकी जितनी भुक्ति रहती है, उतनी ही वर्षा स्पष्टरूपसे होती है ॥५७॥

अब वास्तु-शुद्धि और गृह-निर्माणका क्रम कहते हैं—वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष और फाल्गुनमें गृह-निर्माण शुभ होता है। किन्तु शेष मासोंमेंसे पौष मासमें भी गृह-निर्माण वाराह-संहिता-सम्मत है ॥५८॥ मृग, सिंह, कर्क और कुम्भमें पूर्व दिशा या पश्चिम दिशाकी ओर गृहका मुख (द्वार) शुभ है। वृष, अजा, अलि और तुला राशिमें गृहका मुख दक्षिण दिशाकी ओर शुभ है ॥५९॥ कन्या, मिथुन, मीन और धनु राशिमें स्थित सूर्यके होनेपर गृह-निर्माण नहीं करना चाहिए, ऐसा कितने ही विद्वान् कहते हैं ॥६०॥

अपनी योनिका नक्षत्र, अपना तारांश स्थिरांश, अधिक आयवाला चतुर्थ-द्वादश (?) तीनों त्रिकोण अर्थात् प्रथम, नवम तथा षडाष्टक (छठा-आठवाँ) योग शुभ होता है ॥६१॥ गृह-कर्ताका (गृहपिण्ड क्षेत्रफलसे साधित) व्यय समान हो, अथवा अधिक हो, दोनोंकी आय समान हो तथा दोनोंका एक ही अंश एवं कुत्सित मास, नक्षत्र तथा तारा गृहमें प्रयत्नपूर्वक त्याज्य है ॥६२॥

---

१. वर्षप्रबोध० ९, ३१।
वइसाहे मग्गसिरे सावणि फग्गुणि मयंतरे पोसे।
सियपक्खे सुहदिवसे कए गिहे हवइ सुहरिद्धी ॥२४॥ (वास्तुसार गृहप्रकरण)

विस्तरेण हतं दैर्घ्यं विभजेदष्टभिस्तथा । यच्छेषं स भवेदायः सो ध्वजाद्याख्ययाष्टधा ॥६३
[1]ध्वजो धूमो हरिः श्वा गौः खरेभो वायसोऽष्टमः । पूर्वादिदिक्षु चाष्टायो ध्वजादीनामवस्थितिः ॥६४
स्वे स्वे स्थाने ध्वजः श्रेष्ठो गजः सिंहस्तथैव च । [1]ध्वजः सर्वगतो देयो वृषं नान्यत्र दापयेत् ॥६५
[2]वृषं सिंहं गजं चैव खेटकर्वटकोटयोः । द्विपः पुनः प्रयोक्तव्यो वापीकूपसरस्सु च ॥६६
[3]मृगेन्द्रमासने दद्याच्छयनेषु गजं पुनः । वृषं भोजनपात्रेषु छत्रादिषु पुनर्ध्वजम् ॥६७
अग्निवेश्मसु सर्वेषु गृहे वह्न्युपजीविनाम् । धूमं च योजयेत् किन्तु श्वानं म्लेच्छादिजातिषु ॥६८

गृह-भूमिके दैर्घ्य (लम्बाई) को विस्तार (चौड़ाई) से गुणा करनेपर जो क्षेत्रफल हो उसे आठसे भाजित करे, जो शेष रहे वह आय होता है। वह आय ध्वज आदिके भेदसे आठ प्रकारका है ॥६३॥ वे आठ आय ये हैं—ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृषभ, खर, हस्ती, और अष्टम वायस (काक) इन आठों प्रकारके आयोंकी अवस्थिति पूर्व आदि आठों दिशाओंमें क्रमसे जानना चाहिए ॥६४॥

आयोंकी अवस्थिति और फलकी द्योतक संदृष्टि इस प्रकार है—

संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
आय	ध्वज	धूम	सिंह	श्वान	वृषभ	खर	गज	वायस
दिशा	पूर्व	अग्नि	दक्षिण	नैऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
फल	शुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ	शुभ	अशुभ

अपने-अपने स्थानमें उक्त ध्वज श्रेष्ठ हैं; इसी प्रकार गज और सिंह भी श्रेष्ठ हैं। ध्वज आय सर्वत्र श्रेष्ठ हैं। वृषभको अपने स्थानके सिवाय अन्यत्र नहीं देना चाहिए ॥६५॥ वृषभ, सिंह और गज चिह्नको खेट और कर्वट वसतियोंके कोटोंपर करना चाहिए। तथा गज, आय कूप, (वापी) और सरोवरपर प्रयुक्त करना चाहिए ॥६६॥

बैठनेके आसनपर सिंह आय देवे और सोनेकी शय्यापर गज आय देवे। भोजनके पात्रोंपर और छत्र आदिपर ध्वज आय देना चाहिए ॥६७॥ सभी अग्निगृहों (रसोई घरों) पर, तथा

---

१. धय-धूम-सीह-साणा विस-खर-गय-धंख-अट्ठ आय इमे । विश्वकर्म प्रकाश २, श्लोक ५२-५८
पुव्वाइ धयाइ ठिई फलं च नामाणुसारेण ॥ (वास्तुसार १, ५२,)

२. धय गय सीहं दिज्जा संते ठाणे धओ अ सव्वत्थ ।

३. गय-पंचाणण-वसहा खेडय तह कव्वडाईसु ॥५४॥
वावीकूवतडागे सयणेय गओय आसणे सीहो ।
वसहो भोअणपत्ते छत्तालंबे धओ सिट्ठो ॥५५॥
विस-कुंजर-सीहाया नयरे पासाय-सव्वगेहेसु ।
साणं मिच्छाईसुं धंखं कारु अगिहाईसु ॥५६॥
धूमं रसोइठाणे तहेव गेहेसु वण्हिजीवाणं । रासहु वसाणगिहे धय-गय-सीहाउ रायगिहे ॥५७॥
(वास्तुसार १, ५४-५७)

खरो वेश्यागृहे शस्तो ध्वाङ्क्षः शेषकुटीषु तु। वृषः सिंहो गजश्चापि प्रासादपुरवेश्मसु ॥६९
[1]आयामे विस्तरहते योऽङ्कः सञ्जायते किल। स मूलराशिर्विज्ञेयो गृहस्य गणकैः सदा ॥७०
अष्टभिर्गुणिते मूलराशावस्मिन् विचारदैः। सप्तविंशतिभक्तेऽथ शेषं तद्-गृहभं भवेत् ॥७१

[2]नक्षत्राङ्केऽष्टभिर्भक्ते योऽङ्कः स स्याद् गृहे व्ययः।
पैशाचो राक्षसो यक्षः स त्रिधा स्मर्यते व्ययम् ॥७२

पैशाचस्तु समाऽऽयः स्याद् राक्षसश्चाधिके व्यये। आयान्न्यूनतरो यक्षो व्ययस्यैषा विचारणा ॥७३
[2]मूलराशौ व्यये क्षिप्ते गृहनामाक्षरेषु च। ततो हरेन्त्रिभिर्भागं यच्छेषं सोंऽशको भवेत् ॥७४
इन्द्रो यमश्च राजा च गृहांशाश्च त्रयस्त्विमे। [3]गृहभस्वामिभैक्यस्य भक्तस्य नवभिः पुनः ७५
यच्छेषं सा भवेत्तारा तारानामान्यमूनि च। जन्म-सम्पद्-विपद्-क्षेमाः प्रत्यरि. साधनीति च ॥७६

अग्निसे आजीविका करनेवाले सुनार-लोहार आदिके गृहोंपर धूम आय योजित करे। म्लेच्छ आदि जातियोंके घरोंपर श्वान आय देना चाहिए ॥६८॥ वेश्याके घरपर खर आय उत्तम है और शेष जातिकी कुटियोंपर ध्वांक्ष (काक) आय देना चाहिए। राजप्रासादोंपर एवं नगरोंके उत्तम भवनोंपर वृषभ, सिंह और गज आय श्रेष्ठ है ॥६९॥

गृहकी लम्बाईको विस्तारके प्रमाणसे गुणित करनेपर जो अंक प्राप्त होता है, वह गणना करनेवाले ज्योतिषियोंको सदा गृहकी मूलराशि जानना चाहिए ॥७०॥ इस मूलराशिमें विद्वानोंके द्वारा आठसे गुणा करनेपर और सत्ताईससे भाग देनेपर जो शेष रहे वह गृहका नक्षत्र होता है ॥७१॥ नक्षत्रके अंकमें आठसे भाग देनेपर जो अंक प्राप्त हो वह गृह-निर्माणमें व्यय-सूचक होता है। यह व्यय तीन प्रकारका कहा गया है—पैशाच, राक्षस और यक्ष व्यय ॥७२॥ इनमें पैशाच व्यय समान आयका सूचक है, राक्षस अधिक व्ययका सूचक है और यक्ष आयसे अतिहीन व्ययका सूचक है। व्ययके विषयमें यह ज्योतिष विचारणा है ॥७३॥

मूलराशिमें व्ययके क्षेपण करनेपर और गृहके नामवाले अक्षरोंके क्षेपण करनेपर तीनसे भाग देवे, जो शेष रहे, वह अंशक (क्षेत्रफल) होता है ॥७४॥ इन्द्र, यम और राजा ये तीन प्रकारके अंश होते हैं, गृहका नक्षत्र और गृहस्वामीका नक्षत्र इन दोनोंके जोड़नेपर जो राशि आवे, उसमें नौसे भाग देनेपर जो शेष बचे, उसे 'तारा' कहते हैं। (वे नौ होती हैं—) १. जन्म, २. सम्पद्, ३. विपद्, ४ क्षेम, ५. प्रत्यरि, ६. साधक, ७ नैधनी, ८. मैत्रिका और ९. परममैत्रिका। चार, छह और नौ संख्यावाली ताराएँ श्रेष्ठ हैं, सात, पाँच और तीन

---

१. दीहं वित्थर गुणियं ज जायइ मूलरासितं नेयं। अट्ठगुणं उडुमत्तं गिहनक्खत्तं हवइ सेसं ॥५८॥
गिहरिक्खं चउगुणियं नवमत्तं लद्धु भुत्तरासीओ। गिहरासि सामिरासी सडट्ठ दु दुबालसं असुहं ॥५९॥
वसुभत्त रिक्खसेसं वयं तिहा जक्ख-रक्खस-पिसाया। आउ अंकाउ कमसो हीणाहियसयं मुणेयव्वं ॥६०॥
जक्खवओ विद्धिकरो धणणासं कुणइ रक्खसवओ य।
मज्झिमबओ पिसाओ तहय जमंसं च वज्जिज्जा ॥६१॥

२. मूलरासिम्स अंकं गिहनामक्खर वयंकसंजुत्तं। तिविहुसु सेस अंसा इंदंस-जमंस-रायंसा ॥६२॥
गेहमसामियपिंडं नवभत्तं सेस छ-चउ-नव सुहया। मज्झिम दुग इग अट्ठा ति पंच सघइमा तारा ॥६३॥
(वास्तुसार, गृह प्रकरण)

नैघनी मैत्रिका चैव तथा परममैत्रिका: । चतु:षन्नव च श्रेष्ठा सप्त पञ्च त्रयोऽधमा: ॥७७
राक्षसामरमर्त्योत्कगणनक्षत्रकादिकम् । ज्ञेयं ज्योतिष्मत: ख्यातमिदमित्यत्र नोदितम् ॥७८
[1]ध्रुवं धान्यं जयं नन्दं खरं कान्तं मनोरमम् । सुमुखं दुर्मुखं क्रूरं स्वपक्षं धनदं क्षयम् ॥७९
आक्रन्दं विपुलं चैव विजयं चेत्यमूर्भिदा । गृहस्य स्वस्य नाम्नापि सदृशं च भवेत्फलम् ॥८०
[2]यो गुरूणां चतुर्णां स्यात्प्रस्तारश्छन्दसा कृत: । षोडशान्त इमे भेदा: स्युस्तन्नामान्यलिन्दके: ॥८१

संख्यावाली ताराएँ अधम हैं। शेष तीन अर्थात् एक, दो और आठ संख्यावाली ताराएँ सम हैं ॥७५-७७॥

गण तीन प्रकारके होते हैं—राक्षस, देव और मनुष्य। इनका अर्थ ज्योतिष शास्त्रमें प्रसिद्ध है, इसलिये उसका प्रतिपादन नहीं किया ॥७८॥ गृह सोलह प्रकारके होते हे, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. ध्रुव, २. धान्य, ३. जय, ४. नन्द, ५. खर, ६. कान्त, ७. मनोरम, ८. सुमुख, ९. दुर्मुख, १०. क्रूर, ११. स्वपक्ष, १२. धनद, १३. क्षय, १४. आक्रन्द, १५. विपुल और १६. विजय। गृहके अपने नामके अनुसार इनका फल होता है ॥७९-८०॥

विशेषार्थ—उक्त दो श्लोकोंमें सोलह प्रकारके गृहों (घरों) के जिस फलकी सूचनाकी गई, उसका खुलासा इस प्रकार है—ध्रुवगृहमें जय प्राप्त होती है, धान्यमें धान्यका आगमन होता है, जयमें शत्रुओंको जीतता है, नन्दमें सर्वप्रकारकी समृद्धियाँ प्राप्त होती हैं, खर कष्टप्रद होता है, कान्तमें लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य और धन-सम्पदा भी मिलती है, मनोरम गृहमें गृहस्वामीका मन सन्तुष्ट रहता है, सुमुखमें राज-सन्मान मिलता है, दुर्मुखगृहमें सदा कलह होता रहता। क्रूर गृहमें व्याधियोंका भय बना रहता है, स्वपक्षमें वंशकी वृद्धि होती हैं, धनदगृहमें स्वर्ण-रत्नादिकी वृद्धि होती है और गायोंकी भी प्राप्ति होती है, क्षयगृहमें सर्व विनाश होता है। आक्रान्द गृहमें जाति एवं कुटुम्बवालोंकी मृत्यु होती है, विपुलघरमें निरोगता प्राप्त होती है और विजयगृहमें सर्व सम्पत्तियाँ बनी रहती हैं *।

चार गुरु मात्राओंके संयोगसे छन्दशास्त्रके अनुसार जो प्रस्तार बनते हैं उसके अनुसार उक्त

---

१. धुव-धन्न-जया नंद-खर-कंत-मणोरमा सुमुह-दुमुहा ।
क्रूर-सुपक्ख-धणद-खय-आक्कंद-विउल-विजया गिहा ॥७२॥

२. चत्तारि गुरुठविउं लहुओ गुरुहिठ सेस उवरिसमा । ऊणाह गुरु एवं पुणो पुणो जाव सव्वलइ ॥७३॥
तं धुव धन्नाइणं पुव्वाइ-लहूहि साल नायव्वा । गुरुवाणि भित्ती नामसमं हवइ फलमेसिं ॥७४॥

(वास्तुसार)

* ध्रुवे जयमाप्नोति धन्ये धान्यागमो भवेत् । जये सपत्नाज्जयति नन्दे सर्वा: समृद्धय: ॥१॥
खरमायासदं वेश्म कान्ते च लभते श्रियम् । आयुरारोग्यमैश्वर्यं तथा वित्तस्य सम्पद: ॥२॥
मनोरमे मनस्तुष्टिर्गृहभर्तु: प्रकीर्तिता । सुमुखे राजसन्मानं दुर्मुखे कलह: सदा ॥४॥
क्रूर-व्याधि-भयं क्रूरे स्वपक्षं गोत्रवृद्धिकृत् । धनदे हेमरत्नादि गाश्चैव लभते पुमान् ॥५॥
क्षयं सर्वक्षयं गेहमाक्रन्दं ज्ञातिमृत्युदम् । आरोग्यं विपुले ख्यातिर्विजये सर्वसम्पद: ॥६॥

(समरांगणसे उद्धृत, वास्तुसार पृ० ३९-४०)

[1]पूर्वस्यां श्रीगृहं कार्यमाग्नेयायां तु महानसम्। शयनं दक्षिणस्यां तु नैर्ऋत्यामायुधादिकम् ॥८२
भुक्तिक्रिया पश्चिमायां वायव्यां धान्यसङ्ग्रहः। उत्तरस्यां जलस्थानमैशान्यां देवतागृहम् ॥८३
पूर्वादिदिग्विनिर्देशो गृहद्वारव्यपेक्षया। भास्करोदयदिक्पूर्वा विज्ञेया च यथाकृते ॥८४
गृहेषु हस्तसङ्ख्यानं मध्यकोणो विधीयते। समाः स्तम्भाः समाऽऽयाय विषमाश्च ऋणाः पुनः ॥८५
आये नष्टे सुखं न स्यान्मृत्युः षष्ठाष्टके पुनः। द्विर्द्वादशे च दारिद्र्यं त्रिकोणकेऽङ्गजक्षयः ॥८६
यमांशे गृहि-मृत्युः स्यान्मृतिः सप्तमतारके। निस्तेजः पञ्चमे तारे विपत्तारे तृतीयके ॥८७
न्यूनाधिके च पट्टीनां तुलावेध उपर्यधः। एकक्षणे च पट्टीनां न भवेत्तालुवेधता ॥८८
भूवैषम्ये तलो वेधो द्वारभेदश्च घोटके। एकस्मिन् सम्मुखे द्वाभ्यां पुनर्नैव कदाचन ॥८९
वास्तोर्वक्षसि शीर्षे च नाभौ च स्तनयोर्द्वयोः। गृहस्येमानि मर्माणि नैषु स्तम्भादि सूत्रयेद् ॥९०

सोलह भेद होते हैं, ऐसी गणितज्ञोंकी मान्यता है ॥८१॥ गृहकी पूर्व दिशामें श्रीगृह (कोष-भाण्डार) करना चाहिए। आग्नेय दिशामें रसोई घर, दक्षिण दिशामें शयनकक्ष और नैऋत्य दिशामें आयुध (शस्त्रास्त्र) आदि रखनेका स्थान नियत करना चहिए ॥८२॥ भोजन करनेका स्थान पश्चिम दिशामें, धान्यसंग्रह वायव्य दिशामें, जलस्थान उत्तर दिशामें और देवता-गृह ईशान दिशामें नियत करना चाहिए ॥८३॥

घरके द्वारकी अपेक्षा पूर्व आदि दिशा और विदिशा मानी जाती है। अथवा यथारीतिसे निर्मित भवनमें सूर्यके उदयवाली पूर्व दिशा (और तदनुसार अन्य दिशाएँ) जानना चाहिए ॥८४॥ घरोंमें हाथोंकी गणनासे मध्यमवर्ती कोण (केन्द्र) का विधान किया जाता है। गृह-निर्माणमें यदि सम-संख्यावाले स्तम्भ लगे हों, तो वे समान आय (आमदनी) के सूचक हैं और यदि विषम संख्याके स्तम्भ लगे हों तो वे ऋण (कर्ज) के सूचक हैं ॥८५॥ आयके नष्ट होने पर सुख नहीं होता है। गृह और गृह-स्वामी की राशियोंमें यदि षडाष्टक योग हो, तो वह मृत्यु-कारक है। दूसरी और बारहवीं राशि होने पर दारिद्रय होता है। और त्रिकोण (नवम-पंचम) होने पर पुत्र-का क्षय होता है ॥८६॥ यदि गृह यमांशमें है, तो गृह-स्वामीकी मृत्यु होती है। सातवें तारामें मृत्यु, पंचम तारामें तेजो-हीनता और तृतीय तारामें विपत्ति, होती है ॥८७॥

भवनके नीचे या ऊँचे खंडके पाटनमें पटियोंकी न्यूनाधिकताको 'तुलावेध' कहते हैं। एक ही खंडमें पटिया यदि नीचे-ऊँचे हों तो उसे 'तालुवेध' कहते हैं ॥८८॥ भवनकी भूमिके विषम (नीची ऊँची होनेको) 'तलवेध' कहते हैं। द्वारभेद तथा घोटक (घुड़साल) आदिमेंसे एक भी दोषके सामने होनेपर भवन-निर्माण नहीं करना चाहिए। यदि दो दोष हों तो कभी भी भवन न बनावे ॥८९॥

वास्तु क्षेत्ररूप पुरुषके वक्षःस्थल शिर नाभि और दोनों स्तन ये पाँच मर्म-स्थान होते हैं। इन पर स्तम्भ आदिको खड़ा नहीं करना चाहिए ॥९०॥

---

१. पुव्वे सिरिहर-दारं अग्गीइ रसोइ दाहिणे सयणं। नेरइ नीहार ठिइ भोयण ठिइ पच्छिमें भणियं ॥१०७॥
वायव्वे सव्वायुह कोसुत्तर धम्मठाणु ईसाणे। पुव्वाइ विणिद्देसो मूलगिहदार-विक्खाए ॥१०८॥
(वास्तुसार, पृ० ५६)

स्तम्भकूपतरुकोणाध्वविद्धं द्वारं शुभं न हि। गृहोच्चद्विगुणं भूमिं त्यक्त्वा ते स्युर्न दोषदाः ॥९१
[1]प्रक्रमान्त्ययामवर्ज्यं द्वित्रिप्रहरसम्भवा। छाया वृषभध्वजादीनां सदा दुःखप्रदायिनी ॥९२

स्तम्भ, कूप, वृक्ष, कोण और मार्गसे यदि भवनका द्वार विद्ध है, तो वह शुभ नहीं है। परन्तु घरकी ऊँचाईको दूना करके जो प्रमाण आवे, उतनी यदि भूमि छोड़ दी जावे तो उक्त वेधादि दोष नहीं होते हैं ॥९१॥

विशेषार्थ—भवनके निर्माण करते समय सर्व प्रकारके भूमि दोषोंको शुद्ध करके द्वार स्थापन करे। उसमें वेधका विचार होता है। वेध सात प्रकारके होते हैं—१ तलवेध, २ कोणभेद, ३ तालुवेध, ४ कपालवेध, ५ स्तम्भभेद, ६ तुलाभेद और ७ द्वारभेद। घरकी भूमि कहीं सम और कहीं विषम हो, द्वारके सामने कुंभी (तेल निकालनेकी घानी, ईख पेलनेकी कोल्हू) हो, कुँआ हो या दूसरेके घरका रास्ता हो तो तलवेध जानना चाहिए। यदि घरके कोने बराबर न हों तो कोणवेध समझना चाहिए। भवनके एक ही खंडमें पीढे नीचे ऊँचे होनेको तालुवेध कहते हैं। द्वारके ऊपर पटियेपर गर्भ (मध्य) भागमें पोढा आवे तो उसे शिरवेध (कपालवेध) कहते हैं। घरके मध्यभागमें एक खंभा हो, अथवा अग्नि या जलका स्थान हो तो उसे उरःशल्य (स्तम्भवेध) जानना चाहिए। घरके नीचे या ऊपरके खंडमें पीढे (पटिये, पट्टी) न्यूनाधिक हों, तो उसे तुलावेध कहते हैं। जिस घरके द्वारके सामने या बीचमें वृक्ष, कुआँ, खम्भा, कोना या कीला (खूँटा) हो तो उसे द्वारवेध कहते हैं। किन्तु घरकी ऊँचाईसे दुगुनी भूमि छोड़नेके बाद यदि वृक्षादि हों तो कोई दोष नहीं है। उक्त वेधोंका फल वास्तुसारमें इस प्रकार बतलाया गया है—तलवेधसे कुष्टरोग कोणवेधसे उच्चाटन, तालुवेधसे भय, स्तम्भवेधसे कुलका क्षय, कपाल (शिर) वेध और तुलावेधसे धनका विनाश होता है और क्लेश, लड़ाई-झगड़ा बना रहता है। इसलिए वेधोंका ऐसा फल जानकर घरको उक्त वेध दोषोंसे रहित शुद्ध बनाना चाहिए। प्रकृतमें ग्रन्थकारने इनमेंसे चार वेधोंका निरूपण ८८ और ८९वें श्लोकमें किया है। शेष भेदोंका सूचना ९०वें श्लोकमेंकी गई है। ✻

प्रारम्भके और अन्तके प्रहरको छोड़ कर दूसरे और तीसरे प्रहरमें होनेवाली वृषभध्वज

---

१. पढमंत जाम वज्जिय धयाइ-दु-तिपहर-संभवा छाया। दुहहेऊ नायव्वा तओ पयत्तेण वज्जिज्जा ॥१४३॥
(वास्तुसार, गृहप्रकरण)

✻ मूलाओ आरंभो कीरइ पच्छा कमे कमे कुज्जा। सव्वं गणियविसुद्धं वेहो सव्वत्थ वज्जिज्जा ॥११५॥
तलवेह कोणवेहं तालुयवेहं कवालवेहं च। तह थंभ तुलावेहं दुवारवेहं च सत्तमयं ॥११६॥
सम-विसमभूमि कुंभि य जलपूरं परगिहस्स तलवेहो। कूणसमं जइ कूणं न हवइ ता कूणवेहो य ॥११७॥
इक्कखणे नीचुच्चं पीढं तं मुणह तालुयावेहं। बारस्सुवरिमपट्टे गब्भे पीढं च सिरवेहं ॥११८॥
गेहस्स मज्झि भाए थंभेगं तं मुणेह उरसल्लं। अह अनलो विनलाइं हविज्ज जा थंभवेहो सो ॥११९॥
हिट्ठिय-उवरि खणाणं हीणाहिय पीढ तं तुलावेहं। पीढा समसंखाओ हवंति जइ तह न हु दोसो ॥१२०॥
दुम-कूव-थंभ-कोणय-किलाविद्धे दुवारवेहो य। गेहुच्च विउणभूमो तं न विरुद्धं बुहा विंति ॥१२१
वेधफलम्—
तलवेहि कुट्ठरोया हवंति उच्चे य कोणवेहम्मि। तालुय-वेहेण भयं कुलक्खयं थंभवेहेणं ॥१२२॥
कावाल, तुलवेहे धणणासो हवइ रोरभावो य। इअ वेहफलं नाउं सुद्धं गेहं करेअव्वं ॥१२३॥
(वास्तुसार, गृहप्रकरण)

[1]वर्जयेदर्हतः पृष्ठिं दृष्टिं चण्डीश-सूर्ययोः । वामाङ्गं वासुदेवस्य दक्षिणं ब्रह्मणः पुनः ॥९३

अथ गृहवृद्धिकमः—

न दोषो यत्र वेधादि न च यत्राखिलं दलम् । बहुद्वाराणि नो यत्र यत्र च नास्य संशयः ॥९४
पूज्यते देवता यत्र यत्राभ्युक्षणमादरात् । रक्ता यवनिका यत्र यत्र सन्मार्जनादिकम् ॥९५
यत्र ज्येष्ठकनिष्ठादिव्यवस्था सुप्रतिष्ठिता । भानवीया विशन्त्यन्तर्भानवो नैव यत्र तु ॥९६
दीपको दीप्यते यत्र पालनं यत्र रोगिणाम् । श्रान्तसंवाहना यत्र तत्र स्यात्कमला गृहे ॥९७

(चतुर्भिः कलापकम्)

चन्दनादर्शहेमोक्षव्यजनासनवाजिनः । शङ्खाम्बुदधिपत्राणि चैतानि गृहवृद्धये ॥९८
दद्यात्सौख्यामृतं वाचमभ्युत्थानमथासनम् । शक्त्या भोजनताम्बूले शत्रावपि गृहागते ॥९९
मूर्खधार्मिकपाखण्डिपतितस्तेनरोगिणाम् । क्रोधनान्त्यजदृप्तानां गुरुतुल्यकवैरिणाम् ॥१००
स्वामिवञ्चकलुब्धानां ऋषिस्त्रीबालघातिनाम् । इच्छन्नात्महितं धीमान् प्रकृतां सङ्गतिं त्यजेत् ॥१०१

आदिकी छाया सदा ही दुःखको देनेवाली होती है ॥९२॥ अरहन्तदेवकी ओर पीठको, महेश और सूर्यकी ओर दृष्टिको, वासुदेवकी ओर वाम अंगको और ब्रह्माकी ओर दक्षिण अंगको नहीं करना चाहिए ॥९३॥

अब घरकी वृद्धिका क्रम कहते हैं—जिस घरमें वेध (ऊँचाई आदि) का कोई दोष नहीं है, और जहाँ पर समस्त प्रकारके कोई दल नहीं हैं, जिस घरमें बहुत द्वार नहीं है और न जहाँ पर शत्रुके आने आदिका कोई संशय है, जहाँपर देवता पूजे जाते हैं, जहाँ पर आदरसे अभ्युक्षण (अतिथि-स्वागत) होता है जहाँ पर लाल वर्णका पड़दा लगा हुआ है, जहाँपर भलीभाँतिसे प्रमार्जन आदि होता है, जहाँ पर बड़े और छोटे भाई आदिकी व्यवस्था भले प्रकारसे प्रतिष्ठित है, जहाँ पर सूर्यकी किरणें भीतर प्रवेश नहीं करती है, जहाँ पर दीपक सदा प्रदीप्त रहता है, जहाँ पर रोगी पुरुषोंका पालन-पोषण होता है, और जहाँ पर थके हुए मनुष्योंकी संवाहना (पगचम्पी आदि वैयावृत्त्य) होती है, उस घरमें कमला (लक्ष्मी) निवास करती है ॥९४-९७॥

चन्दन, दर्पण, हेम, उक्ष (वृषभ) व्यंजन (पंखा) आसन वाजी (अश्व), शंख और समुद्रोत्पन्न मूँगा आदि ये सब वस्तुएँ घरकी वृद्धिके लिए होती हैं ॥९८॥ शत्रुके भी घरमें आनेपर सुखकारक अमृतमयी वाणी बोले, उसके स्वागतार्थ उठे और योग्य आसन प्रदान करे। तथा अपनी शक्तिके अनुसार भोजन करावे और ताम्बूल-प्रदान करे ॥९९॥ मूर्ख अधार्मिक, पाखण्डी, पतित, चोर, रोगी पुरुष, क्रोधी, अन्त्यज (चाण्डाल) मदोन्मत्त, गुरु-तुल्य श्रेष्ठ पुरुषोंके वैरी, स्वामि-वंचक, लुब्धक, तथा ऋषि, स्त्री और बालकोंके घातक पुरुषोंकी संगतिको आत्म-हित चाहनेवाला बुद्धिमान् पुरुष छोड़े ॥१००-१०१॥

---

१. वज्जिज्जई जिणपिट्ठी रवि-ईसरदिट्ठि विण्हुवामभुआ ।
सव्वत्थ असुह चंडी बंभाणं चउदिसिं चयह ॥१४१॥
अरिहंतदिट्ठि दाहिण हरपुट्ठी वामएसु कल्लाणं ।
विवरीए बहुदुक्खं परं न मग्गंतरे दोसो ॥४२॥ (वास्तुसार, गृहप्रकरण)

दुःखं देवकुलासन्ने गृहे हानिश्चतुःपथे । धूर्तमत्तगृहाभ्यासे स्यातां सुतधनक्षयौ ॥१०२
खर्जूरी-दाडिमी-रम्भा-कर्कन्धू-बीजपूरकाः । उत्पद्यन्ते गृहे यत्र तन्निकृन्तन्ति मूलतः ॥१०३
प्लक्षाद् रोगोदयं विद्यादश्वत्थात्तु सदा भयम् । नृपपीडा वटाद् गेहे नेत्रव्याधिरुदुम्बरात् ॥१०४
लक्ष्मीनाशकरः क्षीरी कण्टकी शत्रुभयप्रदा । अपत्यघ्नः फली तस्मादेषां काष्ठमपि त्यजेत् ॥१०५
कश्चिदूचे पुरोभागे वटः श्लाघ्य उदुम्बरः । दक्षिणे पश्चिमेऽश्वत्थो वामे प्लक्षस्तथोत्तरे ॥१०६

अथ शिष्यावबोधक्रमः—

गुरुः सोमश्च सौम्यश्च श्रेष्ठोऽनिष्टौ कुजासितौ ।
विद्यारम्भे बुधः प्रोक्तो मध्यमौ भृगुभास्करौ ॥१०७

पूर्वात्रयं श्रुतिद्वन्द्वं विशाखो मूलमश्विनी । हस्तः शतभिषक् स्वातिश्चित्रा च मृगपञ्चकम् ॥१०८

अक्रुद्धः शास्त्रमर्मज्ञो ह्यनालस्यो मदोज्झितः ।
हस्तसिद्धस्तथा वाग्मी कलाचार्यो मतः सताम् ॥१०९

पितृभ्यामीदृशस्यैव कलाचार्यस्य बालकः । वत्सरात्पञ्चमादूर्ध्वमर्पणीयः कृतोत्सवम् ॥११०
इष्टानामप्यपत्यानां वरं भवतु मूर्खता । नास्तिकाद् दुष्टचेष्टाश्च न च विद्यागुरोर्न तु ॥१११

देव-कुलके समीप घरके होने पर दुःख होता है, चतुष्पथों (चौराहों) में घरके होने पर अर्थ-हानि होती है, धूर्त और मदिरासे उन्मत्त रहनेवाले पुरुषोंके घरके समीप घर होने पर पुत्र और धनका क्षय होता है ॥१०२॥ जिस घरमें खजूर, अनार, केला, वेरी, और विजोरे उत्पन्न होते हैं, वे वृक्ष घरका मूलसे विनाश कर देते हैं ॥१०३॥ घरमें प्लक्ष (पिलखन) के वृक्षसे रोगोंकी उत्पत्ति होती हैं, पीपलके वृक्षसे सदा भय रहता है, वट वृक्षसे राजा-जनित पीड़ा होती है और ऊमरके वृक्षसे नेत्र-व्याधि होती है, ऐसा जानना चाहिए ॥१०४॥ घरमें क्षीरी (दूधवाले) वृक्ष लक्ष्मीका नाश करते हैं, कंटकवाला वृक्ष शत्रुका भय प्रदान करते हैं और फली (प्रियंगु) वृक्ष पुत्र-घातक होता है, इसलिए इन वृक्षोंके काष्ठ तकको भी छोड़ देना चाहिए ॥१०५॥ कोई-कोई विद्वान् कहते हैं कि वट वृक्ष घरके पूर्व भागमें दक्षिण-भागमें उदुम्बर वृक्ष, पश्चिम भागमें पीपल और उत्तर भागमें प्लक्ष वृक्ष प्रशंसनीय होता है ॥१०६॥

अब शिष्योंको ज्ञान-प्रदान करनेका क्रम कहते हैं—शिष्योंको विद्या पढ़ानेके प्रारम्भमें गुरु और सोमवार सौम्य और श्रेष्ठ हैं, मंगल और शनिवार अनिष्टकारक हैं, शुक्र और रविवार मध्यम हैं। विद्वानोंने विद्याके आरम्भमें बुधवार उत्तम कहा है ॥१०७॥ विद्यारम्भमें तीनों पूर्वाएँ, श्रुतिद्वन्द्व (श्रवण-धनिष्ठा)-मूल, अश्विनी, हस्त, शतभिषा, स्वाति, चित्रा और मृगपंचक (मृगशिर, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा) ये नक्षत्र उत्तम होते है ॥१०८॥

अब पढ़ानेवाले आचार्यका स्वरूप कहते हैं—जो क्रोधी न हो, शास्त्रोंके मर्मका ज्ञाता हो, आलस्य-रहित हो, मद-अहंकारसे विमुक्त हो, हस्तसिद्ध हो और उत्तम वाणीवाला हो, ऐसा कलाचार्य सज्जनों द्वारा श्रेष्ठ माना गया है ॥१०९॥ माता-पिता पाँच वर्षसे ऊपर होनेपर उत्सव करके अपना बालक उपर्युक्त प्रकारके कलाचार्यको विद्या पढ़ानेके लिए समर्पण करें ॥११०॥ अपने इष्ट भी पुत्रोंका मूर्ख रहना उत्तम है, किन्तु नास्तिक और दुष्ट चेष्टावाले विद्यागुरुसे

विद्ययापि तया किं तया नास्तिक्यादिदूषिता । स्वर्णेनापि हि किं तेन कर्णच्छेदं करोति यत् ॥११२
आचार्यो मधुरैर्वाक्यैः साभिप्रायावलोकनैः । शिष्यं शिक्षयनिर्लज्जं कुर्याद् बन्धनताड़नैः ॥११३
मस्तके हृदये वापि प्राज्ञश्छात्रं न ताडयेत् । अधोभागे शरीरस्य पुनः किञ्चिच्च शिक्षयेत् ॥११४

कृतज्ञाः शुचयः प्राज्ञकल्पा द्रोहविवर्जिताः ।
गुरुभिस्त्यक्तशाठ्याश्च पाठ्याः शिष्या विवेकिनः ॥११५

मधुराहारिणा प्रायो ब्रह्मव्रतविधायिना । दयादानादिशीलेन कौतुकालोकवर्जिना ॥११६
कपर्दप्रमुख-क्रीडा-विनोदपरिहारिणा । विनीतेन च शिष्येण सुपठितव्यमन्वहम् ॥११७॥ युग्मम् ।
गुरुष्वविनयो धर्मे विद्वेषः स्वगुणैर्मदः । गुणिषु द्वेष इत्येताः कालकूटच्छटाः स्फुटाः ॥११८
कलाचार्यस्य चाऽजस्रं पाठको हितमाचरेत् । निःशेषमपि चामुष्मै लब्धं चैव निवेदयेत् ॥११९
गुरोः सनगरग्रामां ददाति यदि मेदिनीम् । तदापि न भवत्येव कथञ्चिदनृणः पुमान् ॥१२०
उपाध्यायमुपासीत तदनुद्धतवेषभृत् । विना पूज्यपदं पूज्यं नाम नैव सुधीर्वदेत् ॥१२१
आत्मनश्च गुरोश्चैव भार्यायाः कृपणस्य च । क्षीयते वित्तमायुश्च मूलनामानुकीर्तनात् ॥१२२
चतुर्दशी-कुहूराकाऽष्टमीषु न पठेन्नरः । सूतकेऽपि तथा राहु-ग्रहणे चन्द्र-सूर्ययोः ॥१२३

पढ़ाना अच्छा नहीं है ॥१११॥ उस पढ़ाई गई विद्यासे क्या लाभ है जो कि नास्तिकता आदि दोषोंसे दूषित हो । उस सुवर्णके पहिरनेसे क्या लाभ है जो कानको छिन्न-भिन्न करता है ॥११२॥

आचार्य मधुर वाक्योंके द्वारा उत्तम अभिप्राययुक्त अवलोकनोंसे तथा समयोचित बन्धन और ताड़नसे शिष्यको शिक्षा ग्रहण करनेमें लज्जा और झिझकसे रहित करे ॥११३॥ बुद्धिमान् आचार्य मस्तक पर और हृदयपर छात्रको नहीं मारे । किन्तु शरीरके अधोभागमें (आवश्यक होनेपर कभी) कुछ ताड़ना देवे ॥११४॥

अब शिष्योंका स्वरूप कहते हैं—जो गुरु-कृत उपकारके माननेवाले हों, शौचधर्मयुक्त हों, पंडित-सदृश बुद्धिमान हों, द्रोहसे रहित हों, शठतासे विमुक्त हों और विवेकी हों, ऐसे शिष्य गुरुजनोंको पढ़ाना चाहिए ॥११५॥ मधुर आहारी, प्रायः ब्रह्मचर्यव्रतका धारक, दया, दान आदि करनेके स्वभाववाला, नाटक कौतुक देखनेका त्यागी, कौडी आदिसे क्रीड़ा-विनोदका परिहारी और विनीत शिष्यको प्रतिदिन पढना चाहिए ॥११६–११७॥ गुरुजनोंमें विनयभाव नहीं रखना, धर्ममें विद्वेषभाव रखना, अपने गुणोंका मद करना और गुणीजनोंपर द्वेष करना, ये सब कार्य विद्या पढ़नेके इच्छुक शिष्यके लिए स्पष्ट रूपसे कालकूट विषकी छटाके समान दुःखदायक हैं ॥११८॥ पढ़नेवाले शिष्यको कलाचार्यके प्रति सदा ही हितकारक आचरण करना चाहिए । तथा विद्याभ्यासके समय जो कुछ भी उसे प्राप्त हो, वह सम्पूर्ण ही गुरुके लिए समर्पण कर देना चाहिए ॥११९॥ यदि कोई सभी नगरों और ग्रामोंके साथ सारी पृथ्वीको भी देता है, तो भी वह पुरुष किसी भी प्रकारसे गुरुके ऋणसे रहित नहीं होता है ॥१२०॥

उद्धतता-रहित वेषका धारक शिष्य अपने उपाध्यायकी भली प्रकारसे उपासना करे । बुद्धिमान् शिष्यको पूज्यपद लगाये बिना पूज्य गुरुका नाम नहीं बोलना चाहिए ॥१२१॥ अपना, गुरुका, पत्नीका और कृपण पुरुषका मूल नाम उच्चारण करनेसे धन और आयु क्षीण होती है ॥१२२॥ चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णमासी और अष्टमीके दिन मनुष्यको नहीं पढ़ना चाहिए । तथा सूतकके समय और राहुके द्वारा चन्द्र-सूर्यके ग्रहण होनेके कालमें भी नहीं पढ़ना चाहिए ॥१२३॥

तथोल्कापात-निर्घातभूमिकम्पेषु गर्जिते । पञ्चत्वं च प्रयातानां बन्धूनां प्रेतकर्मणि ॥१२४

अकालविद्युति भ्रष्टमलिनामेध्यसन्निधौ ।

श्मशाने वासमान्धे च नाधीतात्मनि चाशुचौ ॥१२५॥ युग्मम् ।

नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च तदेकाग्रमना सदा । नाविच्छिन्नपदं चैव नास्पष्टं पाठकं पठेत् ॥१२६

शास्त्रानुरक्तिरारोग्यं विनयोद्यमबुद्धयः । आन्तराः पञ्च विज्ञेया धन्यानां पाठहेतवे ॥१२७

सहाया भोजनं वास आचार्यः पुस्तकास्तथा । अमी बाह्या अपि ज्ञेया पञ्च पाण्डित्यहेतवः ॥१२८

संस्कृते प्राकृते चैव सौरसेने च मागधे । पैशाचिकेऽपभ्रंशे च लक्षं लक्षणमादरात् ॥१२९

कवित्वहेतुः साहित्यं तर्को विज्ञत्वकारणम् । बुद्धिवृद्धिकरी नीतिस्तस्मादभ्यस्यते बुधैः ॥१३०

पाटीगोलकचक्राणां तथैव गूढबीजयोः । गणितं सर्वशास्त्रौघव्यापकं पठ्यतां सदा ॥१३१

धर्मशास्त्रश्रुतौ शश्वल्लालसं यस्य मानसम् । परमार्थं स एवेह सम्यग् जानाति नापरः ॥१३२

ज्योतिःशास्त्रं समीक्षेत त्रिस्कन्धं विहितादरः । गणितं संहिताहोरैते तत्स्कन्धत्रयं पुनः ॥१३३

प्रवृत्तिभेषजं व्याधिं सात्म्यदेहं बलं वयः । कालं देशं तथा वह्निं विभवं प्रतिचारकम् ॥१३४

विजानन् सर्वदा सम्यक् फलदं लोकयोर्द्वयोः ।

अभ्यसेद् वैद्यकं धीमान् यशोधर्मार्थसिद्धये ॥१३५॥ युग्मम् ।

काय-बाल-ग्रहोर्ध्वाङ्ग-शल्य-दंष्ट्रा-जरा-वृषैः । एतैरष्टभिरङ्गैश्च वैद्यकं ख्यातमष्टधा ॥१३६

इसी प्रकार उल्कापात, वज्रपात, भूमि-कम्प और मेघ-गर्जन होने पर, मरणको प्राप्त हुए बन्धु-जनोंके प्रेतकर्म करने पर, अकालमें बिजली चमकने पर, भ्रष्ट और मलिन पुरुषके तथा अपवित्र वस्तुके सान्निध्यमें, श्मशानमें, दिनमें रात्रिके समान अन्धकार होने पर और अपनी शारीरिक अशुचि-दशामें भी नहीं पढ़ना चाहिए ॥१२४-१२५॥

न अति उच्च स्वरसे पढ़े, न अति मन्द स्वरसे पढ़े, किन्तु यथोचित मध्यम स्वरसे अध्ययनमें एकाग्र मन होकर ही सदा पढ़ना चाहिए। विच्छिन्न पद-युक्त भी नहीं पढ़े और पाठको अस्पष्ट भी नहीं पढ़ना चाहिए ॥१२६॥ शास्त्र-पठनमें अनुरक्ति, निरोगता, विनय, उद्यम और बुद्धि ये पाँच आन्तरिक कारण धन्य पुरुषोंके पाठके हेतु हैं ॥१२७॥ सहायक पुरुष, भोजन, आवास, आचार्य और पुस्तक ये पाँच पाण्डित्यके बाह्य हेतु जानना चाहिए ॥१२८॥

संस्कृत, प्राकृत, सौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश भाषाके लक्षण (व्याकरण) शास्त्रको आदरसे पढ़नेका लक्ष रखना चाहिए ॥१२९॥ साहित्य कवित्वका हेतु है, तर्क शास्त्र विज्ञता प्राप्त करनेका कारण है और नीति बुद्धिकी वृद्धि करती है, इसलिए बुधजन इन तीनों विद्याओंका अभ्यास करते हैं ॥१३०॥ पाटी, गोलक और चक्रका, तथैव गूढ़ और बीजका अध्ययन करे। तथा सर्वशास्त्र-समुदायमें व्यापक गणितको सदा ही पढ़ना चाहिए ॥१३१॥ जिस मनुष्यका चित्त सदा धर्म शास्त्रके सुननेमें लालसायुक्त रहता है, वह पुरुष ही इस लोकमें परमार्थको जानता है, अन्य पुरुष परमार्थको नहीं जानते हैं ॥१३२॥

आदर-पूर्वक तीन स्कन्धवाले ज्योतिष शास्त्रको सम्यक् प्रकारसे पढ़े। पुनः उन तीनों स्कन्धोंका गणित संहिता और होराके साथ अध्ययन करे ॥१३३॥ इसी प्रकार बुद्धिमान् धर्म और अर्थकी सिद्धिके लिए दोनों लोकोंमें सम्यक् फल देनेवाले वैद्यक शास्त्रका प्रवृत्तिभेषज, व्याधि, वातादिकी समतावाला शरीर, बल, वय, (आयु) काल, देश, जठराग्नि, वैभव और प्रतिचारकको जानता हुआ अभ्यास करे ॥१३४-१३५॥ काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वाङ्ग, शल्य, दंष्ट्रा, जरा और

जठरस्यानलं कायो बालो बालचिकित्सितम् । गृहो भूतादिविन्यास ऊर्ध्वाङ्गमूर्ध्वशोधनम् ॥१३७
शल्यं लोहादि दंष्ट्राहिर्जरापि च रसायनम् । वृषः पोषः शरीरस्य व्याख्याष्टाङ्गस्य लेशतः ॥१३८
चित्राक्षर-कलाभ्यासो लक्षणं च गजाश्वयोः । गवादीनां च विज्ञेयं विद्वद्-गोष्ठं चिकीर्षुणा ॥१३९
सामुद्रिकस्य रत्नस्य स्वप्नस्य शकुनस्य च । मेघमालोपदेशस्य सर्वाङ्गस्फुरणस्य च ॥१४०

तथैव चाङ्गविद्यायाः शास्त्राणि निखिलान्यपि ।
ज्ञातव्यानि बुधैः सम्यक् वाञ्छद्भिर्हितमात्मनः ॥१४१॥ युग्मम् ।

शास्त्रं वात्सायनं ज्ञेयं न प्रकाश्यं यतस्ततः । ज्ञेयं भरतशास्त्रं च नाचार्यं धीमता पुनः ॥१४२
गुरोरतिशयं ज्ञात्वा पिण्डसिद्धि तथात्मनः । क्रूरमन्त्रान् परित्यज्य ग्राह्यो मन्त्रक्रमो हितः ॥१४३
सत्यामपि विषाज्ञायां न भक्ष्यं स्थावरं विषम् । पाणिभ्यां पन्नगादींश्च स्पृशेन्नैव जिजीविषुः ॥१४४

अथ जङ्गमविषविषये कालाकालविचारे क्रमः—

जाङ्गुल्याः कुरुकुल्लायास्तोतलाया गरुत्मतः : विषार्त्तस्य जनस्यास्य कः परस्त्राणकरः परः ॥१४५
आविष्टाः कोपिता मत्ता क्षुधिताः पूर्ववैरिणः । दन्दशूका दशन्त्यन्यान् प्राणिनस्त्राणवर्जितान् ॥१४६

वृष इन आठ अंगोंसे वैद्यकशास्त्र आठ प्रकारका प्रसिद्ध है ॥१३६॥ उदरकी अग्नि 'काय' कहलाती है, बालकोंकी चिकित्साको 'बाल' कहते हैं, भूत-प्रेतादिके द्वारा दिये जानेवाले कष्टको 'ग्रह' कहते हैं, ऊर्ध्वभागका शोधन 'ऊर्ध्वाङ्ग' कहलाता है, लोह आदिकी शलाकाओंसे चीर-फाड़ करना 'शल्य' कहलाता है, साँपके द्वारा काटनेको 'दंष्ट्रा' कहते हैं, रसायनको 'जरा' कहते हैं और शरीरका पोषण वृष कहलाता है। यह वैद्यक शास्त्रके आठों अंगोंकी संक्षेपसे व्याख्या है ॥१३७-१३८॥

विद्वानोंके साथ गोष्ठी करनेके इच्छुक पुरुषको चित्रमयी अक्षर लिखनेकी कलाका अभ्यास करना चाहिए, हस्ती और अश्वके, तथा गाय-बैल आदिके लक्षण भी जानना चाहिए ॥१३९॥ इसी प्रकार अपने सम्यक् हितको चाहनेवाले बुधजनोंको सामुद्रिकके, रत्नोंके, स्वप्नके, शकुनके, मेघमालाके उपदेशके, शरीरके सभी अंगोंके स्फुरणके, और अंगविद्याके सभी शास्त्रोंको भलीभाँतिसे जानना चाहिए ॥१४०-१४१॥ काम-विषयक वात्सायनशास्त्र भी जानना चाहिए, किन्तु उसे दूसरोंके आगे प्रकाशित नहीं करना चाहिए। पुनः श्रीमान् पुरुषको संगीत-नाट्य-सम्बन्धी भरतशास्त्र भी जानना चाहिए, किन्तु उसे दूसरोंके सम्मुख आचरण नहीं करना चाहिए ॥१४२॥

गुरुके अतिशयको जानकर अपने शरीरकी सिद्धि अर्थात् उदरशुद्धि आदि वस्तिकर्मको भी जानना चाहिए, तथा उच्चाटन-मारण आदि करनेवाले क्रूर मंत्रोंको छोड़कर स्व-पर-हितकारी उत्तम मंत्रोंका क्रम ग्रहण करना चाहिए ॥१४३॥ विषको दूर करनेवाली विद्याको जाननेपर भी स्वयं स्थावर (संखिया आदि पार्थिव) विष नहीं खाना चाहिए। तथा जीनेके इच्छुक वैद्यको सर्प आदि विषैले जन्तुओंको हाथोंसे स्पर्श नहीं करना चाहिए ॥१४४॥

अब जंगम (त्रस-प्राणिज) विषके विषयमें काल और अकालके विचारका क्रम कहा जाता है—जांगुलीके, कुरुकुल्लाके, तोतलाके और गारुड़ीके सिवाय अन्य कौन दूसरा पुरुष विषसे पीड़ित जीवकी रक्षा करनेवाला है ? कोई भी नहीं ॥१४५॥ दूसरेके द्वारा आदेश दिये गये, क्रोधको प्राप्त, उन्मत्त, भूखसे पीड़ित और पूर्वभवके वैरी सर्प अपनी रक्षा करनेसे रहित अन्य प्राणियोंके

ते देवा देवतास्तास्ते गुणज्ञा मन्त्रपाठकाः । अङ्गज्ञा अपि ते धन्या यैस्त्राणं प्राणिनां विषात् ॥१४७
विषार्तस्याङ्गिनः पूर्वं विमृश्यं काललक्षणम् । अपरं तज्जीवितव्यस्य चिह्नं तदनु मन्त्रिणा ॥१४८
वारस्तिथि-भ-दिग्दंशा दूतो मर्माणि दृष्टकः ।।स्थानं हं (?) प्रचाराद्याः कालाकालनिवेदकाः ॥१४९
भौमभास्करमन्दानां दिने सन्ध्याद्वये तथा । सङ्क्रान्तिकाले दष्टे हि क्रीडन्ति तु सुरस्त्रियः ॥१५०
पञ्चमी षष्ठिकाष्टम्यौ नवमी च चतुर्दशी । अमावास्याप्यवश्या स्याद् दष्टानां मृतिहेतवः ॥१५१
मीनचापद्वये कुम्भवृषयोः कर्कटाजयोः । कन्यामिथुनयोः सिंहालिनो मृततुलाख्ययोः ॥१५२

एकान्तरा द्वितीयाद्या दग्धाः स्युस्तिथयः क्रमात् ।
सति चन्द्रेऽमीषु दष्टानां भवेज्जीवितसंशयः ॥१५३

मूलाश्लेषा मघा पूर्वात्रयं भरणिकाश्विनी । कृत्तिकार्द्रा विशाखा च रोहिणी दष्टमृत्युदा ॥१५४

नैऋत्याग्नेयिका याम्या दिशस्तिस्रो विवर्जयन् ।
अन्यदिग्भ्यः समायातो दष्टो जीवस्य संशयः ॥१५५

स्वपयः-शोणितादश्चत्वारो युगपद्यदि । एको वा शोफवत्सूक्ष्मो दश आवर्तसन्निभः ॥१५६
दंशः काकपदाकारो रक्तवाही सगर्तकः । रेखः श्यामलः शुष्कः प्राणसंहारकारकः ॥१५७

डसते (काटते) हैं ॥१४६॥ किन्तु वे देव, वे देवता, वे गुणीजन, वे मंत्रके पाठी पुरुष और वे अंगके ज्ञाता मनुष्य धन्य हैं जो कि विषसे पीड़ित प्राणियोंकी रक्षा करते हैं ॥१४७॥

सर्व प्रथम सर्प-विषके दूर करनेवाले मंत्रज्ञ पुरुषको विषसे पीड़ित पुरुषके मृत्यु-कालके लक्षणोंका विचार करना चाहिए। तत्पश्चात् उसके जीवितव्यके अन्य चिह्नोंका विचार करना चाहिए ॥१४८॥ पुनः मंत्रज्ञ पुरुषको सर्प के द्वारा काटे गये दिनका, तिथिका, नक्षत्रका, दिशाका, दंशाका, दूतका और मर्मस्थानका विचार करना चाहिए। क्योंकि ये तिथि वार आदिक काल और अकालके निवेदक (सूचक) होते हैं ॥१४९॥ मंगल, रवि और शनिवारके दिनमें, प्रातः और सायंकाल इन दोनों सन्ध्याओंमें, तथा संक्रान्ति-कालमें साँपके डसनेपर देवाङ्गनाएँ क्रीड़ा करती हैं, अर्थात् उक्त समयोंमें काटे हुए पुरुषको कोई भी नहीं बचा सकता है ॥१५०॥ पंचमी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी और अमावस्या ये तिथियाँ अवश्य हैं, अर्थात् इन तिथियोंमें काटे गये पुरुषको बचाना मंत्रज्ञ पुरुषके वशमें नहीं है। ये तिथियाँ सर्प-दष्ट जीवोंके मृत्युकी कारण होती हैं ॥१५१॥

चापद्वय (मीन और धन) कुम्भ, वृष, कर्कट, अज, कन्या-मिथुन, सिंह-अलि (वृश्चिक) और तुलानामवाली राशियोंमें एकान्तरित द्वितीया आदि तिथियाँ क्रमसे दग्ध (नेष्ट-अशुभ) होती हैं। इन तिथियोंमें चन्द्रके होनेपर डंसे गये जीवोंके जीनेमें संशय रहता है ॥१५२-१५३॥

मूल, आश्लेषा, मघा, तीनों पूर्वाएँ, भरणी, अश्विनी, कृत्तिका, आर्द्रा, विशाखा और रोहिणी ये नक्षत्र डंसे गये प्राणीको मौतके देनेवाले होते हैं ॥१५४॥ नैऋत्य, आग्नेय और दक्षिण इन तीन दिशाओंको छोड़कर अन्य दिशाओंसे आये हुए सर्प-दष्ट जीवके जीवनका संशय है ॥१५५॥ अपने दूध और रक्तसे चार बिन्दु यदि एक साथ निकलते हैं, अथवा एक भी बिन्दु सूजनके साथ सूक्ष्मरूपसे निकलता है तो वह दश आवर्तके सदृश हैं ॥१५६॥

काटने का स्थान काक-पदके आकारवाला हो, रक्त-प्रवाहक हो, गर्त-सहित हो, रेखा काली

सञ्चरत्कीटिकास्पृष्ट इषुवेधीव दाहकृत् । कण्डूमान् सविषो ज्ञेयो दंशोऽन्यो निर्विषः पुनः ॥१५८
तैलाक्तो मुक्तकेशश्च सशस्त्रः प्रस्खलद्वचाः । ऊर्ध्वीकृतकरद्वन्द्वो रोगग्रस्तो विहस्तकः ॥१५९
रासभं करभं मत्तमहिषं चाधिरूढवान् । अपद्वारसमायातः कन्दिशीकश्चलेक्षणः ॥१६०
एकवस्त्रो विवस्त्रश्च वृत्तस्थो जीर्णचीवरः । वाहनीविकृतः क्रुद्धो दूतो नूतनजन्मने ॥१६१
स्थिरो मधुरवाक् पुष्पोऽक्षतपाणिर्दिशि स्थितः । एक जातिव्रतो दूतो दूतो दूरविषव्ययः ॥१६२
विषमः शस्यते दूतः स्त्री स्त्रीणां तु नरो नृणाम् । एवं सर्वेषु कार्येषु वर्जनीयो विपर्ययः ॥१६३
दष्टस्य नाम प्रथमं गृह्णंस्तदनु मन्त्रिणः । वक्ति दूतो यमाहूते दष्टोऽयमुष्यतामिति ॥१६४

दूतस्य यदि पादः स्याद्दक्षिणोऽग्रे स्थिरस्तदा ।
पुमान् दष्टोऽथ वामे तु स्त्री दष्टेत्यपि निश्चयः ॥१६५
ज्ञानिनोऽग्रस्थितो दूतो यदङ्गं किमपि स्पृशेत् ।
तस्मिन्नङ्गेऽस्ति दंशोऽपि ज्ञानिना ज्ञेयमित्यपि ॥१६६

और शुष्क हो, तो ये चिह्न प्राण-संहारक होते है ॥१५७॥ जहाँपर काटा गया है वह स्थान चलती हुई कीड़ियोंके स्पर्शके समान प्रतीत हो, अथवा बाण-वेधके समान दाह करनेवाला हो और खुजलाता हो तो उस दंशको विषयुक्त जानना चाहिए। इससे भिन्न दंशको निर्विष जानना चाहिए ॥१५८॥

सर्प-दष्ट पुरुषका दूत (समाचार लानेवाला पुरुष) तेलसे लिप्त शरीर हो, बिखरे केशवाला हो, शस्त्र-युक्त हो, स्खलित वचन बोलनेवाला हो, दोनों हाथोंको ऊपर किये हुए हो, रोग-ग्रस्त हो, हाथमें दण्ड आदि लिए हो, गर्दभ, ऊँट या मद-मत्त भैंसे पर चढ़ा हुआ और घरके पिछले द्वारसे आया हो, कन्दिशीक (सर्व दिशाओंको देख रहा) हो, चंचल नेत्र हो, एक वस्त्रधारी हो अथवा वस्त्र-रहित हो, वृत्तस्थ (व्यापार-चर्चामें संलग्न) हो, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहिने हो, वाहनी-विकृत हो, (विकृत टूटी-फूटी गाड़ीपर बैठकर आया हो, अथवा जिसके शरीरकी वाहिनी (शिराएँ) उभरी हुई हों) और क्रोध युक्त हो, तो ऐसा दूत सर्प-दष्ट पुरुषके नवीन जन्मके लिए सूचक है अर्थात् वह सर्प-दष्ट पुरुष मर जायगा ॥१५९-१६१॥

यदि सर्प-दष्ट पुरुषका दूत स्थिर चित्त हो, मधुर वचन बोलनेवाला हो, पुष्प या अक्षत हाथमें लिये हुए हो, दिशामें अवस्थित हो, एक जातिके व्रतवाला हो, (वर्णके या वैद्यके समान व्यवसायी हो) तो वह दूत सर्प-दष्ट पुरुषकी व्यथाको दूर करनेका सूचक है ॥१६२॥ विषम दूत प्रशंसनीय होता है अर्थात् सर्प-दष्ट पुरुषोंका दूत स्त्री और स्त्रियोंका दूत मनुष्य अच्छा माना जाता है। इसी प्रकार सर्व कार्योंमें विपर्यय वर्जनीय है ॥१६३॥

सर्प-दष्ट पुरुषका नाम पहिले और मंत्रज्ञ पुरुषका नाम उसके पीछे लेता हुआ दूत यदि बोलता है तो 'यमराजके द्वारा बुलाये जाने पर यह अमुक व्यक्ति डसा गया है' ऐसा कहना चाहिए ॥ दूतका यदि दक्षिण पाद आगे और स्थिर हो तो 'पुरुष डसा गया है' ऐसा निश्चय करना चाहिये'। यदि दूतका वाम पाद आगे और अस्थिर हो तो स्त्री डसी गई है, ऐसा भी निश्चय करना चाहिए ॥१६५॥ मंत्र-ज्ञाता पुरुषके आगे स्थित दूत जिस अंगका कुछ भी स्पर्श करे तो 'उस अंगमें डसा है' ऐसा भी ज्ञानी पुरुषको जानना चाहिए ॥१६६॥

अग्रस्थे यदा दूते वामा वहति नासिका। मुखाशिका तदा देश्या दष्टस्य गदहारिणा ॥१६७
वामायामपि नासायां यदि वायोः प्रवेशने। दूतः समागतः यस्य तदा नैवान्यथा पुनः ॥१६८
दूतोक्तवर्णसङ्ख्याङ्को द्विगुणो भाजयेत् त्रिका। यद्येकः शेषतां याति तच्छुभं नान्यथा पुनः ॥१६९
दूते दिगाश्रिते जीवत्यहिदष्टो विदिक्षु न। प्रश्नेऽप्यन्तर्वहद्वायौ सति दूते न तत्कृतः ॥१७०
प्रश्नं कृत्वा मुखं दूतो धत्ते स्वं मलिनं यदि। तदा दष्टादरो युक्तो विपर्यासे मृतस्तु सः ॥१७१
दूतस्य वदनं रात्रौ यदि सम्यग् न दृश्यते। तदा स्वस्मिन् मुखं ज्ञेयं मन्त्रिणा मलिनादिकम् ॥१७२
कण्ठे वक्षस्थले लिङ्गे मस्तके (नाभिके) गुदे। नासापुटे भ्रुवोष्ठे (च योनौ च) स्तनद्वये ॥१७३
पाणिपादतले सन्धौ स्कन्धे कर्णेऽलिके दृशोः। केशान्ते कक्षयोर्दष्टो दृष्टोऽन्तकपुरीजनैः ॥१७४
त्रुटयन्ति मूर्धजा येषां दष्टमध्येऽथ वा लवः। कण्ठग्रहो वपुःशीतं हिक्काक्षमकपोलता ॥१७५
भ्रमिर्मोहोऽङ्गसादश्च शशि-रव्योरवीक्षणम्। गात्राणां कम्पनं भङ्गो दृशो रक्ते सनिद्रता ॥१७६
लाला विरूक्षता पाण्डुरक्तं वाक्सानुनासिका। विपरीताथ वीक्षा च जृम्भा छायासुरञ्जिता ॥१७७

जब दूत आकर मंत्रज्ञाता पुरुषके आगे बैठे, उस समय यदि मंत्रज्ञकी वाम नासिका बहती हो, तब रोगका प्रतीकार करनेवाले पुरुषको सर्प-दष्ट पुरुषकी मुखाशिका (सर्प-दष्ट पुरुष जी जायगा, ऐसा आशा-भरा वचन कहना चाहिए ॥१६७॥ यदि वाम भी नासिकामें वायुके प्रवेश करनेके समय जिसका दूत आया हो, तब भी अन्यथा नहीं होगा, अर्थात् बच जायेगा ऐसा जान लेना चाहिए ॥१६८॥

दूतके द्वारा कहे गये वर्णोंकी संख्याके अंकोंको दूना कर तीनसे भाग देनेपर यदि एक शेष रहता है, तो शुभ है, अर्थात् सर्प-दष्ट पुरुष जी जायेगा। अन्यथा नहीं ॥१६९॥ दूतके आकर दिशाके आश्रयसे बैठने पर सर्प-दष्ट पुरुष जीवित रहता है, किन्तु विदिशाओंमें बैठने पर जीवित नहीं रहता है। दूतके प्रश्न करने पर और भीतरकी ओर वायुके बहने पर भी जीवित नहीं रहता है ॥१७०॥ प्रश्न करके यदि दूत अपने मुखको मलिन रखता है, तब सर्प-दष्ट पुरुष आदर योग्य है। इससे विपरीत दशामें वह सर्प-दष्ट पुरुष मर गया, या मर जायगा, ऐसा जानना चाहिए ॥१७१॥

यदि रात्रिमें दूतका मुख अच्छी तरहसे नहीं दिखता हो तो मंत्रज्ञाता पुरुषको अपने शरीरमें मुखकी मलिनता आदिको जानना चाहिए ॥१७२॥ यदि सर्पने कण्ठमें, वक्षःस्थलमें, लिंगमें, मस्तकपर,(नाभिमें) गुदामें, नासा-पुटमें, भौंहपर, ओठपर, (योनिमें) दोनों स्तनोंपर, हस्त और पादके तलभागमें, सन्धिमें, कन्धेपर, कानमें, दोनों आँखोंकी पलकपर, केशान्तमें (मस्तकमें) और दोनों आँखोंमें काटा है तो वह व्यक्ति यमपुरीके जनों-द्वारा देखा गया है, अर्थात् मर जायगा, ऐसा जानना चाहिए ॥१७३-१७४॥

साँपके काटनेपर जिनके शिरके केश टूटने लगते हैं, अथवा डसे स्थानके बाल टूटते हैं, कण्ठग्रह हो अर्थात् बोलना बन्द हो जाय, शरीर ठंडा हो जाय, हिचकी लेनेमें अक्षम हो जाये, या हिचकी लेनेमें कपोलमें गह्वर हो जावें, चक्कर आने लग जावें, मूर्च्छा आ जावे, अंग-शैथिल्य हो, रात्रिमें चन्द्र और दिनमें सूर्य न दिखे, शरीरमें कम्पन होने लगे, या अंगोंका भंग होने लगे, नेत्र लाल हो जावें, निद्रा आने लगे, लाला (मुख-लार) में रूखापन आ जाये, मुख पांडु या रक्त वर्णका हो जावे, बचनोंका बोलना नासिकाके स्वरके अनुसार होने लगे, देखना विपरीत होने

छेदे स्रावो न रक्तस्य न रेखा यष्टिताडने। नाधस्तात्कुचयोः स्पन्दोऽदर्शनं दर्शनकेऽपि च ॥१७८
दशनाकारधारित्वं सुव्यक्तं वर्णास्पष्टता। निःश्वासस्य च शीतत्वं कन्धराऽप्यतिभङ्गुरा ॥१७९
शोणिते पयसि न्यस्ते विस्तारस्तैलबिन्दुवत्। ओष्ठसम्पुटयोर्मुद्राभेदो मेलितयोरपि ॥१८०
जिह्वाविलोकनं नैव न नासाग्रनिरीक्षणम्। आत्मीयो विषयः कश्चिदिन्द्रियाणां न गोचरः ॥१८१
मुखे श्वासो न नासाया विकासो नेत्रवक्षसोः। चन्द्रे सूर्यभ्रमः सूर्ये चन्द्रोऽयमिति च भ्रमः ॥१८२
कक्षायां रसनायां च श्रवणद्वितयेऽपि च। ध्वाङ्क्षपादोपमं नीलं यदि वोत्पद्यते स्फुटम् ॥१८३
दर्पणे सलिले वापि स्वमुखस्यानिरीक्षणम्। न दृशोः पुत्रिका स्पष्टा पुरस्थैरवलोक्यते ॥१८४
शोफः कुक्षोर्नखानां च मालिन्यं सहसा तथा। स्वेदः शूलं गले भक्ष्यप्रवेश्यो न मनागपि ॥१८५
न कम्पः पुलको दन्तघर्षश्चाधरपीडनम्। सीत्कारस्तापजडता कूजनं च मुहुर्मुहुः ॥१८६
नेत्रयोः शुक्लयोरह्नि रक्तयोः सायमेव हि। नीलयोर्निशि मृत्युः स्यात्तस्य दष्टस्य निश्चितम् ॥१८७
दष्टस्य देहे शीताम्बुधारासिक्ते भवेद्यदि। रोमाञ्चः कम्पनाद्यं वा तदा दष्टोऽनुगृह्यते ॥१८८
यो हस्तनखनिर्मुक्तैः पयोबिन्दुभिराहतैः। निमीलयति नेत्रे स्वे यमस्तस्मिंश्च सोद्यमः ॥१८९
यस्य पाणिनखासक्तमांसेऽन्यनखपीडिते। जायते वेदना तस्य नान्तको भजतेऽन्तिके ॥१९०
इष्टिका-चितिवल्मीकाद्विभक्ते च सरित्तटे। वृक्षकुञ्जे श्मशाने च जीर्णे शालागृहान्तरे ॥१९१

लगे, जँभाई आने लगे, छाया प्राणोंका अंग बन गई हो, शरीरके छेदनेपर रक्त-स्राव न हो, लकड़ीसे मारनेपर रेखा न पड़े, स्तनोंके नीचे स्पन्दन न हो, देखनेपर भी स्पष्ट न दिखे, साँपके दाँतोंका आकार स्पष्ट दिखने लगे, निःश्वासमें शीतलता आने लगे, कन्धरा भी अधिक भंगुर (टेढ़ी) हो जावे, रक्तके पानीमें डालनेपर तेलकी बूँदके समान वह फैलने लगे, ओष्ठ-सम्पुटके मिलानेपर भी मुद्रा-भेद हो अर्थात् वे खुल जावें, जीभको न देख सके, नासिकाका अग्रभाग भी न दिखे; इन्द्रियोंका अपना कोई भी विषय गोचर (प्रतीत) न हो, मुखमें श्वास प्रतीत हो, किन्तु नासिकाकी प्रतीत न हो, नेत्रोंका और वक्षः स्थलका विकास हो, चन्द्रमें सूर्यका भ्रम हो और सूर्यमें यह चन्द्र है, ऐसा भ्रम होने लगे, कांखमें, जीभमें और दोनोंमें भी काकके पाद-समान नीलापन यदि स्पष्टरूपसे उत्पन्न हो जाये, दर्पणमें अथवा पानीमें देखनेपर भी अपना मुख न दिखे, नेत्रोंकी पुतलियां सामने बैठे हुए पुरुषोंको स्पष्ट न दिखे, कुक्षिमें शोफ (सूजन), आजावे, नखोंमें सहसा मलिनता आजावे, प्रस्वेद-शूल हो जावे, गलेमें खानेयोग्य वस्तुका जरा-सा भी प्रवेश न हो सके, शरीरमें न कम्पन हो, न रोमांच हो, न दन्तघर्षण हो, न अधर-पीड़न हो, सीत्कार, ताप-जड़ता, वार-वार कूजन होने लगे, शुक्ल नेत्रोंमें दिनके समय रक्तपना, सायंकालमें और रात्रिमें नीलपना आजावे, तो उस सर्प-दष्ट पुरुषकी मृत्यु होगी, ऐसा निश्चित है ॥ १७५-१८७ ॥

सर्प-दष्ट पुरुषके देहमें शीतल जलकी धाराके सिंचन करनेपर यदि रोमांच या कम्पनादि हो तो उस दष्ट पुरुषका अनुग्रह किया जा सकता है ॥१८८॥ जो सर्प-दष्ट पुरुष हाथके नखोंसे छोड़े गये जल-बिन्दुओंसे आघात किये जानेपर अपने नेत्रोंको बन्द कर लेता है, उसपर यमराज उद्यम-शील है, अर्थात् वह बचाया नहीं जा सकता ॥१८९॥ जिस सर्प-दष्ट व्यक्तिके हाथके नखसे संलग्न मांसमें अन्य नखसे पीड़ित करनेपर यदि वेदना होती है तो यमराज उसके समीप नहीं आसकता है ॥१९०॥ ईंटोंके ढेरमें चैत्यस्थानमें और बांभीसे विभक्त नदी-तटपर, वृक्ष-कुञ्जमें, श्मशानमें, जीर्णशालामें, जीर्णघरके भीतर, पत्थरोंके संचयवाले स्थानपर, दिव्य देवताके आयतन मठ-

पाषाणसद्माये विश्वदेवतायतनादिके । स्थानेष्वेतेषु यो दष्टो यमस्तस्मिन् दृढोद्यमः ॥१९२
विषभेदावबुद्ध्यर्थं ज्ञेयो नागोदयः पुरा । अज्ञातविषभेदः सन्निर्विषीकुरुते कथम् ॥१९३
रविवारे द्विजोऽनन्तो नागः पद्मसिरा सितः । वायवीयविषो यामार्धमात्रमुदयी भवेत् ॥१९४
वासुकी सोमवारे तु क्षत्रियः शुभविग्रहः । नीलोत्पलाङ्क आग्नेयगरलोऽभ्युदयं व्रजेत् ॥१९५
भवत्यभ्युदयो भौमे तक्षको विश्वरक्षकः । आस्ते पार्थिवविषो वैश्यः (स च) स्वस्तिकलाञ्छनः ॥१९६
बुधे लब्धोदयः शूद्रः कर्कोटो जनसन्निभः । स वारुणविषो रेखात्रितयाञ्चितमूर्त्तिमान् ॥१९७
गुरुवारोदयी पद्मः स्वर्णवर्णसमद्युतिः । शूद्रो महेन्द्रगरलः पञ्चचन्द्रः सबिन्दुकः ॥९८१
शुक्रवारोदितो वैश्यो महापद्मो घनच्छविः । लक्षिताङ्गस्त्रिशूलेन दधानो वारुणं विषम् ॥१९९
धत्ते शङ्खः शनौ शक्तिमुदेतुमरुणारुणः । क्षत्रियो गरमाग्नेयं बिभ्रद्रेखां सितां गले ॥२००
राहुः स्यात्कुलिका श्वेतो वायवीयविषो द्विजः । सर्ववारेषु यामार्धं सन्धिस्वस्योदयो मतः ॥२०१
अहर्निशमियं वेला ख्याता विषवती किल । तदादौ विषमज्ञेयं माहेन्द्रं मध्यमं पुनः ॥२०२
वारुणं पश्चिमे भागे तदाद्यमतिदुःखदम् । कष्टसाध्यं परं साध्यं भवेत्परतरं पुनः ॥२०३
विषं साध्यमिति ज्ञातमिति चेन्नैव नश्यति । तदा परोऽस्तो विज्ञेयस्तस्य स्थितिर्भीतिनिश्चयम् ॥२०४

मन्दिरादिकमें, इतने स्थानोंमें सर्पके द्वारा जो पुरुष डसा गया है, यमराज उसपर दृढ़तासे उद्यमशील है, ऐसा जानना चाहिए ॥१९१-१९२॥

विषोंके भेद जाननेके लिए पहिले नागोंका उदय जानना चाहिए। क्योंकि विषोंके भेदों को नहीं जानने वाला गारुड़ी सर्प-दष्ट पुरुषको विष-रहित कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ॥१९३॥ रविवारके दिन द्विज-वर्णी शिरपर कमल चिह्नवाला श्वेत अनन्त नाग वायवीय विषवाला होता है, वह डसनेके अर्धप्रहरमात्रमें उदयको प्राप्त हो जाता है ॥१९४॥ सोमवारके दिन क्षत्रिय-वर्णवाला, शुभ शरीरी नीलकमल जैसे अंगका धारक और आग्नेय विषका धारक वासुकी सर्प अभ्युदयको प्राप्त होता है, अर्थात् डसनेके लिए उद्यत होता है ॥१९५॥ मंगलवारके दिन विश्व-रक्षक, पार्थिव विषवाला, वैश्यवर्णी, स्वस्तिक चिह्नका धारक तक्षक सर्प डसनेके लिए अभ्युदयशील होता है ॥१९६॥ बुधवारके दिन शूद्रवर्णवाला, सामान्य जनके सदृश वारुण विषका धारक, तीन रेखाओंसे चिह्नित मूर्त्तिका धारक कर्कटसर्प उदयको प्राप्त होता है ॥१९७॥ गुरुवार के दिन उदयको प्राप्त होनेवाला सुवर्ण वर्णके समान कान्तिका धारक, शूद्रवर्णी, माहेन्द्र विषवाला, बिन्दु-सहित पांच चन्द्र-धारक पद्म सर्प डसनेको उद्यत होता है ॥१९८॥ शुक्रवारके दिन उदित विषवाला, वैश्यवर्णी, मेघ जैसी छविका धारक, त्रिशूल चिह्नसे लक्षित शरीरवाला और अरुण विषका धारण करने वाला महापद्म सर्प डसनेको उद्यत होता है ॥१९९॥ शनिवारके दिन अरुण वर्ण वाला, क्षत्रियवर्णी, गलेमें श्वेत रेखाका धारक आग्नेय विषवाला शंख सर्प काटनेकी शक्तिके उदयको धारण करता है ॥२००॥ कुलिक जातीय श्वेत वर्णवाला, वायवीय विषका धारक, द्विजवर्णी राहु सर्प सभी दिनोंमें अर्ध प्रहरमें और दिन-रातकी सन्धिके समय काटनेके लिए विषके उदयवाला माना गया है ॥२०१॥ निश्चयसे दिन-रातकी यह वेला विषवाली प्रसिद्ध है। उसके आदिमें विष अज्ञेय है। किन्तु माहेन्द्र विष मध्यम होता है ॥२०२॥ वारुण विष दिनके अन्तिम भागमें उदयशील होता है, उसका आद्य समय अति दुःखदायी है, उससे परवर्ती भाग कष्ट साध्य है और उससे भी परवर्तीभाग साध्य है ॥२०३॥ यह विष साध्य है, ऐसा ज्ञात हो जावे, फिर भी

रविरोहिण्यमावास्याश्चेद् द्वौ यामौ तदा विषम् । चन्द्रेऽश्लेषाष्टमीयोगे चतुर्यामावधौ विषः ॥२०५
भौमे यमश्च नवमी यामान् षट् सततं विषम् ।•बुधे चतुर्थी राधायां विद्यायामाष्टकं विषम् ॥२०६
गुरौ च प्रतिपज्ज्येष्ठा षोडशप्रहरान् विषम् । कैश्चिच्चिन्त्यपरात्तोऽयं तिथिवारर्क्षतो मतः ॥२०७
शनिवार्द्राचतुर्दश्योः स्वदिनान्तं महाविषम् । कैश्चिदन्यपरात्तोऽयं तिथिवारर्क्षतो मतः ॥२०८

प्रकारान्तरमाह—

यमार्धमाद्यमन्तं च दुर्वारस्याह्नि निश्यपि । तत्तत्षष्ठशेषं स्यान्निशि तत्पञ्चमस्य तु ॥२०९
सूर्यादौ वर्तयित्वा षट् शुक्रसोमगुरोर्दिने । विवर्तं पञ्चम आवृत्यं शुभं शनौ तु रात्रके ॥२१०
एकाक्षरेण वारनाम । वारैर्यथासङ्ख्यं नागप्रहरकाः ।
नागर्द्धयामकाश्चैते तेषु काले भवेच्छनौ । अपरात्तो भवेज्जीवे ज्ञेयं युक्त्याऽनयात्तयम् ॥२११

यदि वह विष नष्ट नहीं होता है, तब उससे आगे उस विषकी स्थिति भीतिप्रद ऐसा निश्चित जानना चाहिए ॥२०४॥

यदि रविवारके दिन रोहिणी नक्षत्र और अमावस्या तिथि हो, तब विष दो प्रहर तक रहता है। सोमवारके दिन आश्लेषानक्षत्र और अष्टमीके योगमें विष चार प्रहरकी सीमामें रहता है ॥२०५॥ मंगलवारके दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और नवमी तिथिके योगमें लगातार छह प्रहर तक विष रहता है। बुधवारके दिन चतुर्थी और अनुराधा नक्षत्रमें विष आठ प्रहर तक जानना चाहिए ॥२०६॥ गुरुवारके दिन प्रतिपदा और ज्येष्ठा नक्षत्रके योगमें विष सोलह पहर तक रहता है। कितने ही विद्वानोंने तिथि, वार और नक्षत्रसे भिन्न अन्यके अधीन यह योग माना है ॥२०७॥ शनिवारके दिन आर्द्रा नक्षत्र और चतुर्दशीके योगमें महाविष अपने दिनके अन्त तक रहता है। कितने हो विद्वानोंने तिथि, वार और नक्षत्रसे भिन्न अन्यके अधीन यह योग माना है ॥२०८॥

भावार्थ—कुछ आचार्योका मत है कि तिथि, वार, नक्षत्रके योगमें सर्प-दंशका फल सामान्य होता है, क्योंकि मुहूर्त चिन्तामणिके नक्षत्र प्रकरणमें 'पित्रे समित्रे फणिदंशने मृतिः' अर्थात् यहाँ-पर केवल नक्षत्रमें ही सर्पदंशका फल कहा है। किन्तु कतिपय नक्षत्रोंमें सर्पदंश होनेपर तिथि-वारका योग नहीं होनेपर भी मृत्यु हो हो जाती है।

पहरके अर्ध आद्य और अन्तिम प्रहर तथा दुर्वार (मंगल, शनि, रवि) के दिन उनका छठा अंश रहे तब, तथा रात्रिमें जब पंचम अंश शेष रहे तब तक महाविषका प्रभाव रहता है ॥२०९॥ रविवारके दिन प्रारम्भसे पहिले शुक्र, रवि, सोम, शनि, गुरु, मंगल इस क्रमसे दिनका पर्याय होता हैं और रात्रिमें पंचम अर्थात् प्रथम प्रहर आनेपर सूर्य, वृहस्पति, चन्द्र, शुक्र, मंगल, शनि और बुधका पर्याय होता है अर्थात इस क्रमसे दिन और रात्रिमें सर्प-दष्ट पुरुषपर विषका प्रभाव रहता है ॥२१०॥

यहाँ एकाक्षरसे वार-नाम लेना चाहिए। तथा वारोंसे यथासंख्य नागोंके पहर होते हैं। जिस समय जिस नागका अर्ध प्रहर होगा; उसी कालमें वह उसके लिए उद्यत होगा। ये उपर्युक्त नागोंके अर्ध प्रहर है, उन पहरोंके कालमें शनिवार हो और यदि सर्प-दष्ट पुरुष अन्य किसीके द्वारा आत्त या गृहीत न हो, तो जीवमें जीवन जानना चाहिए। इसी युक्तिसे आत्त-अनात्तको भी जानना चाहिए ॥२११॥

कालदष्टोऽपि सूर्यस्य दिनेऽष्टाविंशतिर्घटी । जीवत्यतो मृतो नो चेद्‌ललितं कालमर्मवित् ॥२१२
दिने कस्यापरासोऽपि स्वास्थ्याकृद् विंशती घटी । पश्चादष्टादशघटीर्मोहो भवति निश्चितः ॥२१३
सोमादीनां दिनेष्वेवं यद्यः काले परासयोः । कालस्य प्रथमा पश्चादपरासस्य च क्रमात् ॥२१४

सोमस्य दिवसे कालावधौ घट्यो जिनैः समाः ।
स्वास्थ्याय षोडश ततो मोहायाष्टादशः स्फुटः ॥२१५

भौमस्य दिवसे कालघटिका विंशतिर्भवेत् । घटिका द्वादश स्वास्थ्ये षट्त्रिंशा मोहनाडिकाः ॥२१६
बुधस्य दिवसे ज्ञेया घट्यः कालस्य षोडश । स्वास्थ्यस्य घटिकाश्चाष्टौ मोहे सार्द्धदिनं ततः ॥२१७
बृहस्पतिदिने कालघटिका द्वादश स्मृताः । चतस्रो घटिकाः स्वास्थ्येष्वह मोहोऽथ षट् घटी ॥२१८

शुक्रस्य दिवसे कालघटिका अष्ट निश्चितम् ।
घट्योऽष्टाविंशतिः स्वास्थ्ये मोहो दिनचतुष्टयम् ॥२१९

शनैश्चरदिने कालघटिकानां चतुष्टयम् । घट्यो जिनैः समा स्वास्थ्ये मोहे षट्सार्धका दिनाः ॥२२०
कालोऽस्याद्यं शनेरन्त्या घटी जीवे परान्तकः । काल एवं भवेन्नित्यं सर्वप्रहरकान्तरे ॥२२१
नाभिदेशतलस्पष्टो निर्दग्धस्येव वह्निना । दष्टस्य जायते स्फोटो ज्ञेयो नेतापरोऽन्तकः ॥२२२
पद्मः कण्ठं तदस्पर्शी महापद्मः स्वसित्यलम् । शङ्खो हसतिभूप्रादी पुलको वामचेष्टितः ॥२२३

सूर्यके कालमें (रविवारको) डंसा हुआ व्यक्ति अट्ठाईस घड़ी जीवित रहता है। इसलिए यदि वह तब तक मरा न हो तो वह जी जाता है, ऐसा कालके जाननेवालोंका कहना है ॥२१२॥ सोम आदि किसी भी दिन डसनेपर भी बीस घड़ी अस्वस्थता करनेवाली होती है, पश्चात् अठारह घड़ी तक नियमसे मूर्च्छा रहती है ॥२१३॥ सोम आदि वारोंमें जिस-जिस नागके डसनेका जो काल बताया गया है, उस-उस कालमें पहिले और पीछे उक्त क्रम जानना चाहिए ॥२१४॥ सोमवारके दिन अपने कालके भीतर तीर्थंकर जिनोंके समान अर्थात् चौबीस घड़ी अस्वस्थता रहती है, पुनः सोलह घड़ी स्वस्थताके लिए कही गई है। तथा मूर्च्छाके लिए अठारह घड़ी काल होता है ॥२१५॥ मंगलवारके दिन बीस घड़ी काल निश्चित है। तत्पश्चात् बारह घड़ी स्वस्थताके लिए तथा छत्तीस घड़ी मूर्च्छाके लिए कही गई है ॥२१६॥ बुधके दिन सोलह घड़ी कालकी निश्चित हैं। स्वस्थताके लिए आठ घड़ी और मूर्च्छाके लिए आधा दिन सहित एक अर्थात् डेढ़ दिन कहा गया है ॥२१७॥ गुरुवारके दिन बारह घड़ी काल कहा है। इसमेंसे चार घड़ी स्वस्थताके लिए, पुनः छह घड़ी मोहके लिए कही गई हैं ॥२१८॥ शुक्रवारके दिन आठ घड़ी कालकी निश्चित हैं। अट्ठाईस घड़ी स्वस्थताके लिए निश्चित है और चार दिन मूर्च्छाके होते हैं ॥२१९॥ शनिवारके दिन चार घडी कालका प्रमाण है और स्वस्थताके लिए चौबीस घड़ी तथा मोहके साढ़े छह दिन कहे गये हैं ॥२२०॥ शनिके दिन डसनेके तत्काल बादका समय जीवके लिए काल स्वरूप है, किन्तु शनिवारकी अन्तिम घड़ी जीवनमें सहायक है, इसके पश्चात् यमराज उद्यत हैं। सभी दिनोंके सर्व प्रहारोंके अन्तरालमें काल ही सदा बलवान् होता है ॥२२१॥ सर्पके काटनेके बाद नाभिदेशके तलभागमें अग्निसे जले हुएके समान स्फोट (फफोला) होता है। इसमें अन्तक (यमराज) ही परम नेता है ॥२२२॥ पद्मसर्पके द्वारा काटे जानेपर कण्ठमें स्फोट होता है। महापद्मके द्वारा डसे जानेपर व्यक्ति बार-बार दीर्घ श्वास लेता है। शंखके द्वारा काटे जानेपर व्यक्ति हँसता है, पुलकित होता है, भूमिपर लोटता है और विपरीत चेष्टा करता है ॥२२३॥

विषं दंशे द्विपञ्चाशन्मातृ-दंष्ट्रे ततोऽलिके । नेत्रयोर्वदने नाडीष्वथ धातुषु सप्तसु ॥२२४
रसस्थं कुरुते कण्डू रक्तस्थं बाह्यतापकृत् । मांसस्थं जनयेच्छर्दी मेदस्थं हन्ति लोचने ॥२२५
अस्थिस्थं मर्मपीडां च मज्जस्थं दाहमान्तरम् । शुक्रस्थमानयेन्मृत्युं विषं धातुक्रमाद्वहो ॥२२६
निराकर्तुं विषं शक्यं पूर्वस्थाने चतुष्टये । अतः परमसाध्यं तु कष्टं कष्टतरं मृतिः ॥२२७
आग्नेये स्याद् विषे तापो जडता वारुणाधिके । प्रलापो वायवीये तु त्रिविधं विषलक्षणम् ॥२२८
निक्षेपे मारिचे चूर्णे दृशो यदि पयः क्षरेत् । तदा जीवति दष्टः सन्नन्यथा तु न जीवति ॥२२९
पादाङ्गुष्ठपतत्पृष्ठे गुल्फे जानुनि लिङ्गके । नाभौ हृदि कुचे कण्ठे नासा-दृग्-श्रुतिषु भ्रुवोः ॥२३०
शङ्खे मूर्ध्नि क्रमात्तिष्ठेत्पीयूषस्य कलान्वहम् । शुक्ले प्रतिपदःपूर्वं कृष्णे पक्षे विपर्ययः ॥२३१
सुधाकलास्मरो जीवस्त्रयाणामेकवासिता । पुंसो दक्षिणभागे स्याद्वामे भागे तु योषितः ॥२३२
सुधा-स्थानाद्विषस्थानं सप्ताहं ज्ञेयमन्वहम् । सुधा-विषस्थानमर्दो विषघ्नो विषवृद्धिकृत् ॥२३३

स्त्रियोऽप्यवश्यं वश्याः स्युः सुधास्थानविमर्दनात् ।
स्पृष्टा विशेषाद्वश्याय गुह्यप्राप्ता सुधाकला ॥२३४

जिसके शवसे विच्छू पैदा होते हैं ऐसी नागिनके काटनेपर विष दोनों नेत्रोंमें, मुखपर नाड़ियोंपर और सातों ही धातुओंपर बावन घड़ी तक रहता है ॥२२४॥ रसमें स्थित विष शरीरमें खुजली करता है, रक्तमें स्थित विष शरीरके बाहिरी भागपर ताप करता है, मांसमें स्थित विष वमन कराता है, मेदमें स्थित विष नेत्रोंका विनाश करता है ॥२२५॥ हड्डीपर स्थित विष मर्मस्थानपर पीड़ा करता है, मज्जामें स्थित विष अन्तर्दाह करता है और शुक्र (वीर्य) में स्थित विष मृत्युको लाता है। इस प्रकारसे अहो पाठको, शरीरकी सातों धातुओंपर विषका क्रम जानना चाहिए ॥२२६॥

उक्त सात धातुरूप स्थानोंमेंसे प्रारम्भके चार स्थानोंपर व्याप्त विषका निराकरण करना शक्य है। किन्तु अन्तिम तीन धातु-स्थानों पर व्याप्त विष कष्ट-साध्य, कष्टतर-साध्य और असाध्य है अर्थात् शुक्र-व्याप्त विषको दूर नहीं किया जा सकता। उसमें तो मरण निश्चित है ॥२२७॥ आग्नेय विषमें शरीरके भीतर ताप होता है, वारुण विषकी अधिकता होनेपर शरीरमें जड़ता या शून्यता आती है और वायवीय विषमें सर्प-दष्ट व्यक्ति प्रलाप करता है ॥२२८॥ सर्प-दष्ट पुरुषकी आँखोंमें मिर्चोंका चूर्ण डालने पर यदि पानी (आँसू) बहे, तो वह जी जाता है और यदि पानी न निकले तो वह नहीं जीता है ॥२२९॥

पीछे मुड़ते पैरके अंगूठेमें, गुल्फ, जानु, लिंग, नाभि, हृदय, कुच, कण्ठ, नासा, नेत्र, कर्ण, भौंह, शंख और मस्तक पर शुक्ल पक्षमें प्रतिपदासे लेकर तिथि क्रमसे प्रतिदिन अमृतकी कला रहती है। कृष्ण पक्षमें इससे विपरीत अमृत कलाका निवास जानना चाहिए ॥२३०-२३१॥ सुधा-(अमृत) कला, स्मर (कामदेव) और जीव इन तीनोंका एक स्थान पर निवास होता है। इनका निवास पुरुषके दक्षिण भागमें और स्त्रीके वाम भागमें रहता है ॥२३२॥ सुधा स्थानसे विषस्थान सात दिन (?) तक प्रतिदिन जानना चाहिए। सुधास्थानका मर्दन करने पर विषका विनाश होता है और विषस्थानका मर्दन करने पर विष की और अधिक वृद्धि होती है ॥२३३॥ उक्त अमृत स्थानोंके मर्दनसे स्त्रियाँ भी अवश्य ही अपने वशमें हो जाती हैं। किन्तु गुह्यस्थानको प्राप्त अमृत-कला यदि स्पर्श की जाती है तो स्त्रियाँ विशेष रूपसे अपने वशमें होती हैं ॥२३४॥ इन सुधा-

सुधास्थानेषु नैव स्यात्कालदंशोऽपि मृत्यवे । विषस्थानेषु दंशस्तु प्रशस्तोऽप्याशु मृत्यवे ॥२३५

सुधाकालस्थितान् प्राणान् ध्यायन्नात्मनि चात्मना ।
निर्विषत्वं वयस्तम्भं कीर्ति चाप्नोति दष्टकः ॥२३६

जिह्वायास्तालुनो योगादमृतस्रवणे तु यत् । विलिप्तस्तेन दंशः स्यान्निर्विषं क्षणमात्रतः ॥२३७
पुनर्नवायाः श्वेताया गृहीत्वा मूलमम्बुभिः । पिष्टपानं प्रदातव्यं विषार्तस्यार्तिनाशनम् ॥२३८
कन्दः सुदर्शनायाश्च जलैः पिष्ट्वा निपीयते । अथवा तुलसीमूलं निर्विषत्वविधित्सया ॥२३९
जले घृष्टैरगस्त्यस्य पत्रैर्नस्ये कृते सति । राक्षसादिकदोषेण विषेण च प्रमुच्यते ॥२४०

स्थानों पर काल-दंश (भयंकर काले साँपका काटना) भी मृत्युके लिए नहीं होता है। किन्तु विष-स्थानों (मर्मस्थलों) पर प्रशस्त भी दंश (भद्र सर्पका काटना) शीघ्र मृत्युके लिए होता है ॥२३५॥

अमृत काल-स्थित प्राणोंको अपनी आत्मामें अपनी आत्माके द्वारा ध्यान करता हुआ सर्प-दष्ट व्यक्ति निर्विषताको वय (जीवन) की स्थिरताको, और कीर्तिको प्राप्त करता हैं ॥२३६॥ जिह्वाका तालुके साथ संयोग होने पर उससे जो अमृत झरता हैं, यदि उससे दंश स्थान विलिप्त हो जावे, तो व्यक्ति क्षणमात्रमें निर्विष हो जाता है ॥२३७॥

भावार्थ—इन दोनों श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोकके द्वारा आत्म-साधनाकी महत्तासे विषके दूर होनेका उपाय बताया गया है और दूसरे श्लोकसे द्वारा जिह्वा-तालु संयोगसे झरनेवाले रसके द्वारा विष दूर होनेका उपाय बताया गया है।

अब विष दूर करनेके बाह्य उपचारको बतलाते हैं—

श्वेत पुनर्नवाके मूलभाग (जड़) को लेकर जलके साथ पीसकर पिलाना चाहिए। यह औषधि सर्प-विषसे पीड़ित व्यक्तिकी पीड़ाका नाश करती है ॥२३८॥ सुदर्शनाका कन्द जलके साथ पीसकर पीना चाहिए। अथवा विष दूर करनेकी इच्छासे तुलसीकी जड़को भी जलमें पीसकर पीना या पिलाना चाहिए ॥२३९॥ अगस्त्य वृक्षके पत्तोंको जलमें घिसकर या पीसकर नाकसे सूँघनेपर या सुँघानेपर विष-पीड़ित व्यक्ति विषसे विमुक्त हो जाता है और यदि कोई राक्षस-प्रेतादिके दोषसे पीड़ित हो तो उससे भी विमुक्त हो जाता है ॥२४०॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत सर्प-विषके प्रसंगमें ग्रन्थकारने जिन आठ प्रकारके सर्पोंका उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१ अनन्त, २. वासुकी, ३. तक्षक, ४. कर्कट, ५. पद्म, ६. महापद्म, ७. शंख और ८. कुलिक या राहु। सुश्रुतसंहिता और अष्टाङ्गहृदय जैसे आयुर्वेदके महान् ग्रन्थोंमें नागोंके तीन भेद ही बतलाये गये हैं—१. दर्वीकर, २. मण्डली और ३. राजीमान्[1]। इनका संक्षेपमें स्वरूप बताकर कहा गया है कि इन भूमिज सर्पो के अनेक भेद होते है। अग्नि-पुराणमें[2] सर्पों के सात भेद बताये गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार है—१. शेष, २. वासुकि, ३. तक्षक, ४. कर्कट, ५. अब्ज, ६. महाब्ज, ७. शंख और ८. कुलिक।

---

१. दर्वीकरा मण्डलिनो राजीवन्तश्च पन्नगाः। त्रिधा समासतो भौमा भिद्यन्ते ते त्वनेकधा ॥१॥
(अष्टाङ्गहृदय अ० ३६)

२. शेष वासुकि-तक्षाख्याः कर्कटोऽब्जो महाम्बुजः। शंखपालश्च कुलिक इत्यष्टौ नागवर्यकाः ॥२॥
दशाष्ट पञ्च त्रिगुणशत मूर्द्धान्वितौ क्रमात्। विप्रौ नृपौ विशौ शूद्रौ द्वौ-द्वौ नागेषु कीर्त्ति तौ ॥३॥

प्रस्तुत ग्रन्थोक्त नामोंके साथ इन नामोंमें ७ नाम तो ज्योंके त्यों एक ही है। शेषके स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थमें अनन्त नाम है। किन्तु दोनोंके जो स्वरूप आदिका वर्णन अग्नि पुराणमें किया गया है। वह संक्षेपसे केवल ३६ श्लोकोंमें है, जिन्हें तुलनाके लिए यहाँ पाद-टिप्पणमें दिया है। पर प्रस्तुत ग्रन्थकारने जांगुलि प्रकरणका वर्णनका ९६ श्लोकोंमें और बहुत ही स्पष्ट रूपके किया गया है। तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेपर यह बात हृदय पर सहजमें अंकित हो जाती है कि ग्रन्थकारके सामने उक्त तीनों ग्रन्थोंके अतिरिक्त सर्प-चिकित्सा-विषयक और भी कोई विस्तृत ग्रन्थ रहा है और वे इस विषयके विशिष्ट अभ्यासी रहे है। यही कारण है कि उन्होंने सप्ताहके सातों वारोंमेंसे किस दिन किस समय और कितनी देर तक किस जातिके सर्पका विष दष्ट व्यक्ति पर प्रभावी रहता है, कितने समय तक सर्प-दष्ट व्यक्ति मूर्च्छित रहता है और कितना समय उसे स्वास्थ्य-लाभ करनेमें लगता है, इसका विगतवार बहुत स्पष्ट वर्णन अति सरलरूपसे किया है। आयुर्वेदके उक्त दोनों ग्रन्थोंमें किस नक्षत्र, तिथि और वारमें काटनेपर कितने समय तक विषका

तदन्वयाः पञ्चशतं तेभ्यो जाता असंख्यकाः। फणिमण्डलिराजील-वातपित्तकफात्मकाः ॥४॥
व्यन्तरा दोषमिश्रास्ते सर्पा दर्वीकराः स्मृताः। .... ॥५॥
रथाङ्ग-लाङ्गलच्छत्र-स्वस्तिकाङ्कुशधारिणः। गोनसा मन्दगा दीर्घा मण्डलैर्विविधैश्चिरता ॥६॥
षण्मासान् मुच्यते कृत्ति जीवेत्वष्टिसमाद्वयम्। नागाः सूर्यादिवारेशाः सप्त उक्ता दिवा निशि ॥१३॥
स्वेषां षट् प्रतिवारेषु कुलिकः सर्वसन्धिषु। शंखेण वा महाब्जेन सह तस्योदयोऽथवा ॥१४॥
द्वयोर्वा नाडिका मंत्र-मत्रकं कुलिकोदयः। दुष्टः स कालः सर्वत्र सर्वदेशे विशेषतः ॥१५॥
कृत्तिका भरणी स्वाती मूलं पूर्वात्रयाश्विनी। विशाखार्द्रा मघाश्लेषाचित्राश्रवणरोहिणी ॥१६॥
हस्ता मन्दकुजौ वारौ पञ्चमी चाष्टमी तिथिः। षष्ठी रिक्ता शिशा निन्द्या पञ्चमी च चतुर्दशी ॥१७
सन्ध्याचतुष्टयं दुष्टं दग्धयोगाश्च राशयः। एकद्विवहवो दंशा दष्टविद्धञ्च खण्डितम् ॥१८॥
अदंशमवगुप्तं स्याद् दंशमेव चतुर्विधम्। त्रयो द्वयेकक्षता दंशा वेदना रुधिरोल्वणः ॥१९॥
नक्तन्त्वेकाङ्घ्रिकूर्माभाः दंशाश्च मभचोदिताः। दीहीपिपीलिकास्पर्शी कण्ठशोथरुजान्विता ॥२०॥
सतोदो ग्रन्थितो दंशः सविषो न्यस्तनिर्विषः। देवालये शून्यगृहे वल्मीकोद्यान कोटरे ॥२१॥
रथ्यासन्धौ श्मशाने च नद्याञ्च सिन्धुसङ्गमे। द्वीपे चतुष्पथे सौधे गृहऽब्जे पर्वताग्रतः ॥२२॥
बिलद्वारे जीर्णकूपे जीर्णवेश्मनि कुड्यके शिग्रुश्लेष्मातकाक्षेषु जम्बूडुम्बरणेषु च ॥२३॥
वटे च जीर्णप्राकारे खास्यहृत्कक्षजत्रुणि। तालौ शंखे गले मूर्ध्नि चिबुके नाभिपादयोः ॥२४॥
दंशोऽशुभः शुभो दूतः पुष्पहस्तः सुवाक् सुधीः। लिङ्गवर्णसमानश्च शुक्लवस्त्रोऽमलः शुचिः ॥२५॥
अनपरद्वारगतः शस्त्री प्रमादी भूगतेक्षणः। विवर्णवासा पाशादिहस्तो गद्गदवर्णभाक् ॥२६॥
शुष्ककाष्ठाश्रितः खिन्नस्तिलाक्तककरांशुकः। आर्द्रवासाः कृष्णरक्तपुष्पयुक्तशिरोरुहः ॥२७॥
कुचमर्दी नखच्छेदी गुदस्पृक् पादलेखकः। केशमुञ्ची तृणच्छेदी दुष्टा दूता तथैकशः ॥२८॥
इडान्या वा वहेद द्वेधा यदि दूतस्य चात्मनः। आभ्यां द्वाभ्यां पुष्टयास्मान् विद्यास्त्रीपुन्नपुंसकान् ॥२९॥
दूतः स्पृशति यद्गात्रं तस्मिन् दंशमुदाहरेत्। दूताङ्घ्रिचलनं दुष्टमुत्थितिर्निश्चिलाशुभा ॥३०॥
जीवपार्श्वे शुभो दूतो दुष्टोऽन्यत्र समागतः। जीवो गतागतैर्दुष्टः शुभो दूतनिवेदने ॥३१॥
दूतस्य वाक्प्रदुष्टा सा पूर्वा मजार्धनिन्दिता। विभक्तैस्तस्य वाक्यान्तैर्विष-निर्विषकालता ॥३२॥
(अग्निपुराण अध्याय २९४)

अथ षड्दर्शनविचार क्रमः—

जैनं मीमांसकं बौद्धं साङ्ख्यं शैवं च नास्तिकम् । स्व-स्वतर्कविभेदेन जानीयाद्दर्शनानि षट् ॥२४१

अथ जैनम्—

बल-भोगोपभोगानामुभयोर्दानलाभयोः । नान्तरायस्तथा निद्रा भीरज्ञानं जुगुप्सनम् ॥२४२
हासो रत्यरती रागद्वेषाविरतिः स्मरः । शोको मिथ्यात्वमेतेऽष्टादश दोषा न यस्य सः ॥२४३
जिनो देवो गुरुः सम्यक् तत्त्वज्ञानोपदेशकः । ज्ञानदर्शनचारित्राण्यपवर्गस्य वर्त्तनी ॥२४४
स्याद्वादस्य प्रमाणे द्वे प्रत्यक्षमनुमापि च । नित्यानित्यं जगत्सर्वं नव तत्त्वानि सर्वथा ॥२४५
जीवाजीवौ पुण्यपापे आस्रवः संवराणि च । बन्धो निर्जरणं मुक्तिरेषां व्याख्याऽधुनोच्यते ॥२४६
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवस्तदन्यकः । सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं तस्य विपर्ययात् ॥२४७
आस्रवः कर्मसम्बन्धः कर्मरोधस्तु संवरः । कर्मणां बन्धनाद् बन्धो निर्जरा तद्वियोजनम् ॥२४८

प्रभाव रहता है, इसका कुछ भी वर्णन नहीं किया है। पर सर्प-विषके दूर करनेको औषधियोंका विस्तारसे वर्णन किया है। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थमें सर्वत्र सहजमें सुलभ पुनर्नवा, सुदर्शना, तुलसीकी जड़को जलमें पीसकर पीनेका और अगस्त्यके पत्रोंको पीसकर सूंघनेका ही उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और आध्यात्मिक प्रयोग विष दूर करनेका उपाय ऊपर २३७ वें श्लोकमें बताया है कि शरीरके जिस अमृत स्थानपर सर्पने काटा हो उसपर चित्त एकाग्र-कर आत्म चिन्तन करनेसे सर्पविष दूर हो जाता है। इसी प्रकार एक शारीरिक प्रयोग भी बताया है कि जिह्वाके अग्रभागको तालुके साथ संयोग करनेपर उससे जो रस झरे, उससे सर्प दष्ट अंग को बार-बार लेप करनेसे भी सर्प विष दूर हो जाता है। सर्प-चिकित्सामें ये दोनों ही उनके अनुभूत प्रयोग ज्ञात होते हैं।

अब षड् दर्शनोंके विचारका क्रम प्रस्तुत किया जाता है—

जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक इन छह दर्शनोंको अपने-अपने तर्कके भेदसे भिन्न-भिन्न जानना चाहिए ॥२४१॥

उनमेंसे सर्वप्रथम क्रम-प्राप्त जैन-दर्शनका वर्णन करते हैं—

जिस महापुरुषके बल (वीर्य) भोग, उपभोगका और दान, लाभ इन दोनोंका अन्तराय न हो, अर्थात् पाँचों अन्तरायकर्मोंका जिसने क्षय कर दिया है, तथा निद्रा, भय, अज्ञान, जुगुप्सा, हास्य, रति, अरतिः राग, द्वेष, अविरति (बुभुक्षा , काम विकार, शोक, और मिथ्यात्व ये अठारह दोष न हों, ऐसा जिनेन्द्र जिस मतका देव है, तथा सम्यक् प्रकारसे तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला और ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप मोक्षका बतानेवाला, जिस मतमें गुरु माना गया है, और स्याद्वाद-मय धर्मका प्ररूपक जिसका शास्त्र है, ऐसे जैन दर्शनमें प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। जैनदर्शनमें सर्व जगत्‌को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य माना गया है। इस मतमें नौ तत्त्व कहे गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष। अब इनकी व्याख्या की जाती है ॥२४२-२४६॥

ज्ञान-दर्शनरूप चेतना लक्षण वाला जीव है। इससे भिन्न अर्थात् चेतना-रहित अजीव है। सत्कर्मरूप पुद्गल पुण्य है और इस विपरीत असत्कर्मरूप पुद्गल पाप है ॥२४७॥ कर्म-सम्बन्धको

अष्टकर्मक्षयान्मोक्षोऽन्तर्भाव एषु कैश्चन । पुण्यस्य संवरे पापस्यास्रवे क्रियते पुनः ॥२४९
लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकाग्रस्थस्य चात्मनः । क्षीणाष्टकर्मणो मुक्तिर्निर्व्यावृत्तिर्जिनोदिता ॥२५०
लुञ्चिताः पिच्छिकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगम्बराः । ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातुर्द्वितीयाः स्युर्जिनर्षयः ॥२५१
भुङ्क्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बराः । प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः समम् ॥२५२

इति जैनम् ।

अथ मीमांसकमतम्—

मीमांसको द्विधा कर्म-ब्रह्ममीमांसकत्वतः । वेदान्ती मन्यते ब्रह्म कर्म भट्ट-प्रभाकरौ ॥२५३
नवतत्त्वदेशको देवो देवस्तत्त्वोपदेशकः । पूज्यो वह्निः प्रमाणानां प्रमाणमधुनोच्यते ॥२५४
प्रत्यक्षमनुमानं च वेदश्चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च भट्टानां षट् प्रमाण्यसौ ॥२५५
प्रभाकरमते पञ्चैतान्येवाभाववर्जनात् । अद्वैतवादवेदान्ती प्रमाणं तु यथा तथा ॥२५६
सर्वमेतदिदं ब्रह्म वेदान्तेऽद्वैतवादिनाम् । आत्मन्येव लयो मुक्तिर्वेदान्तिकमते मता ॥२५७

आस्रव कहते हैं, और कर्मों के निरोधको संवर कहते हैं। कर्मोंके आत्माके साथ बँधने को बन्ध कहते है, कर्म-बन्धके वियोजनको निर्जरा कहते हैं, और आठों कर्मोंके क्षयको मोक्ष कहते हैं। कितने ही आचार्य पुण्यका सँवरमें (?) और पापका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव करते हैं, अतः वे सात तत्त्वोंको मानते हैं ॥२४८-२४९॥

जिसने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्कको प्राप्त कर लिया है, जो लोकके अग्रभागमें विराजमान है और जिसके आठों कर्मोंका क्षय हो गया है। ऐसे निवृत्त आत्माके जिनदेवने मुक्ति कही है ॥२५०॥

जो केश-लोंच करते हैं, पिच्छिकाको हाथमें धारण करते हैं, पाणिपात्रमें भोजन करते हैं, दिशा ही जिनके वस्त्र हैं अर्थात् नग्न रहते हैं, दातारके घरपर खड़े-खड़े ही भोजन करते हैं ऐसे जैन-ऋषि जिस मतमें दूसरे गुरु माने गये हैं ॥२५१॥ केवली भगवान् भोजन नहीं करते हैं, और स्त्री मोक्ष नहीं जाती है ऐसा दिगम्बर कहते हैं और यही उनका श्वेताम्बरोंके साथ महान् भेद है ॥२५२॥

अब मीमांसक मतका निरूपण करते हैं—

कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसाके भेदसे मीमांसक दो प्रकारके हैं, इनमेंसे वेदान्ती लोग ब्रह्मको मानते हैं, और भट्ट प्रभाकर कर्मको मानते हैं ॥२५३॥ भट्ट लोग तो तत्त्वके उपदेशक देवको अपना देव मानते हैं, अग्निको पूज्य मानते हैं और छह प्रमाण मानते हैं। अब प्रमाणको कहते हैं ॥२५४॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, वेद (आगम) उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। भट्ट लोगोंने ये छह प्रमाण माने हैं ॥२५५॥ प्रभाकरके मतमें उक्त छह प्रमाणोंमेंसे अभाव प्रमाणको छोड़कर शेष पाँच प्रमाण माने गये हैं। किन्तु अद्वैतवादी वेदान्ती जिस किसी प्रकारके ब्रह्मके साधन करनेवाले प्रमाणोंको मानता है ॥२५६॥ अद्वैत वादियोंके वेदान्त मतमें यह सर्व दृश्यमान सारा संसार परब्रह्मरूप ही है। (उसके सिवाय और कुछ भी वास्तविक पदार्थ नहीं है।) तथा वेदान्तियोंके मतमें आत्मामें लय-होनेको ही मुक्ति मानी गई है ॥२५७॥

आकुकर्म स षट्कर्मो शूद्रान्नादिविवर्जकः । ब्रह्मसूत्री द्विजो भट्टो गृहस्थाश्रमसंस्थितः ॥२५८
भगवन्नामधेयास्तु द्विजा वेदान्तदर्शने । विप्रगेहभुंजिशक्तो यथैते ब्रह्मवादिनः ॥२५९
चत्वारो भगवद्देवाः कुटीचर-बहूदकौ । हंसः परमहंसश्चाधिकोऽमीषु परः परः ॥२६०

इति मीमांसकमतम् ।

अथ बौद्धमतम्—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम् । आर्यसत्याख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥२६१
दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः । मार्गं चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामतः ॥२६२
दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः । विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥२६३

अथायतनानि—

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्याः विषयाः पञ्च मानसम् । धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि तु ॥२६४

अथ समुदयः—

रागादीनां गणो यस्मात्समुदेति गणो हृदि । आत्मात्मीयस्वभावाख्यो यस्मात्समुदयः पुनः ॥२६५

अथ मार्गः—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा । स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥२६६

कर्ममीमांसा माननेवाले मीमांसक (यज्ञादि) आकुकर्मको मानते है । वह कर्म छह प्रकारका है । इस मतके साधु शूद्रोंके अन्न आदिके परित्यागी होते हैं, ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) को धारण करते हैं और भट्टलोग गृहस्थाश्रममें रहते हैं ॥२५८॥ वेदान्त दर्शनमें द्विज अपना 'भगवन्' नाम धारण करते हैं, अर्थात् परस्परके व्यवहारमें वे एक दूसरेको 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करते हैं । ये लोग ब्राह्मणके घरमें ही भोजन करते हैं । इसी प्रकार ब्रह्मवादी भी जानना चाहिए ॥२५९॥ इनके मतमें चार भगवत्-प्ररूपित वेद ही आगम-प्रमाणके रूपमें माने गये हैं । ये लोग कुटियोंमें रहते हैं और शरीर-शुद्धिके लिए अधिक जलका उपयोग करते है । कितने ही वेदान्ती तो जलमें ही खड़े रहते हैं । इनमें हंसवेषके धारक साधु श्रेष्ठ और उनसे भी परमहंस वेषके धारक साधु और भी अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं ॥२६०॥

अब बौद्धमतका वर्णन करते हैं—बौद्धोंका देव सुगत (बुद्ध) है, उनके मतानुसार यह समस्त विश्व क्षण-भंगुर है । उनके मतमें आर्यसत्य नामसे प्रसिद्ध चार तत्त्व माने गये हैं, जो क्रमसे इस प्रकार है—दुःख, दुःखका आयतन, समुदय और मार्ग । अब चारों आर्य सत्योंकी व्याख्या क्रमसे आगे सुनिये ॥२६१-२६२॥ संसारी स्कन्ध दुःख कहलाते हैं । वे स्कन्ध पाँच कहे गये हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप ॥६३॥ अब आयतनोंका निरूपण करते हैं—पाँच इन्द्रियाँ, उनके शब्द आदि पाँच विषय, मानस और धर्मायतन, ये बारह आयतन बौद्धमतमें कहे गये हैं ॥२६४॥

अब समुदयका वर्णन करते हैं—

जिससे राग आदि विकारी भावोंका गण (समुदाय) हृदयमें उदयको प्राप्त होता है, वह आत्मा और आत्मीय स्वभाव नामक गण समुदाय कहा जाता है ॥२६५॥

अब मार्गका वर्णन करते हैं—'सभी संस्कार क्षणिक हैं' इस प्रकारकी जो वासना स्थिर

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं द्वितयं तथा । चतुः प्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥२६७
अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते । सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्योऽर्थो न बहिर्मतः ॥२६८
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता । केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥२६९
रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसम्भवा । चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥२७०
कृत्तिकमण्डलुमौड्यं चीरं पूर्वाह्णभोजनम् । सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥२७१

इति बौद्धमतम् ।

अथ साङ्ख्यमतम्—

साङ्ख्यैर्देवः शिवः कैश्चिन्मतो नारायणोऽपरैः । उभयोः सर्वमप्यन्यत्तत्त्वप्रभृतिकं समम् ॥२७२
साङ्ख्यानां स्युर्गुणाः सत्त्वं रजस्तम इति त्रयः । साम्यावस्था भवत्येषां त्रयाणां प्रकृतिः पुनः ॥२७३
प्रकृतेः स्यान्महांस्तावदहङ्कारस्ततोऽपि च । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि स्युश्चक्षुरादीनि पञ्च च ॥२७४
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिचरणोपस्थपायवः । मनश्च पञ्च तन्मात्राः शब्दो रूपं रसस्तथा ॥२७५
स्पर्शो गन्धोऽपि तेभ्यः स्यात् पृथ्व्याद्यं भूतपञ्चकम् । भवेत्प्रकृतिरेतस्याः परस्तु पुरुषो मतः ॥२७६
पञ्चविंशतितत्त्वानि नित्यं सांख्यमते जगत् । प्रमाणं त्रितयं चात्र प्रत्यक्षमनुमागमः ॥२७७

होती है, वह मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए । यह मार्ग ही मोक्ष कहा जाता है ॥२६६॥ बौद्धमतमें प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने गये हैं । वैभाषिक आदि चार प्रकारके बौद्ध प्रसिद्ध हैं ॥२६७॥ इनमें वैभाषिक लोग ज्ञानसे युक्त पदार्थको मानते हैं । सौत्रान्तिक लोग प्रत्यक्षसे ग्रहण किया जानेवाला पदार्थ मानते हैं, किन्तु उसकी बाह्य सत्ता नहीं मानते हैं ॥२६८॥ योगाचारके मतमें पदार्थके आकार-सहित बुद्धिको माना गया है । किन्तु माध्यमिक बौद्ध तो केवल अपनेमें अवस्थित संविद् (ज्ञान) को मानते हैं ॥२६९॥ राग आदिके ज्ञान-सन्तानरूप वासनाके उच्छेदसे होनेवाली अवस्थाको ही चारों प्रकारके बौद्ध 'मुक्ति' मानते हैं ॥२७०॥

बौद्ध भिक्षुओंने कृत्ति (चर्म) कमण्डलु, मौड्य (मौंजी) चीर (वस्त्र) पूर्वाह्णकालमें भोजन करना, संघमें रहना और रक्त वस्त्रको धारण करना इस वेषका आश्रय लिया है ॥२७१॥

अब सांख्यमतका निरूपण करते हैं—

कितने ही सांख्योंने शिवको देव माना है और कितने ही दूसरे सांख्योंने नारायणको देव माना है । शेष अन्य सर्व तत्त्व आदिकी मान्यता दोनोंकी समान हैं ॥२७१॥ सांख्योंके मतमें सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण माने गये हैं । इन तीनों गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति माना गया है ॥२७२॥ सांख्योंके मतानुसार प्रकृतिसे महान् उत्पन्न होता है, उससे अहंकार उत्पन्न होता है. अहंकारसे चक्षु आदिक पाँच बुद्धि या ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, तथा वचन, पाणि, चरण, उपस्थ (मूत्र-द्वार) और पायु (मलद्वार) ये पांच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, तथा मन भी उत्पन्न होता है । पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके शब्द, रूप आदि विषय हैं, इन्हें ही तन्मात्रा कहते हैं । इनसे पृथ्वी आदि पाँच भूततत्त्व उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार एक प्रकृतिसे उपर्युक्त चौबीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं । ये सभी तत्त्व अचेतन हैं । इनमें भिन्न पच्चीसवाँ पुरुष तत्त्व है, जो कि चेतन है । इस प्रकार सांख्यमतमें पच्चीस तत्त्व माने गये हैं । सांख्यमतमें यह सम्पूर्ण जगत् नित्य है । इस मतमें तीन प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ॥२७३-२७७॥

यदैव जायते भेदः प्रकृतेः पुरुषस्य च । मुक्तिरुक्ता तदा साङ्ख्यैः ख्यातिः सैव च भण्यते ॥२७८

साङ्ख्यः शिखी जटी मुण्डी कषायाद्यम्बरधरोऽपि च ।
वेषो नास्त्येव साङ्ख्यस्य पुनस्तत्त्वे महाग्रहः ॥२७९

इति सांख्यमतम् ।

अथ शैवमतम्—

शैवस्य दर्शने तर्कावुभौ न्याय-विशेषकौ । न्याये षोडशतत्त्वी स्यात् षट्तत्त्वी च विशेषके ॥२८०

अन्योन्यतत्त्वान्तर्भावाद् द्वयोर्भेदोऽपि नास्ति कः ।
द्वयोरपि शिवो देवो नित्यः सृष्ट्यादिकारकः ॥२८१

अथ तत्त्वानि—

प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् । दृष्टान्तोऽथ सिद्धान्तावयवौ तर्क-निर्णयौ ॥२८२
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च । जातिनिग्रहस्थानानीति तत्त्वानि षोडश ॥२८३
नैयायिकानां चत्वारि प्रमाणानि भवन्ति च । प्रत्यक्षमागमोऽन्यच्चानुमानमुपमापि च ॥२८४

अथ वैशेषिकमतम्—

वैशेषिकमते तावत्प्रमाणं त्रितयं भवेत् । प्रत्यक्षमनुमानं च तार्तीयकस्तथाऽऽगमः ॥२८५
द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम् । समवायश्च षट्तत्त्वी तत्त्वाख्यानमथोच्यते ॥२८६

जब जीवको प्रकृति और पुरुषका भेद ज्ञात होता है, तभी उसे सांख्योंने मुक्ति कहा है और उसे ही 'ख्याति' भी कहते हैं ॥२७८॥ सांख्य लोग शिखा, जटा भी रखते हैं और कोई-कोई मुण्डित मस्तक भी रहता है। ये लोग कषाय रंगके वस्त्रोंको धारण करते हैं। सांख्योंका कोई वेष स्थिर नहीं है, किन्तु तत्त्वके विषयमें ये सब महाग्रही है, अर्थात् पच्चीस ही तत्त्वोंको मानते हैं ॥२७९॥

अब शैवमतका निरूपण करते हैं—

शैवके दर्शनमें दो जातिके तर्कवादी हैं—एक न्यायवादी नैयायिक, और दूसरा विशेषवादी वैशेषिक। इनमें नैयायिक सोलह तत्त्वोंको मानता है और वैशेषिक छह तत्त्वोंको मानता है ॥२८०॥ उक्त दोनों ही तर्क-वादियोंके तत्त्वोंका परस्पर अन्तर्भाव हो जानेसे कोई खास भेद नहीं है। दोनोंके मतोंमें शिवको देव माना गया है, जो कि नित्य है और सृष्टि आदिका कर्त्ता है ॥२८१॥

नैयायिक मतमें माने गये सोलह तत्त्व इस प्रकार है—१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति और १६. निग्रहस्थान ॥२८२-२८३॥ नैयायिकोंके मतमें चार प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, आगम, अनुमान और उपमान ॥२८४॥

अब वैशेषिक मतका वर्णन करते हैं—वैशेषिक मतमें तीन प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और तीसरा आगम ॥२८५॥ इनके मतमें छह तत्त्व माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार

द्रव्यं नवविधं प्रोक्तं पृथिवीजलवह्नयः । पवनो गगनं कालो दिगात्मा मन इत्यपि ॥२८७
नित्यानित्यानि चत्वारि कार्यकारणभावतः ।

अथ गुणाः—

स्पर्शो रूपं रसो गन्धः सङ्ख्या च परिमाणकम् । पृथक्त्वमथ संयोगं वियोगं च परत्वकम् ॥२८८
अपरत्वं बुद्धि-सौख्ये दुःखेच्छे द्वेषयत्नको । धर्माधर्मौ च संस्कारो इत्यपि गुरुत्वं द्रव ॥२८९
स्नेहशब्दौ गुणा एवं विंशतिश्चतुरन्विता । अथ कर्माणि वक्ष्यामि प्रत्येकमभिधानतः ॥२९०
उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनं च प्रसारणम् । गमनानीति कर्माणि पञ्चोक्तानि तदागमे ॥२९१
सामान्यं भवति द्वेधा परं चैवापरं तथा । परमाणुषु वर्तन्ते विशेषा नित्यवृत्तयः ॥२९२

इति सामान्य-विशेषौ ।

भवेदयुतसिद्धानामाधाराधेयवर्तिनाम् । सम्बन्धः समवायाख्य इहप्रत्ययहेतुकः ॥२९३
विषयेन्द्रियबुद्धीनां वपुषः सुख-दुःखयोः । अभावादात्मसंस्थानं मुक्तिर्नैयायिकी मता ॥२९४
चतुर्विंशतिवैशेषिकगुणान्त्यगुणा नव । बुद्ध्यादयस्तदुच्छेदो मुक्तिर्वैशेषिकी तु सा ॥२९५
आधारभस्मकौपीनजटायज्ञोपवीतिनः । मन्त्राचारादिभेदेन चतुर्धाः स्युस्तपस्विनः ॥२९६

हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। अब इन तत्त्वोंके भेद कहे जाते हैं ॥२८६॥ द्रव्य नामक तत्त्व नौ प्रकारका कहा गया है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ॥२८७॥ इनमेंसे प्रारम्भके चार तत्त्व कार्य और कारण भावकी अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है। अर्थात् परमाणुरूप पृथिवी आदि नित्य है और घटादिरूप कार्य अनित्य हैं।

अब गुणोंका वर्णन करते हैं—१. स्पर्श, २. रूप, ३. रस, ४. गन्ध, ५. संख्या, ६. परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. वियोग (विभाग), १०. परत्व, ११. अपरत्व, १२. बुद्धि, १३. सुख, १४. दुःख, १५. इच्छा, १६. द्वेष, १७. प्रयत्न, १८. धर्म, १९. अधर्म, २०. संस्कार, २१. द्रवत्व, २२. वेग, २३. स्नेह और २४. शब्द। इस प्रकारसे ये २४ गुण माने गये हैं। अब प्रत्येकके नामपूर्वक कर्मोको कहते हैं—१. उत्क्षेपण, २. अवक्षेपण, ३. आकुञ्चन, ४. प्रसारण और ५. गमन। ये पाँच प्रकारके कर्म उनके आगममें कहे गये हैं ॥२८८-२९१॥ सामान्य तत्त्व दो प्रकारका है—परसामान्य और अपरसामान्य। विशेष तत्त्व नित्य रूपसे परमाणुओंमें रहते हैं ॥२९२॥ इस प्रकार सामान्य और विशेष तत्त्वका वर्णन किया।

अब समवायतत्त्वका स्वरूप कहते हैं—अयुतसिद्ध (अभिन्न सम्बन्ध) वाले और आधार-आधेय रूपसे रहनेवाले ऐसे गुण-गुणी, अवयव-अवयी आदिमें 'इह इदम्' इस प्रकारके प्रत्ययका कारणभूत जो सम्बन्ध है, वह समवाय नामका तत्त्व कहलाता है ॥२९३॥

विषय, इन्द्रिय, बुद्धि, शरीरके सुख और दुःख इनके अभावसे आत्माका अपने स्वरूपमें जो अवस्थान होता है, वही नैयायिक मतमें मुक्ति मानी गई है ॥२९४॥ वैशेषिक मतमें जो चौबीस गुण माने गये हैं उनमेंके अन्तिम बुद्धि आदि नौ गुणोंके अत्यन्त उच्छेद होनेको वैशेषिक मतमें मुक्ति माना गया है ॥२९५॥

शैव मतके मानने वाले तपस्वो कहलाते हैं। उनके शरीरका आधार भस्म, कौपीन,

शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा । तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदाश्चैते तपस्विनः ॥२९७

इति शैवमतम् ।

अथ नास्तिकमतम्—

पञ्चभूतात्मकं वस्तु प्रत्यक्षं च प्रमाणकम् । नास्तिकस्य मते नान्यदात्मा मन्त्रं शुभाशुभम् ॥२९८
प्रत्यक्षमविसंवादिज्ञानमिन्द्रियगोचरम् । लिङ्गतोऽनुमितिर्धूमादिव वह्नेरवस्थितिः ॥२९९
अनुमानं त्रिधा पूर्वशेषं सामान्यतो यथा । वृष्टेः शस्यं नदीपूराद् वृष्टिरस्ताद् रवेर्गतिः ॥३००

स्यात् सामान्यतः साध्यसाधनं चोपमा यथा ।
स्याद् गोवद्-गवयः सास्नादिमत्त्वाच्चोभयोरपि ॥३०१

आगमश्चाप्तवचनं स च कस्यापि कोऽपि च । बाधा प्रतीतौ तत्सिद्धौ प्रोक्तार्थापत्तिरुत्तमैः ॥३०२
वटुः पीनोऽह्नि नाश्नाति रात्राविस्यर्थतो यथा । पञ्चप्रमाणासामर्थ्ये वस्तुसिद्धिरभावतः ॥३०३
स्थापितं वादिभिः स्वं स्वं मतं तत्त्वप्रमाणतः । तत्त्वं सपरमार्थेन प्रमाणं तत्त्व साधकम् ॥३०४

जटा और यज्ञोपवीत धारण करना है। वे मंत्र और आचार आदिके भेदसे चार प्रकारके होते हैं ॥२९६॥ उन तपस्वियोंके वे चार मुख्य भेद इस प्रकार हैं—शैव, पाशुपत, महाव्रत-धारक और कालमुख ॥२९७॥

अब नास्तिक मतका वर्णन करते हैं—नास्तिकके मतमें पृथिवी, जलादि पंचभूतात्मक वस्तु ही तत्त्व है। एक प्रत्यक्षमात्र प्रमाण है। आत्मा नामका कोई भिन्न पदार्थ नहीं है और न शुभ-अशुभरूप कोई मंत्र है ॥२९८॥

इन्द्रिय-गोचर अविसंवादी ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। लिंग (साधन) से लिंगी (साध्य) के ज्ञानको अनुमान कहते हैं। जैसे कि धूमसे अग्निका ज्ञान होता है। शैवमतमें अनुमान तीन प्रकारका माना गया है—पूर्ववत्-अनुमान, शेषवत्-अनुमान और सामान्यतो दृष्ट-अनुमान। इनके उदाहरण क्रमसे इस प्रकार हैं—वर्षा होनेसे धान्यकी उत्पत्तिका ज्ञान होना पूर्ववत्-अनुमान है। नदीमें आये हुए जल-पूरके देखनेसे ऊपरी भागमें वर्षा होनेका ज्ञान होना शेषवत्-अनुमान है। तथा सूर्यके अस्त होनेसे उसकी गतिका ज्ञान होना सामान्यतो दृष्ट अनुमान है। इस प्रकार किसी लिंग विशेषसे साध्यके साधनको अनुमान कहा गया है। गोके सदृश गवय होता है, क्योंकि दोनोंके सास्ना (गल-कम्बल) आदि सदृश पाई जाती है, इस प्रकार सादृश्य-विषयक ज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं। आप्त पुरुषके वचनको आगम प्रमाण कहते हैं। वह आप्त पुरुष कोई भी व्यक्ति हो सकता है, जिसके कि वचनसे यथार्थ अर्थका बोध होवे। वचनके द्वारा तत्सिद्ध अर्थकी प्रतीति होनेको उत्तम पुरुषोंने अर्थापत्ति नामका प्रमाण कहा है। जैसे कि 'यह पीन (मोटा) वटु दिनमें नहीं खाता है' ऐसा कहने पर यह बात अर्थात् सिद्ध होती हैं कि वह रात्रिमें खाता है जिस बातके सिद्ध करनेमें प्रत्यक्ष आदि पाँचों प्रमाणोंकी सामर्थ्य नहीं होती है, वहाँ पर अभाव प्रमाणसे वस्तुकी सिद्धि होती है ॥२९९–३०३॥

इस प्रकार विभिन्न मत-वादियोंने तत्त्वोंकी प्रमाणतासे अपने-अपने मतको स्थापित किया है। जो वस्तु प्रमाण-सिद्ध वास्तविक है, वह तत्त्व कहलाता है। उस तत्त्वका साधक प्रमाण कहा

सन्तु शास्त्राणि सर्वाणि सरहस्यानि दूरतः । एकमप्यक्षरं सम्यक् शिक्षितं नैव निष्फलम् ॥३०५

इति षड्दर्शन-विचार-क्रमः ।

अथ सविवेक-वचनक्रमः—

विमर्शपूर्वकं स्वास्थ्यं स्थापकं हेतुसंयुतम् । स्तोकं कार्यंकरं स्वादु निगर्वं निपुणं वदेत् ॥३०६
उक्तः सप्रतिभो ब्रूयात्सभायां सूनृतं वचः । अनुल्लङ्घ्यमदैन्यं च सार्थकं हृदयङ्गमम् ॥३०७
उदारं विकथोन्मुक्तं गम्भीरमुचितं स्थिरम् । अपशब्दोज्झितं लोकमर्मस्पर्शि सदा वदेत् ॥३०८
सम्बद्धशुद्धसंस्कारं सत्यानृतमनाहतम् । स्पष्टार्थमार्द्रवोपेतमहसंश्च वदेद् वचः ॥३०९
प्रस्तावेऽपि कुलीनानां हसनं स्फुरदोष्ठकम् । अट्टहासोऽतिहासश्च सर्वथाऽनुचितं पुनः ॥३१०

कस्यापि चाग्रतो नैव प्रकाश्याः स्वगुणाः स्वयम् ।
अतुच्छत्वेन तुच्छोऽपि वाच्यः परगुणः पुनः ॥३११

न गर्वः सर्वदा कार्यो भट्टादीनां प्रशंसया । व्युत्पन्नश्लाघया कार्यः स्वगुणानां तु निश्चयः ॥३१२
अवधार्या विशेषोक्तिः पर-वाक्येषु कोविदैः । नीचेन स्वं प्रति प्रोक्तं यत्तु नानुवदेत्सुधीः ॥३१३

जाता है ॥३०४॥ सर्व ही शास्त्र दूरसे रहस्य युक्त भले ही प्रतीत हों। किन्तु सम्यक् प्रकारसे सीखा गया एक भी अक्षर निष्फल नहीं होता है ॥३०५॥

इस प्रकार छहों दर्शनोंका विचार किया।

अब विवेकके साथ वचन बोलनेके क्रमको कहते हैं—

विचार-पूर्वक स्वस्थता-युक्त, वस्तु तत्त्वके स्थापक, हेतु-संयुक्त, कार्यको सिद्ध करनेवाले परिमित, मधुर और गर्व-रहित निपुण (चातुर्ययुक्त) वचन बोलना चाहिए ॥३०६॥ किसीके द्वारा कहे या पूछे जाने पर सभामें सत्य वचन प्रतिभाशाली पुरुषको बोलना चाहिए। जो वचन बोले जावें, वे किसीके द्वारा उल्लंघन न किये जा सकें, अर्थात् अकाट्य हों, दीनता-रहित हों, सार्थक हों और हृदयको स्पर्श करनेवाले हों ॥३०७॥ बुद्धिमान् पुरुषको उदार, विकथासे रहित, गंभीर, योग्य, स्थिर, अपशब्दोंसे रहित और लोगोंके मर्मका स्पर्श करनेवाले वचन सदा बोलना चाहिए ॥३०८॥ पूर्वापर सम्बन्धसे युक्त, शुद्ध संस्कारवाले, सत्य, असत्यतासे रहित, दूसरेको आघात नहीं पहुँचानेवाले, स्पष्ट रूपसे अर्थको व्यक्त करनेवाले, मृदुता-युक्त और निर्दोष वचन विना हँसते हुए बोलना चाहिए ॥३०९॥ प्रस्ताव (अवसर) के समय भी कुलीन पुरुषोंके आगे हँसना, होठोंको फड़काते हुए अट्टहास करना और दूसरोंका उपहास करना सर्वथा अनुचित है ॥३१०॥ किसी भी पुरुषके आगे अपने गुण स्वयं नहीं प्रकाशित करना चाहिए। किन्तु तुच्छ भी पुरुषको तुच्छतासे रहित होकर दूसरोंके गुण कहना चाहिए ॥३११॥

भट्ट (भाट-चारण) आदि पुरुषोंकी प्रशंसासे गर्व कभी भी नहीं करना चाहिए। किन्तु व्युत्पन्न (विज्ञ) पुरुषोंके द्वारा की गई प्रशंसासे अपने गुणोंका निश्चय करना चाहिए ॥३१२॥ विद्वज्जनोंको दूसरोंके वाक्योंमें विशेष रूपसे कही गई बातको हृदयमें धारण करना चाहिए। नीच पुरुषके द्वारा अपने प्रति जो बात कही गई हो, उसे बुद्धिमान् पुरुष उसी शब्दोंमें उत्तर न

अनुवादादरासूयाल्पोक्तिसंभ्रमहेतुषु । विस्मयस्तुतिवीप्सासु पौनरुक्त्यं स्मृतौ च न ॥३१४
न च प्रकाशयेद् गुह्यं दक्षः स्वस्यापरस्य च । चेत्कर्तुं शक्यते मौनमिहामुत्र च तच्छुभम् ॥३१५
सदा मूकत्वमासेव्यं जल्प्यमानेऽन्यमर्मणि । श्रुत्वा तथा स्वमर्माणि बाधिर्यं कार्यमुत्तमैः ॥३१६
कालत्रयेऽपि यत्किञ्चिदात्मप्रत्ययवर्जितम् । एवमेतदिति स्पष्टं न वाच्यं चतुरेण तत् ॥३१७
परार्थस्वार्थराजार्थकारकं धर्मसाधकम् । वाक्यं प्रियं हितं वाच्यं देश-कालानुगं बुधैः ॥३१८
स्वामिनश्च गुरूणांश्च नाधिक्षेप्यं वचो बुधैः । कदाचिदपि चैतेषां जल्पतामन्तरे वदेत् ॥३१९
आरभ्यते नरैर्यच्च कार्यं कारयितुं परैः । दृष्टान्तान्योक्तिभिर्वाच्यं तदग्रे पूर्वमेव तत् ॥३२०
यदि वान्येन केनापि तत्तुल्यं जल्पितं भवेत् । प्रमाणमेव तत्कार्यं स्वप्रयोजनसिद्धये ॥३२१
यस्य कार्यमशक्यं स्यात्तस्य प्रागेव कथ्यते । नैहि रे याहि रे कार्यो वचोभिर्वितत: पर: ॥३२२
वैभाष्यं नैव कस्यापि वक्तव्यं द्विषतां च यत् । उच्यते तदपि प्राज्ञैरन्योक्तिच्छलाङ्किभि: ॥३२३
शिक्षा तस्मै प्रदातव्या यो भवेत्तत्र यत्नवान् । गुरु साहसमेतद्धि कथ्यते यदपृच्छत: ॥३२४
मातृपित्रातुराचार्यातिथिभ्रातृतपोधनैः । वृद्धबालाबलावैद्यापत्यदायादकिङ्करैः ॥३२५

देवें ॥३१३॥ अनुवाद, आदर, असूया, अल्प-भाषण, सम्भ्रम हेतु, विस्मय, स्तुति और वीप्सा (दुहराना) में तथा स्मरण रखनेमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता है ॥३१४॥ कुशल पुरुष अपनी और दूसरोंकी गुप्त बात प्रकाशित न करे। गुप्त बात कहनेका अवसर आने पर यदि मौन धारण करना शक्य हो तो वह इस लोक और परलोकमें शुभ-कारक है ॥३१५॥ दूसरोंके मर्मकी बात कहनेमें सदा ही मूकपना सेवन करना चाहिए, अर्थात् मौन रहना ही अच्छा है। तथा अपने मर्म की बातोंको सुन करके उत्तम पुरुषोंको बधिरपना धारण करना चाहिए ॥३१६॥ जो कोई बात तीन कालमें भी आत्म-प्रतीतिसे रहित हो, उसे 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार स्पष्ट रूपसे वह चतुर पुरुषको कभी नहीं कहना चाहिए ॥३१७॥

जो वचन परोपकार करनेवाले हों, अपना प्रयोजन-साधक हो, राजाके अर्थको सिद्ध करने वाले हों और धर्म-साधक हो, ऐसे प्रिय और हित-कारक वचन देश और कालके अनुसार बुधजनों को बोलना चाहिए ॥३१८॥ स्वामीके और गुरुजनोंके वचनोंका बुद्धिमानोंको कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। तथा स्वामी या गुरुजनोंके बोलते समय बीचमें कभी भी नहीं बोलना चाहिए ॥३१९॥ मनुष्य जिस कार्यको दूसरोंसे कराना प्रारम्भ करें तो उसे उनके आगे पहिले ही दृष्टान्त और अन्योक्तिसे कह देना चाहिए। (जिससे कि उस कार्यके अन्यथा करनेपर पीछे झुंझलाना न पड़े।) ॥३२०॥ अथवा अपने मनके तुल्य उस कार्यको यदि अन्य किसी पुरुषने कह दिया हो तो उसे अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिए प्रमाण ही स्वीकार करना चाहिए ॥३२१॥

जिस पुरुषका कार्य अपने द्वारा करना अशक्य हो, उसे पहिले ही स्पष्ट कह देना चाहिए कि भाई यह कार्य मेरे द्वारा किया जाना संभव नहीं है, हे भाई, आप जाइये, पुनः मत कष्ट उठाइये, इस प्रकारके वचनोंसे दूसरे व्यक्तिको अंधेरेमें न रखकर सचेत कर देना चाहिए ॥३२२॥ द्वेष करने वाले पुरुषोंका जो भी वक्तव्य हो वह किसी भी अन्य पुरुषके आगे नहीं कहना चाहिए। यदि कदाचित् उसे कहना ही पड़े तो अन्योक्ति या अन्य किसी बहानेसे ज्ञानी जनोंको कहना चाहिए ॥२२३॥

शिक्षा उस व्यक्तिको देनी चाहिए जो उसे करनेमें प्रयत्नशील हो। विना पूछे जो बात कही जाती है, वह तो उसका भारी गुरु साहस है ॥३२४॥ माता, पिता, आतुर (रोगी) आचार्य,

स्वसृसंश्रितसम्बन्धिवयस्यैः सार्धमन्वहम् । वाग्विग्रहमकुर्वाणो विजयेत जगत्त्रयम् ॥३२६

अथालोक्यानालोक्यक्रमः—

पश्येदपूर्वतीर्थानि देशान् वस्त्वन्तराणि च। लोकोत्तरां सुधीश्छायां पुरुषं शकुनं तथा ॥३२७
न पश्येत्सर्वदाऽऽदित्यं ग्रहणं चार्क-सोमयोः । नेक्षेताम्भो महाकूपे सन्ध्यायां गगनं तथा ॥३२८
मैथुनं पापां नग्नां स्त्रियं प्रकटयौवनाम् पशुक्रीडां च कन्यायाः पयोजान्नावलोकयेत् ॥३२९
न तैले न जले नास्त्रे न मूत्रे रुधिरे तथा । नेक्षेतवदनं विद्वान्निजायुषस्त्रुटिर्भवेत् ॥३३०

अथ निरीक्षणप्रकारक्रमः—

ऋज्वशुष्कं प्रसन्नस्य रौद्रं तिर्यक् च कोपिनः। सविकाशं सुपुण्यस्याधो खं वा पापिनः पुनः ॥३३१
क्षुद्रं व्यग्रमनस्कस्य वक्रितं चानुरागिणः । मध्यस्थं वीतरागस्य सरलं सज्जनस्य च ॥३३२
असम्मुखं विलक्षस्य सविकारं तु कामिनः । भ्रूभङ्गवक्त्रमीर्ष्यालोर्भूतमत्तस्य सर्वतः ॥३३३
जलाविलं च दीनस्य चञ्चलं तस्करस्य च। अलक्षितार्थं निद्रालोर्विस्त्रस्तं भीरुकस्य च ॥३३४

अतिथि, भाई बन्धु, तपस्वी जन, वृद्ध, बालक, अबला (नारी) वैद्य, पुत्र, दायाद (हिस्सेदार) और नौकर-चाकरोंके साथ, तथा बहिन, अपने आश्रित जन, सम्बन्धी जन और मित्र गणोंके साथ प्रतिदिन वचन-विग्रह (वाद-विवाद) को नहीं करनेवाला पुरुष तीनों जगत्को जीतता है। अर्थात् जो पुरुष पूर्वोक्त पुरुषोंके साथ किसी भी प्रकारका कभी भी खोटे वचन नहीं बोलता है, वह जगज्जेता होता है ॥३२५–३२६ ॥

अब दर्शनीय और अदर्शनीय कार्योंका वर्णन किया जाता है—

बुद्धिमान् पुरुष अपूर्व तीर्थोंको, नवीन देशोंको और नई-नई अन्य वस्तुओंको देखे। तथा लोकोत्तर छायाको, लोकोत्तम पुरुषको और शकुनको भी देखना चाहिए ॥३२७॥ सर्वकाल सूर्य नहीं देखे, सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहणको भी नहीं देखे। महाकूपमें जलको, तथा सन्ध्याकालमें आकाशको भी नहीं देखना चाहिए ॥३२८॥ स्त्री-पुरुषके मैथुनको, पापिनी, नग्न और प्रकट यौवन-वाली स्त्रीको, पशु-क्रीड़ाको और कन्याके पयोजों (स्तनों) को भी नहीं देखना चाहिए ॥३२९॥ विद्वान् पुरुष अपने मुखको न तेलमें देखे, न जलमें देखे, न अस्त्र-शस्त्रको धारमें देखे, न मूत्रमें देखे और न रक्तमें देखे। क्योंकि इनमें मुख देखनेसे आयुकी हानि होती है ॥३३०॥

अब दृष्टि निरीक्षण करनेके प्रकारका वर्णन करते हैं—

प्रसन्न पुरुषका निरीक्षण सरल और स्निग्ध होता है, क्रोधीका अवलोकन रौद्र एवं तिरछा होता है, पुण्यशालीका निरीक्षण विकास-युक्त होता है ॥३३१॥ व्यग्र मनवालेका निरीक्षण क्षुद्रता (तुच्छता) युक्त होता है, अनुरागी व्यक्तिका अवलोकन कटाक्ष-युक्त होता है। वीतरागीका अवलोकन मध्यस्थ भावसे युक्त होता है और सज्जन पुरुषका निरीक्षण सरल होता है ॥३३२॥ चकित पुरुषका निरीक्षण सामनेकी ओर नहीं होता है, कामी पुरुषका अवलोकन विकार-युक्त होता है, ईर्ष्यालु पुरुषका अवलोकन भ्रूभंगयुक्त मुखवाला होता है और भूताविष्ट पुरुषका निरीक्षण सर्व ओर होता है ॥३३३॥ दीन पुरुषका अवलोकन अश्रु जलसे युक्त होता है, चोरका अवलोकन चंचल होता है, निद्रालु व्यक्तिका निरीक्षण अलक्षित प्रयोजनरूप होता है, और भय-भीत पुरुष

बहवो वीक्षणस्यैवं कति भेदाः क्षणस्य च। तादृक् स्वरूपमतो वक्ष्ये स्वभावोपाधिसम्भवम् ॥३३५
स्तुत्यं धवलत्वं च श्यामत्वमतिनिर्मलम् । पर्यन्तपार्श्वतारा सुदृशोः शस्यं यथाक्रमम् ॥३३६
हरितालनिभैश्चक्री नेत्रैर्नीलैरहङ्कृतः । विस्तीर्णाक्षो महाभोगी कामी पारावतेक्षणः ॥३३७
नकुलाक्षो मयूराक्षो मध्यमः पुरुषः पुनः । काकाक्षो धूसराक्षश्च मण्डूकाक्षश्च तेऽधमाः ॥३३८
दुष्टो दारुणदृष्टिः स्यात्कुक्कुटाक्षः कलिप्रियः । दृष्टिरागी भुजङ्गाक्षो मार्जाराक्षश्च पातकी ॥३३९
श्यामदृक् सुभगः स्निग्धलोचनो भोगभाजनम् । स्थूलदृग् धिधनो दीनदृष्टिः स्यादधनो नरः ॥३४०
भूतार्तश्च परः प्रायः स्तोकोन्नयनः (?) पुमान् । वृत्तयोर्नेत्रयोरल्पतरमायुस्तनूभृताम् ॥३४१
विवर्णैः पिङ्गलैर्वातैश्चञ्चलै रतिपूर्णकैः । अधमाः स्युः कृतो रूक्षैः सजलैर्निर्जलः पुनः ॥३४२
अचक्षुरेकचक्षुश्च तथा केकरनेत्रकः । अथ कातरनेत्रः स्यादेषां क्रूरपरम्पराः ॥३४३
भूताविष्टस्य दृष्टिः स्यात् प्रायेणोर्ध्वविलोकिनी । मिलिता मुद्गताक्षस्य देवता तस्य दुःसहा ॥३४४
शाकिनीभिर्गृहीतस्याधोमुखी च भयानका । वातार्तस्य च भीरुः स्याद् वन्याधिकतरं चला ॥३४५
अरुणा श्यामला वापि जायते धर्मरोगिणः । पित्तदोषवतः पीता नीला चक्षुः कपित्थवत् ॥३४६

का अवलोकन त्रास-युक्त होता है ॥३३४॥ इस प्रकार निरीक्षणके बहुतसे भेद होते हैं, इसी प्रकार क्षण (देखनेके अवसर) के भी कितने ही भेद होते है । अतएव निरीक्षणका स्वरूप और स्वभाव या बाह्य उपाधि-जनित निरीक्षणके भेदोंको कहूँगा ॥३३५॥

उत्तम नेत्रोंकी धवलता स्तुत्य है, श्यामता, अति निर्मलता और पर्यन्त तक तारा यथाक्रमसे प्रशंसाके योग्य होती है ॥३३६॥ हरितालके सदृश वर्णवाले नेत्रोंसे मनुष्य चक्रवर्ती होता है । नीले वर्णवाले नेत्रोंसे व्यक्ति अहंकारी होता है, विस्तीर्ण नेत्रवाला पुरुष महाभोगशाली होता है और कपोतके समान नेत्रवाला पुरुष कामी होता है ॥३३७॥ नेवलेके समान नेत्रवाला और मोरके सदृश नेत्रवाला पुरुष मध्यम श्रेणीका होता है । काक जैसे नेत्रवाला, धूसर नेत्रवाला और मण्डूक (मेंढक) के सदृश नेत्रवाला पुरुष ये सब अधम होते हैं ॥३३८॥ दारुण दृष्टिवाला पुरुष दुष्ट होता है, कुक्कुटके समान नेत्रवाला पुरुष कलह-प्रिय होता है, भुजंगके समान नेत्रवाला दृष्टिरागी होता है तथा मार्जार नेत्रवाला व्यक्ति पापी होता है ॥३३९॥ श्याम नेत्रवाला पुरुष सुभग होता है, स्निग्ध नेत्रवाला पुरुष भोगोंका भोक्ता होता है । स्थूल नेत्रवाला पुरुष विशिष्ट धनी होता है और दीन दृष्टिवाला पुरुष निर्धन होता है ॥३४०॥ भूत-पीड़ित और नम्र नेत्रवाला पुरुष पराश्रित होता है, इसी प्रकार कुछ उन्नत नेत्रवाला भी पराश्रित होता है । गोल नेत्र-धारियोंकी आयु अत्यल्प होती है ॥३४१॥

विवर्ण, पिंगल वर्ण, वात-युक्त, चंचल और रति (विलास) पूर्ण नेत्रोंसे मनुष्य कर्तव्य-कार्य करनेमें अधम होते हैं । रूक्ष और निर्जल नेत्रोंसे पुरुष निर्लज्ज होता है ॥३४२॥ नेत्र-रहित, एक नेत्रवाला और कैंकर नेत्रवाला तथा कातर नेत्रवाला पुरुष इन सबकी क्रूर-परम्परा होती हैं ॥३४३॥ भूताविष्ट पुरुषकी दृष्टि प्रायः ऊपरकी ओर देखनेवाली होती है, मुद्गत (प्रमोदको या अप्रमोदको प्राप्त) व्यक्तिकी दृष्टि मिली हुई रहती है और उसको प्रेरणा करनेवाला देवता दुःसह होता है ॥३४४॥ शाकिनियोंसे गृहीत व्यक्तिकी दृष्टि अधोमुख और भयानक होती है । बेतालसे पीड़ित पुरुषकी दृष्टि भीरु होती है, तथा वातरोगसे पीड़ित पुरुषकी दृष्टि अधिकतर चलायमान रहती है ॥३४५॥ धर्म (धूप) से पीड़ित पुरुषकी दृष्टि अरुण अथवा श्यामल होती है, पित्त

श्लेष्मार्तस्य तथा पाण्डुर्मिश्रवर्णोऽस्य मिश्रिता । दृष्टेः प्रतिजनं भेदा भवन्त्येवमनेकधा ॥३४७

अथ चङ्क्रमणक्रमः—

बुधमे सप्तमीं प्राज्ञो न व्रजेन्निःफलं क्वचित् । भुक्तानां चूतमेकं च मध्यमत्रान्न गच्छता ॥३४८
युगमात्रान्तरन्यस्तदृष्टिः पश्यन् पदं पदम् । रक्षार्थं स्वशरीरस्य जन्तूनां च सदा व्रजेत् ॥३४९

शालूर-रासभोष्ट्राणां वर्जनीया सदा गतिः ।
राजहंसवृषाणां तु सा प्रकामं प्रशस्यते ॥३५०

कार्याय चलितः स्थानाद् वहन्नाडिपदं पुरः । कुर्वन् वाञ्छितसिद्धीनां भाजनं जायते नरः ॥३५१
एकाकिना न गन्तव्यं कस्याप्येकाकिनो गृहे । नैवोपरि पथेनापि विशेत् कस्यापि वेश्मनि ॥३५२
रोगिवृद्धद्विजान्धानां धेनुपूज्यक्षमाभुजाम् । गर्भिणीभारभुग्नानां दत्वा मार्गं व्रजेदथ ॥३५३

धान्यं पक्वमपक्वं वा पूजार्थं मन्त्रमण्डलम् ।
न त्यक्त्वोद्वर्तनं लङ्घ्यं स्नानाम्भोऽसृक्शवानि च ॥३५४

निष्ठ्यूतश्लेष्मविण्मूत्रज्वलद्वह्निभुजङ्गमम् । मनुष्यमबुधं धीमान् कदाप्युल्लङ्घयेन्न च ॥३५५

दोषवालेकी दृष्टि पीतवर्णवाली नीली और कपित्थ (कवीट) के समान होती है ॥३४६॥ श्लेष्मा (कफ) से पीड़ित पुरुषकी दृष्टि पाण्डुवर्णकी होती है, पित्त, वात आदि दोषोंसे मिश्रित व्यक्ति की दृष्टि मिश्रित वर्णवाली होती है। इस प्रकार प्रत्येक जनकी अपेक्षासे दृष्टिके अनेक प्रकारके भेद होते हैं ॥३४७॥

अब बाहिर गमन करनेका विचार करते हैं—

बुद्धिमान् पुरुष सप्तमीको कहींपर भी निष्फल न जावे। तथा जाते हुए भुक्त (भोजन किये हुए) पुरुषोंको एक आमको छोड़कर अन्य कुछ नहीं खाना चाहिए ॥३४८॥ युग-मात्र (चार हाथ-प्रमाण) सामनेको भूमिपर दृष्टि रखते हुए और अपने शरीरकी रक्षाके लिए तथा अन्य जन्तुओंकी रक्षाके लिए पद-पद-प्रमाण भूमिको देखते हुए सदा गमन करना चाहिए ॥३४९॥ चलते समय शालूर (मेंढक) रासभ और ऊँटकी चालसे गमन सदा वर्जन करना चाहिए। किन्तु राजहंस और वृषभ (बैल) की गति सदा उत्तम प्रशंसनीय होती है ॥३५०॥

किसी कार्य-विशेषके लिए चलता हुआ पुरुष जो नाड़ी (नासिका-स्वर) चल रही हो उसी पैरको आगे करके गमन करता हुआ अभीष्ट सिद्धियोंका पात्र होता है ॥३५१॥ किसी भी अकेले पुरुषके घरमें कभी भी अकेले नहीं जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी भी पुरुषके घरमें अकेले ऊपरी मार्गसे भी प्रवेश नहीं करना चाहिए ॥३५२॥ रोगी पुरुष, वृद्धजन, ब्राह्मण, अन्धे पुरुष, गाय, पूज्य पुरुष, भूमिपति, गर्भिणी स्त्री, और भार (बोझा) को धारण करनेवाले लोगोंको मार्ग देकर पुनः गमन करना चाहिए ॥३५३॥ पकी या अनपकी धान्यको, पूजनकी सामग्रीको, मंत्र-मण्डलको, छोड़कर गमन करे। तथा उद्वर्तनका द्रव्य, स्नानका जल, पुष्प-माला और मृत शरीरोंको भी लांघ करके गमन नहीं करना चाहिए ॥३५४॥ इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष, थूके गये कफको, मल-मूत्रको, जलती हुई अग्निको, सर्पको, और अज्ञानी मनुष्यको कभी भी उल्लंघन करके गमन न करे ॥३५५॥

क्षेमार्थी वृक्षमूलं न निशीथिन्यां समाश्रयेत् । नासमाप्ते नरो दूरं गच्छेदुत्सवसूतके ॥३५६

क्षीरं भुक्त्वा रतिं कृत्वा स्नात्वा ह्यन्यगृहाङ्गनाम् ।
आनीय निष्ठीव्य सक्रोशं श्रुत्वा च प्रविशेन्नहि ॥३५७

कारयित्वा नरः क्षौरमधामोक्षं विधाय न । गच्छेद् ग्रामान्तरं नैव शकुनापाटवेन च ॥३५८
नद्याः परतटाद् गोष्ठात् क्षीरद्रोः सलिलाशयात् । नातिमध्यंदिने नार्धरात्रौ मार्गं बुधो व्रजेत् ॥३५९
नासम्बलश्चलेन्मार्गे भृशं सुप्यान्न वासके । सहायानां च विश्वासं विदधीत न धीनिधिः ॥३६०
महिषाणां खराणां च न्यक्करणं कदाचन । खेदस्पृशापि नो कार्यमिच्छता श्रियमात्मनः ॥३६१
गजात्करसहस्रेण शकटात्पञ्चभिः करैः । शृङ्गिणोऽश्वाच्च गन्तव्यं दूरेण दशभिः करैः ॥३६२
न जीर्णां नावमारोहेन्नद्यामेको विशेन्न च । न वा तुच्छमतिर्गच्छेत् सोदर्येण समं पथि ॥३६३
न जलस्थलदुर्गाणि विकटामटवीं न च । न चागाधानि तोयानि विनोपायं विलङ्घयेत् ॥३६४
क्रूरै राक्षसकैः कर्णेजपैः कारुजनैस्तथा । कुमित्रैश्च समं गोष्ठीं चर्यां वा कालकीं त्यजेत् ॥३६५
धूर्तावासे वने वेश्यामन्दिरे धर्मसद्मनि । सदा गोष्ठी न कर्तव्या प्राज्ञैरापानकेऽपि च ॥३६६
बद्धवध्याश्रये द्यूतस्थापने परिभवास्पदे । भाण्डागारे न गन्तव्यं परस्यान्तःपुरे न च ॥३६७

अपनी क्षेम-कुशलता चाहनेवाला पुरुष रात्रिमें वृक्षके मूलभागका कभी आश्रय नहीं लेवे। इसी प्रकार उत्सव (मांगलिक कार्य) और सूतक-पातकके समाप्त नहीं होनेतक दूरवर्ती स्थानको नहीं जावे ॥३५६॥ क्षीर (खीर या दूध) खा-पीकर स्त्रीके साथ रमणकर, अन्य घरकी स्त्रीको लाकर, निष्ठीवन करके और आक्रोश-युक्त वचन सुन करके अन्य पुरुषके घरमे प्रवेश नहीं करे ॥३५७॥ क्षौरकर्म (हजामत) कराके, लगे बालोंको साफ न करके अर्थात् स्नान किये बिना तथा शकुनकी अकुशलतासे अर्थात् अपशकुन होनेपर दूसरे ग्रामको कभी नहीं जाना चाहिए ॥३५८॥ बुद्धिमान् पुरुष नदीके दूसरे किनारेसे, गोष्ठ (गायोंके ठहरनेके स्थान) से, क्षीरीवृक्षसे, जलाशयसे, न अति मध्याह्नमें और न अर्धरात्रिमें मार्ग-गमन नहीं करे ॥३५९॥

बुद्धिमान् पुरुष बिना संबल (खान-पानका द्रव्य) लिए मार्गमें नहीं चले, किसी सराय-धर्मशाला आदि निवासके स्थानपर अधिक गहरी नींदसे नहीं सोवे, तथा मार्गमें गमन करते समय सहायकों या साथियोंका विश्वास भी नहीं करे ॥३६०॥ भैंसे पाड़ोंका और गर्दभोंका तिरस्कार कभी भी खेद-खिन्न होनेपर भी अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको नहीं करना चाहिए ॥३६१॥ गमन करते समय हाथीसे एक हजार हाथ दूर, गाड़ीसे पांच हाथ दूर तथा सींगवाले जानवरोंसे और घोड़ोंसे दश हाथ दूर रहकर चलना चाहिए ॥३६२॥

नदी आदि जल स्थानको पार करनेके लिए जीर्ण-शीर्ण नाव पर नहीं आरोहण करे, नदी में अकेले प्रवेश नहीं करे, तथ अतुच्छ (विशाल) बुद्धिवाले पुरुषको मार्गमें अपने सगे भाईके साथ भी गमन नहीं करना चाहिए ॥३६३॥ जल-मार्ग, स्थल मार्ग, दुर्ग (किला) विकट अटवी (सघन-वन-प्रदेश) और अगाध जलको बिना सहायक उपायके उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥३६४॥

क्रूर स्वभावी पुरुषों, राक्षसजनों, कर्णेजपों (चुगलखोरों) कारु (शूद्र जातीय शिल्पिजनों) तथा खोटे मित्रोंके साथ गोष्ठी और अकालकी चर्या (गमनागमन) का परित्याग करे ॥३६५॥ बुद्धिमानोंको धूर्तोंके घरोंमें, वनमें, वेश्याके भवनमें, धर्म-स्थानमें और मदिरा पानके स्थानोंमें भी कभी गोष्ठी नहीं करना चाहिए ॥३६६॥ पाप-कार्यमें बाँधे गये वध्य पुरुषके आश्रयमें, जुआ

अमनोज्ञे श्मशाने च शून्यस्थाने चतुष्पथे । तुषशुष्कतृणाकीर्णे विषमे वा खरस्वरे ॥३६८
वृक्षाग्रे पर्वताग्रे च नदी-कूपतटे स्थितिम् । न कुर्याद् भस्मकेशेषु कपालाङ्गारकेषु च ॥३६९

अथ विशेषोपदेशक्रमः—

मन्त्रस्थानमनाकाशमेकद्वारमसङ्कटम् । निःश्वासादि च कुर्वीत दूरसंस्थश्च यामिकः ॥३७०
मन्त्रस्थाने बहुस्तम्भे कदाचिल्लीयते परः । वृक्षाग्र-प्रतिध्वानभुतिसम्प्रसक्तभित्तिके ॥३७१

शून्याधोभूमिके स्थाने गत्वा वा काननान्तरे ।
मन्त्रयेत्सम्मुखः सार्धं मन्त्रिभिः पञ्चभिस्त्रिभिः ॥३७२

सालस्यैर्लिङ्गिभिर्दीर्घसूत्रिभिः स्वल्पबुद्धिभिः । समं न मन्त्रयेन्नैव मन्त्रं कृत्वा विलम्ब्यते ॥३७३
भूयान्सः कोपना यत्र भूयान्सो मुखलिप्सवः । भूयान्स कृपणाश्चैव सार्थः स स्वार्थनाशनः ॥३७४
सर्वकार्येषु सामर्थ्यमाकारस्य तु गोपनम् । धृष्टत्वं च सदभ्यस्तं कर्तव्यं विजिगीषुणा ॥३७५
भवेत्परिभवस्थानं पुमान प्रायो निराकृतिः । विशेषाडम्बरस्तेन न मोच्यः सुधिया क्वचित् ॥३७६

खेलनेके स्थानकमें, पराभव होनेके स्थान पर, किसीके भाण्डागार (कोष-खजाने) में और दूसरोंके अन्तःपुरमें नहीं जाना चाहिए ॥३६७॥ अमनोज्ञ (असुन्दर) स्थानमें, मरघटमें, शून्य स्थानमें, चौराहे पर, भूसा और सूखे तृणोंसे व्याप्त स्थानमें अथवा विषम एवं खर स्वरवाले स्थानमें, वृक्षके अग्रभाग पर, पर्वतके अग्र शिखर पर, नदीके किनारे, कूपके तट पर, भस्म (राख) पर, केशों पर, कपालों पर और अंगारों पर कभी अवस्थान नहीं करना चाहिए ॥३६८॥

अब विशेष उपदेश कहते हैं—

विचारशील यामिक (संयमी) पुरुष जिस स्थान पर किसी गुप्त बातकी मंत्रणा करे वह मंत्रस्थान अनाकाश हो अर्थात् खुले मैदानमें न करे, जिस भवनमें करे, वह एक द्वारवाला हो, जहाँ पर किसी प्रकारके संकटकी सम्भावना न हो और मंत्रणा करनेवाले पुरुष दूरवर्ती स्थान पर निःश्वास आदि करें ॥३७०॥ यदि मंत्रस्थान अनेक स्तम्भोंवाला हो, तो वहाँ पर दूसरा मंत्रभेदी पुरुष छिप सकता है। वृक्षकी शाखा जिससे लगी हो, ऐसे स्थान पर और जहाँ प्रतिध्वनि सुनाई दे, ऐसी भीतिसे संलग्न स्थान पर मंत्रणा न करे ॥३७१॥ अतएव गुप्त मंत्रणा करनेवाले पुरुषको शून्य स्थान, अधोभूमिवाले स्थान (भूमिगृह) अथवा वनके मध्यमें जा करके तीन या पाँच मंत्रियों (सलाहकारों) के साथ सम्मुख बैठकर मंत्रणा करनी चाहिए ॥३७२॥ जो आलस्य-युक्त हैं, विभिन्न लिंगोंके धारक हैं, दीर्घसूत्री (बहुत विलम्बसे विचार करनेवाले) हैं और अल्प बुद्धिवाले हैं, ऐसे पुरुषोंके साथ कभी मंत्रणा नहीं करनी चाहिए। तथा मंत्रणा करके उसे करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥३७३॥

जिस स्थानपर बहुतसे क्रोधी पुरुष रहते हों, जहाँपर बहुतजन प्रमुखताके इच्छुक हों और जहाँपर बहुतसे कृपण पुरुष (कंजूस) रहते हों, वहाँ सार्थवाह (व्यापारी पुरुष) अपने स्वार्थका नाश करता है ॥३७४॥ विजय प्राप्त करनेके इच्छुक पुरुषको सभी कार्योंमें अपने सामर्थ्यका विचार करना चाहिए, अपने मुख आदिके आकार (अभिप्राय) को गुप्त रखना चाहिए और धृष्टता तथा सत्कार्यका सदा अभ्यास करना चाहिए ॥३७५॥ प्रायः अपने अभिप्रायको नहीं छिपानेवाला पुरुष परिभवका स्थान होता है, इसलिए कहीं पर भी बुद्धिमान् पुरुषको बाहिरी

विश्वासो नैव कस्यापि कार्यो येषां विशेषतः । ज्ञानिप्रकल्पिताशेषधर्मविच्छेदमिच्छताम् ॥३७७
स्वमातुदरोत्पन्नरौद्रार्त्तध्यानधारिणाम् । पाखण्डिनां तथा क्रूरासत्यप्रत्यन्तवासिनाम् ॥३७८
मूर्तानां प्रागदृष्टानां बालानां योषितांस्तथा । स्वर्णकार-जलाग्नीनां प्रभूणां कूटभाषिणाम् ॥३७९
नीचानामलसानां च पराक्रमवतां तथा । कृतघ्नानां च चौराणां नास्तिकानां तु जातुचित् ॥३८०
(चतुर्भिः कलापकम्)

कि कुलं किंश्रुतं कि वा कर्म को च व्ययागमो ।
का वाक्-शक्तिः किमयं क्लेशः किं च बुद्धिविजृम्भितम् ॥३८१

का शक्तिः के द्विषः कोऽनुबन्धश्च संसदि । कोऽभ्युपायः सहायाः के कियन्मात्रफलं तथा ॥३८२
कौ कालदेशौ का दैवसम्पत् प्रतिहते परैः । वाक्ये ममोत्तरं सद्यः किं च स्यादिति चिन्तयेत् ॥३८३
(त्रिभिर्विशेषकम्)

यत्पार्श्वं स्थीयते नित्यं गम्यते वा प्रयोजनात् । गुणाः स्थैर्यादयस्तस्य व्यसनानि विचिन्तयेत् ॥३८४
उत्तमैका सदाराध्य प्रसिद्धिः काचिदात्मनि । अज्ञातानां पुरे वासो युज्यते न कलावताम् ॥३८५

दिखाऊ विशेष आडम्बर नहीं छोड़ना चाहिए ॥३७६॥ स्वकार्य-साधक पुरुषको जिस किसी भी मनुष्यका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। विशेष करके जो पुरुष ज्ञानी जनोंके द्वारा प्ररूपित समस्त धर्म-कार्योंके विच्छेदकी इच्छा करते हैं, उनका तो कभी भी विश्वास नहीं करे। जो अपनी माताके द्वारा उदरसे उत्पन्न रौद्र और आर्त्तध्यानके धारक हैं, पाखण्डी हैं तथा जो क्रूरस्वभावी हैं, असत्यवादक पुरुषोंके समीप निवास करते हैं, पहिलेसे जिनका कोई परिचय नहीं है, बालक हैं, स्त्रियाँ हैं, तथा जो स्वर्णकार हैं, जल और अग्निके प्रभू (स्वामी) हैं, कूट-भाषी हैं, नीच जातिके हैं, आलसी हैं तथा विशेष पराक्रमवाले हैं, कृतघ्न हैं, चोर हैं, और नास्तिक हैं, ऐसे पुरुषोंका तो कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए ॥३७७-३८०॥

मनुष्यको सदा ही इन बातोंका विचार करना चाहिए कि हमार कौनसा कुल है, हमारा कितना शास्त्रज्ञान हैं, हमारा क्या कर्तव्य है, हमारी क्या आय है और क्या व्यय है, हमारी क्या वचन-शक्ति है, यह क्लेश हमें क्यों प्राप्त हुआ है, हमारी बुद्धिका क्या विस्तार है, हमारी क्या शक्ति है, हमारे कौन शत्रु या विद्वेषी है, मैं कौन हूँ, सभामें मेरा क्या अनुबन्ध (स्वीकृत-सम्बन्ध) है, मेरे कार्यका क्या उपाय है, मेरे कौन सहायक हैं, तथा मेरे इस कार्यका कितना फल प्राप्त होगा तथा वर्तमानमें कौनसा काल और देश है, मेरी क्या दैवी सम्पत्ति है तथा दूसरोंके द्वारा वाक्यके प्रतिघात किये जानेपर मेरा शीघ्र क्या उत्तर होगा? इन सभी बातोंका सदा ही विचार करते रहनेसे मनुष्य सदा लाभ, यश एवं सम्मानको प्राप्त होता है और कभी उसे पराभवको प्राप्त नहीं होना पड़ता है ॥३८१-३८३॥

मनुष्य जिसके समीप नित्य उठता-बैठता है, अथवा प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उस व्यक्तिमें स्थैर्य आदि कौनसे विशेष गुण है, अथवा अस्थिरता-ओछापन आदि कौन-कौनसे दुर्व्यसन हैं, इसका सदा ही विचार करना चाहिए ॥३८४॥ जिस उत्तम सभामें बैठकर जिससे अपने आपमें कोई प्रसिद्धि प्राप्त हो, उसका सदा आश्रय लेना चाहिए। किन्तु अजानकार लोगोंके नगरमें कलावान् पुरुषोंको कभी निवास नहीं करना चाहिए ॥३८५॥

कालकृत्यं न मोक्तव्यमतिखिन्नैरपि ध्रुवम् । नाप्नोति पुरुषार्थानां फलं क्लेशजितः पुमान् ॥३८६
उच्चैर्मनोरथाः कार्याः सर्वदैव मनस्विना । विधिस्तदनुमानेन सम्पदे यतते यतः ॥३८७
कुर्यान्न कर्कशं कर्म क्षमाशालिनि सज्जने । प्रादुर्भवति सप्ताचिर्मथिताच्चन्दनादपि ॥३८८
दृष्ट्वा चन्दनतां यातान् शाखोटादीनपि द्रुमान् । मलयाद्रौ ततः कार्या महद्भिः सह सङ्गतिः ॥३८९
शुभोपदेशतारुचयो वृद्धा वा बहुश्रुताः । कुशला यः स्वयं हन्ति त्रायते स कथं परम् ॥३९०
शौर्येण वा तपोभिर्वा विद्यया वा धनेन वा । अत्यन्तमकुलीनोऽपि कुलीनो भवति क्षणात् ॥३९१
कुर्याच्च नात्मनोमृत्युमायासेन गरीयसा । ततश्चैवाधपातः स्याद् दुःखाय महते तथा ॥३९२
दैविकैर्मानुषैर्दोषैः प्रायः कार्यं न सिद्ध्यति । दैविकं वारयेच्छान्त्या मानुषं सुधिया पुनः ॥३९३
प्रतिपन्नस्य न त्यागः शोकश्च गतकस्य न । निद्राच्छेदश्च कस्यापि न विधेयः कदाचन ॥३९४
अकुर्वन् बहुभिर्वैरं दद्याद्बहुमते मतम् । गतस्वादानि कृत्यानि कुर्याच्च बहुभिः समम् ॥३९५
शुभक्रियासु सर्वासु मुख्यैर्भाव्यं मनीषिभिः । नराणां कपटेनापि निःस्पृहत्वं फलप्रदम् ॥३९६
द्रोहप्रयोजने नैव भाव्यमत्युत्सुकैर्नरैः । कदाचिदपि कर्तव्यः सुपात्रेषु न मत्सरः ॥३९७
स्वजातिकष्टं नोपेक्ष्यं तदैक्यं कार्यमादरात् । मानिनो मानहानिः स्यात्तद्दोषादयशोऽपि च ॥३९८

अत्यन्त खेद-खिन्न होनेपर भी पुरुषोंको उचित कालमें करनेके योग्य जो कर्तव्य है, उसे निश्चयसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि क्लेशसे पराजित होनेवाला पुरुष अपने पुरुषार्थोंका कभी फल नहीं पाता है ॥३८६॥ मनस्वी पुरुषको सर्वदा ही ऊँचे मनोरथ करना चाहिए। क्योंकि उसके अनुमानसे किया गया कार्य-विधान सम्पत्तिके लिए प्रयत्नकारक होता है ॥३८७॥ क्षमाशाली सज्जन पुरुषपर कभी भी कर्कश कार्य नहीं करना चाहिए। शीतल-स्वभावी चन्दनके भी मथन (रगड़) से अग्नि उत्पन्न हो जाती है ॥३८८॥ मलयाचलपर चन्दन वृक्षकी संगति पाकर शाखोट आदि वृक्षोंके भी चन्दनपना देख करके मनुष्यको सदा महापुरुषोंके साथ संगति करनी चाहिए ॥३८९॥ जो उत्तम शुभ उपदेशमें रुचि रखते हैं, वयोवृद्ध हैं और बहुज्ञानी हैं, वे ही कुशल पुरुष कहलाते हैं (और उनका ही सत्संग करना चाहिए)। जो पुरुष स्वयंका विनाश करता है, वह दूसरे पुरुषकी रक्षा कैसे कर सकता है ॥३९०॥ अत्यन्त नीच कुलवाला भी पुरुष शूरवीरतासे, या तपश्चरण करनेसे, या विद्या पढ़नेसे अथवा धनोपार्जनसे क्षणभरमें कुलीन हो जाता है ॥३९१॥

भारी प्रयाससे भी अपने मरनेकी कामना न करे। क्योंकि उससे मनुष्यका अधःपतन ही होता है और तब वह महादुःखके लिए ही होता है ॥३९२॥ दैव-जनित और मनुष्य-कृत दोषोंसे प्रायः कार्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष दैव-जनित दोषोंको तो शान्ति-कर्मसे निवारण करे और मनुष्य-कृत दोषोंको अपनी सुबुद्धिसे दूर करे ॥३९३॥ स्वीकार किये व्रतादिका त्याग न करे और गई हुई वस्तुका शोक भी नहीं करे। तथा किसी भी सोते हुए व्यक्तिका निद्रा-विच्छेद भी कभी नहीं करना चाहिए ॥३९४॥ बहुत पुरुषोंके साथ वैरको नहीं करते हुए बहुमतके साथ अपना मत प्रदान करे। तथा विगत-स्वादवाले कार्योंको भी बहुत जनोंके साथ करना चाहिए ॥३९५॥

मनीषी पुरुषोंको सभी शुभ क्रियाओंमें प्रमुख होना चाहिए। कपटके द्वारा भी मनुष्योंकी निःस्पृहता फलको प्रदान करती है ॥३९६॥ अत्यन्त उत्सुक भी मनुष्योंको कभी भी द्रोहकार्यके प्रयोजनमें प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए। तथा उत्तम पात्र जनोंपर कभी भी मत्सर नहीं करना चाहिए ॥३९७॥ अपनी जातिपर आये हुए कष्टकी कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। किन्तु

न कुर्याज्ज्ञातिषु प्राय: कलहादिर्निरन्तरम् । मिलता एव वर्धन्ते कमलिन्य इवाम्भसि ॥३९९
दारिद्र्योपद्रुतं मित्रं नर: साधर्मिकं सुधी: । धेयात् ज्ञानिगणैर्जामिमनपत्यां च पूजयेत् ॥४००
सारथ्यायां न वस्तूनां विक्रयाय क्रयाय च । कुलानुचितकार्याय नो गच्छेद् गौरवप्रिय: ॥४०१
स्वाङ्गवाद्यं तृणच्छेद्यं व्यर्थं भूमिविलेखनम् । नैव कुर्यान्नरो दन्त-नखराणां च घर्षणम् ॥४०२
प्रवर्तमानमुन्मार्गे स्वं स्वेनैव निवारयेत् । किमम्भोनिधिरुद्वेल: स्वस्मादन्येन वार्यते ॥४०३
सन्मानसहितं दानमौचित्येनोचितं वच: । नयेन चर्यं (भाष्यं) च त्रिजगद्वश्यकृत् त्रयम् ॥४०४
व्यर्थादधिकनेपथ्यो वेषहीनोऽधिकं धनी । अशक्तो वैरकृच्छक्तैर्महद्भिरुपहस्यते ॥४०५
चौर्याद्यैर्बद्धविलाश: सदुपायेषु संशयी । सत्यां शक्तौ निरुद्योगो नाप्नोति नर: श्रियम् ॥४०६
फलकाले कृतालस्यो निष्फले विहितोद्यम: । न शङ्कु: शत्रुसंज्ञेऽपि न नरश्चिरमेधते ॥४०७
दम्भ: संरम्भिग्राह्यो दम्भमुक्तेष्वनादरी । शठस्त्रीवाचि विश्वासी विनश्यति न संशय: ४०८
ईर्ष्यालु: कुलटा-कामी निर्धनो गणिकाप्रिय: । स्थविरश्च विवाहेच्छुरुपहास्यास्पदो नृणाम् ॥४०९

आदरसे उनकी एकता ही करनी चाहिए। जो पुरुष अपनी जातिके कष्टकी उपेक्षा करता है उस मानी पुरुषके मानकी हानि होती है और उस दोषसे उसका अपयश भी होता है ॥३९८॥ अपनी जातिवालोंपर निरन्तर कलह आदि करना प्राय: अच्छा नहीं होता है। देखो कमलिनियाँ मिलकरके ही जलमें बढ़ती हैं ॥३९९॥

दरिद्रतासे पीड़ित साधर्मी मित्रकी बुद्धिमान् पुरुष सदा ही उन्नति करे। तथा जो पूज्य स्त्री सन्तान-रहित हो, उसका ज्ञानी जनोंके साथ सदा पूजा-सत्कार करे ॥४००॥ जिसे अपना गौरव प्रिय है, वह गली-कूचेमें वस्तुओंके बेंचने या खरीदनेके लिए तथा कुलके अयोग्य कार्य करनेके लिए कभी न जावे ॥४०१॥ मनुष्यको अपने शरीरके अंगोंका बजाना, तृणोंका छेदना, व्यर्थ भूमिका खोदना, दाँतों और नखोंका घिसना ये कार्य नहीं करना चाहिए ॥४०२॥ कुमार्गमें प्रवर्तमान अपने आपका स्वयं ही निवारण करे। बेलाका उल्लंघन करता हुआ समुद्र क्या अपनेसे भिन्न दूसरेके द्वारा निवारण किया जाता है ? कभी नहीं ॥४०३॥

सन्मानके साथ दान देना, समुचितपनेके साथ उचित वचन बोलना और सुनीतिके साथ आचरण और संभाषण करना, ये तीनों कार्य तीनों जगत्‌को वशमें करनेवाले होते हैं ॥४०४॥ प्रयोजनसे अधिक वेष धारण करनेवाला धनी होते हुए भी अधिक हीन वेष धारण करनेवाला तथा असमर्थ होते हुए भी समर्थ पुरुषोंके साथ वैर करनेवाला पुरुष महाजनोंके द्वारा हँसीका पात्र होता है ॥४०५॥ चोरी आदि करके धनकी आशा रखनेवाला, उत्तम उपायोंमें संशय रखनेवाला और शक्ति होनेपर भी उद्योग नहीं करनेवाला मनुष्य लक्ष्मीको प्राप्त नहीं कर पाता है ॥४०६॥ फल-प्राप्तिके कालमें आलस करनेवाला, निष्फल कार्यमें उद्यम करनेवाला और शत्रु-संज्ञावाले पुरुषमें शंका नहीं रखनेवाला पुरुष चिरकालतक वृद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥४०७॥

उत्तम कार्य करनेवालोंके साथ दम्भ करनेवाला, व्यर्थके समारम्भ करनेवाला, उनको ग्रहण करने योग्य माननेवाला, दम्भ-रहित पुरुषोंमें अनादर करनेवाला, मूर्खों और स्त्रियोंके वचनोंमें विश्वास करनेवाला मनुष्य विनाशको प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥४०८॥ दूसरोंसे ईर्ष्या करनेवाला, कुलटा-व्यभिचारिणी स्त्रियोंके साथ काम-सेवनका इच्छुक, निर्धन हो करके भी वेश्याओंके साथ प्यार करनेवाला और वृद्ध हो करके भी विवाह करनेकी इच्छा रखने-

कामिस्पर्धावितीर्णार्थः कान्ताकोपाद् विवाहकृत् ।
त्यक्तादोषः प्रियाशक्तः पश्चात्तापमुपैत्यलम् ॥४१०

वैरि-वेश्याभुजङ्गेषु दुःखी सुखमनोरथी । ऋणी च स्थावरक्रेता मूर्खाणामादिमास्त्रयः ॥४११
सदैन्यार्थी सुदायस्ते भार्यावित्ते वनीपकः । प्रदायानुशयं धत्ते यस्तदन्यो हि कोऽधमः ॥४१२
अहंयुर्मतिमाहात्म्याद् गर्वितो मागधोक्तिभिः । लाभेच्छुर्नायके लुब्धे ज्ञेया दुर्मतयस्त्रयः ॥४१३
दुष्टे मन्त्रिणि निर्भीकः कृतघ्नादुपकारधीः । दुर्नाथान्न्यायमाकाङ्क्षन्नेष्टसिद्धिं लभेज्जनः ॥४१४
अपथ्यसेवको रोगी सद्वेषो हितवादिषु । नीरोगो ह्यौषधप्राशी मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥४१५
शुल्कदोत्पथगामी च भुक्तिकाले प्रकोपवान् । असेवकः कुलमदात्त्रयोऽमी मन्दबुद्धयः ॥४१६
मित्रोद्वेगकरो नित्यं धूर्तैश्चाविश्ववञ्चितैः । गुणीषु मत्सरी यस्तु तस्य स्युर्विफलाः कलाः ॥४१७
चारुप्रियोऽन्यदारार्थी सिद्धेऽन्ने गमनादिकृत् । निःस्वोऽक्षीबरतो नित्यं निर्बुद्धीनां शिरोमणिः ॥४१८
धातुवादे धनप्लोषी रसिकश्च रसायने । विषभक्षो परीक्षार्थं त्रयोऽनर्थस्य भाजनम् ॥४१९

वाला पुरुष मनुष्योंकी हँसीका पात्र होता है ॥४०९॥ कामीजनोंके साथ स्पर्धा करनेमें कुलटा-व्यभिचारिणी स्त्रियोंको धन-वितरण करनेवाला, स्त्रीके कोपसे दूसरा विवाह करनेवाला, दोषोंको नहीं छोड़नेवाला और अपनी प्रियामें अत्यन्त आसक्त रहनेवाला पुरुष अन्तमें भारी पश्चातापको प्राप्त होता है ॥४१०॥

स्वयं दुखी रहने पर भी वैरी, वेश्या-भुजंग (वेश्यागमी) से सुखकी इच्छा रखनेवाला, ऋणी (कर्जदार) होकर स्थावर भूमि आदिका खरीदनेवाला ये तीनों मूर्खोंके आदिम अर्थात् शिरोमणि हैं ॥४११॥ दीनता-सहित धनार्थी हो करके भी स्त्रीके धन पर मौज उड़ानेवाला और दान दे करके पीछे पश्चात्ताप करनेवाला जो पुरुष है, उसके सिवाय अन्य कौन अधम पुरुष होगा ॥४१२॥ बुद्धिके माहात्म्यसे अहंकारी, मागधजनोंकी उक्तियोंसे गर्वित और लोभी स्वामीसे लाभ की इच्छा करनेवाला ये तीनों पुरुष दुर्बुद्धि जानना चाहिए ॥४१३॥ राज-मंत्रीके दुष्ट होने पर भी निर्भीक रहनेवाला, कृतघ्नी पुरुषसे उपकारकी बुद्धि रखनेवाला और दुष्ट स्वामीसे न्यायकी आकांक्षा रखनेवाला मनुष्य कभी इष्ट-सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥४१४॥ अपथ्यका सेवन करनेवाला रोगी, हितकी बात कहनेवालों पर द्वेषभाव रखनेवाला और नीरोगी हो करके भी औषधियोंका खानेवाला मनुष्य मरनेका इच्छुक है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥४१५॥

शुल्क (राज्य-कर) दे करके भी उन्मार्गसे गमन करनेवाला, भोजनके समय क्रोध करनेवाला और कुलके मदसे दूसरोंकी सेवा नहीं करनेवाला, ये तीनों पुरुष मन्द बुद्धिवाले जानना चाहिए ॥४१६॥ जो मित्रोंमें नित्य उद्वेग करनेवालाहै, सबको ठगनेवाले धूर्त पुरुषोंके साथ रहता है और जो गुणीजनों पर मत्सर भाव रखता है, उन पुरुषोंकी सभी कलाएँ निष्फल होती हैं ॥४१७॥ सुन्दर स्त्रीवाला हो करके भी पराई स्त्रीकी अभिलाषा करनेवाला, अन्नके पक जाने पर भी अन्यत्र गमन करनेवाला और निर्धन हो करके भी नित्य हठ करनेवाला, ये सभी पुरुष निर्बुद्धि-जनोंमें शिरोमणि हैं ॥४१८॥

धातुवाद (पारद आदिसे सोना बनाने) में धनको खर्च करनेवाला, रसायन बनानेका रसिक और परीक्षण करनेके लिए विष-भक्षण करनेवाला ये तीनों ही अनर्थके पात्र होते हैं ॥४१९॥ दूसरेके अधीन रहनेवाला, अपनी गुप्त बातोंको कहनेवाला, नौकर-चाकरोंसे डरनेवाला, कुकर्मके

परवश्यः स्वगुह्योक्तो भृत्यभीरुः कुकर्मणा । धत्ते कः स्वस्य कोपेन पदं दुर्यशसो ह्यमी ॥४२०
क्षणरागोऽगुणाभ्यासी दोषेषु रसिकोऽधिकम् । बहुहान्याऽल्परक्षी च सम्पदामास्पदं न हि ॥४२१
नृपेषु नृपवन्मौनी सोत्साहो दुर्बलार्दने । स्तब्धः स्वबहुमानेन भवेद् दुर्जनवल्लभः ॥४२२
दुःखे दीनमुखोऽत्यन्तं सुखे दुर्गतिनिर्भयः । कुकर्मण्यपि निर्लज्जो बालकैरपि हस्यते ॥४२३
धूर्तस्तुत्याऽऽत्मनिर्भ्रान्तः कीर्त्या चापात्रपोषकः । स्वहितेष्वविमर्शी च क्षयं यात्येव बालिशः ॥४२४
विद्वानस्मीति वाचालः सोद्यमीत्यतिचञ्चलः । शूरोऽस्मीति च निःसूक्तः स सभायां न राजते ॥४२५
धर्मद्रोहेण सौख्येच्छुरन्यायेन विवर्द्धिषुः । पापैर्यश्च स्वमोक्षेच्छुः सोऽतिथिर्दुर्गतेर्नरः ॥४२६
विकृतः सम्पदप्राप्त्या विज्ञम्मन्यो मुखस्वतः । देवशक्त्या नृपत्वेच्छुर्धीमद्भिर्न प्रशस्यते ॥४२७
क्लिष्टोक्त्यापि कविम्मन्यः स्वश्लाघी च पर्षदि । व्याचष्टे चाश्रुतं शास्त्रं यस्तस्य मतये नमः ॥४२८
उद्वेजकोऽतिचाटूक्त्या समं स्यात्तं हसन्नपि । निर्गुणो गुणिनिन्दाकृत्क्रकचप्रतिमः पुमान् ॥४२९
प्रसभं पाठको विद्वानदातुरभिलाषुकः । अज्ञो नवरसज्ञश्च कपिकच्छुसमा इमे ॥४३०

द्वारा एवं अपने क्रोधसे कौन पुरुष उत्तम पदको धारण करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। ये सभी अपयशके पात्र हैं ॥४२०॥ क्षणरागी अर्थात मित्रादिकोंके साथ अल्पकाल ही स्नेह रखनेवाला, दुर्गुणोंका अभ्यासी, दोषोंमें अधिक रस लेनेवाला और अधिक धनादि की हानि करके अल्प धनादिकी रक्षा करनेवाला, ये सभी पुरुष सम्पत्तियोंके पात्र नहीं होते हैं ॥४२१॥ राजाओंके मध्यमें राजाके समान मौन धारण करनेवाला, दुर्बल पुरुषको दुःखित-पीड़ित करनेमें उत्साह रखनेवाला और अपनेको बहुत बड़ा मान करके अहंकार-युक्त रहनेवाला, ये सभी दुर्जनोंके वल्लभ (प्रिय) होते हैं ॥४२२॥ दुःखके आने पर अत्यन्त दीन मुख रहनेवाला, सुखके समय (पाप करके भी) दुर्गतियोंसे निर्भय रहनेवाला और कुकर्म करते हुए भी निर्लज्ज रहनेवाला पुरुष बालकोंके द्वारा भी हँसीका पात्र होता है ॥४२३॥ धूर्तजनोंकी स्तुति-प्रशंसासे अपने आपमें भ्रान्ति-रहित रहनेवाला, कीर्त्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे अपात्र-कुपात्रजनोंका पोषण करनेवाला और अपने हितमें भी भले-बुरेका विचार नहीं करनेवाला, ये तीनों ही मूर्ख विनाशको ही प्राप्त होते हैं ॥४२४॥

'मैं विद्वान् हूं' ऐसा समझ कर वाचाल रहनेवाला, 'मै उद्यमशील हूँ' ऐसा मानकर अति चंचल रहनेवाला और 'मै शूर-वीर हूं' ऐसा अभिमान कर उत्तम वचनोंको नहीं बोलनेवाला पुरुष सभामें शोभा नहीं पाता है ॥४२५॥ धर्मके साथ द्रोह करके सुखकी इच्छा करनेवाला, अन्यायसे धनादिकी वृद्धिका इच्छुक तथा पाप करके भी मुक्तिको चाहनेवाला, ये सभी मनुष्य दुर्गतिके अतिथि जानना चाहिए ॥४२६॥ सम्पत्तिकी प्राप्ति न होनेसे विकार-युक्त रहनेवाला, अपने मुखसे अपनेको विद्वान् माननेवाला और दैवी शक्तिसे राजा बननेकी इच्छा करनेवाला पुरुष बुद्धिमानोंके द्वारा प्रशंसा नहीं पाते हैं ॥४२७॥ कठिन-वचन-रचना करके भी अपनेको कवि माननेवाला, सभामें अपनी प्रशंसा करनेवाला और अश्रुत (गुरुमुखसे नहीं सुने हुए) शास्त्रका जो व्याख्यान करता है, ऐसे पुरुषकी बुद्धिके लिए नमस्कार है ॥४२८॥

अति खुशामदी वचनोंसे उद्वेगको प्राप्त होनेवाला, अर्थात् अपनेको बड़ा माननेवाला, खुशामदीके हँसनेपर उसके साथ हँसनेवाला और गुण-रहित होते हुए भी गुणी पुरुषोंकी निन्दा करनेवाला, ये तीनों पुरुष क्रकच (करोंत-आरा) के समान है ॥४२९॥ पठन-पाठन प्रारम्भ करते ही अपनेको शीघ्र बड़ा विद्वान् माननेवाला, दान नहीं देनेवालेकी अभिलाषा (प्रशंसा) करनेवाला

दूतो वाचि कविः स्मारी गीतकारी स्वरस्वरः । गृहाश्रमगतो योगी महोद्वेगकरास्त्रयः ॥४३१
ज्ञानिदोषोऽजनश्लाघा गुणिनां गुणनिन्दकः । राजाद्यवर्णवादी च सद्योऽनर्थस्य भाजनम् ॥४३२
गृहदुश्चरितं मन्त्रं वित्तायुर्मर्मवञ्चनम् । अपमानं स्वधर्मं च गोपयेदष्ट सर्वदा ॥४३३

इत्येवं कथितमशेषजन्मभाजा-माजन्म प्रतिपदमत्र यद्विधेयम् ।
कुर्वन्तः सततमिदं च केऽपि धन्याः साफल्यं विदधति जन्म ते निजस्य ॥४३४

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे जन्मचर्यायां
विशेषोपदेशो नामाष्टमोल्लासः ।

•

और नवों रसोंसे अपरिचित होनेपर भी अपनेको सर्वरसोंका ज्ञाता माननेवाला ये तीनों जातिके पुरुष कपिकच्छु (केंवाचकी फली) के समान जानना चाहिए ॥४३०॥

वचन बोलनेमें अपनेको कुशल दूत, कवि और स्मरण-शक्ति-सम्पन्न समझनेवाला, गायकके स्वरमें स्वर मिलाकरके अपनेको गीतकार माननेवाला, तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अपनेको योगी कहनेवाला, ये तीनों महान् उद्वेगकारक जानना चाहिए ॥४३१॥ ज्ञानी पुरुषोंमें दोष देखनेवाला, दुर्जनोंकी प्रशंसा करनेवाला, गुणी जनोंके गुणोंकी निन्दा करनेवाला और राजा आदि महापुरुषोंका अवर्णवाद करनेवाला, ये सभी पुरुष शीघ्र ही अनर्थके पात्र होते हैं ॥४३२॥ अपने घरके दुश्चरित्रको, मंत्रको, धनको, अपनी आयुको, मर्मको, वंचना करनेवाले कार्यको, अपमानको और अपने धर्मको इन आठ बातोंको सदा गुप्त रखे। अर्थात् सबके सामने प्रकट नहीं करे ॥४३३॥

इस प्रकार समस्त प्राणियोंके जन्मसे लेकर जीवनमें प्रतिपदपर करनेके योग्य जो कार्य हैं, उन सबको मैंने कहा। जो कोई भी पुरुष निरन्तर इन कार्योंको करते हैं, वे धन्य हैं और वे अपने जन्मको सफल करते हैं ॥४३४॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारके अन्तर्गत
जन्मचर्यामें विशेष कार्योंका उपदेश करनेवाला
अष्टम उल्लास समाप्त हुआ ॥८॥

•

अथ नवमोल्लासः

प्रत्यक्षमप्यमी लोकाः प्रेक्ष्य पापविजृम्भितम् । मूढाः किं न विरज्यन्ते ग्रथिता इव दुर्ग्रहात् ॥१
वधेन प्राणिनां मद्यपानेनानृतजल्पनैः । चौर्यैः पिशुनभावैः स्यात्पातकं श्वभ्रपातकम् ॥२
परवञ्चनमारम्भपरिग्रहकदाग्रहैः । परदाराभिसङ्गैश्च पापं स्यात्तापवर्धनम् ॥३
अभक्ष्यैर्विकथालापैः सन्मार्गाप्ररूपणैः । अनात्मयन्त्रणैश्चापि स्यादेनस्तेन तत्त्यजेत् ॥४
लेश्याभिः कृष्णकापोतनीलाभिश्चैव चिन्तनैः । ध्यानाभ्यामार्तरौद्राभ्यां दुःखकृत्कल्मषं भवेत् ॥५
क्रोधो विजितदावाग्निः स्वस्यान्यस्य च घातकः । दुर्गतेः कारणं क्रोधस्तस्माद्वर्ज्यो विवेकिभिः ॥६
कुल-जाति-तपो-रूप-बल-लाभ-श्रुत-श्रियाम् । मदात्प्राप्नोति तान्येव प्राणी हीनानि मूढधीः ॥७
दौर्भाग्यजननी माया-माया दुर्गतिवर्धिनी । नृणां स्त्रीत्वप्रदा माया ज्ञानिभिस्त्यज्यते ततः ॥८
कज्जलेन सितं वासो दुग्धं शुक्लेन यादृशम् । क्रियते गुणसंघातो युक्तो लोभेन तादृशः ॥९
भवे कारागृहनिभे कषाया कामिका इव । जीवः किन्त्वेषु जाग्रत्सु मोक्षमान्योऽतिबालिशः ॥१०
शौर्यं गाम्भीर्यमौदार्यं ध्यानमध्ययनं तपः । सकलं सफलं पुंसा स्याच्चेद्विषय-निग्रहः ॥११
पापात्पङ्गुः ऋणी पापात्कुष्टी पापाज्जनो भवेत् । पापादस्फुटवाक् पापान्मूकः पापाच्च निर्धनः ॥१२

ये संसारी मूढ लोक पापके फल-विस्तारको प्रत्यक्ष देखकर भी खोटे ग्रहसे ग्रसित हुएके समान पापसे क्यों विरक्त नहीं होते हैं ? (यह आश्चर्य है) ॥१॥ प्राणियोंका घात करनेसे, मदिरा-पानसे, असत्य बोलनेसे, चोरी करनेसे चुगली और काम-कथारूप पैशुन्यभावसे नरकमें ले जानेवाला महापाप होता है ॥२॥ दूसरोंको ठगनेसे, आरम्भ, परिग्रह और दुराग्रहसे तथा परस्त्री के साथ संगम करनेसे सन्तापको बढ़ानेवाला पाप होता है ॥३॥ अभक्ष्य-भक्षण करनेसे, विकथाओं के कहनेसे, असत् मार्गके उपदेश देनेसे और दूसरोंको यंत्रणा देनेसे भी पापका संचय होता है, अतः उक्त सर्व कार्योंको छोड़ना चाहिए ॥४॥ कृष्ण, नील और कापोत लेश्यारूप परिणतिसे, तद्रूप चिन्तन करनेसे तथा आर्त और रौद्र ध्यानसे दुःखोंको उत्पन्न करनेवाला पाप-संचय होता है ॥५॥

क्रोध दावानलको भी जीतने वाला होता है, तथा अपने और परके घातका करने वाला है। क्रोध दुर्गतिका कारण है, इसलिए विवेकी जनोंको क्रोध छोड़ना चाहिए ॥६॥ कुल, जाति, तप, रूप, बल, लाभ, शास्त्र-ज्ञान और धनादि लक्ष्मीके मदसे मूढ बुद्धि प्राणी इन्हीं कुल, जाति आदिकी हीनताको प्राप्त होता है ॥७॥ माया दौर्भाग्यकी जननी है, माया दुर्गतिकी बढानेवाली है और माया मनुष्योंको भी स्त्रीपना देती है, इसलिए ज्ञानीजन मायाका परित्याग करते हैं ॥८॥ दूधके समान श्वेत वस्त्र जैसे काजलसे काला हो जाता है, उसी प्रकार लोभसे युक्त गुणोंका समूह मलिन कर दिया जाता है ॥९॥ कारागार (जेलखाना) के सदृश इस संसारमें कषाय कारागार के स्वामी (जेलर) हैं। किन्तु इन कषायोंके जाग्रत रहते हुए यह अति मूढ़ जीव अपना मोक्ष मानता है, अर्थात् संसारसे छुटकारा समझता है ॥१०॥

यदि मनुष्योंके इन्द्रिय-विषयोंका निग्रह हो, तो शूरता, गम्भीरता, उदारता, ध्यान, शास्त्र-अध्ययन और तप ये सर्व सफल हैं ॥११॥ पापसे जीव पंगु होता है, पापसे ऋणी (कर्जदार) होता

ओक्ष्या पापान्मली पापात्पापाद्विषयलोलुपः । दुर्भगः पुरुषः पापात्षण्ढः पापाच्च दृश्यते ॥१३

जायते नारकस्तिर्यगकुलीनोऽपि च मूढधीः । चातुर्वर्ग्यफलैर्वन्ध्यो रोगग्रस्तश्च पापतः ॥१४

यदन्यदपि संसारे जीवः प्राप्नोत्यसुन्दरम् । तत्समस्तं मनो-दुःखहेतुः पापविजृम्भितम् ॥१५

इति गदितमथादौ कारणं पातकस्य प्रतिफलमपि तस्य श्वभ्रपातादिदुःखम् ।
सकलसुखसमूहं प्राप्तिकामैर्मनुष्यैर्मनसि न खलु धार्यः पापहेतूपदेशः ॥१६

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे जन्मचर्यायां
पापोत्पत्तिकारणो नाम नवमोल्लासः ।

●

है पापसे मनुष्य कोढ़ी होता है, पापसे अस्पष्ट वचन बोलनेवाला होता है, पापसे मूक (गूँगा) होता है और पापसे मनुष्य निर्धन होता है ॥१२॥ पापसे मनुष्य तिरस्कार एवं बहिष्कारके योग्य होता है, पापसे मलिन होता है, पापसे विषय-लोलुपी होता है, पापसे पुरुष दुर्भागी होता है और पापसे मनुष्य नपुंसक हुआ देखा जाता है ॥१३॥

पापसे यह जीव नारकी, तिर्यंच, अकुलीन और मूढ़ बुद्धि होता है। पापसे ही यह जीव धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्वर्गके फलसे रहित होता है और पापसे ही यह रोगोंसे ग्रस्त रहता है ॥१४॥ इस संसारमें जो कुछ भी असुन्दर वस्तुएँ हैं उन सबको यह जीव पापके उदयसे ही पाता है। मनमें दुःख उत्पन्न करनेके जितने भी हेतु हैं, वे समस्त पापके ही विस्तार समझना चाहिए ॥१५॥

इस प्रकार मैंने पापके आदि कारण कहे। इस पापका प्रतिफल भी अति दुष्ट नरक-पात आदि जानना चाहिए। अतएव सर्व सुख-समूहको पानेके इच्छुक मनुष्योंको पापके कारणोंका उपदेश मनमें भी नहीं धारण करना चाहिए ॥१६॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें श्रावकचर्याके अन्तर्गत पापोत्पत्तिके कारणोंका वर्णन करनेवाला नवम उल्लास समाप्त हुआ ॥९॥

●

अथ दशमोल्लासः

प्रत्यक्षमन्तरं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा पुण्य-पापयोः । सदैव युज्यते कर्तुं धर्म एव विपश्चिता ॥१
धिग्मूढा जन्मिनो जन्म गमयन्ति निरर्थकम् । धर्माधिष्ठानविकलं सुप्ता इव तपस्विनी ॥२
नृपवित्तधनस्नेहदेहदुष्टजनायुषाम् । विघ्नं विघटमानानामस्त्यतो धर्ममाचरेत् ॥३
धर्मोऽस्त्येव जगज्जैत्रः परलोकोऽस्ति निश्चितः । देवोऽस्ति तत्त्वमस्त्येव सत्त्वं नास्ति तु केवलम् ॥४
कुगुरोः कुक्रियातश्च प्रत्यूहात्कालदोषतः । न सिद्ध्यन्त्याप्तवाचश्चेत्तत्तासां किमु वाच्यते ॥५
अनल्पकुविकल्पस्य मनसः स्थिरता नृणाम् । न जायते ततो देवाः कुतः स्युस्तद्वशंवदाः ॥६
आगताऽप्यन्तिकं सिद्धिर्विकल्पैर्नीयते यतः । अनादरवतां पार्श्वे कथं को वाऽवतिष्ठते ॥७
विश्वश्लाघ्यं कुलं धर्माद्धर्माज्जातिर्मनोरमा । काम्यं रूपं भवेद्धर्माद्धर्मात्सौभाग्यमद्भुतम् ॥८
निरोगत्वं भवेद्धर्माद्धर्माद्दीर्घ्यं [च जीवनम्]। धर्मादर्थो भवेद् भोग्यो धर्माज्ज्ञानं वपुष्मताम् ॥९
मेघवृष्टिर्भवेद् धर्माद्धर्माद्दिव्यश्च सिद्धयः । धर्मान्मुद्रां समुद्रश्च तनोत्युच्छृङ्खलो जलैः ॥१०
धर्मप्रभावतो याति नरकीर्तो रसातलम् । धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिर्धर्माच्च वर्तते ॥११

पुण्य और पापका प्रत्यक्ष अन्तर सुनकर, अथवा देखकर विद्वान् पुरुषको सदैव धर्म ही करना योग्य है ॥१॥ जो मूढ पुरुष इस मनुष्य जन्मको सोती हुई तपस्विनीके समान धर्माचरणसे रहित निरर्थक गँवाते हैं, उन्हें धिक्कार है ॥२॥ राजाओंका वैभव, धन-धान्यका स्नेह, शरीरकी दुष्टता और प्राणियोंकी आयु इन सब विघटित होनेवाली वस्तुओंके विघ्न होता ही है, इसलिए मनुष्यको धर्मका आचरण करना ही चाहिए ॥३॥ धर्म जगत्का जीतनेवाला है ही, परलोक है, यह बात भी निश्चित है, देव है और तत्त्व भी हैं ही। केवल तुम्हारी सत्ता ही वर्तमान रूपमें सदा नहीं रहनेवाली है ॥४॥ कुगुरुके निमित्तसे, खोटी क्रियाओंके आचरणसे, विघ्नों और कलिकालके दोषसे यदि आप्तके वचन सिद्ध नहीं होते हैं, तो उनकी क्या निन्दा की जा सकती है ? अर्थात् नहीं की जा सकती ॥५॥ मनुष्योंके बहुत संकल्प और खोटे विकल्प वाले मनकी यदि स्थिरता नहीं होती है, तो इससे देव उनके वशंवद (इच्छानुसार बोलनेवाले) कैसे होंगे ? अर्थात् जब मनुष्योंके मनमें स्थिरता नहीं, तब देवता उनको इच्छानुसार कैसे कार्य करेंगे ॥६॥ इससे समीपमें आई हुई भी सिद्धि मनुष्योंके नाना विकल्पोंके द्वारा अन्यत्र ले जायी जाती है। ठीक ही है— अनादर करनेवाले पुरुषोंके पासमें कौन ठहरता है ? कोई भी नहीं ठहरता ॥७॥

धर्मसे सभीके द्वारा प्रशंसनीय कुल प्राप्त होता है, धर्मसे मनोरम जाति प्राप्त होती है, धर्मसे मनोवांछित सुन्दररूप प्राप्त होता है और धर्मसे आश्चर्य-जनक सौभाग्य प्राप्त होता है ॥८॥ धर्मसे शरीरमें निरोगता रहती है, धर्मसे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, धर्मसे भोगने योग्य धन मिलता है और धर्मसे ही शरीर-धारियोंको ज्ञान प्राप्त होता है ॥९॥ धर्मसे समय पर मेघ वृष्टि होती है, धर्मसे दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त होती है और धर्मसे जलके द्वारा उद्वेलित समुद्र भी प्रशान्त मुद्राको धारण कर लेता है ॥१०॥ धर्मके प्रभावसे मनुष्यकी कीर्त्ति समस्त भूतल पर फैलती है और धर्मसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है ॥११॥

यदन्यदपि सद्वस्तु प्राप्नोति हृदयेप्सितम् । जीवः स्वर्गापवर्गादि तत्सर्वं धर्मसञ्चयात् ॥१२
दानशीलतपोभावैर्भेदभिन्नैः स दृश्यते । कार्यस्ततः स एवात्र मुक्तेर्यत्कारणं मतम् ॥१३
श्रेष्ठो मे धर्म इत्युच्चैर्ब्रूते कः कोऽत्र नोद्धतः । भेदो न ज्ञायते तस्य दूरस्थैराम्रनिम्बवत् ॥१४
मायाहङ्कारलज्जाभिः प्रत्युपक्रिययाथवा । यत्किञ्चिद्दीयते दानं न तद्धर्मस्य साधनम् ॥१५
असद्रूपोऽपि च यद्दानं तन्न श्रेयस्करं विदुः । दुग्धपानं भुजङ्गानां जायते विषवृद्धये ॥१६
प्रसिद्धिर्जायते पुण्यान्नदानाद्यत्प्रसिद्धये । कैश्चिद्वितीर्यते दानं तज्ज्ञेयं व्यसनं बुधैः ॥१७
यज्ज्ञानाभययोरत्र धर्मोपष्टम्भवस्तुनः । यच्चानुकम्पया दानं तदेव श्रेयसे भवेत् ॥१८
स विवेकधुरोद्धारधौरेयो यः स्वमानसे । विरक्तहृदयो वेत्ति ललनां शृङ्खलामिव ॥१९
आस्तां सर्वपरित्यागालङ्कृतस्य महामुनेः । गृहिणोऽपि हितं ब्रह्म लोकद्वयसुखैषिणा ॥२०
तिर्यग्देवासुरस्त्रीश्च परस्त्रीं चापि यस्त्यजेत् । सोऽपि धीमान् सदा तुङ्गो यः स्वदाररतिः सदा ॥२१
तनौ यदि नितम्बिन्याः प्रमादाद् दृग् पतत्यहो । चिन्तनीया तदैवात्र मलमूत्रादिसंस्थितिः ॥२२

अन्य जो भी मनोवांछित उत्तम वस्तु जीव प्राप्त करता है तथा स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त होता है, वह सब धर्मके संचयसे ही प्राप्त होता है ॥१२॥ वह धर्म-दान, शील, तप और भावनाओंके विभिन्न भेदोंके द्वारा प्राप्त होता हुआ देखा जाता है, इसलिए मनुष्यको इस लोकमें वही यह धर्म उपार्जन करना चाहिए, क्योंकि यह धर्म ही मुक्तिका कारण माना गया है ॥१३॥

मेरा धर्म श्रेष्ठ है; इस प्रकार उच्च स्वरसे कौन उद्धत पुरुष यहाँ पर नहीं बोलता है ? सभी लोग चिल्ला-चिल्ला करके कहते हैं कि मेरा ही धर्म श्रेष्ठ है। किन्तु वे लोग उस धर्मका भेद नहीं जानते हैं। जैसे कि दूरवर्ती पुरुषोंके द्वारा आम और नीम वृक्षका भेद ज्ञात नहीं होता है ॥१४॥

अब ग्रन्थकार दानका वर्णन करते है—मायाचार, अहंकार और लोक-लाजसे अथवा प्रत्युपकारकी भावनासे जो कुछ दिया जाता है, वह दान धर्मका साधक नहीं है ॥१५॥ दुर्जन पुरुषोंको भी जो दान दिया जाता है, ज्ञानीजन उसे भो श्रेयस्कर नहीं मानते हैं। क्योंकि भुजंगोंको दूध पिलाना विषकी वृद्धिके लिए ही होता है ॥१६॥ 'पुण्य-कार्यसे प्रसिद्धि होती है' ऐसा जानकर जो प्रसिद्धिके लिए अन्नदान आदि कितने ही लोगोंके द्वारा वितरित किया जाता है, वह दान ज्ञानीजनोंको व्यसन जानना चाहिए ॥१७॥ जो ज्ञान दान और निर्भयताका कारण अभयदान तथा इस लोकमें धर्म-साधक वस्तुका दान दिया जाता है और जो अन्नादिका दान करुणाभावसे दिया जाता है, वही दान कल्याणके लिए होता है ॥१८॥

अब ग्रन्थकार ब्रह्मचर्यरूप शीलका वर्णन करते हैं—वह पुरुष विवेकरूप धुराके उद्धार करनेमें अग्रणी है, जो विरक्तचित्त पुरुष अपने मनमें स्त्रीको संसारमें बाँधनेवाली सांकलके समान जानता है ॥१९॥ सर्वपरिग्रहके त्यागसे अलंकृत महामुनिका ब्रह्मचर्य तो दूर ही रहे, किन्तु दोनों लोकोंमें सुखके इच्छुक मनुष्यको गृहस्थका स्वदार-सन्तोषरूप ब्रह्मचर्य भी हित-कारक जानना चाहिए ॥२०॥ जो बुद्धिमान् पुरुष सदा अपनी स्त्रीमें सन्तोषके साथ रति रखता है और जो तिर्यंचनी, देवी, असुर स्त्री तथा परपुरुषकी स्त्रीका त्याग करता है, वह मनुष्योंमें सदा ही सर्वश्रेष्ठ है ॥२१॥ अहो भव्यपुरुषो, यदि कदाचित् प्रमादसे भी स्त्रीके शरीरपर दृष्टि पड़ जाय, तो उस समय उसके शरीरमें मल-मूत्र आदि घृणित वस्तुओंका अवस्थान चिन्तन करना चाहिए ॥२२॥

अज्ञानास्त्यरमानन्दो लोकोऽयं विषयोन्मुखः । अदृष्टनगरैर्ग्रामः पामरैरुपवर्ण्यते ॥२३
परानन्दसुखस्वादी विषयैर्नाभिभूयते । आक्रुल्लो जपनिष्कम्पः किं सर्पैरुपसर्प्यते ॥२४
रसत्यागतनुक्लेश ऊनोदर्यमभोजनम् । लीनतावृत्तिसङ्क्षेपस्तपः षोढा बहिर्भवम् ॥२५
प्रायश्चित्तं शुभं ध्यानं स्वाध्यायो विनयस्तथा । वैयावृत्यमथोत्सर्गस्तपः षोढान्तरं भवेत् ॥२६
दुःखव्यूहाय हाराय सर्वेन्द्रियसमाधिना । आरम्भपरिहारेण तपस्तप्येत शुद्धधीः ॥२७
पूजालाभप्रसिद्धयर्थं तपस्तप्येत योऽल्पधीः । शोष एव शरीरस्य न तस्य तपसः फलम् ॥२८
विवेकं विना यच्चस्यात्तत्तपस्तनुतापकृत् । अज्ञानकष्टमेवेदं न भूरिफलदायकम् ॥२९
दृष्टिहीनस्य पङ्गोश्च संयोगे गमनादिकम् । तथा प्रवर्तते ज्ञानं त्रययोगः शिवं तथा ॥३०
शरीरं योजितं वित्तं संयोगश्च स्वभावतः । इदमित्थमनित्यत्वाद्धेयं जानाहि सर्वतः ॥३१
शक्र-चक्र्यादयोऽप्येते म्रियन्ते कालयोगतः । तदत्र शरणं यत्तु कः कस्य मरणाद् भवेत् ॥३२
संसारनाटके जन्तुरुत्तमो मध्यमोऽधमः । नटवत्कर्मसंयोगान्नानारूपैर्भ्रमत्यहो ॥३३

यह इन्द्रियोंके विषयोंके उन्मुख हुआ संसार अज्ञानसे स्त्रीके साथ रमण करनेमें परम आनन्द मानता है। जैसे बिन पामर (दीन हीन किसान) लोगोंने नगरको नहीं देखा है, उनके द्वारा ग्रामकी प्रशंसा वर्णनकी जाती हैं ॥२३॥ आत्मिक परम आनन्दरूप सुखका आस्वाद लेनेवाला ज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके विषयों द्वारा पराभूत नहीं होता है। विष-हरण करनेवाले मंत्रके जापसे निष्कम्प रहनेवाला पुरुष क्या सांपोंके द्वारा आक्रान्त या पीड़ित होता है ? अर्थात् नहीं होता है ॥२४॥

अब ग्रन्थकार तपका वर्णन करते हैं—रसपरित्याग, कायक्लेश, अवमोदर्य, अनशन, लीनता (विविक्तशय्यासन) और वृत्तिपरिसंख्यान ये छह प्रकारका बाह्यतप है ॥२५॥ प्रायश्चित्त, शुभध्यान, स्वाध्याय, विनय, वैयावृत्य, तथा व्युत्सर्ग ये छह प्रकारका अन्तरंग तप है ॥२६॥ दु:खोंके समूहको दूर करनेके लिए सर्व इन्द्रियोंके निरोधरूप समाधिके द्वारा तथा आरम्भके परिहारसे शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषको तप तपना चाहिए ॥२७॥ जो अल्पबुद्धि पुरुष लोक-पूजा, अर्थ-लाभ और अपनी प्रसिद्धिके लिए तप तपता है, वह अपने शरीरका शोषण ही करता है, उसे उसके तपका कुछ फल नहीं मिलता है ॥२८॥ विवेकके बिना जो तप किया जाता है, वह शरीरको ही सन्ताप करनेवाला होता है, वह अज्ञानरूप कष्ट ही है, वह तपके भारी फलोंको नहीं देता है ॥२९॥ जिस प्रकार दृष्टिहीन अन्धे और पंगु पुरुषके संयोग होनेपर गमनादि कार्यका होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका योग शिव-पदका दायक होता है ॥३०॥

अब ग्रन्थकार बारह भावनाओंका वर्णन करते हैं कर्मोदयके स्वभावसे जो यह शरीर उपार्जित धन और कुटुम्बका संयोग मिला है, और जिसे मनुष्य नित्य समझता है, वह सब विचार करनेपर अनित्य है, ऐसा सर्व प्रकारसे जानना चाहिए। यह अनित्य भावना है ॥३१॥ जब ये इन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी कालके योगसे मरते हैं, तब इस संसारमें मरणसे बचानेके लिए कौन किसका शरण हो सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं। यह अशरण भावना है ॥३२॥ इस संसाररूप नाटकमें यह प्राणी कर्मके संयोगसे कभी उत्तम, कभी मध्यम और कभी अधम इन नानारूपोंसे भ्रमण करता है, यह आश्चर्य है। यह संसार भावना है ॥३३॥ निश्चयसे

एक एव ध्रुवं जन्तुर्जायते म्रियतेऽपि च । एक एवं सुखं दुःखं भुङ्क्ते चान्योऽस्ति नो सुखम् ॥३४
देहार्थे बन्धुमात्रादि सर्वमन्यत्स्वतस्ततः । युज्यते नैव कुत्रापि शोकः कर्तुं विवेकिना ॥३५
रसासृग्मांसमेदास्थिमज्जाशुक्रमये पुरे । नवस्रोतःपरीते च शौचं नास्ति कदाचन ॥३६
कषायैर्विषयैर्योगैः प्रमादैरङ्गिभिर्नवम् । रौद्रार्त्तनियमाज्ञत्वैश्चात्र कर्म प्रबध्यते ॥३७
कर्मोत्पत्तिविघातार्थं संवराय नतोऽस्म्यहम् । यश्छिनत्ति समास्त्रेण शुभाशुभमयं द्रुमम् ॥३८
सुसंयमैर्विवेकाद्यैरकामोग्रतपोऽग्निना । संसारकारणं कर्म जरणीयं महात्मभिः ॥३९
शरावसम्पुटाधःस्थमुखैकशरावत् । पूर्णं चिन्त्यं जगद् द्रव्यैः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकैः ॥४०

दुर्लभेऽपि मनुष्यत्वे प्राप्ते जीवः श्रुतादिभिः ।
आसन्नसिद्धिकः कश्चिद् बुध्यते तत्त्वनिश्चयम् ॥४१

श्रेष्ठो धर्मस्तपः क्षान्तिमार्दवार्जवसूनृतैः । शौचाकिञ्चन्यकरुणाब्रह्मत्यागैश्च सम्मतः ॥४२
भावनीयाः शुभध्यानैर्भव्यैर्द्वादश भावनाः । एता हि भवनाशिन्यो भवन्ति भविनां किल ॥४३
गोदुग्धस्यार्कदुग्धस्य यद्वत्स्यादन्तरं महत् । धर्मस्याप्यन्तरं तद्वत्फलेऽमुत्रापरत्र च ॥४४

यह जन्तु अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही सुख और दुःखको भोगता है। इसका अन्य कोई सगा साथी नहीं है और न कोई सुख है। यह एकत्व भावना है ॥३४॥ शरीरके अर्थमें ही यह बन्धु है, यह माता है, इत्यादि सम्बन्ध कहे जाते हैं, वस्तुतः सभी अपनेसे भिन्न है। इसलिए विवेकी पुरुषको उनके वियोग आदि किसी भी दशामें शोक करना योग्य नहीं है। यह अन्यत्व भावना है ॥३५॥ रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्यमयी इस शरीर रूप नगरमें जोकि नव मल-द्वारोंसे व्याप्त है, कभी भी शुचिता-पवित्रता सम्भव नहीं है। यह अशुचिभावना है ॥३६॥ इस संसारमें कषायोंसे, इन्द्रिय-विषयोंसे, योगोंसे, प्रमादोंसे, रौद्र-आर्त्त-ध्यानसे और व्रत-नियमादिकी अजानकारीसे सदा नवीन कर्मको यह जीव बाँधता रहता है। यह आस्रवभावना है ॥३७॥ कर्मोंकी आस्रवरूप उत्पत्तिके विनाशार्थ संवरके लिए मैं विनत हूँ, जोकि समभावरूप अस्त्रके द्वारा शुभ-अशुभरूप इस संसार-वृक्षका छेदन करता है उत्तम संयमके द्वारा, विवेक आदिके द्वारा तथा अविपाकरूप उग्रतपोग्निके द्वारा महान् आत्माओंको संसारका कारण-भूत कर्म निर्जीर्ण करना चाहिए। यह निर्जरा भावना है ॥३९॥ शराव-सम्पुटके नीचे स्थित एक मुखवाले शरावके समान आकारवाला यह जगत् स्थिति, उत्पत्ति और व्ययस्वभावी द्रव्योंसे परिपूर्ण चिन्तवन करना चाहिए। यह लोक भावना है ॥४०॥ अति दुर्लभ इस मनुष्यभवके प्राप्त करनेपर कोई निकट भव्यजीव शास्त्राभ्यासादिके द्वारा तत्त्व-निश्चय करके सम्यग्ज्ञानरूप बोधिको प्राप्त करता है। यो बोधिदुर्लभ भावना है ॥४१॥ तप, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य और त्यागके द्वारा श्रेष्ठ धर्म माना गया है। यह धर्म भावना है ॥४२॥ भव्यपुरुषोंको ये बारह भावनाएँ शुभ ध्यानके द्वारा सदा भाना चाहिए। क्योंकि सम्यक् प्रकारसे भावित ये भावनाएँ ही संसारी जीवोंके संसारका नाश करनेवाली होती हैं ॥४३॥

जिस प्रकार गायके दूध और आकड़ेके दूधमें महान् अन्तर है, उसी प्रकार सद्-धर्म और असद्-धर्म तथा उनके इसलोक और परलोकमें प्राप्त होनेवाले फलमें भी महान् अन्तर है ॥४४॥

इत्यनेन विधिना करोति यः कर्म-धर्ममसमिद्धवासितः।
तस्य सूचयति मुक्तिकामिनी कण्ठकन्दलहठग्रहक्रियाम् ॥४५

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे जन्मचर्यायां
धर्मोत्पत्तिकारणाख्ये दशमोल्लासः।

इस उपर्युक्त विधिके द्वारा जो सांसारिक वासनाओंसे विमुक्त होकर धर्म-कार्य करता है, उसके मुक्तिरूपी कामिनी कण्ठ-कन्दलको हठ-पूर्वक ग्रहण करनेकी क्रियाको सूचित करती है, अर्थात् मुक्तिरूपी वधू उसके गलेमें वरमाला डालती है ॥४५॥

इस प्रकार कुन्द-कुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें जन्मचर्याके अन्तर्गत
धर्मोत्पत्तिकारण नामका दशम उल्लास समाप्त हुआ।

●

अथ एकादशोल्लासः

पूर्वोक्तयत्नसन्दोहैः पालितं देहपञ्जरम् । श्लाघ्यं स्याद् ब्रह्महंसस्य विद्याधारो वृथाऽन्यथा ॥१
मुग्धानां वर्धते क्षेत्रपाकाद्यैर्भववारिधिः । धीमतामपि शास्त्रौघैरध्यात्मविकलैर्भृशम् ॥२
करोत्यप्यहर्निशं कार्यं बहुभिर्ग्रन्थगुम्फनैः । विद्वद्भिस्तत्त्वमालोक्यमन्तर्ज्योतिर्मयं महत् ॥३
जन्मान्तरसंस्कारात्प्रसादादथवा गुरोः । केषाञ्चिज्जायते स्वस्थे वासना विशदात्मनाम् ॥४
अहं बत सुखी दुःखी गौरः श्यामो दृढोऽदृढः । ह्रस्वो दीर्घो युवा वृद्धो दुरत्यजेयं कुवासना ॥५
जातिपाखण्डयोर्येषां विकल्पाः सन्ति चेतसि । वार्ताभिस्तैः श्रुतं तत्त्वं न पुनः परमार्थतः ॥६
तावत्तत्त्वं कृतो यावद् भेदः स्वपरयोर्भवेत् । नगरारण्ययोर्भेदे कथमेकत्ववासना ॥७
धर्मः पिता क्षमा माता कृपा भार्या गुणाः सुताः । कुटुम्बं सुधियां सत्यमेतदन्ये तु विभ्रमाः ॥८
पादबन्धदृढं स्थूलकटीभागं भुजार्गलम् । धातुभित्ति नवद्वारं देहं गेहं सुयोगिनः ॥९
कान्ताप्रकाशमेकान्तं पवित्रं विपुलं समम् । समाधिस्थानमच्छेद्यं सद्भिः साम्यस्य साधकम् ॥१०
शमाग्निः समदोषश्च समधातुः शमोऽक्षयः । सुप्रसन्नेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥११

पूर्वोक्त नाना प्रयत्नोंके समूहसे पालित यह देहरूप पींजरा यदि ब्रह्मरूप हँसकी विद्याका आधार हो तो प्रशंसाके योग्य है, अन्यथा वह व्यर्थ है ॥१॥ मूर्ख पुरुषोंका संसार-समुद्र क्षेत्र, काल आदिके विपाकसे वृद्धिको प्राप्त होता है। इसी प्रकार बुद्धिमानोंका भी संसार-समुद्र अध्यात्म-शून्य शास्त्रोंके समूहसे भी अति वृद्धिको प्राप्त होता है ॥३॥ यद्यपि रात-दिन इन शास्त्रज्ञोंके द्वारा ग्रन्थोंकी रचनाओंसे पुण्यकार्य किया जाता है, तथापि विद्वज्जनोंको अन्तर्ज्योतिमय महान् तत्त्वका अवलोकन (दर्शन) करना चाहिए ॥४॥ पूर्व जन्मके संस्कारसे अथवा गुरुके प्रसादसे कितने ही निर्मल आत्माओंको आत्म-तत्त्वमें वासना होती है ॥४॥ अहो, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूं, मैं दृढ़ हूँ, मैं दृढ़ नहीं हूं, मैं छोटा हूँ, मैं बड़ा हूं, मैं जवान और मैं बूढ़ा हूं, यह कुवासना छोड़ना बहुत कठिन होती है ॥५॥ जिन पुरुषोंके चित्तमें जाति और पाखण्ड-सम्बन्धी विकल्प होते हैं, उन लोगोंने वार्ताओंसे तत्त्वको सुना है, किन्तु परमार्थसे तत्त्वको नहीं सुना है ॥६॥ तब तक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिए, जब तक कि स्व और परका भेद ज्ञान उत्पन्न होवे। यदि तत्त्वज्ञके मनमें यह नगर है और यह वन हैं, ऐसा भेद हो तो आत्माके एकत्व की भावना कैसे उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती ॥७॥ धर्म मेरा पिता है, क्षमा माता है, दया भाई है और सद्गुण ही मेरे पुत्र हैं, बुद्धिमानोंका तो यही सच्चा कुटुम्ब है। इससे अन्य विकल्प तो विभ्रमरूप ही हैं ॥८॥

जिसके पाद-बन्ध (पद्मासन) दृढ़ है, कटिभाग स्थूल है, भुजारूप अर्गला है, सप्त धातुरूप भित्ति और नौ द्वार हैं, ऐसा यह देह ही उत्तम योगीका गेह है ॥९॥ सुन्दर स्त्रियोंसे रहित, अथवा सुरम्य और प्रकाशयुक्त ऐसा पवित्र एकान्त, विशाल समभाव और अच्छेद्य समाधिस्थान ये ही सन्त पुरुषोंके द्वारा साम्यभावके साधक माने गये हैं ॥१०॥ शम-अग्निवाला, सम दोषवाला, सम धातुवाला, शम, अक्षयी, सुप्रसन्न इन्द्रिय और मनवाला पुरुष ही स्वस्थ कहा जाता है ॥११॥ जो

स्वस्थः पद्मासनासीनः संयमैकधुरन्धरः। क्रोधाद्यैरनाक्रान्तः शीतोष्णाद्यैरनिर्जितः ॥१२
भोगेभ्यो विरतः काममात्मदेहेऽपि निःस्पृहः। स्वपतौ दुर्गतेऽन्येऽपि सममानसवासनः ॥१३
समीरण इवाविद्धः सानुमानिव निश्चलः। इन्दुवज्जगदानन्दी शिशुवत्सरलाशयः ॥१४
सर्वक्रियासु निर्लेपः स्वस्मिन्नात्मावबोधकृत्। जगदप्यात्मवज्जानन् कुर्वन्नात्ममयं मनः ॥१५
मुक्तिमार्गरतो नित्यं संसाराच्च विरक्तिभाक्। गीयते धर्मतत्त्वज्ञैर्धीमान् ध्यानक्रियोचितः ॥१६

(पञ्चभिः कुलकम्)

विश्वं पश्यति शुद्धात्मा यद्यप्युन्मत्तसन्निभः। तथापि वचनेनापि मर्यादां नैव लङ्घयेत् ॥१७
कुलीनाः सुलभाः प्रायः सुलभाः शास्त्रशालिनः। सुशीलाश्चापि सुलभा दुर्लभा भुवि तात्त्विकाः ॥१८
अपमानादिकान् दोषान् मन्यते स पुमान् किल। सविकल्पं मनो यस्य निर्विकल्पस्य ते कुतः ॥१९
मयि भक्तो जनः सर्व इति हृष्येन्न साधकः। मय्यभक्तो जनः सर्व इति कुप्येन्न वा पुनः ॥२०
अन्तश्चित्तं न शुद्धं चेद्बहिः शौचे न शौचभाक्। सुपक्वमपि निम्बस्य फले बीज कटु स्फुटम् ॥२१
यस्यात्ममनसोर्भिन्नरुच्यो मैत्री निवर्तते। योगविघ्नैः समं मित्रैस्तस्येच्छा कौतुके कुतः ॥२२
कालेन भक्ष्यते सर्वं स केनापि न भक्ष्यते। अभक्षाभक्षको योगी येन द्वावपि भक्ष्यते ॥२३

पुरुष स्वस्थ है, पद्मासनसे स्थित है, एकमात्र संयमकी धुराका धारण करनेवाला है, क्रोध आदि कषायोंके आक्रमणसे रहित है, शीत-उष्ण आदि परीषहोंको जीतनेवाला है, इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त है, अपने शरीरमें भी सर्वथा निःस्पृह है, धनके स्वामित्वमें और निर्धनतामें भी समान चित्तकी वासनावाला है, वायुके समान निर्लेप है, पर्वतके समान निश्चल है, चन्द्रके समान जगत् को आनन्द-दायक है, शिशुके समान सरल हृदय है, संसारिक सभी क्रियाओं अलिप्त है, अपने आत्म-बोध करनेवाला है, सारे संसारको अपने समान जानता है, मनको आत्मामें संलग्न करनेवाला है, मोक्षमार्गमें निरत है और संसारसे सदा ही विरक्त रहता है, ऐसा बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म तत्त्वके ज्ञाताजनोंके द्वारा ध्यान करनेके योग्य कहा गया है ॥१२-१६॥

यद्यपि शुद्ध आत्मावाला व्यक्ति सारे विश्वको उन्मत्तके सदृश देखता है, तथापि वचनके द्वारा भी लोक-मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता है ॥१७॥ इस लोकमें कुलीन पुरुष प्रायः सुलभ हैं, शास्त्रोंका परिशीलन करनेवाले भी सुलभ हैं और उत्तम शीलवाले भी पुरुष सुलभ हैं, किन्तु तत्त्वके मर्मको जाननेवाले पुरुष दुर्लभ है ॥१८॥ जिसका मन विकल्पोंसे भरा हुआ है, वह पुरुष निश्चयतः दूसरोंके द्वारा किये गये अपमान आदि दोषोंको मानता है। किन्तु निर्विकल्पवाले पुरुषके वे अपमानादि दोष कैसे सम्भव हैं? अर्थात् विकल्प-रहित पुरुष अपमान आदिको कुछ भी नहीं गिनता है ॥१९॥ सर्वजन मेरे भक्त हैं, ऐसा समझकर आत्म-साधक पुरुषको हर्षित नहीं होना चाहिए। तथा सब लोग मेरे अभक्त हैं, ऐसा मानकर उसे किसी पर क्रोधित नहीं होना चाहिए ॥२०॥

जिसका अन्तरंगमें चित्त शुद्ध नहीं है, वह बाहिरी शारीरिक शुद्धिसे शुद्ध नहीं कहा जा सकता। नीमके भले प्रकारसे पके हुए फलमें बीज तो स्पष्टरूपसे कटु स्वादवाला ही रहता है ॥२१॥ जिसके आत्मा और मनकी भिन्न रुचिवाली मैत्री दूर हो जाती है, उसके योग-साधनमें विघ्न करनेवाले मित्रोंके साथ सांसारिक कौतूहलमें इच्छा कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती ॥२२॥ संसारके सर्व पदार्थ कालके द्वारा भक्षण कर लिए जाते हैं, किन्तु योगी पुरुष किसी

या शक्यते न केनापि पातुं किल परा किल । यस्तां विशत्यविश्रान्तं स एवामृतपायकः ॥२४
अगम्यं परमस्थानं यत्र गन्तुं न पार्यते । तत्रापि लाघवाद् गच्छन्नगम्यगमको मतः ॥२५
ब्रह्मात्मनि विचारी यो ब्रह्मचारी स उच्यते । अमैथुनः पुनः स्थूलस्तादृक् षण्ढोऽपि यद् भवेत् ॥२६
अनेकाकारतां धत्ते प्राणी कर्मवशंगतः । कर्ममुक्तः स नो धत्ते तमेकाकारमाविशेत् ॥२७
दुःखी किमिति कोऽप्यत्र नरः पापं करोति किम् । मुक्तिर्भवेद्धि विश्वस्य मतिर्मैत्रीति कथ्यते ॥२८
दोषनिर्मुक्तवृत्तीनां धर्मसर्वस्वदर्शिनाम् । योऽनुरागो गुणेषूच्चैः स प्रमोदः प्रकीर्त्यते ॥२९
भीतार्तदीनलीनेषु जीवितार्थिषु वाञ्छितम् । शक्त्या यत्पूर्यते नित्यं करुणा सात्र विश्रुता ॥३०
मोहान्धाद्द्विषतां धर्मं निर्भयं कुर्वतामघम् । स्वश्लाघिनां च योपेक्षा माध्यस्थ्यं तदुदीरितम् ॥३१
विभवश्च शरीरं च बहिरात्मा निगद्यते । तदधिष्ठायको जीवस्त्वन्तरात्मा सकर्मकः ॥३२
निरातङ्को निराकारो निर्विकल्पो निरञ्जनः । परमात्मा स योऽध्यक्षो ज्ञेयोऽनन्तगुणोच्चयः ॥३३

के द्वारा भी खाया नहीं जाता है। योगी पुरुष अभक्ष्योंका अभक्षक है, क्योंकि उसके द्वारा काल और अपमान ये दोनों ही भक्षण कर लिए जाते हैं ॥२३॥ निश्चयसे जो परा-आत्मविद्या है, वह किसी भी सांसारिक वासनाओंमें ग्रस्त पुरुषके द्वारा पान करनेके लिए शक्य नहीं है किन्तु जो पुरुष विना विश्राम लिए निरन्तर उसमें प्रवेश करता है, वही निश्चयसे अमृत-पायी है ॥२४॥ परम ब्रह्मका स्थान अगम्य है, क्योंकि वहाँ पर जानेके लिए कोई पार नहीं पाता है। किन्तु उस अगम्य स्थान पर लघुतासे अर्थात् संकल्प-विकल्पोंके भारसे रहित होनेके कारण जानेवाला योगी अगम्यगमक माना जाता है ॥२५॥

ब्रह्मरूप आत्मामें जो विशेष रूपसे विचार कर विचरण करता है वह ब्रह्मचारी कहा जाता है। जो मैथुन-सेवी नहीं है, वह तो स्थूल या बाह्य ब्रह्मचारी है। वैसा स्थूल ब्रह्मचारी तो नपुंसक भी होता है ॥२६॥ कर्मके वशीभूत हुआ प्राणी संसारमें अनेकों आकारोंको धारण करता है। किन्तु कर्मोंसे मुक्त हुआ आत्मा अनेक आकारोंको नहीं धारण करता है, उसे एक आकार-वाला कहना चाहिए ॥२७॥

इस संसारमें कोई भी प्राणी दुःखी क्यों है ? (यदि पापके उदयसे वह दुःखी है तो) वह मनुष्य पाप क्यों करता है ? सर्व प्राणियोंकी कर्मोंसे मुक्ति हो, इस प्रकारकी बुद्धिको 'मैत्री भावना' कहा जाता है ॥२८॥ राग-द्वेषरूप दोषोंसे रहित मनोवृत्तिवाले और धर्म-सेवनको ही सर्वस्व समझनेवाले पुरुषोंका जो उत्तम गुणोंमें और गुणीजनोंमें अनुराग होता है, वह प्रमोद कहा जाता है ॥२९॥ भय-भीत, दुःखोंसे पीड़ित और दीन-दरिद्री जीवोंपर तथा जीनेके इच्छुक जनोंपर अपनी शक्तिके अनुसार जो उनकी इच्छाको नित्य पूर्ण किया जाता है, वह इस लोकमें 'करुणा' नामसे प्रसिद्ध है ॥३०॥ मोहसे अन्धे होनेके कारण जो धर्मसे द्वेष करते हैं और निर्भय होकर पाप करते हैं तथा अपनी प्रशंसा करते हैं (और दूसरोंका निन्दा करते हैं) उन लोगोंके ऊपर जो उपेक्षाभाव रखा जाता है, उसे मध्यस्थभावना कहा गया है ॥३१॥

वैभव और शरीर ही मेरा सब कुछ है, ऐसा माननेवाला मनुष्य बहिरात्मा कहा जाता है। इस शरीरका अधिष्ठाता जीव है और वह इस शरीरसे भिन्न और कर्म-सहित है, ऐसा माननेवाला जीव अन्तरात्मा कहा जाता है ॥३२॥ जो सर्वप्रकारके आतंक-रोगादिसे रहित है, निराकार है, निर्विकल्प है, कर्मरूप अंजनसे रहित है वह परमात्मा है और जो इन्द्रियोंसे अतीत

यथा लोहं सुवर्णत्वं प्राप्नोत्यौषधयोगतः । आत्मध्यानात्तथैवात्मा परमात्मत्वमश्नुते ॥३४
अभ्यासवर्जिते ध्यानैः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न । भवेन्न हि फलैस्तृप्तिः पानीयप्रतिबिम्बितैः ॥३५
रूपस्थं च पदस्थं च पिण्डस्थं रूपवर्जितम् । ध्यानं चतुर्विधं ज्ञेयं संसारार्णवतारकम् ॥३६
पश्यति प्रथमं रूपं स्तौति ध्येयं ततः पदैः । तन्मयः स्यात्ततः पिण्डो रूपातीतः क्रमाद् भवेत् ॥३७
यथावस्थितमालम्ब्य रूपं त्रिजगदीशितुः । क्रियते यन्मुधा ध्यानं तद्रूपस्थं निगद्यते ॥३८
विद्यायां यदि वा मन्त्रे गुरु-देवस्तुतावपि । पदस्थं कथितं ध्यानं पवित्रान्यपदेष्वपि ॥३९
स्तम्भे सुवर्णवर्णानि वश्ये रक्तानि तानि तु । क्षोभे विद्रुमवर्णानि कृष्णवर्णानि मारणे ॥४०
द्वेषणे धूम्रवर्णानि शशिवर्णानि शान्तिके । आकर्षणेऽरुणवर्णानि स्मरेन्मन्त्राक्षराणि तु ॥४१
यत्किमपि शरीरस्थं ध्यायते देवतादिकम् । तन्मयी भावशुद्धं तत्पिण्डस्थं ध्यानमुच्यते ॥४२
आपूर्य वाममार्गेण शरीरं प्राणवायुना । तेनैव रेचयित्वाऽथ नयेद् ब्रह्मपदं नमः ॥४३
अभ्यासाद् रेचकादीनां विनापीह स्वयं मरुत् । स्थिरीभवेन्मनःस्थैर्याद्द्युतिर्नो का ततः परा ॥४४
निमेषार्धार्धमात्रेण भुवनेषु भ्रमंस्तथा । मनश्चञ्चलसद्भावं युक्त्या भवति निश्चलम् ॥४५

है उसे अनन्त गुणोंका स्वामो जानना चाहिए ॥३३॥ जिस प्रकार औषधिके प्रयोगसे लोह सुवर्णपनेको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह कर्म-मलीमस संसारी आत्मा भी आत्म-ध्यानसे परमात्मपनेको प्राप्त हो जाता है ॥३४॥ ध्यानके अभ्याससे रहित जीवमें शास्त्रस्थध्यानसे, अर्थात् शास्त्रोक्त ध्यानोंके ज्ञानमात्रसे कोई फल प्राप्त नहीं होता है । जैसे कि जलमें प्रतिबिम्बित फलोंसे किसीकी तृप्ति नहीं होती है ॥३५॥

रूपस्थ, पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपातीत यह चार प्रकारका धर्मध्यान संसार-समुद्रका तारनेवाला जानना चाहिए ॥ ६॥ पहिले ध्येयरूप परमात्माके रूपको देखता है, तत्पश्चात् मंत्र या स्तुतिरूप पदोंके द्वारा ध्येयकी स्तुति करता है, तदनन्तर तन्मय पिण्डरूप होता है । पश्चात् क्रमसे वह ध्याता आत्मा रूपातीत परमात्मा हो जाता है ॥३७॥ त्रिजगदीश्वर परमात्माका जैसा रूप अवस्थित है उसका आलम्बन लेकर जो सांसारिक वासनाओंसे निस्पृह होकर ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान कहा जाता है ॥३८॥ विद्याकी सिद्धिमें अथवा मंत्रके साधनमें तथा देव और गुरुकी स्तुति करनेमें भी जो पदोंका उच्चारण किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान कहा जाता है । तथा पवित्र अन्य पदोंके उच्चारण और जाप करनेमें भी पदस्थ ध्यान होता है ॥३९॥॥

किसी व्यक्तिके स्तम्भन करनेमें मंत्रके अक्षरोंको स्वर्णवर्णका, वशीकरणमें रक्तवर्णका, क्षोभित करनेमें विद्रुम (मूँगा) के वर्णका, मारणमें कृष्णवर्णका, द्वेष-कार्यमें धूम्रवर्णका, शान्ति-कर्ममें चन्द्रवर्णका और आकर्षण-कार्यमें अरुण वर्णका स्मरण करना चाहिए ॥४०-४१॥

शरीरमें स्थित जिस किसी भी देवतादिका ध्यान किया जाता हे, वह तन्मयीभावसे शुद्ध पिण्डस्थ ध्यान कहा जाता हैं ॥४२॥ नासिकाके वाममार्ग (स्वर) से प्राणवायुके द्वारा शरीरको पूर्ण करके, तत्पश्चात् उसी ही मार्गसे रेचन करके मनुष्य ब्रह्मपदको प्राप्त होता है । उस ब्रह्मपदको हमारा नमस्कार है ॥४३॥ रेचक-पूरक आदिके अभ्यासके बिना भी इस शरीरके भीतर वायु स्वयं स्थिर हो जाती है, उस समय मनकी स्थिरतासे जो ज्योति भीतर प्रकट होती है, उससे परे कोई ज्योति नहीं है ॥४४॥ अर्धके अर्ध निमेषमात्रसे तीनों भुवनोंमें परिभ्रमण करनेवाला यह

लीयते यत्र कुत्रापि स्वेच्छया चपलं मनः। निराबाधं तथैवास्तु व्यालतुल्यं हि चालितम् ॥४६
मनश्चक्षुरिदं यावदज्ञाने तिमिरावृतम्। तत्त्वं न वीक्ष्यते तावद्विषयेष्वेव मुह्यति ॥४७
जन्म मृत्युर्धनं दौस्थ्यं स्व-स्वकाले प्रवर्तते। तदस्मिन् क्रियते हन्ति चेतश्चिन्ता कथं त्वया ॥४८
यथा तिष्ठति निष्कम्पो दीपो निर्वातवेश्मगः। तथैषोऽपि पुमान्नित्यं क्षीणधीः सिद्धवत्सुखी ॥४९
विकल्पविरहादात्मज्योतिरुन्मेषवद् भवेत्। तरङ्गविगमाद् दूरं स्फुटं (स्थिरो) भवाम्बुधिः ॥५०
विषयेषु न युञ्जीत तेभ्यो नापि निवारयेत्। इन्द्रियाणि मनःशान्त्याच्छाम्यन्ति स्वयमेव हि ॥५१
इन्द्रियाणि निजार्थेषु गच्छन्त्येव स्वभावतः। स्वान्ते रागो विरागो वा निवार्यस्तत्र धीमता ॥५२
यातु नामेन्द्रियग्रामः स्वान्ताविष्टो यतस्ततः। न चालनीयः पञ्चास्यसन्निभो चालितो बलात् ॥५३
निर्लेपस्यानिरूपस्य सिद्धस्य परमात्मनः। चिदानन्दमयस्यास्य स्यान्नरो रूपवर्जितः ॥५४
स्वर्णादिबिम्बनिष्पत्तौ कृते निर्मदनेऽन्तरा। ज्योतिःपूर्णे च संस्थाने रूपातीतस्य कल्पना ॥५५
यद् दृश्यते न तत्तत्त्वं यत्तत्त्वं तन्न दृश्यते। देहात्मनोर्द्वयोर्मध्ये भावस्तत्त्वे विधीयताम् ॥५६
अलक्ष्यः पञ्चभिस्तावदिन्द्रियैर्निकटैरपि। स तु लक्षयते तानि क्षेत्रज्ञो लक्ष इत्यसौ ॥५७

चंचलस्वभावी मन युक्तिसे निश्चल हो जाता है ॥४५॥ यह चंचल मन जिस किसी ध्येय वस्तुपर लीन हो जाता है, वह उसी प्रकारसे निराबाध रहना चाहिए। अन्यथा किसी विकल्पसे चलाया गया यह मन सांपके समान भयंकर होता है ॥४६॥ अन्धकारसे आवृत यह मन और नेत्र जबतक अज्ञानमें संलग्न रहते हैं, तबतक आत्मतत्त्व नहीं दिखाई देता है और यह जीव इन्द्रियोंके विषयोंमें ही मोहित रहता है ॥४७॥

जन्म, मरण, धन-सम्पत्ति और निर्धनता ये सब अपने-अपने समय आनेपर होते हैं। दुःख है कि हे मन, तू इस विषयमें चिन्ता कैसे करता है ॥४८॥ जिस प्रकार वायु-रहित गृहके भीतर अवस्थित दीपक निष्कम्प रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी चंचल बुद्धिको छोड़कर सिद्धके समान सुखी रहता है ॥४९॥ विकल्पोंके अभावसे आत्म-ज्योति प्रकाशवान् होती है। जैसे कि तरंगोंके अभावसे समुद्र स्थिर और प्रशान्त रहता है, उसी प्रकार मनकी विकल्परूप तरंगोंके दूर होनेसे यह भव-सागर भी स्थिर और शान्त रहता है ॥५०॥ इन्द्रियोंको विषयोंमें न लगावे, और न उनसे निवारण ही करे। क्योंकि मनके शान्त हो जानेसे इन्द्रियाँ स्वयं ही शान्त हो जाती है ॥५१॥ इन्द्रियाँ स्वभावसे ही अपने विषयोंमें जाती हैं। किन्तु बुद्धिमान् पुरुषको अपने चित्तमें इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी राग या द्वेष निवारण करना चाहिए ॥५२॥ मनसे प्रेरित हुआ इन्द्रिय-समुदाय यदि इधर-उधर जाता है तो जाने दो। किन्तु पंचानन-सिंहके समान अपने प्रशान्त आत्मारामको बलात् इधरसे उधर नहीं चलाना चाहिए ॥५३॥

कर्म-लेपसे रहित, रूप-रसादिसे रहित, सत्-चिद्-आनन्दमयी इस सिद्ध परमात्माके ध्यानसे यह ध्याता पुरुष भी रूपातीत हो जाता है ॥५४॥ सुवर्ण आदि धातुओंसे मूर्त्तिके निर्माण करनेमें साँचेरूप कृतिके विनष्ट कर देने पर अन्दर जैसा आकार रहता है, उसी प्रकार ज्ञान ज्योतिसे परिपूर्ण पुरुषाकार शरीर-संस्थानमें रूपातीत सिद्ध-परमात्माकी कल्पना जाननी चाहिए ॥५५॥ जो दिखाई देता है; वह आत्मस्वरूप तत्त्व नहीं हैं और जो आत्मस्वरूप तत्त्व है, वह दिखाई नहीं देता है। किन्तु देह और आत्मा इन दोनोंके मध्य-वर्ती तत्त्वमें अपना भाव लगाना चाहिए ॥५६॥ निकट-वर्ती होते हुए भी इन पाँचों इन्द्रियोंसे वह आत्मा अलक्ष्य है, अर्थात् देखनेमें नहीं आता

आयतं बीजमन्यस्य क्षेत्रेऽन्यस्य निधीयते । चित्रं क्षेत्रज्ञ एवात्र प्ररोहति यदा तदा ॥५८
परमाणोरति स्वल्पं स्वमति व्यापकं किल । तौ जितौ येन माहात्म्यान्नमस्तस्मै परात्मने ॥५९
आत्मद्रव्ये समीपस्थे योऽपरद्रव्यसम्मुखम् । भ्रान्त्या विलोकयत्यज्ञः कस्तस्माद् बालिशो नरः ॥६०
परात्मगतिसंस्मृत्या चित्रं संसारसागरः । असंशयं भवत्येव प्राणिनां चुलुकोपमः ॥६१
आत्मानमेव संसारमाहुः कर्मभिर्वेष्टितम् । तदेव कर्मनिर्मुक्तं साक्षान्मोक्षं मनीषिणः ॥६२
अयमात्मैव निष्कर्मा केवलज्ञानभास्करः । लोकालोकं यदा वेत्ति प्रोच्यते सर्वगस्तदा ॥६३
शुभाशुभैः परिक्षीणैः कर्मभिः केवलो यदा । एकाकी जायते शून्यः स एवात्मा प्रकीर्त्तितः ॥६४
लिङ्गत्रयविनिर्मुक्तं सिद्धमेकं निरञ्जनम् । निराश्रयं निराहारमात्मानं चिन्तयेद् बुधः ॥६५
जितेन्द्रियत्वमारोग्यं गात्रलाघवमार्दवे । मनो वचनवन्नृणां प्रसत्तिश्चेतनोदये ॥६६
बुभुक्षामत्सरानङ्गमानमायाभयक्रुधाम् । निद्रालोभादिकानां च नाशः स्यादात्मचिन्तनात् ॥६७
लयस्थो दृश्यतेऽभ्यासी जागरूकोऽपि निश्चलः । प्रसुप्त इव सानन्दो दर्शनात्परमात्मनः ॥६८

है। किन्तु वह आत्मा इन इन्द्रियोंको देखता-जानता है, इसलिए वह क्षेत्रज्ञ लक्ष कहा जाता है ॥५७॥ अन्यका आया हुआ बीज अन्यके क्षेत्र (खेत) में डाला (बोया) जाता है, (यह लोक-परम्परा है)। किन्तु आश्चर्य है कि यहाँ पर यह क्षेत्रज्ञ आत्मा ही जब तब (स्वयं) अंकुरित होता है ॥५८॥

यह आत्म तत्त्व परमाणुसे भी अति स्वल्प या सूक्ष्म है, किन्तु आश्चर्य है कि वह स्वयं अतिव्यापक है। जिसने अपने माहात्म्यसे स्वल्प या व्यापक इन दोनों रूपोंको जीत लिया है, उस परमात्माके लिए मेरा नमस्कार है ॥५९॥ आत्म द्रव्यके समीपमें स्थित होते हुए भी जो पुरुष अन्य द्रव्यके सम्मुख भ्रान्तिसे देखता है, उससे अधिक मूर्ख कौन मनुष्य होगा ॥६०॥ परमात्माकी गतिके संस्मरणसे प्राणियोंका यह संसार-सागर निःसंदेह चुल्लु-भर जलके समान हो जाता है, यह आश्चर्यकी बात है ॥६१॥

कर्मोंसे वेष्टित इस आत्माको ही मनीषी जन संसार कहते हैं और कर्मोंसे निर्मुक्त उसी आत्माको ज्ञानीजन साक्षात् मोक्ष कहते हैं ॥६२॥ कर्म-रहित यह आत्मा ही केवल-ज्ञानरूप सूर्य होकर जब लोक और अलोकको जानता-देखता है, तब वह सर्वग-सर्वव्यापी या सर्वज्ञ कहा जाता है ॥६३॥ शुभ और अशुभ कर्मोंके सर्वथा क्षीण हो जाने पर जब यह केवल अकेला रह जाता है, तब वही आत्मा 'शून्य' कहा जाता है ।६४॥ स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीनों लिंगोंसे विमुक्त एक निरंजन, निराश्रय, निराहार आत्मा ही सिद्ध स्वरूप परमात्मा है, ऐसा ज्ञानीजनोंको चिन्तवन करना चाहिए ॥६५॥

शुद्ध चेतनाका उदय होने पर मनुष्योंके मन और वचनकी प्रसन्नताके समान जितेन्द्रियता, आरोग्य, शरीर-लाघव और मार्दव गुण प्रकट होते हैं ॥६६॥ आत्मस्वरूपके चिन्तन करनेसे खाने-पीने की इच्छा, मत्सरभाव, काम-विकार, मान, माया, भय, क्रोध, निद्रा और लोभ आदि विकारोंका नाश हो जाता है ॥६७॥ ध्यानका अभ्यास करनेवाला आत्मा परमात्माके दर्शनसे लय (समाधि) में स्थित-सरीखा दिखता है, जागरूक होते हुए भी निश्चल-सा और आनन्द-युक्त होते हुए भी गाढ़ निद्रामें सोये हुए सा प्रतीत होता है ॥६८॥

मनोवचनकायानामारम्भो नैव सर्वथा। कर्त्तव्यो निश्चलैर्भव्यैरौदासीन्यपरायणैः ॥६९
पुण्यार्थमपि माऽऽरम्भं कुर्यान्मुक्तिपरायणः। पुण्यपापक्षयान्मुक्तिः स्यादन्तःसमतापरः ॥७०
संसारे यानि सौख्यानि तानि सर्वाणि यत्पुरः। न किञ्चिदिव दृश्यन्ते तदौदासीन्यमाश्रयेत् ॥७१
वेदा यज्ञाश्च शास्त्राणि तपस्तीर्थानि संयमः। समतायास्तुलां नैते यान्ति सर्वेऽपि मीलिताः ॥७२
एकवर्णं यथा दुग्धं भवेत्सर्वासु धेनुषु। तथा धर्मस्य वैचित्र्यं तत्त्वमेकं परं पुनः ॥७३
आत्मानं मन्यते नैकश्चार्वाकस्तस्य वाग्यिम्। तनुनीरन्ध्रिते भाण्डे क्षिप्तश्चौरो मृतोऽथ सः ॥७४
निर्जगाम कथं तस्य जीवः प्रविविशुः कथम्। अपरे कृमिरूपाश्च निश्छिद्रे तत्र वस्तुनि ॥७५

उच्यते—

तथैव मुद्रिते भाण्डे क्षिप्त. शङ्खयुतो नरः। शङ्खात्तद्वादितो नादो निःक्रामति कथं बहिः ॥७६
अग्निर्मूर्तः कथं ध्मातो लोहगोले विशत्यहो। अमूर्तस्यात्मनस्तस्य विज्ञेयौ तद्-गमागमौ ॥७७

परः प्राह—

दस्योरन्यस्य काये च लवशः शकलीकृते। न दृष्टः क्वचिदप्यात्मा सोऽस्ति चेत् किन्न दृश्यते ॥७८

उदासीनतामें तत्पर एवं निश्चल पुरुषोंको मन वचन और कायका आरम्भ सर्वथा ही नहीं करना चाहिए ॥६९॥ मुक्ति-प्राप्तिमें संलग्न पुरुषोंको पुण्य-उपार्जनके लिए भी किसी प्रकारका आरम्भ नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुण्य और पापके क्षयसे ही मुक्ति प्राप्त होती है, अतएव मनुष्यको अन्तरंगमें समताभावकी प्राप्तिके लिए तत्पर होना चाहिए ॥७०॥ जिस समता भावरूप उदासीनताके आगे संसारके जितने सुख है, वे सब 'न कुछ' से अकिंचित्कर दिखाई देते हैं, उस उदासीनताका आश्रय लेना चाहिए ॥७१॥ समस्त वेद, यज्ञ, शास्त्र, तप, तीर्थ और संयम ये सव मिल करके भी समताभावकी तुलनाको नहीं पाते हैं ॥७२॥ जिस प्रकार (विभिन्न वर्णवाली) सभी गायोंमें दूध एक ही वर्णका होता है, उसी प्रकार धर्मकी विचित्रता है, परन्तु परम तत्त्व एक ही है ॥७३॥

चार्वाक (नास्तिक) आत्माको नहीं मानता है। उसका यह कथन है कि छिद्र-रहित शरीररूपी भाण्डमें बन्द किया गया और तत्पश्चात् मर गया वह जीव कैसे निकल गया? इसी प्रकार निश्छिद्र वस्तुमें उसके भीतर अन्य कृमिरूप प्राणी कैसी प्रवेश कर गये? अर्थात् आकर कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ॥७४-७५॥

उत्तर कहते हैं—उसी प्रकारके निश्छिद्र मुद्रित भाण्डमें शंख-युक्त पुरुष डाला गया, पश्चात् उसके द्वारा बजाये गये शंखसे उसका नाद (गम्भीर शब्द) कैसे बाहिर निकल आता है? (यह बताओ?) ॥७६॥ तथा अग्नि मूर्तिमान् है, वह धोंकी जाकर लोहेके ठोस गोलेमें कैसे प्रविष्ट हो जाती है? अहो चार्वाक, तुम इसका उत्तर दो? जिस प्रकार मूर्तिमान् अग्नि लोहेके गोलेमें प्रवेश कर जाती है और मुद्रित भाण्डमेंसे शंखकी ध्वनि बाहिर निकल आती है, इनके समान ही शरीर-पिण्डमें जीवका आगमन और उससे बहिर्गमन जानना चाहिए ॥७७॥

चार्वाक कहता है—किसी अन्य चोरके लव-प्रमाण खंड-खंडकर देनेपर भी आत्मा कहींपर भी दिखाई नहीं देता है। यदि वहाँ आत्मा है, तो फिर क्यों दिखाई नहीं देता है ॥७८॥

अत्रोत्तरम्—

खण्डितेऽप्यरणेः काष्ठे मूर्तो वह्निर्वसन्नपि । न दृष्टो दृश्यते किं वा जीवो मूर्त्तिविवर्जितः ॥७९

पुनरप्यपरो ब्रूते—

जीवन्नन्यतरश्चौरस्तोलितो मारितोऽथ सः । श्वासरोधेन किं तस्य तोलनेऽभून्न चोन्नता ॥८०

अत्रोत्तरम्—

दृतेः पूर्णस्य वातेन रिक्तस्यापि च तोलने । तुलासमात्तथाङ्गस्य सात्मनोऽनात्मनोऽपि च ॥८१

पुनः परो वदति—

जलपिष्टादियोगेन मद्यवन्मदशक्तिवत् । अचेतनेभ्यश्चैतन्यं भूतेभ्यस्तद्वदेव हि ॥८२

उत्तरम्—

शक्तिर्नो विद्यते येषां भिन्न-भिन्नस्थितिस्पृशाम् । समुदायेऽपि नो तेषां शक्तिर्भीरुषु शौर्यवत् ॥८३
प्रत्यक्षैकप्रमाणस्य नास्ति कस्य न गोचरः । आत्मा ज्ञेयोऽनुमानाद्यैर्वायुः कम्प्रैः पटैरिव ॥८४
अङ्कुरः सुन्दरे बीजे सूर्यकान्तौ च पावकः । सलिलं चन्द्रकान्तौ च युक्त्याऽऽत्माङ्गेऽपि साध्यते ॥८५

उत्तर—काठमें मूर्त्त अग्निके निवास करते हुए भी अरणिकाठके खण्ड-खण्ड कर देनेपर भी वह नहीं दिखाई देती है। फिर जीव तो मूर्त्तिसे रहित अमूर्त्त है, यह कैसे दिखाई दे सकता है ॥७९॥

पुनः दूसरा कहता है—कोई जीता हुआ चोर तोला जाय, इसके पश्चात् मारा गया उसका शरीर तोला जाय, तो श्वासके निरोधसे उसके तोलनेपर तुलाके उन्नतपना क्यों नहीं हुआ ॥८०॥

इसका उत्तर—वायुसे परिपूर्ण दृति (चर्म-मशक) के तोलनेपर तथा वायुसे रिक्त कर देनेपर तुला जैसे समान रहती है, उसी प्रकार आत्मासे सहित और आत्मासे रहित शरीरके तोलनेपर भी तुलाको समान जानना चाहिए ॥८१॥

पुनः चार्वाक कहता है—जिस प्रकार जल-पिष्टी आदिके संयोगसे मदशक्तिवाली मदिरा उत्पन्न होती हे, उसी प्रकार अचेतन पृथ्वी आदि भूतोंसे चैतन्य भी उत्पन्न हो जाता है। (अतः आत्मा या जीव नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है) ॥८२॥

उत्तर—भिन्न-भिन्न स्थितिका स्पर्श करनेवाले जिन पदार्थोंके स्वयं शक्ति नहीं होती है, उनके समुदायमें भी वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। जैसे कि भीरु पुरुषोंमें शौर्य सम्भव नहीं है ॥८३॥

यद्यपि एक प्रत्यक्ष प्रमाणके माननेवाले किसी भी पुरुषके आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता है, तथापि अनुमान आदि प्रमाणोंके द्वारा आत्मा ज्ञेय है, अर्थात् उसका अस्तित्व जाना जाता है। जैसे कि वायु आँखोंसे नहीं दिखती है, फिर भी वह कम्पित होनेवाले वस्त्रोंसे जानी जाती है ॥८४॥ जिस प्रकार सुन्दर बीजमें अंकुर, सूर्यकान्तमणिमें अग्नि और चन्द्रकान्तमणिमें जलका अस्तित्व युक्तिसे सिद्ध है, उसी प्रकार युक्तिसे शरीरमें आत्माका अस्तित्व भी सिद्ध होता

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन लक्ष्यते न जनैर्यदि । तन्नास्तिक तवाङ्गे किं नास्ति बुद्धिः कुरूत्तरम् ॥८६

अप्रत्यक्षा तवाम्बा चेद् दूरदेशान्तरं गता ।
जीवत्यपि मृता हन्त नास्ति नास्तिक सा कथम् ॥८७

तिलकाष्ठपयःपुष्पेष्वासवः क्रमशो यथा । तैलाग्निघृतसौरभ्याण्येवमात्मापि विग्रहे ॥८८
अस्त्येव नियतो जीवो लक्षणैर्ज्ञायते पुनः । भूतावेशवशान्नित्यं जातिस्मरागतस्तथा ॥८९
पयःपानं शिशो भीतिः सङ्कोचिन्यां च मैथुनम् । अशोकेऽर्थग्रहो विल्वे जीवसंज्ञा चतुष्टयम् ॥९०
अन्तराये त्रुटे (?) ज्ञानं कियत्क्वापि प्रवर्तते । मतिश्रुतिप्रभृतिकं निर्मलं केवलावधिः ॥९१
इन्द्रियापेक्षया प्रायः स्तोकमस्तोकमेव च । चराचरेषु जीवेषु चैतन्यमपि निश्चितम् ॥९२
त्रिकालविषयव्यक्तं चिन्तासन्तानधारकम् । नानाविकल्पसङ्कल्परूपं चित्तं च वर्तते ॥९३
नास्तिकस्यापि नास्त्येव प्रसरः प्रश्नकर्मणि । नास्तिकत्वाभिमानस्तु केवलं बलवत्तरः ॥९४

ध्यातुर्न प्रभवन्ति दुःखविषमव्याध्याधयः साधयः,
सिद्धिः पाणितलस्थितेव पुरतः श्रेयान्सि सर्वाण्यपि ।

है ॥८५॥ हे नास्तिक, यदि तेरे शरीरमें बुद्धिका अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाणसे मनुष्योंके द्वारा नहीं जाना जाता है तो क्या तेरे शरीरमें बुद्धि नहीं है ? इसका उत्तर दो ॥८६॥ यदि दूरवर्ती देशान्तर को गई हुई तेरी माता लोगोंको प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती है तो क्या वह जीते हुए भी मृत मान ली जावे ? हे नास्तिक, दुःख है कि यदि वह नहीं है, तो वह है, यह कैसे सिद्ध करोगे ॥८७॥ जिस प्रकार तिलमें तेल, काष्ठमें अग्नि, दूधमें घी और फूलोंमें सौरभ क्रमशः पाये जाते हैं, उसी प्रकार शरीरमें आत्मा है, प्राण हैं, यह बात भी सिद्ध है ॥८८॥ अतएव जीव नियत रूपसे है ही, और वह ज्ञान-दर्शनरूप लक्षणोंसे जाना जाता है। यथा भूतावेश देखे जानेसे, भवका जाति-स्मरण होनेसे, जन्मे हुए शिशुमें दुग्ध-पानरूप आहार संज्ञा, लजवन्तीमें भय संज्ञा, अशोक वृक्षमें मैथुन संज्ञा और विल्व वृक्षमें धनके ग्रहणरूप परिग्रहसंज्ञा पाई जाती है, सो ये चारों संज्ञाएँ ही उनमें जीवके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं ॥८९-९०॥

ज्ञानके अन्तरायरूप ज्ञानावरण कर्मके टूटने पर कितना ही ज्ञान किसी भी जीवमें प्रवृत्त होता है। वह ज्ञान मति, श्रुतको आदि लेकर निर्मल केवलज्ञानकी सीमा तक प्रकट होता है ॥९१॥ इन्द्रियोंकी अपेक्षा वह ज्ञान प्रायः अल्प और अल्पतर ही होता है। इस प्रकार चर-त्रस जीवोंमें और अचर-स्थावर जीवोंमें चैतन्य भी निश्चित रूपसे पाया जाता हैं ॥९२॥ वह चित्त या चैतन्य त्रिकालवर्ती विषयोंको ग्रहण करनेसे व्यक्त है, नाना चिन्ताओंकी सन्तानका धारक है और वह चित्त नाना प्रकारके विकल्पसे प्रवर्तता है ॥९३॥

(उक्त प्रकारसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जानेपर) नास्तिकके भी और आगे प्रश्न करनेमें प्रसार संभव नहीं है। फिर भी 'आत्मा नहीं है' इस प्रकारसे नास्तिकताका अभिमान तो केवल बलवत्तर दुराग्रहमात्र है ॥९४॥

आत्माका ध्यान करनेवाले पुरुषको दुःख और आधि (मानसिक व्यथा) सहित सभी विषम व्याधियाँ (शारीरिक रोग) पीड़ा देनेको समर्थ नहीं है, अभीष्टकी सिद्धि उसके हस्ततलपर स्थित जैसी ही है, सर्वप्रकारके श्रेयस् (कल्याण) उसके आगे उपस्थित होते हैं, और खोटे कर्मोंके

त्रुटयन्ते च मृणालनालमिव वा मर्माणि दुष्कर्मणां
तेन ध्यानसमं न किञ्चन जनैः कर्त्तव्यमस्त्यद्भुतम् ॥९५

इति श्रीकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे जन्मचर्यायां
ध्यानस्वरूपनिरूपणो नाम एकादशोल्लासः ।

●

मर्म कमल-नालके समान क्षणभरमें टूट जाते हैं, इस कारण ध्यानके समान और कोई भी वस्तु आत्माकी कल्याण करनेवाली नहीं है। अतएव विवेकी जनोंको यह अद्भुत (आश्चर्य-कारक) ध्यान अवश्य ही करना चाहिए ॥९५॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें जन्मचर्याके
अन्तर्गत ध्यानके स्वरूपका वर्णन करनेवाला
ग्यारहवाँ उल्लास समाप्त हुआ।

●

अथ द्वादशोल्लासः

दुःस्वप्नैः प्रकृतित्यागैर्दुर्निमित्तैश्च दुर्ग्रहैः । हंसचारान्यथान्यैश्च ज्ञेयो मृत्युः समीपगः ॥१
प्रायश्चित्तं व्रतोच्चारं संन्यासमनुमोदनम् । गुरुदेवस्मृतिं मृत्यौ स्पृहयन्ति विवेकिनः ॥२
अनार्त्तः शान्तिमान्मृत्योर्न तिर्यग् नापि नारकः । धर्मध्यानी सुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वरः ॥३
तप्तस्य तपसः सम्यक्-पठितस्य श्रुतस्य च । पालितस्य व्रतस्यापि फलं मृत्युः समाधितः ॥४
अजडेनापि मर्त्तव्यो जडेनापि हि सर्वथा । अवश्यं तेन मर्त्तव्यं किं बिभ्यति विवेकिनः ॥५
दित्सा स्वल्पधनस्याप्यवष्टम्भः कष्टितस्य च । गतायुषोऽपि धीरत्वं स्वभावोऽयं महात्मनः ॥६
नास्ति मृत्युसमं दुःखं संसारेऽत्र शरीरिणाम् । ततः किमपि तत्कार्यं येनैतन्न भवेत्पुनः ॥७
शुभं सर्वं समागच्छन् श्लाघनीयं पुनः पुनः । क्रियासमभिहारेण मरणं तु त्रपाकरम् ॥८
सर्ववस्तुप्रभावज्ञैः सम्पन्नाखिलवस्तुभिः । आयुः-प्रवर्धनोपायो जिनैर्नाज्ञापितोऽप्यसौ ॥९
सर्वेषां सर्वजाः सर्वे नृणां तिष्ठन्तु दूरतः । एकैकोऽपि स्थिरतः स्याल्लोकः पूर्येत तैरपि ॥१०

खोटे स्वप्नोंसे, प्रकृतिके स्वाभाविकरूपके परित्यागसे, दुर्निमित्तोंसे, खोटे ग्रहोंकी चाल या दशासे और हंस-वारसे तथा अनेक प्रकारकी अन्य व्यथाओंसे मृत्युको समीपमें आई हुई जानना चाहिए ॥१॥ विवेकी पुरुष मरणके समय प्रायश्चित्त लेनेकी, व्रतोंके ग्रहण करनेको, संन्यासधारण करनेकी, सत्कार्योंको अनुमोदनाकी, देव और गुरुके स्मरणकी इच्छा करते हैं ॥२॥ जो पुरुष मरणके समय आर्त्तध्यानसे रहित रहता है और रौद्रध्यानको छोड़कर शान्तिको धारण करता है, वह मरकर न तिर्यञ्च होता है और न नारकी होता है। जो मरणकालमें धर्मध्यानसे युक्त होता हैं, वह मरणकर देव या उत्तम मनुष्य होता है। तथा जो उस समय अशन-पानका त्यागकर मरता है वह देवताओंका स्वामी इन्द्र होता है ॥३॥ जीवन-भर तपे हुए तपका, सम्यक् प्रकारसे पढ़े हुए श्रुतका और पालन किये हुए व्रतका भी फल समाधिसे मरण होना ही है ॥४॥ जो तत्त्वका जानकार है, उसे भी अवश्य मरना पड़ता है और जो सर्वथा मूर्ख है उसे भी अवश्य मरना पड़ता है। फिर विवेकी जन मरणसे क्यों डरते हैं ॥५॥

अल्पधन होते हुए भी दान करनेकी इच्छा होना, कष्ट आनेपर भी सहन करना और आयुके व्यतीत होनेके समय धीरता रखना यह महापुरुषका स्वभाव होता है ॥६॥ इस संसारमें मृत्युके समान प्राणियोंको कोई दुःख नहीं है, इसलिए ऐसा कुछ कार्य करना चाहिए, जिससे कि पुनः यह मरण न होवे ॥७॥ सर्व शुभ कार्य पुनः-पुनः करना प्रशंसनीय होता है। किन्तु क्रियाओंके समभिहारसे अर्थात् मरण समय पुनः-पुनः आर्तध्यान करके मरना तो लज्जाकर है ॥८॥ समस्त वस्तुओंके प्रभावको जाननेवाले तथा जिन्हें संसारकी सभी श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त है, ऐसे जिनेन्द्र देवोंने भी आयुके बढ़ानेका कोई वह उपाय नहीं बताया है, जिससे कि वह अपनी आयुको बढ़ा सके ॥९॥ सभी मनुष्योंके सर्व जन्मोंमें उत्पन्न हुए शरीर तो दूर रहें, किन्तु एक जीवका एक-एक भी शरीर यदि स्थिर रहे, तो उनके द्वारा भी यह सारा लोक पूरित हो जायगा ॥१०॥

आबाल्यात्सुकृतैः सुजन्म सफलं कृत्वा कृतार्थं चिरं
धर्मध्यानविधानलीनमनसो मोहव्यपोहोद्यताः।
पर्यन्तप्रतिभाविशेषवशतो ज्ञात्वा निजस्यायुषः
कायत्यागमुपासते सुकृतिनः पूर्वोक्तयाशिक्षया ॥११
स श्रेष्ठोऽपि तथा गुणी स सुभटोऽत्यन्तं प्रशंसास्पदं
प्राज्ञः सोऽपि कलानिधिः स च मुनिः स क्षमावान् योगवित्।
स ज्ञानी स गुणिव्रजस्य तिलको जानाति यः स्वां मृतिं
निर्मोहः समुपार्जयत्यथ पदं लोकोत्तरं शाश्वतम् ॥१२

इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामिविरचिते श्रावकाचारे जन्मचर्यायां
परमपद-प्रापणो नाम द्वादशोल्लासः समाप्त.।

•

बाल-कालसे लेकर सुकृत कार्योंके द्वारा अपना सुजन्म सफल करके और चिरकाल तक कृतार्थ होकर धर्मध्यान करनेमें संलग्न चित्तवाले तथा मोहके विनाश करनेमें उद्यत पुण्यशाली पुरुष अपने जीवनके अन्तमें प्रतिभाविशेषके निमित्तसे अपनी आयुको अल्प जानकर पूर्वोक्त शिक्षाके द्वारा शरीरके त्यागकी उपासना करते हैं ॥११॥ वही पुरुष श्रेष्ठ है, तथा वही पुरुष गुणी है, वही सुभट है, वही अत्यन्त प्रशंसाके योग्य है, वही प्रकृष्ट बुद्धिमान् है, वही कलाओंका निधान है, वही मुनि है, वही क्षमावान् है, वही योग-वेत्ता है, वही ज्ञानी है और वही गुणीजनोंके समूहका तिलक है, जो अपनी मृत्युको जानकर तत्पश्चात् संसार, देह और कुटुम्ब-परिग्रहादिसे मोह-रहित होकर लोकोत्तर शाश्वत शिवपदको उपार्जित करता है ॥१२॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्दस्वामि-विरचित श्रावकाचारमें जन्मचर्याके अन्तर्गत
परमपदको प्राप्त करानेवाला बारहवाँ उल्लास समाप्त हुआ।

•

ग्रन्थ-संकेत-सूची

भाग	सङ्केत		पूर्ण नाम
१	अमित०	—	अमितगति-श्रावकाचार
३	उमा० उमास्वा०	—	उमास्वामि-श्रावकाचार
४	कुन्द०	—	कुन्दकुन्द श्रावकाचार
२	गुणभू०	—	गुणभूषण श्रावकाचार
३	चारित्त०	—	चारित्रप्राभृत
१	चारित्रसा०	—	चारित्रसार-गत श्रावकाचार
३	तत्त्वार्थ०	—	तत्त्वार्थसूत्र-गत सप्तम अध्याय
३	देशव्रत०	—	देशव्रतोद्योतन श्रावकाचार
२	धर्मसं०	—	धर्मसंग्रह श्रावकाचार
२	धर्मोप०	—	धर्मोपदेश श्रावकाचार
३	पद्मच०	—	पद्मचरित-गत श्रावकाचार
३	पद्म० पं० पद्मनं० पं०	—	पद्मनन्दि पंचविंशति-गत श्रावकाचार
३	पुरु० शा०	—	पुरुषार्थानुशासन
१	पुरुषा०	—	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
३	पूज्य० पूज्यपा०	—	पूज्यपाद श्रावकाचार
३	प्रा० भाव० प्रा० भावसं०	—	प्राकृतभावसंग्रह-गत श्रावकाचार
२	प्रश्नो०	—	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
३	भव्य० भव्यध०	—	भव्यधर्मोपदेश उपासकाध्ययन
१	महापु०	—	महापुराणान्तर्गत श्रावकाचार
१	यशस्ति०	—	यशस्तिलकचम्पू-गत उपासकाध्ययन
१	रत्नक०	—	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
३	रत्नमा०	—	रत्नमाला
३	रयण०	—	रयणसार-गत श्रावकाचार
३	लाटी०	—	लाटीसंहिता
३	वराङ्ग०	—	वराङ्गचरित-गत श्रावकाचार
१	वसुनं०	—	वसुनन्दि श्रावकाचार
३	व्रतोद्यो०	—	व्रतोद्योतन श्रावकाचार

भाग	सङ्केत		पूर्ण नाम
३	श्रा० सा०	—	श्रावकाचार सारोद्धार
२	सागार०	—	सागारधर्मामृत
१	सावय०	—	सावयधम्मदोहा
३	सं० भाव० सं० भावसं०	—	संस्कृतभावसंग्रह-गत श्रावकाचार
१	स्वामिका०	—	स्वामिकर्त्तिकेयानुप्रेक्षा ,,
३	हरिवं०	—	हरिवंशपुराण-गत श्रावकाचार

कुन्दकुन्द श्रावकाचारकी

टिप्पणी में उपयुक्त-ग्रन्थनाम-संकेत-सूची

अग्नि०	—अग्नि पुराण (प्रसिद्ध हिन्दू पुराण)
अष्टाङ्ग०	—अष्टाङ्ग हृदय, (प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ)
करल०	—करलक्खण, (भारतीय ज्ञानपीठ काशी)
ज्ञान०	—ज्ञानदीपिका, (जैन सिद्धान्त भवन, आरा)
नीतिवा०	—नीतिवाक्यामृत, (माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई)
भद्रबा०	—भद्रबाहुसंहिता, (भारतीय ज्ञानपीठ काशी)
वर्षप्र०	—वर्षप्रबोध, (मेघविजयगणि-रचित)
वास्तुसा०	—वास्तुसार प्रकरण, (जैन विविध ग्रन्थमाला जयपुर)
विश्वक०	—विश्वकर्मप्रकाश, (राधेश्याम यंत्रालय काशी)
सामुद्रि०	सामुद्रिकशास्त्र, (जैन सिद्धान्त भवन, आरा)
सुश्रुत०	—सुश्रुतसंहिता (प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ)
हस्तसं०	—हस्तसञ्जीवनम्, (भारतभूषण प्रेस, काशी)

●

परिशिष्ट

तत्त्वार्थसूत्राणामनुक्रमणिका

गाथानुक्रमणिका

ओ

अं

क

ख

ग

घ

च

छ

म

र

ह

संस्कृतश्लोकानुक्रमणिका

छ

ज

ध

फ

ब

भ

श

ष

ह

■

२. निषीधिकादण्डक

(प्रतिक्रमण पाठ से)

णमो जिणाणं, णमो जिणाणं, णमो जिणाणं, णमो णिसीहीए, णमो णिसीहीए, णमो णिसीहीए। णमोत्थु दे, णमोत्थु दे, णमोत्थु दे। अरिहंत, सिद्ध, बुद्ध, णीरय, णिम्मल, सममण, सुमण, सुसमत्थ, समजोग, समभाव, सलघट्टाणं सल्लघत्ताण, णिब्भय, णीराय, णिद्दोस, णिम्मोह, णिम्मम, णिस्संग, णिस्सल्ल, माण-माय-मोसमूरण, तवप्पहावण, गुणरयणसीलसायर, अणंत, अप्पमेय, महदिमहावीर-वड्ढमाण बुद्धि-रिसिणो चेदि णमोत्थु दे, णमोत्थु दे, णमोत्थु दे।

मम मंगलं अरिहंता य, सिद्धा य, बुद्धा य, जिणा य, केवलिणो य, ओहिणाणिणो य, मणवज्जवणाणिणो य, चउद्दसपुव्वगामिणो य, सुदसमिदिसमिद्धा य, तवो य वारसविहो, तवस्सी य, गुणा य, गुणवंतो य, महरिसी, तित्थं तित्थंकरा य, पवयणं पवयणी य, णाणं णाणी य, दंसणं दंसणी य, संजमो संजदा य, विणओ विणीदा य, वंभचेरवासो वंभचेरवासी य, गुत्तीओ चेव गुत्तिमंतो य, मुत्तीओ चेव मुत्तिमंतो य, समिदीओ चेव समिदिमँतो य, ससमय-परसमयविदू, खंतिक्खवगा य खवगा य, खीणमोहा य, वोहियबुद्धा य, बुद्धिमँतो य, चेइयरुक्खा य, चेइयाणि य।

उड्ढमहतिरियलोए सिद्धायदणाणि णमंसामि, सिद्धिणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जँते चँपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ

जिनदेवको नमस्कार है, जिनदेवको नमस्कार है, जिनदेवोंको नमस्कार है। उनके निवास-रूप इस जिन-मन्दिरको नमस्कार है, जिन मन्दिरको नमस्कार है, जिन मन्दिरको नमस्कार है। हे अरिहंत, सिद्ध, बुद्ध, नीरज (कर्म-रजरहित), निर्मल, समनन (वीतराग), सुमन, सुसमर्थ, समयोग, शमभाव, शल्य-घट्टक, शल्य-कर्तक, निर्भय, नीराग, निर्दोष, निर्मोह, निर्मम, निःसंग, निःशल्य, मान-माया और मृषावादके मर्दक, तपःप्रभावक, गुणरत्न-शील-सागर, अनन्त, अप्रमेय भगवन्, तुम्हें नमस्कार है। महति महावीर वर्धमान और बुद्धि ऋषीश्वर, तुम्हे नमस्कार है तुम्हें नमस्कार है।

लोकमें जो अरिहन्त हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, जिन है, केवली हैं, अवधिज्ञानी हैं, मनःपर्ययज्ञानी हैं, चौदह पूर्ववेत्ता हैं, श्रुत और समितियोंसे समृद्ध हैं, बारह प्रकार का तप है और उनके धारक तपस्वी हैं, चौरासी लाख उत्तर गुण हैं, और उनके धारक जो गुणवन्त साधु हैं, तीर्थ और तीर्थंकर हैं, प्रवचन और प्रवचन-कारक हैं, ज्ञान और ज्ञान-धारक हैं, दर्शन और दर्शन-धारक है, संयम और संयम-धारक हैं, विनय और विनयवान् है, ब्रह्मचर्यवास और ब्रह्मचर्यवासी हैं, गुप्ति और गुप्ति-धारक हैं, बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहत्याग और उसके त्यागी हैं, समिति और समिति-धारक हैं, स्वसमय और पर-समयके वेत्ता हैं, शान्तिसे परीषहोंके सहन करनेवाले है, और कर्म-क्षपक या क्षमावन्त हैं, क्षपक हैं, क्षीणमोही हैं, बोधित बुद्ध हैं, और बुद्धिऋद्धिके धारक हैं, चैत्यवृक्ष और चैत्य (जिन बिम्ब) हैं, वे सब मेरा मंगल करें।

ऊर्ध्व लोक, मध्यलोक और अधोलोकमें जितने सिद्धायतन हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ, अष्टापद (कैलाश) पर्वत, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्तगिरि, चम्पा, मध्यमा, पावा और हस्तिपालिका-सभास्थान में जो निषीधिकाएँ है, तथा इनके सिवाय जीवलोक (ढाईद्वीप) में अन्य जितनी भी निषीधिकाएँ हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथिवीके उपरिमतल-

जीवलोयम्मि ईसिपब्भारतलगयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं णीरयाणं णिम्मलाणं गुरु-आयरिय-उवज्झायाणं पवत्ति-थेर-कुलयराणं चाउव्वण्णो य समणसंघो य भरहेरावएसु दससु, पंचसु महाविदेहेसु जे लोए संति साहवो संजदा तवस्सी एदे मम मंगलं पवित्तं एदे हं मंगलं करेमि भावदो विसुद्धो सिरसा अहिवंदिऊण सिद्धे काऊण अंजलि मत्थयम्मि तिविहं तियरण सुद्धो।

भागमें अवस्थित जो सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, कर्मचक्रसे विमुक्त हैं, नीरज हैं, निर्मल हैं, गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और कुलकर (गणधर और गणनायक) हैं, उनकी निषीधिकाओं को नमस्कार करता हूँ। ढाई द्वीप-सम्बन्धी पाँच भरत और पाँच ऐरावत इन दश क्षेत्रोंमें, तथा पंच महा विदेहोंमें जो ऋषि, यति, मुनि-अनगाररूप चातुर्वर्ण श्रमणसंघ है, मनुष्य लोकमें जितने साधु हैं, संयत हैं, तपस्वी हैं, ये सब मेरे लिए पवित्र मंगलकारी होवें। भावसे तथा त्रिकरण (मन वचन काय) से शुद्ध होकर त्रिविध (देव वन्दना, प्रतिक्रमण और स्वाध्यायरूप) क्रियानुष्ठान-के समय में मस्तक पर अंजुली रखकर और वन्दना करके नमस्कार करता हूं।

■

३. धर्मसंग्रह श्रावकाचार-प्रशस्ति

स्वस्तिश्रीतिलायमानमुकुटघृष्टाङ्घ्रिपाथोरुहे स्वस्त्यानन्दचिदात्मने भगवते पूजार्हते चार्हते।
स्वस्ति प्राणिहितङ्कराय विभवे सिद्धाय बुद्धाय ते स्वस्त्युत्पत्तिजराविनाशरहितस्वस्थाय शुद्धाय ते ।१

वाग्भातपत्रचमरासनपुष्पवृष्टीपिण्डीद्रुमामरमृदङ्गरवेण लक्ष्यः।
येऽनन्तबोधसुखदर्शनवीर्ययुक्तास्ते सन्तु नो जिनवराः शिवसौख्यदा वै ॥२॥
सम्यक्त्वमुख्यगुणरत्नतदाकरा ये संभूय लोकशिरसि स्थितिमादधानाः।
सिद्धा सदा निरुपमा गतमूर्त्तिबन्धा भूयासुराशु मम ते भवदुःखहान्यै ॥३॥
मूलोत्तरादिगुणराजिविराजमानाः क्रोधादिदूषणमहीध्रतडित्समानाः।
ये पञ्चधाचरणचारणलब्धमाना नन्दन्तु ते मुनिवरा बुधवन्द्यमानाः ॥४॥
येऽध्यापयन्ति विनयोपनतान् विनेयान् सद्द्वादशाङ्गमखिलं रहसि प्रवृत्तान्।
अर्थं दिशन्ति च धिया विधिवद्विदन्तस्तेऽध्यापका हृदि मम प्रवसन्तु सन्तः ॥५॥
रत्नत्रयं द्विविधमप्यमृताय नूनं ये ध्यानमौननिरतास्तपसि प्रधानाः।
संसाधयन्ति सततं परभावयुक्तास्ते साधवो ददतु वः श्रियमात्मनीनाम् ॥६॥

प्रशस्तिका अनुवाद

स्वर्गके तिलकसमान इन्द्रके मुकुटोंसे जिनके चरण-कमल घिसे जाते हैं, जिनके चरण-सरोजों में इन्द्र आकर नमस्कार करता है, उनके लिये कल्याण हो। जिनकी आत्मा आनन्दरूप है ऐसे पूजनीय अर्हन्त भगवान्के लिए कल्याण हो। अखिल संसार के जीवोंका उपकार करने वाले विभव-स्वरूप तथा बुद्धस्वरूप सिद्धभगवान् के लिये कल्याण हो। और उत्पत्ति (जन्म), वृद्धावस्था (जरा) तथा मरणसे रहित निरन्तर ज्यों के त्यों स्थित रहने वाले शुद्ध स्वरूपके लिये कल्याण हो ॥१॥ दिव्यध्वनि, भामण्डल, छत्र, चामर, आसन, पुष्प वृष्टि, अशोकतरु तथा देवदुन्दुभि इन आठ प्रातिहार्योंसे केवलज्ञान दशाको प्रगट करने वाले तथा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अनन्तदर्शन से विभूषित जिनभगवान् हमलोगों के लिये मोक्ष सुख के प्रदाता हों ॥२॥ जिनमें सम्यक्त्व प्रधान है ऐसे जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाधादि गुणरत्न हैं उनके आकर (खानि) होकर लोकाकाशके शिखर पर अपनी स्थिति को करने वाले, निरुपम (जिनका उपमान संसार में कोई नहीं है जिसकी उनको उपमा दी जाय) तथा मूर्तिमान पुद्गलादिके सम्बन्ध रहित (अमूर्तिक) सिद्धभगवान् मेरे संसार दुःखों के नाश करने वाले हों ॥३॥ अट्ठाईस मूलगुण तथा चौरासी लाख उत्तरगुण की राजि (माला) से शोभायमान, क्रोध, मान, माया, लोभादि दोष रूप पर्वत के खण्ड करने में बिजली के समान, पंचप्रकार चारित्रके धारण करने से जिन्हें सन्मान प्राप्त हुआ है तथा बुद्धिमान लोग जिन्हें अपना मस्तक नवाते हैं ऐसे मुनिराज दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त होवें ॥४॥ जो एकान्तमें विनयपूर्वक आये हुए शिष्य लोगोंको सर्व द्वादशांगशास्त्र पढ़ाते हैं तथा अपनी बुद्धिसे उसके अर्थका उपदेश करते हैं विधिपूर्वक सर्व शास्त्रोंके जाननेवाले वे अध्यापक (उपाध्याय) मेरे हृदय कमलमें प्रवेश करें ॥५॥ जो ध्यान तथा मौनमें लीन हैं जो तपश्चरणादि के करनेमें सदैव अग्रगण्य समझे जाते हैं, जो शिव सदनके अनुपम सुखके लिये व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रयका साधन करते हैं, शत्रु मित्रोंको एक समान जानने वाले वे साधु (मुनिराज)

लोकोत्तमाः शरणमङ्गलमङ्गभाजामर्हद्विमुक्तमुनयो जिनधर्मकाश्च ।
ये तान् नमामि च दधामि हृदम्बुजेऽहं संसारवारिधिसमुत्तरणैकसेतून् ॥७॥
स्याद्वादचिह्नं खलु जैनशासनं जन्मव्ययध्रौव्यपदार्थशासनम् ।
जीयात् त्रिलोकीजनशर्मसाधनं चक्रे सतां वन्द्यमनिन्द्यबोधनम् ॥८॥
सन्नन्दिसङ्घसुरवर्त्मदिवाकरोऽभूच्छ्रीकुन्दकुन्द इतिनाम मुनीश्वरोऽसौ ।
जीयात्स यद्विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजङ्गमरलं जगतः प्रणष्टम् ॥९॥
आम्नाये तस्य जातो गुणगणसहितो निर्मलब्रह्मपूतः,
सद्विद्यापारयातो जगति सुविदितो मोहरागव्यतीतः ।
सूरिश्रीपद्मनन्दी भवविहृतिनदीनाविको भव्यनन्दी,
स्यान्नित्यानित्यवादी परमतविलसन्निर्मदीभूतवादी ॥१०॥
तत्पट्टे शुभचन्द्रकोऽजनि जनिध्रौव्यान्तरूपार्थवित्
द्वेधा सत्तपसां विधानकरणः सद्वर्णरक्षाचणः ।
येनाऽद्योति जिनेन्द्रदर्शननभोनक्तं कलौ ज्योत्स्नया
सद्‌-वृत्याऽमृतगर्भया गुरुबुधानन्दात्मना स्वात्मना ॥११॥

तुम लोगोंके लिये आत्मीय लक्ष्मीके देने वाले हों ॥६॥ जो लोकमें श्रेष्ठ हैं, संसारवर्ती जीवोंको आश्रयस्थान तथा मंगल रूप हैं, तथा संसार रूप नीरधिके पार करनेमें जहाज समान हैं ऐसे अर्हत्सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु तथा जिनधर्मको मैं अपने हृदय कमलमें धारण करता हूँ तथा उनके लिये नमस्कार भी करता हूँ ॥७॥ स्याद्वाद (अनेकान्त) मतका चिह्न, उत्पत्ति, विनाश, तथा ध्रौव्य (नित्यावस्था) गुणसे युक्त पदार्थका उपदेश देने वाला, तीनों लोकमें जितने प्राणिवर्ग हैं उन सबके लिये सुखका प्रधान कारण जैन शासन इस संसारमें चिरकाल पर्यन्त रहे जिसके द्वारा प्राचीन समयमें सत्पुरुषोंको प्रणति योग्य निर्दोषज्ञानकी प्राप्ति हुई है ॥८॥ श्रेष्ठ नन्दिसंघ रूप गगनमें सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकुन्दकुन्द मुनिराज हुए हैं जिनके बनाये हुए शास्त्र रूप अमृत रससे इस संसारका मिथ्यात्वरूप सर्पराजका उत्कट विष नाश हुआ वे मुनिराज निरन्तर जयको प्राप्त होवें ॥९॥ जिस तरह सर्पका विष अमृतके सेवनसे दूर हो जाता है उसी तरह जिनके शास्त्र रूप अमृतसे मिथ्यात्व रूप सर्पसे काटे हुए जगत्‌का विष दूर हुआ है (जिनके द्वारा मिथ्यामतका नाश होकर जैन शासनकी प्रवृत्ति हुई है) वे कुन्दकुन्द मुनिराज इस जगत्‌को सदैव पवित्र करें। उन्हीं कुन्दकुन्द मुनिराजकी आम्नायमें अनेक प्रकार पवित्र गुण समूहसे विराजमान, निर्दोष ब्रह्मचर्यसे पवित्र, स्याद्वादरूप पवित्र विद्याके पारको प्राप्त, अखिल संसारमें प्रसिद्ध, मोह, द्वेष, रागादिसे सर्वथा विनिर्मुक्त, भवभ्रमण रूप अगम्य नदीके कर्णधार (खेवटिया), भव्यजनोंको आनन्ददायी, कथंचित् नित्य तथा कथंचित् अनित्यरूप स्याद्वादमार्गका कथन करने वाले तथा जिन्होंने अच्छे-अच्छे परमतावलम्बी विद्वानोंका अवलेप दूर कर दिया है—ऐसे श्रीपद्मनन्दी आचार्य हुए ॥१०॥ श्रीपद्मनन्दी आचार्यके पट्टपर-उत्पत्ति, विनाश, तथा नित्य-स्वरूप पदार्थके जानने वाले, अन्तरंग तथा बहिरंग तपके धारण करने वाले, पवित्र जिनशासन की रक्षा करनेमें उत्साहशील, श्रीशुभचन्द्र मुनिराज हुए। अपने आत्माके द्वारा बड़े-बड़े विद्वान् पुरुषोंको आनन्दके देनेवाले जिन शुभचन्द्र मुनिराज ने इस कलिकालरूप रात्रिमें—भीतर अमृतरस पूरित सदाचरणरूप ज्योत्स्ना (चाँदनी) से जिनशासन रूप गगन मण्डलको प्रकाशित

तस्माच्छीरनिधेरिवेन्दुरभवच्छ्रीमज्जिनेन्दुर्गणी
स्याद्वादाम्बरमण्डले कृतगतिर्दिग्वाससां मण्डनः।
यो व्याख्यानमरीचिभिः कुवलये प्रह्लादनं चक्रिवान्
सद्-वृत्तः सकलः कलङ्कविकलः षट्कर्मनिष्णातधीः ॥१२॥
श्रीमत्पुस्तकगच्छसागरनिशानाथः श्रुतादिर्मुनि—
र्जाताऽर्हन्मततर्ककर्कशतयाऽन्यान् वादिनो योऽभिनत्।
तस्मादष्टसहस्रिकां पठितवान् विद्वद्भिरन्यैरहं
सोऽयं सूरिमतल्लिका विजयते चारित्रपात्रं भुवि ॥१३॥
सूरिश्रीजिनचन्द्रकस्य समभूद् रत्नादिकीर्तिर्मुनिः
शिष्यस्तत्त्वविचारसारमतिमान् सद्ब्रह्मचर्यान्वितः।
योऽनेकैर्मुनिभिस्त्वणुव्रतिभिराभातीह मौण्डयं गणी
चन्द्रो व्योम्नि यथा ग्रहैः परिवृतो भैश्चोल्लसत्कान्तिमान् ॥१४॥
तच्छिष्यो विमलादिकीर्त्तिरभवन्निर्ग्रन्थचूडामणि-
र्यो नानातपसा जितेन्द्रियगणः क्रोधेभकुम्भे शृणिः।

किया ॥११॥ जिस प्रकार जलधिसे चन्द्रमा समुद्भूत होता है उसी तरह शुभचन्द्र मुनिराजके पट्टपर विराजमान होने वाले, जिस प्रकार चन्द्रमाका गमन आकाशमें होता है उसी तरह स्याद्वादरूप गगनमण्डलमें विहार करने वाले, जिस प्रकार शशि दिशाओंका भूषण होता है उसी तरह दिगम्बर मुनिराजोंके अलंकार स्वरूप, जिस प्रकार चन्द्रमा अपने मयूख मंडलसे पृथ्वीमें आह्लाद करता है उसी तरह जिन-शासनाभिमत पदार्थ-द्योतक व्याख्यान रूप किरण मण्डलसे अखिल वसुन्धरावलयमें आह्लाद करने वाले, जिस प्रकार चन्द्रबिम्ब सद्वृत्त (गोलाकार) है उसी तरह उत्तम-उत्तम आचरणोंके धारक, जिस प्रकार कुमुदबान्धव षोडश कला सहित होता है उसी तरह अनेक प्रकार की कलाओंसे मण्डित, इतनी समानता होने पर भी चन्द्रमासे विशेष गुणके भाजन ॥१२॥ चन्द्रमा तो कलंक सहित होता है और यह कलंक रहित थे। तथा जिनकी विदुषी बुद्धि षडावश्यक पालनेमें अतिशय समर्थ थी ऐसे जिनचन्द्र मुनिराज हुए। जिस प्रकार चन्द्रमण्डलके उदयसे नीरधि वृद्धिको प्राप्त होता है उसी तरह लक्ष्मी विभूषित श्रीपुस्तकगच्छ रूप रत्नाकरके बढ़ानेके लिये शशिमण्डल तुल्य श्रुतमुनि हुए। जिन्होंने जिन शासन सम्बन्धित प्रमाणशास्त्रकी कठोरतासे परवादियोंका अभिमान भंग किया। उन्हीं श्रुतमुनि से तथा और-और विद्वानोंसे मैंने अष्टसहस्री पढ़ी। जो वसुन्धरावलयमें उत्तम-उत्तम चारित्रके धारण करने योग्य पात्र हैं वे ही आचार्यवर्य श्रीश्रुतमुनि विजयको प्राप्त होवें ॥१३॥ आचार्य श्री जिनचन्द्रके—जीवादितत्त्वोंके विचारसे तीक्ष्ण बुद्धिशाली तथा पवित्र ब्रह्मचर्यसे मण्डित श्रीरत्नकीर्ति मुनि शिष्य हुए। जो अपने संगमें अनेक मुनियों तथा अणुव्रतके धारी क्षुल्लक ऐलकादि साधु समूहसे ऐसे शोभाको प्राप्त होते हैं समझो कि विशद गगनमण्डलमें शोभनीय कान्तिविलसित चन्द्रमा जिस तरह ग्रह तथा तारागणसे मण्डित शोभता है ॥१४॥ उन रत्नकीर्ति मुनिके—निर्ग्रन्थमुनियोंके चूड़ामणि, अनेक प्रकारके दुर्द्धर तपश्चरणादिसे इन्द्रियोंको जीतने वाले, क्रोध रूप गजराजको अपने अधीन करनेके लिए अंकुशके समान, भव्यजनरूप कमलोंके विकसित करनेके लिये सूर्य समान, तथा अष्टमीके चन्द्रमाकी कान्ति समान अपनी विशद कीर्तिसे उज्ज्वल

भव्याम्भोजविरोचनो हरशशाङ्काभस्वकीर्त्योज्ज्वलो
नित्यानन्दचिदात्मलीनमनसे तस्मै नमो भिक्षवे ॥१५॥

यः कक्षापटमात्रवस्त्रममलं धत्ते च पिच्छं लघु
लोचं कारयते सकृत् करपुटे भुङ्क्ते चतुर्थादिभिः।
दीक्षां श्रौतमुनिं बभार नितरां सत्क्षुल्लकः साधकः,
आर्यो दीपक आख्ययाऽत्र भुवनेऽसौ दीप्यतां दीपवत् ॥१६॥

छात्रोऽभूज्जैनचन्द्रो विमलतरमतिः श्रावकाचारभव्य-
स्त्वग्रोतानूकजातोद्वरुणतनुरुहो भीषुहीमातृसुतः।
मीहाख्यः पण्डितो वै जिनमतनयनः श्री हिसारे पुरेऽ-
स्मिन् ग्रन्थः प्रारम्भि तेन श्रीमहति वसता नूनमेष प्रसिद्धे ॥१७॥

सपादलक्षे विषयेऽतिसुन्दरे श्रिया पुरं नागपुरं समस्ति यत्।
पेरोजखानो नृपतिः प्रपाति यन्न्यायेन शौर्येण रिपून्निहन्ति च ॥१८॥

नन्दन्ति यस्मिन् धन-धान्यसम्पदा लोकाः स्वसन्तानगणेन धर्मतः।
जैना घनाश्चैत्यगृहेषु पूजनं सत्पात्रदानं विदधत्यनारतम् ॥१९॥

चान्द्रप्रभे सद्मनि तत्र मण्डिते कूटस्थसत्कुम्भसुकेतनादिभिः।
महाभिषेकादिमहोत्सवैर्लसत्प्रवृद्धसङ्गीतरसेन चानिशम् ॥२०॥
मेधाविनामा निवसन्नहं बुधः पूर्णं व्यधां ग्रन्थमिमं तु कार्त्तिके।
चन्द्राब्धिबाणैकमितेऽत्र (१५४१) वत्सरे कृष्णे त्रयोदश्यहनि स्वशक्तितः ॥२१॥

ऐसे विमलकीर्ति मुनि हुए। नित्य आनन्द स्वरूप आत्मामें जिनका हृदय तल्लीन है, उन साधु विमलकीर्ति महाराज के लिये मेरा नमस्कार है ॥१५॥ जो निर्मल खंडवस्त्रमात्र तथा पिच्छी धारण करते हैं, केशोंका लोंच करते हैं, जो दो-दो तीन-तीन दिन बाद एक ही वक्त अपने पाणिपात्र में आहार करते हैं, जिन्होंने श्री श्रुतमुनिसे दीक्षा धारण की है वे श्रेष्ठ क्षुल्लक दीपकभिक्षु इस संसारमें दीपकके समान देदीप्यमान होवें ॥१६॥ अत्यन्त निर्मल बुद्धिके धारक, श्रावकाचारके पालन करनेमें सरल चित्त, अग्रोतकुल अग्रवाल वंशमें उत्पन्न होने वाले उद्धरणके पुत्र, भीषुहीनाम जननी से उत्पन्न तथा जिन शासनके एक अद्वितीय नेत्र, श्रीमीहा नाम पंडित जिनचन्द्र मुनिका शिष्य हुआ। लक्ष्मीसे सुन्दर तथा प्रख्यात श्री हिसारपुरमें रहने वाले उस पण्डित मीहाने इस (धर्मसंग्रह) ग्रन्थके रचनेका काम आरम्भ किया ॥१७॥ लक्ष्मीसे अतिशय मनोहर सपादलक्ष देशमें नागपुर नामका पुर है। पेरोजखान नाम राजा उसका पालन करता है वह अपने शत्रु समूहका विध्वंस नीति और वीरताके साथ करता है ॥१८॥ जिस नागपुरमें सर्वलोक धन्य धान्यादि विभूतिसे, अपने पुत्र पौत्रादि सन्तान समूहसे तथा धर्मसे सदा आनन्दित रहते हैं। और जैन धर्मानुयायी सज्जन पुरुष निरन्तर जिन मन्दिरमें जिन भगवान् का पूजन तथा पात्रदानादि उत्तम-उत्तम कर्म करते हैं ॥१९॥ वहाँ नागपुर (नागोर) में कूटोंपर स्थित उत्तम कलशोंसे और ध्वजा आदिसे मंडित, तथा महाभिषेक आदि महोत्सवोंसे शोभित और निरन्तर संगीत रससे प्रवर्धमान है ऐसे चन्द्रप्रभ भगवानके मन्दिरमें हिसार निवासी मेधावी नामक मुझ पंडितने अपनी शक्तिके अनुसार संवत् १५४१ कार्तिक वदी त्रयोदशीके दिन इस धर्मसंग्रह नाम ग्रन्थको समाप्त किया ॥२०-२१॥

मेधाविनाम्नः कविताकृतोऽयं श्रीनन्दनोऽर्हत्पदपद्मभृङ्गः ।
यो नन्दनोऽभूज्जिनदाससंज्ञोऽनुमोदकोऽस्यास्तु सुदृष्टिरेषः ॥२२॥
सामन्तभद्र-वसुनन्दिकृतं समीक्ष्य सच्छ्रावकाचरणसारविचारहृद्यम् ।
आशाधरस्य च बुधस्य विशुद्धवृत्तेः श्रीधर्मसङ्ग्रहमिमं कृतवानहं भो ॥२३॥
यद्यत्र दोषः क्वचिदर्थजातः शब्देषु वा छान्दसिकोऽथवा स्यात् ।
युक्त्या विरुद्धं गदितं मया यत्संशोध्य तत्साधुधियः पठन्तु ॥२४॥
शास्त्रं प्राच्यमतीव गभीरं पृथुतरमर्थैर्ज्ञातुमलं कः ।
तस्मादल्पं पिच्छलममलं कृतमिदमन्योपकृतौ नूत्नम् ॥२५॥
गर्वान्न मयाऽकारि न कीर्त्यै न च धनमाननिमित्तं त्वेतत् ।
हितबुद्धया केवलमपरेषां स्वस्य च बोधविशुद्धिविवृद्धयै ॥२६॥
सद्दर्शनं निरतिचारमवन्तु भव्याः श्राद्धा दिशन्तु हितपात्रजनाय दानम् ।
कुर्वन्तु पूजनमहो जिनपुङ्गवानां पान्तु व्रतानि सततं सह शीलकेन ॥२७॥
गाढं तपन्तु जिनमार्गरता मुनीन्द्राः सम्भावयन्तु निजतत्त्वमवद्यमुक्तम् ।
धर्मी भवेद्विजयवान् नृपतिः पृथिव्यां दुर्भिक्षमत्र भवतान्न कदाचनापि ॥२८॥
राज्यं न वाञ्छामि न भोगसम्पदो न स्वर्गवासं न च रूपयौवनम् ।
सर्वं हि संसारनिमित्तमङ्गिनां तदात्वमृष्टं क्षणिकं च दुःखदम् ॥२९॥

इस कविता करनेवाले मेधावी नामक कविका जिनदास नामक पुत्र जो श्री देवीका नन्दन, अरहन्त देवके चरण कमलोंका भ्रमर और सम्यग्दृष्टि है, वह इस ग्रन्थ-रचनाका अनुमोदक है ॥२२॥ हे पाठको ! श्री समन्तभद्र, वसुनन्दि और आशाधरकृत उत्तम श्रावकाचारोंके सारभूत हार्दको हृदयङ्गम करके मुझ मेधाविने इस श्रीधर्मसंग्रह नामके श्रावकाचारको रचा है ॥२३॥ इस ग्रन्थ-रचनामें जो कहीं पर अर्थ-गत, शब्दगत, छन्द-सम्बन्धी और युक्तिके विरुद्ध यदि मैंने कहा हो तो उत्तम बुद्धिवाले सज्जन उसे संशोधन करके पढ़ें ॥२४॥ प्राचीन शास्त्र अतीव गम्भीर और विशाल हैं, उनके पूर्ण अर्थको जाननेके लिए कौन समर्थ है ? इसलिए मैंने यह निर्मल, संक्षिप्त और नवीन ग्रन्थ अन्य जनोंके उपकारके लिए रचा है ॥२५॥ मैंने इसकी रचना न गर्वसे की है, न कीर्त्तिके लिए की है और न धन-सन्मानके निमित्तसे की है। किन्तु केवल दूसरोंके लिए हित-बुद्धिसे और अपने ज्ञान और विशुद्धिकी वृद्धिके लिए की है ॥२६॥

अहो भव्यजनो ! निरतिचार सम्यग्दर्शनकी रक्षा करो, श्राद्ध जन अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावक गण हितैषी पात्र जनोंके लिए दान देवें, जिनेश्वर देवकी पूजन करें और सप्तशीलोंके साथ निरन्तर पांच व्रतोंका पालन करें ॥२७॥

जिनमार्गमें संलग्न मुनिराज प्रगाढ़ तपको तपें, और निर्दोष, जिनोक्त-आत्म-तत्त्वकी भावना करें। पृथ्वी पर राजा धार्मिक एवं विजयवान् हो और इस भूमण्डल पर कभी भी दुर्भिक्ष न हो ॥२८॥

मैं न राज्य-पानेकी वांछा करता हूँ, न भोग-सम्पदा चाहता हूँ, न स्वर्गका निवास चाहता हूँ, न रूप और यौवन चाहता हूँ। क्योंकि ये सभी वस्तुएँ संसार बढ़ाने की निमित्त हैं, जीवोंको तात्कालिक क्षणिक सुखद हैं, किन्तु अन्तमें तो महादुःखप्रद हीं हैं ॥२९॥

यद् दुर्लभं भवभृतां भवकाननेऽस्मिन् बम्भ्रम्यतां विविधदुःखमृगारिभीमे ।
रत्नत्रयं परमसौख्यविधायि तन्मे द्वेधाऽस्तु देव तव पादयुगप्रसादात् ॥३०॥
अज्ञानभावाद्यदि किञ्चिदूनं प्ररूपितं क्वाप्यधिकं च भावे ।
सर्वज्ञवक्त्रोद्भविके हि तन्मे क्षान्त्वा हृदब्जेऽधिवसेः सदा त्वम् ॥३१॥
यावत्तिष्ठति भूतले जिनपतेः स्नानस्य पीठं गिरि-
स्त्वाकाशे शशिभानुबिम्बमधरे कूर्मस्य पृष्ठे मही ।
व्याख्यानेन च पाठनेन पठनेनेदं सदा वर्ततां
तावच्च श्रवणेन चित्तनिलये सन्तिष्ठतां धीमताम् ॥३२॥
भूयासुश्चरणा जिनस्य शरणं तद्दर्शने मे रति-
र्भूयाज्जन्मनि जन्मनि प्रियतमासङ्गाविमुक्ते गुरौ ।
सद्भक्तिस्तपसश्च शक्तिरतुला द्वेधाऽपि मुक्तिप्रदा
ग्रन्थस्यास्य फलेन किञ्चिदपरं याचे न योगैस्त्रिभिः ॥३३॥
व्याख्याति वाचयति शास्त्रमिदं शृणोति विद्वांश्च यः पठति पाठयतेऽनुरागात् ।
अन्येन लेखयति वा लिखति प्रदत्ते स स्याल्लघु श्रुतधरश्च सहस्रकीर्तिः ॥३४॥
शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा
शान्तिः सुप्रजसां तपोभरभृतां शान्तिर्मुनीनां मुदा ।

नाना प्रकार के दुःखरूपी सिंहों से भयानक इस भव-कानन (वन) में परिभ्रमण करते हुए संसारी प्राणियोंको परम सुखदायक रत्नत्रय अति दुर्लभ है। हे देव ! आपके चरण-युगलके प्रसादसे वह निश्चय-व्यवहार रूप दोनों ही प्रकारका रत्नत्रय मेरेको प्राप्त होवे ॥३०॥

अज्ञानभावसे यदि कहीं पर कुछ तत्त्व कम कहा हो, या अधिक कहा हो, तो हे सर्वज्ञ-मुखसे प्रकट हुई सरस्वती देवि ! मुझे क्षमा करके मेरे हृदय-कमलसे सदा निवास करो ॥३१॥

जब तक इस भूतल पर जिन-देवोंका स्नान-पीठरूप सुमेरु पर्वत विद्यमान हैं, आकाशमें सूर्य और चन्द्रबिम्ब हैं, अधोलोकमें कछुएकी पीठपर यह पृथ्वी स्थित है, तब तक यह ग्रन्थ व्याख्यान, पठन-पाठनसे और सुननेसे बुद्धिमानोंके हृदय-कमलमें सदा विराजमान रहे ॥३२॥

इस ग्रन्थकी रचनाके फलसे मेरे जन्म-जन्ममें अर्थात् जब तक मैं संसारमें रहूँ तब तक श्री जिनदेवके चरण मेरे लिए सदा शरण रहें, उनके दर्शन करनेमें मेरे सदा अनुराग रहे, प्रियतमा स्त्रीके संगमसे तथा परिग्रहसे रहित गुरुमें सद्-भक्ति रहे, मुक्तिको देनेवाले दोनों ही प्रकारके तप करनेकी मुझे अतुल शक्ति प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त मैं त्रियोगसे कुछ भी नहीं मांगता हूँ ॥३३॥

जो विद्वान् इस शास्त्रको अनुरागसे व्याख्यान करता है, वांचता है, सुनता है, पढ़ता है, पढ़ाता या पढ़वाता है, दूसरेसे लिखवाता है, अथवा स्वयं लिखता है और जिज्ञासु जनोंके देता है, वह सहस्र कीर्तिवाला होकर अल्प ही समयमें श्रुतधर अर्थात् शास्त्रोंका पारगामी श्रुतकेवली हो जाता है ॥३४॥

जिन शासनकी सुख-दायिनी शान्ति सदा बनी रहे, राजा लोगोंकी सदा शान्ति प्राप्त हो, प्रजाजनोंको शान्ति-लाभ हो, तपश्चरण करनेवाले मुनि गणोंके मनको प्रमुदित करनेवाली शान्ति

श्रोतॄणां कविताकृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः
शान्तिः शान्तिरघाग्निजीवनमुचः श्रीसज्जनस्यापि च ॥३५॥
यः कल्याणपरम्परां प्रकुरुते यं सेवते सत्तमा
येन स्यात्सुखकीर्त्तिजीवितमुरु स्वस्त्यत्र यस्मै सदा।
यस्मान्नास्त्यपरः सुहृत्तनुमतां यस्य प्रसादाच्छ्रिय-
स्तं धर्मादिकसङ्ग्रहं श्रयत भो यस्मिन् जनो वल्लभः ॥३६॥
कूपान्निष्काश्य पातुं भवति हि सलिलं दुष्करं यस्य कस्य
केनाप्यन्येन नूत्नोत्कुटनिहितमहो अन्यथा वा तदेव।
तद्वत्पूर्वप्रणीतात्कठिनविवरणाज्ज्ञातुमर्थोऽत्र शक्यः
कैश्चिज्जातप्रबोधैस्तदितरसुगमो ग्रन्थ एष व्यधायि ॥३७॥
धर्मसङ्ग्रहमिमं निशम्य यो धर्ममार्गमवगम्य चेतनः।
धर्मसङ्ग्रहमलं करोत्यसौ सिद्धिसौख्यमुपयाति शाश्वतम् ॥३८॥
धर्मतः सकलमङ्गलावली रोदसीपतिविभूतिमान् बली।
स्यादनन्तगुणभाक् च केवली धर्मसङ्ग्रहमतः क्रियतात्सुधीः ॥३९॥

मिले, ग्रन्थके श्रोता जनोंको, कविता करनेवालोंको, तथा 'प्रवचनका व्याख्यान करनेवालोंको शान्ति प्राप्त हो, पाप शान्त हो, अग्नि-सन्ताप न' हो, और जल-कष्ट न हो। तथा सज्जन पुरुषों-को सर्व प्रकारकी शान्ति प्राप्त हो ॥३५॥

जो धर्म कल्याणोंकी परम्परा करता है, जिसे सज्जनोत्तम पुरुष धारण करते हैं, जिसके द्वारा सुख, कीर्ति और जीवन विस्तृत होता है, जिसके लिए इस लोकमें सदा स्वस्ति-कामना की जाती है, जिससे बड़ा और कोई मित्र प्राणियोंका नहीं है, जिसके प्रसादसे सर्व प्रकार की लक्ष्मियाँ प्राप्त होती है, जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य सर्वप्रिय होता है, ऐसे धर्म हैं आदि में जिसके, ऐसे इस संग्रहका अर्थात् धर्म संग्रह श्रावकाचार ग्रन्थका हे भव्यजनो, तुम लोग आश्रय लो ॥३६॥

जिसे कूपसे निकालकर जल पीना कठिन है, ऐसे किसी पुरुषको यदि कोई अन्य पुरुष नवीन घड़ेमें भरा हुआ जल पीनेको देवे, अथवा अन्य प्रकारसे देवे, तो उसे बहुत आनन्द प्राप्त होता है। उसीके समान पूर्वाचार्योंसे प्रणीत कठिन शास्त्र-विवरणोंसे प्रबोधको प्राप्त कितने ही लोगोंको तो अर्थ जानना शक्य है। किन्तु जो प्रबोध प्राप्त पुरुष नहीं है, अर्थात् अल्पज्ञ या मन्द-बुद्धिजन है उनके लिए यह सुगम ग्रन्थ मैंने बनाया है ॥३७॥

जो सचेतन पुरुष इस धर्म संग्रह शास्त्रको सुनकर और धर्मके मार्गको जानकर स्वयं धर्मको संग्रह करेगा, वह नित्य मुक्तिको सुखको प्राप्त होगा ॥३८॥

धर्मके प्रसादसे सर्वप्रकारकी मंगल-परम्परा प्राप्त होती है, वह भूलोक और देवलोककी विभूति वाला, बलवान् स्वामी होकर अन्तमें अनन्त गुणोंका धारक केवली होता है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको धर्मका संग्रह करना चाहिए ॥३९॥

सुधीः क्रियाद्यत्नममुष्य रक्षणे तैलानलाम्भःपरहस्तयोगतः ।
जानन् कविश्रान्तिमथ प्रवर्तने भूयात्समुत्कश्च परोपकृद्यतः ॥४०॥
चतुर्दश शतान्यस्य चत्वारिंशोत्तराणि वै ।
सर्वं प्रमाणमावेद्यं लेखकेन त्वसंशयम् ॥४१॥
इति सूरिश्री जिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचितः
धर्मसङ्ग्रहश्रावकाचारः समाप्तः ।

कविके परिश्रमको जानकर इस शास्त्रके पढ़नेवाले सुधीजन इसकी तेल, अग्नि जल और पर-हस्तमें जानेसे संरक्षण करनेमें यत्न करें। तथा इसके प्रचार-प्रसादके प्रवर्तनमें सम्यक् प्रकारसे उत्सुक रहें। क्योंकि यह ग्रन्थ दूसरोंका उपकारक है ॥४०॥

इस ग्रन्थका परिमाण चौदह सौ चालीस (१३४०) श्लोक-प्रमाण है, यह बात शास्त्र-लेखकको निश्चित रूपसे जानना चाहिए ॥४१॥

इस प्रकार श्री जिनचन्द्रके शिष्य पंडित मेधावी द्वारा रचित धर्मसंग्रह श्रावकाचार की प्रशस्ति समाप्त हुई।

■

४. लाटी संहिता–प्रशस्ति

किमिदमिह किलास्ते नाम संवत्सरादि, नरपतिरपि कः स्यादत्र साम्राज्यकल्पः ।
कृतमपि कमिदं भो केन कारापितं यत्, शृणु तदिति वदद्धि स्तूयतेऽथ प्रशस्तिः ॥१॥
(श्री) नृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति । सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥२॥
तत्रापि चाश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते । दशम्यां च दाशरथे शोभने रविवासरे ॥३॥
अस्ति साम्राज्यतुल्योऽसौ भूपतिश्चाप्यकब्बरः । महद्भिर्मण्डलेशैश्च चुम्बिताङ्घ्रिपदाम्बुजः ॥४॥
अस्ति दैगम्बरो धर्मो जैनः शर्मैककारणम् । तत्रास्ति काष्ठासंघश्च क्षालितांहःकदम्बकः ॥५॥
तत्रापि माथुरो गच्छो गणः पुष्करसंज्ञकः । लोहाचार्यान्वयस्तत्र तत्परंपरया यथा ॥६॥
नाम्ना कुमारसेनोऽभूद्भट्टारकपदाधिपः । तत्पट्टे हेमचन्द्रोऽभूद्भट्टारकशिरोमणिः ॥७॥
तत्पट्टे पद्मनन्दी च भट्टारकनभोंऽशुमान् । तत्पट्टेऽभूद्भट्टारको यशस्कीर्तिस्तपोनिधिः ॥८॥
तत्पट्टे क्षेमकीर्तिः स्यादद्य भट्टारकाग्रणीः । तदाम्नाये सुविख्यातं पत्तनं नाम डौकनि ॥९॥
तत्रत्यः श्रावको भारू भार्यास्तिस्रोऽस्य धार्मिकाः । कुलशीलवयोरूप-धर्मबुद्धिसमन्विताः ॥१०॥
नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी । रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविला ॥११॥

प्रशस्ति का अनुवाद

यह लाटीसंहिता नामका ग्रंथ किस संवत्में बना है ? उस समय सम्राट्के समान कौन राजा था ? यह ग्रन्थ किसने बनाया और किसने बनवाया ? उस सबकी प्रशस्ति कहता हूँ तुम लोग सुनो ॥१॥ श्रीविक्रम संवत् सोलहसौ इकतालीसमें आश्विन शुक्ला दशमी रविवारके दिन अर्थात् विजया दशमीके दिन यह ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥२-३॥ उस समय सम्राट्के समान बादशाह अकबर राज्य करता था । उस समय बड़े-बड़े मंडलेश्वर राजा लोग उसके चरण-कमलोंको नमस्कार करते थे ॥४॥ इस संसार में आत्माका कल्याण करनेवाला दिगम्बर जैनधर्म है । उस जैनधर्ममें भी पापरूपी कीचड़को धोनेवाला एक काष्ठासघ है ॥५॥ उसमें भी माथुर गच्छ है, पुष्कर गण है और लोहाचार्यकी आम्नाय है । उसी परम्परामें एक कुमारसेन नामके भट्टारक हुए थे तथा उन्हींके पट्टपर भट्टारकोंमें शिरोमणि ऐसे हेमचन्द्रनामक भट्टारक बैठे थे ॥६-७॥ उनके पट्टपर भट्टारकोंके समुदायरूपी आकाशमें सूर्यके समान चमकनेवाले पद्मनंदि भट्टारक हुए थे तथा उनके पट्टपर बड़े तपस्वी यशस्कीर्तिनामके भट्टारक हुए थे ॥८॥ उनके पट्टपर भट्टारकोंमें मुख्य ऐसे क्षेमकीर्तिनामक भट्टारक हुए थे । उन्हींके समयमें यह ग्रन्थ बना है । क्षेमकीर्ति भट्टारक-की आम्नायमें एक डौकनिनामका नगर था । उस डौकनिनगरका रहनेवाला एक भारू नामका श्रावक था । उसके तीन स्त्रियाँ थीं जो अच्छी धार्मिक थीं । वे तीनों स्त्रियाँ कुलीन थी, शीलवती थीं, रूपवती थीं, अच्छी आयुवाली थीं, धर्मको धारण करनेवाली थीं और बुद्धिमती थीं ॥९-१०॥ पहली स्त्रीका नाम मेघी था, दूसरीका नाम रूपिणी था और रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली वसुमती पृथ्वीके समान तीसरी स्त्री थी उसका नाम देविला था ॥११॥ ऊपर लिखे हुए भारूनामक सेठके

योषितो देविलाख्यायाः पुंसो भाल्हसमाह्वयात् । चत्वारस्तत्समाः पुत्राः समुत्पन्नाः क्रमादिह ॥१२॥
तत्रादिमः सुतो दूदा द्वितीयः ठुकराह्वयः । तृतीयो जगसी नाम्ना तिलोकोऽभूच्चतुर्थकः ॥१३॥
दूदाभार्या कुलांगासीन्नाम्ना ख्याता उवारही । तयोः पुत्रास्त्रयः साक्षादुत्पन्नाः कुलदीपकाः ॥१४॥
आद्यो न्योता द्वितीयस्तु भोल्हा नाम्नाथ फामनः । न्योता संघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥१५॥
आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता । पद्माहीयोषितस्तत्र न्योतसंघाधिनाथतः ॥१६॥
पुत्रश्च देईदासः स्यादेकोऽपि लक्षायते । गौराहीयोषितः पुत्राश्चत्वारो मदनोपमाः ॥१७॥
न्योतासंघाधिनाथस्य स्ववंशावनिचक्रिणा । तत्राद्योऽङ्गजो गोपा हि सामा पुत्रो द्वितीयकः ॥१८॥
तृतीयो धनमल्लोऽस्ति ततस्तुर्यो नरायणः । भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥१९॥
कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुश्छन्दानुगामिनी । रामूहीयोषितः पुत्रा देईदासस्य सद्मनि ॥२०॥
प्रथमश्चाख्यया साधू द्वितीयो हरदासकः । ताराचन्द्रस्तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तेजपालकः ॥२१॥
पञ्चमो रामचन्द्रश्च पञ्चापि पाण्डवोपमाः । साधूभार्या मथुरी च या गंगा शुद्धवंशजा ॥२२॥
गोपाभार्या समाख्याता अजवा शुद्धवंशजा । सामाभार्या च पूरी स्याल्लावण्यादिगुणान्विता ॥२३॥
घनमल्लस्य भार्या स्याद्विख्याता हि उद्धरही । भोल्हासंघाधिनाथस्य भार्यास्तिस्रः कुलाङ्गनाः ॥२४॥
काजाही योषितः पुत्राः पञ्च प्रोच्चण्डविक्रमाः । प्रथमो बालचन्द्रः स्याल्लालचन्द्रो द्वितीयकः ॥२५॥

उस देविलानामकी स्त्रीसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनके अनुक्रमसे ये नाम थे ॥१२॥ पहले पुत्रका नाम दूदा था, दूसरेका नाम ठुकर था, तीसरेका नाम जगसी था और चौथेका नाम तिलोक था ॥१३॥ अपने कुलको सुशोभित करनेवाली दूदाकी स्त्रीका नाम उवारही था। उससे दूदाके तीन पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो कि अपने कुलको प्रकाशित करनेवाले दीपकके समान हैं ॥१४॥ पहले पुत्रका नाम न्योता है, दूसरेका नाम भोल्हा है और तीसरेका नाम फामन है। उनमें से न्योता संघनायक कहलाता है। उसके शुद्ध वंशकी उत्पन्न हुई दो स्त्रियाँ हैं ॥१५॥ पहली स्त्रीका नाम पद्माही है और दूसरी स्त्रीका नाम गौराही है। उस न्योता नामके संघनायकके पद्माही स्त्रीसे देईदास नामका एक पुत्र हुआ है जो कि एक होकर भी लाखोंके समान है तथा अपने वंशरूपी पृथ्वीको वश करनेके लिए चक्रवर्तीके समान। ऐसे न्योता नामक संघनायकके गौराही स्त्रीसे कामदेवके समान अत्यन्त सुन्दर चार पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहले पुत्रका नाम गोपा है, दूसरेका नाम सामा है, तीसरेका नाम धनमल्ल है और चौथेका नाम नारायण है। देईदासके दो स्त्रियाँ हैं, पहलीका नाम रामूही है ॥१६-१९॥ तथा अपने पतिकी आज्ञानुसार चलनेवाली दूसरी स्त्रीका कामूही है। देईदासके घर रामूही स्त्रीसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए हैं। उनमेंसे पहलेका नाम साधु है, दूसरेका नाम हरदास है, तीसरेका नाम ताराचंद है, चौथेका नाम तेजपाल है और पाँचवेंका नाम रामचन्द्र है। ये पांचों ही पुत्र पांचों पांडवोंके समान हैं। साधुकी स्त्रीका नाम मथुरी और शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गंगा है। ॥२०-२२॥ शुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेवाली गोपाकी स्त्रीका नाम अजवा है तथा लावण्य आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाली सामाकी स्त्रीका नाम पूरी है ॥२३॥ धनमल्लकी स्त्रीका प्रसिद्ध नाम उद्धरही है। यह न्योताका वंश बतलाया। भोल्हानामके संघनायकके तीन स्त्रियां हैं। ये तीनों ही कुलांगनाएं हैं ॥२४॥ उनमेंसे छाजूही नामकी स्त्रीसे पांच पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो बड़े ही पराक्रमी हैं। इनमेंसे पहलेका नाम बालचन्द्र है, दूसरेका लालचन्द्र है, तीसरेका नाम निहालचन्द्र है, चौथेका नाम

तृतीयो निहालचन्द्रश्चतुर्थो गणेशाह्वयः । कनिष्ठोपि गुणोत्कृष्टः पञ्चमस्तु नरायणः ॥२६॥
एते पञ्चापि पुत्राश्च जैनधर्मपरायणाः । बोघूहीयोषितः पुत्रौ जानकीयसुतोपमौ ॥२७॥
भोल्हासंघाधिनाथस्य वणिजां चक्रवर्तिनः । प्रथमको हरदासः कृष्णराजबलोपमः ॥२८॥
द्वितीयो भावनादासः शत्रुकाष्ठदवानलः । बालचन्द्रस्य सद्भार्या करमाया स्यात्कुलाङ्गना ॥२९॥
लालचन्द्रभार्या गोमा धर्मपत्नी पतिव्रता । निहालचन्द्रस्य भार्ये वंश्या नाम्ना च वीरणी ॥३०॥
गणेशाख्यस्य सद्भार्या साध्वी नाम्ना सहोदरा । फामनसंघनाथस्य भार्ये द्वे शुद्धवंशजे ॥३१॥
आद्या डूंगरही ख्याता नाम्ना गंगा द्वितीयका । डूंगरही भार्यायाः द्वौ पुत्रौ हि चिरजीविनौ ॥३२॥
रूडा स्यादादिमो नाम्ना माईदासो द्वितीयकः । गंगायाः योषितः पुत्रो मुख्यः फौजूसमाह्वयः ॥३३॥
रूडाभार्या च दूलाही तयोः पुत्रो च द्वौ स्मृतौ । प्रथमो भोवसी नाम्ना रायदासो द्वितीयकः ॥
स्ववंशगगने भूम्नि पुष्पदन्ताविव स्थितौ ॥३४॥
जझारू द्वितीयपुत्रस्य कठुराख्यस्य धर्मिणः । भार्या तिहुणाहि नाम्ना नाथू नाम सुतस्तयोः ॥३५॥
नाथूभार्या चिताल्ही स्यात्पुत्रो रूढा तयोर्द्वयोः । जझारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही समाख्यया ॥३६॥
तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतंसकः । एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥३७॥

गणेश है तथा सबसे छोटा किंतु गुणोंमें सबसे बड़ा ऐसा पांचवां पुत्र नारायण है ॥२५-२६॥ ये पांचों पुत्र जैनधर्ममें तत्पर हैं। वैश्य या व्यापारियोंमें चक्रवर्तीके समान भोल्हानामके संघनायकके बोघूही नामकी स्त्रीसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं जो दोनों ही जानकीके पुत्र लव और अंकुशके समान हैं। इन दोनोंमेंसे पहले पुत्रका नाम हरदास है जो कृष्णराजबलके समान है। अथवा कृष्णराजके समान बलवान है तथा दूसरे पुत्रका नाम भगवानदास है जो शत्रुरूपी काष्ठको भस्म कर देनेके लिए दावानल अग्निके समान है। इसमेंसे बालचन्द्रकी श्रेष्ठ कुलस्त्रीका नाम करमा है ॥२७-२९॥ लालचन्द्रकी धर्मपत्नी पतिव्रता स्त्रीका नाम गोमा है। निहालचन्द्रके दो स्त्रियां हैं। पहिली स्त्रीका नाम वैश्या है और दूसरीका नाम वीरणी है ॥३०॥ गणेशकी श्रेष्ठ और साध्वी (सीधीसाधी) स्त्रीका नाम सहोदरा है। इस प्रकार यह भोल्हाका वंश बतलाया। फामननामके संघनायकके दो स्त्रियां हैं जो दोनों ही शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुई हैं। पहली स्त्रीका नाम डूगरही है और दूसरीका नाम गंगा है। फामनके डूगरही स्त्रीसे दो चिरंजीव पुत्र उत्पन्न हुए हैं ॥३१-३२॥ पहले पुत्रका नाम रूडा है और दूसरे पुत्रका नाम माईदास है तथा फामनसेठके गंगानामकी स्त्रीसे फांजू नामका एक मुख्य पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥३३॥ उसमेंसे रूडाकी स्त्रीका नाम दूलाही है। उस रूडाकी दूलाही स्त्रीसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं। पहले पुत्रका नाम भोवसी है और दूसरे पुत्रका नाम रामदास है। ये दोनों पुत्र पृथ्वीपर ऐसे शोभायमान हैं मानों अपने वंशरूपी आकाशमें सूर्य चन्द्रमा ही हों ॥३४॥ यह सब भारूके पहले पुत्र दूदाका वंश बतलाया। अब भारूके अन्य पुत्रोंका वंश बतलाते हैं। भारूके दूसरे पुत्रका नाम ठकुर है। वह भी बहुत धर्मात्मा है। उसकी स्त्रीका नाम तिहुणा है। उन दोनोंके एक पुत्र है जिसका नाम नाथू है ॥३५॥ नाथूकी स्त्रीका नाम चिताल्ही है। नाथूके उस चिताल्ही स्त्रीसे रूढा नामका पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह भारूके दूसरे पुत्र ठुकरका वंश बतलाया। अब भारूके चौथे पुत्रका वंश बतलाते हैं। भारूके चौथे पुत्रका नाम तिलोक है। उसकी स्त्रीका नाम चुंही है ॥३६॥ उसके पुत्रका नाम गांगू है। यह गांगू अपने वंशमें आभूषणके समान सुशोभित है। ये सब जैनधर्मको धारण करते हैं और अपनी कीर्तिके द्वारा ये संघेश्वर कहलाते हैं ॥३७॥ इन सबमें गृहस्थधर्ममें अत्यन्त

एतेषामस्ति मध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी।
श्रेयोर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः
स्वोपज्ञा राजमल्लेन विदितविदुषाऽऽम्नायिना हैमचन्द्रे ॥३८॥

इति श्रीवंशस्थितिवर्णनम्।

यावद्व्योमापगाम्भो नभसि परिगतौ पुष्पदन्तौ दिवीशौ
यावत्क्षेत्रेऽत्र दिव्या प्रभवति भरतो भारती भारतेऽस्मिन्।
तावत्सिद्धान्तमेतज्जयतु जिनपतेराज्ञया ख्यातलक्ष्म
तावत्त्वं फामनाख्यः श्रियमुपलभतां जैनसंघाधिनाथः ॥३९॥

इत्याशीर्वादः।

यावन्मेरुर्धरापीठे यावच्चन्द्रदिवाकरौ। वाच्यमानं बुधैस्तावच्चिरं नन्दतु पुस्तकम् ॥४०॥

प्रेम रखनेवाला फामननामका सघनायक है उसीने यह गृहस्थोंके योग्य लाटीसंहितानामका ग्रन्थ निर्माण कराया है। फामनके द्वारा दिये हुए दान मान और आसनके द्वारा जिनका मन अत्यन्त प्रसन्न है तथा जो अत्यन्त विद्वान् है और श्रीहेमचन्द्रकी आम्नायमें रहता है ऐसा विद्वद्वर राजमल्लने अपने नामको धारण करनेवाली यह लाटीसंहिता अपने कल्याणके लिए निर्माण की है ॥३८॥ इस प्रकार वंशका वर्णन समाप्त हुआ। इस संसारमें जबतक गंगाका जल विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा परिभ्रमण कर रहे हैं और जबतक इस भरतक्षेत्रमें दिव्य सरस्वतीदेवी पूर्णरूपसे अपना प्रभाव जमा रही हैं तबतक भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार ही जिसमें समस्त लक्षण कहे गये हैं ऐसा यह जैनसिद्धांत अथवा यह सिद्धांत ग्रंथ जयशील बना रहे तथा तभीतक संघका नायक यह फामन भी सब तरहकी लक्ष्मी और शोभाको प्राप्त होता रहे ॥३९॥ इति आशीर्वादः।

इस पृथ्वीपर जबतक मेरु पर्वत विद्यमान है तथा जबतक आकाशमें सूर्य चन्द्रमा विद्यमान हैं तबतक विद्वानोंके द्वारा पढ़ा जानेवाला यह ग्रन्थ चिरकालतक वृद्धिको प्राप्त होता रहे।

—:०:—

५. पुरुषार्थानुशासन प्रशस्तिः

श्रीसद्महासः कुमुदाविलासस्तमोविनाशः सुपथप्रकाशः ।
यस्योदितेऽत्र प्रभवन्ति लोके नमाम्यहं श्रीजिनभास्करं तम् ॥१॥

दोषाप्रकाशः कमलावकाशस्तापस्य नाशः प्रसरश्च भासः ।
यत्र प्रसन्नेऽत्र जने भवन्ति श्रीमज्जिनेन्दुं तमहं नमामि ॥२॥

कुर्वन्तु धी-कैरविणी-समृद्धिं विवेकवार्धेश्च जनेऽत्र वृद्धिम् ।
श्रीमूलसंघाम्बरचन्द्रपादा भट्टारकश्रीजिनचन्द्रपादाः ॥३॥

विलसदमलकाष्ठासंघपट्टोदयाद्रा—
वुदित उरुवचोंऽशुध्वस्तदोषान्धकारः ।
बुधजन-जलजानामुल्लिासं ददानो
जयति मलयकीर्त्तिर्भानुसाम्यं दधानः ॥४॥

काष्ठासंघेऽनघयतिभिर्यः कान्तो भात्याकाशे स्फुरदुडुभिर्वा चन्द्रः ।
सत्प्रज्ञानां भवति न केषां नुत्यः कीर्त्याचारैः स कमलकीर्त्याचार्यः ॥५॥

प्रशस्ति का अनुवाद

जिस श्रीजिनेन्द्ररूप सूर्य के उदय होने पर लक्ष्मी के सदनस्वरूप कमल का विकास होता है, और रात्रि में खिलने वाले कुमुदों का अविलास अर्थात् संकोच हो जाता है, अन्धकार का विनाश और इस लोक में सुमार्ग का प्रकाश होता है, उस श्री जिनेन्द्रसूर्य को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

जिसके प्रसन्न होने पर दोषा अर्थात् रात्रि में प्रकाश होता है और कमलों का संकोच हो जाता है, सूर्य के ताप का विनाश होता है और प्रकाश का विस्तार होता है, ऐसे उस श्रीमान् जिनचन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

जो श्रीमूलसंघरूप गगन के चन्द्र-किरणरूप हैं ऐसे श्री भट्टारक जिनचन्द्र के चरण इस (ग्रन्थकार) जन में अथवा इस लोक में बुद्धिरूपी कुमुदिनी की समृद्धि करें और विवेकरूप समुद्र की वृद्धि करें ॥ ३ ॥

उस विलसित निर्मल काष्ठा संघ के पट्टरूप उदयाचल पर जिसके उदित होते ही उदार वचनरूप किरणों से दोषरूप रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, और जो विद्वज्जनरूप कमलों को हर्षरूप विकास देता है, इस प्रकार सूर्य की समता को धारण करने वाले श्री मलयकीर्त्ति महाराज जगत् में जयवन्त हैं ॥ ४ ॥

जो काष्ठासंघरूप आकाश में निर्दोष चारित्रके धारक साधुजनों से इस प्रकार शोभा को प्राप्त हो रहे हैं, जैसे कि चमकते हुए तारागणों से चन्द्र शोभित होता है। ऐसे श्रीकमलकीर्त्ति आचार्य अपनी कीर्त्ति और सदाचार से किन सत्-प्रज्ञावाले जनों के नमस्कार के योग्य नहीं हैं ॥५॥

परे च परमाचारा जिनसंघमुनीश्वराः ।
प्रसन्नमेव कुर्वन्तु मयि सर्वेऽपि मानसम् ॥६॥

कायस्थानामस्त्यथो माथुराणां वंशो लब्धामर्त्यसंसत्प्रशंसः ।
तत्रायं श्रीखेतलो बन्धुलोकैः खे तारौघैस्तत्प्रकाशं शशीव ॥७॥

सुरगिरिरिव (प्रोच्चो) वारिधिर्वा गभीरो
विधुरिव हततापः सूर्यवत्सुप्रतापः ।
नरपतिरिव मान्यः कर्णवद्यो वदान्यः
समजनि रतिपालस्तत्सुतः सोऽरिकालः ॥८॥

दुःशासनापापपरो नराग्रणीः सदोद्यतो धर्मसुतोऽर्थसाधने ।
ततः सुतोऽभूत्स गदाधरोऽपि यो न भीमतां क्वापि दधौ सुदर्शनः ॥९॥

स तस्मात्सत्पुत्रो जनितजनतासम्पदजनि
क्षितौ ख्यातः श्रीमानमरहरिरित्यस्तकुनयः ।
गुणा यस्मिंस्ते श्रीनय-विनय-तेजःप्रभृतयः
समस्ता ये व्यस्ता अपि न सुलभाः क्वापि परतः॥१०॥

महस्मदेशेन महामहीभुजा निजाधिकारिष्वखिलेष्वपीह यः ।
सम्मान्य नीतोऽपि सुधीः प्रधानतां न गर्वमप्यल्पमधत्त सत्तमः ॥११॥

परम विशुद्ध आचार वाले अन्य भी जो जिन-संघ के मुनीश्वर हैं वे सभी मुझ पर प्रसन्न होकर मेरे मानस को विकसित करें ॥ ६ ॥

इस भारतवर्ष में माथुर-गोत्री कायस्थों का जो वंश अमरसिंह की राजसभा में प्रशंसा को प्राप्त है, उसमें बन्धु-लोगोंके साथ श्रीखेतल इस प्रकारसे शोभित होते हैं जैसे कि चन्द्रमा आकाशमें तारागणों के प्रकाश के साथ शोभता है ॥ ७ ॥

उस श्रीखेतलका पुत्र रतिपाल हुआ, जो सुमेरु के सदृश उन्नत है, सागर के समान गम्भीर है, चन्द्र के समान सन्ताप का विनाशक है, सूर्य के समान प्रतापशाली है, नरेन्द्र के समान मान्य है, कर्ण के समान उदार दाता है और शत्रुओं के लिए कालरूप है ॥ ८ ॥

वह नराग्रणी दुःशासन को निष्पाप करने में तत्पर है, धर्मपुत्र होकरके भी अर्थोपार्जन में सदा उद्यत रहता है, जो भीम-सदृश गदा को धारण करने पर भी किसी पर भयंकरताको धारण नहीं करता है ऐसा सुन्दर दर्शनीय गदाधर नामक उस रतिपाल के पुत्र हुआ ॥ ९ ॥

उस गदाधार के श्रीमान् अमरसिंह नाम के सुपुत्र हुए, जिन्होंने अपने जन्म से जनता में सम्पत्ति को बढ़ाया, जिन्होंने खोटी नय-नीति का विनाश किया, और इस कारण भूतल पर प्रख्यात हुए । जिनमें लक्ष्मी, न्याय-नीति, विनय, तेज आदि वे सभी गुण एक साथ विद्यमान हैं, जो कि अन्यत्र कहीं पर भी एक-एक रूप से सुलभ नहीं हैं ॥ १० ॥

महस्म देश के महान् भूपाल के द्वारा अपने समस्त अधिकारी जनों पर सन्मान के साथ प्रधान के पद पर नियुक्त किये जाने पर भी जिस उत्तम बुद्धिमान् ने अल्प भी गर्व नहीं धारण किया । अहमहमिका-पूर्वक (मैं पहिले प्राप्त होऊँ, मैं उससे भी पहिले प्राप्त होऊँ इस प्रकार की

सर्वैरहंपूर्विकया गुणैर्वृतं निरीक्ष्य दोषा निखिला यमत्यजन् ।
स्थाने हि तद्भूरिभिराश्रितेऽरिभिः स्थाने वसन्तीह जना न केचन ॥१२॥
श्रुतज्ञतापि विनयेन धीमतां तया नयस्तेन च येन सम्पदा ।
तया च धर्मो गुणवन्नियुक्तया सुखङ्करं तेन ससस्तमीहितम् ॥१३॥
सत्योक्तित्वमजातशत्रुरखिलक्ष्मोद्धारसारं नयन्
रामः काम उदाररूपमखिलं शीलं च गङ्गाङ्गजः ।
कर्णश्चारुवदान्यतां चतुरतां भोजश्च यस्मायिति
स्वं स्वं पूर्वनृपा वितीर्य सुगुणं लोकेऽत्र जग्मुः परम् ॥१४॥
धनं धनार्थिनो यस्मान्मानं मानार्थिनो जनाः ।
प्राप्याऽऽसन् सुखिनः सर्वे तद्द्वयं तद्-द्वयार्थिनः ॥१५॥
निशीनोः कौमुदस्येष्टो नाब्जानामन्यथा रवेः ।
यस्योदयस्तु सर्वेषां सर्वदैवेह वल्लभः ॥१६॥
स्त्री कुलीनाऽकुलीना श्रीः स्थिरा धीः कीर्त्तिरस्थिरा ।
यत्र चित्रं विरोधिन्योऽप्यमूर्तेर्नुः सह स्थितिम् ॥१७॥
तस्यानेकगुणस्य शस्यधिषणाममर्त्यसिंहस्य स
ख्यातः सूनुरभूत् प्रतापवसतिः श्रीलक्ष्मणाख्या क्षितौ ।

होड़ से) सभी सद्-गुणों द्वारा जिसे वरण किया हुआ देखकर समस्त दोष मानों जिसे छोड़कर चले गये, सो यह बात योग्य ही है। अपने भारी शत्रुजनों से आश्रित स्थान पर इस संसार में कौन जन निवास करते हैं ? कोई भी नहीं ॥ ११-१२ ॥

विनय से बुद्धिमानों को श्रुतज्ञता प्राप्त होती है, उससे सुनय-मार्ग प्राप्त होता है, उससे सम्पदा प्राप्त होती है, उससे धर्म प्राप्त होता है। धर्मसे गुणवानों में नियुक्ति होती है और उससे सभी सुख-कारक मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ १३ ॥

जो सत्य वचन बोलने में अजातशत्रु (युधिष्ठिर) है, समस्त भूमि के सारको उद्धार करने में राम है, सुन्दर रूप में कामदेव है, शील-धारण करने में गाङ्गेय है, सुन्दर उदारता में कर्ण है और चातुर्य में भोजराज है। ऐसे उस अमरसिंह को पूर्व-काल के उक्त राजा लोग अपने अपने विशिष्ट गुणों को देकरके ही मानों परलोक को चले गये हैं ॥ १४ ॥

जिस अमरसिंह से सभी धनार्थी पुरुष धन को पाकर, सन्मान के इच्छुक जन सन्मान को पाकर और धन-सन्मान इन दोनों के इच्छुक लोग इन दोनों को ही पाकर सुखी हो गये ॥ १५ ॥

निशानाथ चन्द्र का उदय कुमुदों को इष्ट है, कमलों को नहीं। रवि का उदय कमलों को इष्ट है, कुमुदों को नहीं। किन्तु जिस अमरसिंह का उदय इस लोक में सभी को सदा ही वल्लभ (प्रिय इष्ट) है ॥ १६ ॥

स्त्री कुलीन होती है और लक्ष्मी अकुलीन होती है, बुद्धि स्थिर होती है और कीर्त्ति अस्थिर होती है। फिर भी आश्चर्य है कि परस्पर विरोधिनी भी ये दोनों जिस अमूर्त पुरुष में एक साथ रह रही हैं ॥ १७ ॥

उस अनेक गुणशाली प्रशंसनीय बुद्धिवाले अमरसिंह के पृथ्वीविख्यात प्रतापशाली श्रीलक्ष्मण नाम का पुत्र हुआ। जिसे देखकर सुकविजन ऐसी तर्कणा करते हैं कि मानों मनुष्य

यं वीक्ष्येति वितर्कयन्ते सुकविभिर्नीत्वा तनुं मानवीं
धर्मोऽयं नु नयोऽथवाऽथ विनयः प्राप्तः प्रजापुण्यतः ॥१८॥

यशो यैर्लक्ष्मणस्यैणलक्ष्मणाऽत्रोपमीयते ।
शङ्के न तत्र तैः साक्षाच्चिल्लक्षैर्लक्ष्म लक्षितम् ॥१९॥

श्रीमान् सुमित्रोन्नतिहेतुजन्मा सल्लक्षणः सन्नपि लक्ष्मणाख्यः ।
रामातिरक्तो न कदाचनाऽऽसीद्विभीषणत्वं च यो रावणसोदरत्वम् ॥२०॥

स नय-विनययोपेतैर्वाक्यैर्मुहुः कविमानसं सुकृत-सुकृतापेक्षो दक्षो विधाय समुद्यतम् ।
श्रवणयुगलस्याऽऽत्मीयस्यावतंसकृते कृतीस्तु विशदमिदं शास्त्राम्भोजं सुबुद्धिरकारयत् ॥२१॥

अथाऽस्त्यग्रोतकानां सा पृथ्वी पृथ्वीव सन्ततिः ।
सच्छायाः सफला यस्यां जायन्ते नर-भूरुहाः ॥२२॥

गोत्रं गार्ग्यमलञ्चकार य इह श्रीचन्द्रमाश्चन्द्रमो
विम्बास्यस्तनयोऽस्य धीर इति तत्पुत्रश्च होंगाभिधः ।
देहे लब्धनिजोद्भवेन सुधियः पद्मश्रियस्तत्स्त्रियो
नव्यं काव्यमिदं व्यधायि कविताऽर्हत्पादपद्मालिना ॥२३॥

(पदादिवर्णसंज्ञेन गोविन्देनेति)

का शरीर धारण करके क्या यह प्रजा के पुण्य से धर्म प्राप्त हुआ है, अथवा नय-मार्ग ही आया है, या विनय ही आया है ॥ १८ ॥

जिन कवियों के द्वारा लक्ष्मण के यश की मृगलाञ्छन चन्द्रमा की उपमा दी जाती है, उन्होंने साक्षात् चैतन्यरूप लाखों लक्षणों से युक्त इसे नही जाना है, ऐसी मैं शंका करता हूँ। अर्थात् यह लक्ष्मण चन्द्रमा से भी अधिक शुभ लक्ष्म (चिह्न) वाला है ॥ १९ ॥

यह श्रीमान् लक्ष्मण सुमित्रा से जन्म लेने वाला हो करके भी लक्ष्मण नाम से प्रसिद्ध है, और राम में अति अनुरक्त होकरके भी जिसने रावण के सहोदर विभीषण की विभीषणता को कभी नहीं धारण किया है ॥ २० ॥

अनुनय-विनय से युक्त वचनों के द्वारा उस सुकृती और सुकृत (पुण्य) की अपेक्षा रखने वाले सुचतुर सुबुद्धि, कृती लक्ष्मण ने कवि के हृदय को प्रोत्साहित करके अपने कर्ण-युगल के आभूषणार्थ इस विशद शास्त्ररूप कमल का निर्माण कराया ॥ २१ ॥

अग्रोतक (अग्रवाल) लोगों की सन्तति स्वरूपा पृथ्वी के समान यह पृथिवी है, जिसमें उत्तम छाया वाले और फलशाली मनुष्यरूप वृक्ष उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

उस अग्रोतक जाति में इस भूतल पर जिसने गर्ग गोत्र को अलंकृत किया, ऐसा चन्द्र के समान मुखवाला श्रीचन्द्र पैदा हुआ। इसके धीर वीर होंगा नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उस सुबुद्धि की पद्मश्री नाम की स्त्री के देह में जिसने जन्म प्राप्त किया है, ऐसे अरहन्तदेव के पाद-पद्मों के भ्रमररूप इस गोविन्द कवि ने यह पुरुषार्थानुशासनरूप नवीन काव्य रचा है ॥ २३ ॥

इस २३ वें पद्य के प्रथम पाद के 'गो', दूसरे पाद के 'वि' तीसरे पाद के 'दे' और चौथे पाद के 'न' इन आद्य अक्षरों के द्वारा अपना 'गोविन्द' यह नाम प्रकट किया है।

शब्दार्थोभयदुष्टं यद् व्यधाय्यत्र मया पदम्।
सद्भिस्ततस्तदुत्सार्यं निधेयं तत्र सुन्दरम् ॥२४॥
जीयाच्छ्रीजिनशासनं सुमतयः स्युः क्ष्माभुजोऽर्हन्नताः
सर्वोऽप्यस्तु निरामयः सुखमयो लोकः सुभिक्ष्यादिभिः।
सन्तः सन्तु चिरायुषोऽमलधियो विज्ञातकाव्यश्रमाः
शास्त्रं चेदममी पठन्तु सततं यावत्त्रिलोकीस्थितिः ॥२५॥
यदेतच्छास्त्रनिर्माणे मयाऽगोऽल्पधिया कृतम्।
क्षन्तव्यमपरागैर्मे तदागः सर्वसाधुभिः ॥२६॥
(इति ग्रन्थकार-प्रशस्तिः)

इस काव्य में मेरे द्वारा जो कोई शब्द-दोष, अर्थ-दोष या शब्द-अर्थ इन दोनों में ही कोई दोष युक्त पद रचा गया हो तो सज्जन पुरुष उसे दूर करके वहाँ पर निर्दोष सुन्दर पद स्थापित करें, (ऐसी मेरी प्रार्थना है) ॥ २४ ॥

इस संसार में जब तक तीनों लोक अवस्थित हैं, तब तक श्री जिन शासन सदा जीवित एवं जयवन्त रहे, राजा लोग सुमतिशाली और अर्हद्-भक्त होवें, सभी लोग नीरोग रहें, सारा संसार सुभिक्ष आदि से सुखी रहे, सज्जन पुरुष चिरायुष्क होवें, तथा काव्य-रचना के श्रम को जानने वाले निर्मल बुद्धि के धारक विद्वज्जन इस शास्त्र को निरन्तर पढ़ें ॥ २५ ॥

इस शास्त्र के निर्माण करने में मुझ अल्पबुद्धि ने जो शब्द या अर्थ को अन्यथा लिखनेरूप अपराध किया हो, वह मेरा अपराध वीतरागी सर्व साधुजन क्षमा करें, यह मेरी प्रार्थना है ॥ २६ ॥

■

६. श्रावकाचारसारोद्धार–प्रशस्ति

यस्य तीर्थंकरस्येव महिमा भुवनातिगः। रत्नकीर्तिर्यतिः स्तुत्यः स न केषामशेषवित् ॥१॥

अहंकारस्फारी भवदमितवेदान्तविबुधोल्लसद्-ध्वान्तश्रेणीक्षपणनिपुणोक्तिद्युतिभरः।
अधीती जैनेन्द्रेऽजनि रजनिनाथप्रतिनिधिः प्रभाचन्द्रः सान्द्रोदयशमिततापव्यतिकरः ॥२॥

श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुपादसेवाहेवाकिचेताः प्रसरत्प्रभावः।
सच्छ्रावकाचारमुदारमेनं श्रीपद्मनन्दी रचयाञ्चकार ॥३॥

श्रीलम्बकञ्चुककुले विततान्तरिक्षे कुर्वन् स्वबान्धवसरोजविकासलक्ष्मीम्।
लुम्पन् विपक्षकुमुदव्रजभूरिकान्तिं गोकर्णहेलिरुदियाय लसत्प्रतापः ॥४॥

भुवि सूपकारसारं पुण्यवता येन निर्ममे कर्म। भूम इव सोमदेवो गोकर्णात्सोऽभवत्पुत्रः ॥५॥

सती-मतल्लिका तस्य यशःकुसुमवल्लिका। पत्नी श्रीसोमदेवस्य प्रेमा प्रेमपरायणा ॥६॥

विशुद्धयोः स्वभावेन ज्ञानलक्ष्मीजिनेन्द्रयोः। नया इवाभवन् सप्त गम्भीरास्तनयास्तयोः ॥७॥

वासाधर-हरिराजौ प्रह्लादः शुद्धधीश्च महराजः।
भावराजोऽपि रत्नाख्यः सतनाख्यश्चेत्यमी सप्त ॥८॥

वासाधरस्याद्भुतभाग्यराशेर्मिषात्तयोर्वेश्मनि कल्पवृक्षः।
अगण्यपुण्योदयतोऽवतीर्णो वितीर्णचेतोऽतिवितार्थसार्थः ॥९॥

प्रशस्तिका अनुवाद

तीर्थंकरके समान जिसकी महिमा लोकातिशायी है, वह समस्त शास्त्रोंका वेत्ता रत्नकीर्ति यति किनके द्वारा स्तुति करनेके योग्य नहीं है ॥ १ ॥ उनके पट्ट पर प्रभाचन्द्रका उदय हुआ, जो कि सूर्यके सन्तापका शमन करने वाला है, जो बड़े-बड़े वेदान्ती विद्वानोंके अहंकारका तिरस्कार करनेवाला है, जैनेन्द्र शासन या जैनेन्द्र व्याकरणका अध्येता है और जो निशानाथ चन्द्रका प्रतिनिधि है। उन श्रीमान् प्रभाचन्द्र प्रभुके चरण-सेवामें निरत चित्त एवं प्रसरत्-प्रभावी श्रीपद्मनन्दीने इस उत्तम उदार श्रावकाचार को रचा ॥२-३॥

श्रीलम्बकञ्चुक (लमेचू) कुलमें श्रीगोकर्ण रूप सूर्यका उदय हुआ, जोकि इस विस्तृत गगनमें अपने बान्धवरूप सरोजोंको विकसित करनेवाला और विपक्षी कुमुद-समूहकी भारी कान्तिको विलुप्त करनेवाला एवं प्रतापशाली था ॥ ४ ॥ उस गोकर्णसे सोमदेव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने कि इस भूतलपर सूपकार (विविध व्यंजनों) के सारभूत कार्यका निर्माण किया ॥ ५ ॥ उस श्री सोमदेवकी पति-प्रेम-परायणा प्रेमा नामकी पत्नी थी, जो कि सतियोंमें शिरोमणि और यशरूप पुष्पोंकी वेलि थी ॥ ६ ॥ विशुद्धाचरणवाले इन दोनोंके सात पुत्र उत्पन्न हुए, जोकि जिनेन्द्रदेव और उनकी ज्ञानलक्ष्मीसे उत्पन्न हुए सात नयोंके समान गम्भीर स्वभाववाले हैं ॥ ७ ॥ उनके नाम इस प्रकार हैं—१. वासाधर, २. हरिराज, ३. प्रह्लाद, ४. महाराज, ५. अम्बराज, ६. रतन, और ७. सतना। ये सभी सातों ही पुत्र शुद्ध बुद्धि हैं ॥ ८ ॥

उन सोमदेव और प्रेमादेवीके धरमें वासाधरके अद्भुत भाग्यराशिके मिषसे मानों अगणित पुण्योदयसे याचकोंको भर-पूर अर्थ वितरण करनेवाला कल्पवृक्ष ही अवतरित हुआ ॥ ९ ॥ उस

वासाधरेण सुधिया गाम्भीर्याद्यदि तृणीकृतो नाब्धिः ।
कथमन्यथा स बडवाज्वलनस्तत्र स्थितिं ज्वलति ॥१०॥
सान्द्रानन्दस्वरूपाद्भुतमहिमपरब्रह्मविद्याविनोदात्
स्वान्तं जैनेन्द्रपादार्चनविमलविधौ पात्रदानाच्च पाणिः ।
वाणी सन्मन्त्रजापात् प्रवचनरचनाकर्णनात्कर्णयुग्मं
लोकालोकावलोकान्न विरमति यशः साधुवासाधरस्य ॥११॥
शीतांशू राजहंसत्यमितकुवलयत्फुल्लसत्तारकालि-
स्तिग्मांशुः स्मेररक्तोत्पलति जगदिदं चान्तरीयत्यशेषम् ।
जम्बालत्यन्तरिक्षं कनकगिरिरयं चक्रवाकत्युदग्रः
साधोर्वासाधरोद्यद्-गुणनिलययशोवारिपूरे त्वदीये ॥१२॥
द्वितीयोऽप्यद्वितीयोऽभूद् वीर्यौदार्यादिभिर्गुणैः ।
पुत्रः श्रीसोमदेवस्य हरिराजाभिधः सुधीः ॥१३॥
गुणैः सदास्मत्प्रतिपक्षभूतैः सङ्गं करोत्येष विवेकचक्षुः ।
इतीव सेर्ष्यैर्हरिराजसाधुर्दोषैरनालोकितशीलसिन्धुः ॥१४॥
सम्प्राप्य रत्नत्रितयैकपात्रं रत्नं सुतं मण्डनमुर्वरायाः ।
श्रीसोमदेवः स्वकुटुम्बभारनिर्वाहचिन्तारहितो बभूव ॥१५॥

सुबुद्धि वासाधरने यदि अपनी गम्भीरतासे समुद्रको भी तृणके समान तुच्छ न किया होता, तो वह अपने भीतर जलते हुए वडवानलकी स्थितिको कैसे और क्यों धारण करता ॥ १० ॥

आनन्द घन स्वरूप अद्भुत महिमावाले परमब्रह्मके विद्या-विनोदसे जिसने अपने चित्तको पवित्र किया, श्री जिनेन्द्रदेवके चरण-अर्चनकी निर्मल विधि-विधानसे और पात्रोंको दान देनेसे जिसने अपने हाथ पवित्र किये, उत्तम मन्त्रोंके जाप करनेसे जिसकी वाणी पवित्र हुई, प्रवचनकी रचनाओंके सुननेसे जिसके दोनों कान पवित्र हुए, उस वासाधरका यश लोक और अलोकके अवलोकनसे भी विश्राम को प्राप्त नहीं हो रहा है। भावार्थ—यदि लोक और अलोकसे भी परे कहीं और भी आकाश होता, तो यह वहां भी फलता हुआ चला जाता ॥ ११ ॥

हे साधु वासाधर, तेरे उदयको प्राप्त होते हुए गुणोंके आस्पदभूत यश रूपी जलके पूरमें अपरिमित कुमुदोंको विकसित करनेवाली तारकावली वाला शीत-किरणचन्द्र राजहंसके समान आचरण करता है, यह तीक्ष्ण किरणवाला सूर्य मन्दहास्य युक्त लाल कमलके समान मालूम पड़ता है, यह समस्त जगत् अन्तर्गत-सा ज्ञात होता है, यह आकाश जम्बाल (काई) सा प्रतीत होता है, और यह उन्नत सुवर्णगिरि सुमेरु चक्रवाक सा भासित होता है ॥ १२ ॥

श्री सोमदेवका हरिराज नामक द्वितीय भी बुद्धिमान् पुत्र वीर्य, औदार्य आदि गुणोंके द्वारा अद्वितीय हुआ ॥ १३ ॥ यह विवेकरूप नेत्रवाला हरिराज सदा ही हमारे प्रतिपक्षीरूप गुणोंके द्वारा संगमको प्राप्त हो रहा है, इसी कारण ईर्ष्यासे मानों यह शील-सागर हरिराज दोषोंसे अनालोकित ही है। अर्थात् उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हरिराजको देखकर दोष इसे देखने तकका भी साहस नहीं कर सके ॥ १४ ॥

पृथिवीके आभूषणरूप एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयके एक मात्र पात्र रतन नामक पुत्रको प्राप्त करके श्रीसोमदेव अपने कुटुम्बभारके भरण-पोषणकी चिन्तासे रहित हो गये

हृष्टं शिष्टजनैः सपत्नकमलैः कुत्रापि लीनं जवा-
दर्थिप्रोद्धतनीलकण्ठनिवहैर्नृत्तं प्रमोदोद्गमात् ।
तृष्णाधूलिकणोत्करैर्विगलितस्थानैर्मुनीन्द्रैः स्थितं
वृष्टिं दानमयीं वितन्वति परां रत्नाकराम्भोधरे ॥१६॥

सान्त्यतीनाम्न्यां पत्न्यां जिनराजध्यानकृत्स हरिराजः ।
पुत्रं मनःसुखाख्यं धर्मादुत्पादयामास ॥१७॥

सति प्रभुत्वेऽपि मदो न यस्य रतिः परस्त्रीषु न यौवनेऽपि ।
परोपकारैकनिधिः स साधुर्मनःसुखः कस्य न माननीयः ॥१८॥

जैनेन्द्राङ्घ्रिसरोजभक्तिरचला बुद्धिर्विवेकाञ्चिता
लक्ष्मीर्दानसमन्विता सकरुणं चेतः सुधामुग्वचः ।
रूपं शीलयुतं परोपकरणव्यापारनिष्ठं वपुः
शास्त्रं चापि मनःसुखे गतमदं काले कलौ दृश्यते ॥१९॥

सङ्घभारधरो धीरः साधुर्वासाधरः सुधीः ।
सिद्धये श्रावकाचारमचीकरममुं मुदः ॥२०॥

यावत्सागरमेखला वसुमती यावत्सुवर्णाचलः
स्वर्नारीकुलसङ्कुलः खममितं यावच्च तत्त्वान्वितम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ च यावदभितो लोकप्रकाशोद्यतौ
तावन्नन्दतु पुत्र-पौत्रसहितो वासाधरः शुद्धधीः ॥२१॥

थे ॥ १५ ॥ इस रतन नामक रत्नाकररूप जलधर (मेघ) के दानमयी परम वर्षा करनेपर शिष्ट जन हर्षित हुए, प्रतिपक्षी कमलोंके साथ कुमुद कहींपर शीघ्र विलीन हो गये, अर्थी जनरूप नील-कण्ठवाले मयूरोंके समूहोंने प्रमोदके उदयसे हर्षित होकर नृत्य किया और तृष्णारूपी धूलिके कण-पुंजोंसे रहित वीतरागी मुनीश्वरोंने निराकुल होकर निवास किया ॥ १६ ॥

जिनराजका निरन्तर ध्यान करनेवाले हरिराजने सान्त्यती नामवाली अपनी पत्नीमें धर्मके प्रसादसे मनसुख नामका पुत्र उत्पन्न किया ॥ १७ ॥ जिसके प्रभुता होनेपर भी मद नहीं है, यौवनावस्थामें भी पर-स्त्रियोंमें रति नहीं है, और जो पराया उपकार करनेका निधि या निधान है, ऐसा साधु मनसुख किसका माननीय नहीं है ? अर्थात् सभी जनोंका मान्य है ॥ १८ ॥ इस कलिकालमें भी जिस मनसुखके भीतर जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंमें अविचल भक्ति, विवेक-युक्त बुद्धि, दान-समन्वित लक्ष्मी, करुणायुक्त चित्त, अमृतवर्षी वचन, शीलयुक्त रूप, परोपकार करनेमें तत्पर शरीर और मद-रहित शास्त्र ज्ञान दिखायी देता है ॥ १९ ॥

जैन संघके भारको धारण करनेवाले धीर, बुद्धिमान् साहू वासाधरने आत्म-सिद्धिके लिए हर्षसे इस श्रावकाचारकी रचना करायी ॥ २० ॥

जब तक समुद्ररूप मेखला वाली यह पृथिवी रहे, जब तक यह सुमेरु गिरि देवाङ्गनाओंके समूहसे व्याप्त रहे, जब तक जीवादि तत्त्वोंसे व्याप्त यह अपरिमित आकाश रहे और जब तक लोकमें प्रकाश करनेके लिए उद्यत सूर्य और चन्द्र रहें, तब तक पुत्र-पौत्र-सहित यह शुद्ध बुद्धि वासाधर आनन्दको प्राप्त करता रहे ॥ २१ ॥

७. रत्नकरण्डकमें उल्लिखित प्रसिद्ध पुरुषोंके नाम

१. सम्यक्त्वके अंग   प्रसिद्ध पुरुष

१. निःशंकित अंग—अंजनचोर, विभीषण, वसुदेव (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार)
२. निःकांक्षित अंग—अनन्तमती, सीता (,,)
३. निर्विचिकित्सा अंग—उद्दायन राजा
४. अमूढदृष्टि ,, —रेवती रानी
५. उपगूहन ,, —जिनेन्द्रभक्त सेठ
६. स्थितिकरण ,, —वारिषेण
७. वात्सल्य ,, —विष्णुकुमार मुनि
८. प्रभावना ,, —वज्रकुमार मुनि

२. पाँच अणुव्रतोंमें   प्रसिद्ध पुरुष

१. अहिंसाणुव्रत—मातंग चाण्डाल
२. सत्याणुव्रत—धनदेव
३. अचौर्याणुव्रत—वारिषेण
४. ब्रह्मचर्याणुव्रत—नीली बाई
५. परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—जयकुमार

३. पांच पापोंमें   प्रसिद्ध

१. हिंसा—धनश्री
२. असत्य—सत्यघोष, वसुराजा (सागारध०)
३ चोरी—तापस
४. कुशील—यम कोटपाल
५. परिग्रह—श्मश्रुनवनीत

४. चार दानोंमें   प्रसिद्ध

१. आहारदान—श्रीषेण राजा
२. औषधिदान—वृषभसेना
३ उपकरणदान (ज्ञानदान)—कौण्डेश
४. आवास (अभय) दान—सूकर

५. पूजनके फलमें—मेंढक

उपर्युक्त नामोंमें सम्यक्त्वके आठों अंगोंमे प्रसिद्ध पुरुषोंके नामोंका उल्लेख सोमदेव,

८. सप्त व्यसनोंमें प्रसिद्ध पुरुषोंके नाम

१. द्यूत व्यसन—युधिष्ठिर
२. मांस ,, —बकराजा
३. मद्य ,, —यादव-पुत्र
४. वेश्या ,, —चारुदत्त सेठ
५. शिकार व्यसन—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती
६. चोरी ,, —श्रीभूति
७. परस्त्री ,, —रावण
८. काक-मांस त्यागमें—खदिरसार

९. उग्र परीषह सहन कर समाधिमरण करने वालोंका उल्लेख
(जिनका उल्लेख पं० आशाधर आदिने किया है)

१. शिवभूति मुनि
२. पाँचों पाण्डव मुनि
३. सुकुमाल मुनि
४. विद्युच्चर मुनि

१०. रोहिणी आदि व्रतोंका उल्लेख

आ० वसुनन्दि आदिने श्रावकके अन्य कर्त्तव्योंके साथ जिन व्रत-उपवासादि करनेका विधान किया है, उनकी सूची—

१. पंचमी व्रत
२. रोहिणी व्रत
३. अश्विनी ,,
४. सौख्यसम्पत्ति व्रत
५. नन्दीश्वरपंक्ति ,,
६. विमानपंक्ति ,,

११. पद्म कवि कृत श्रावकाचार तथा क्रियाकोष-गत व्रत विधान सूची

१. आष्टाह्निकव्रत
२. पंचमीव्रत
३. रोहिणीव्रत
४. रविव्रत
५. श्रावणसप्तमीव्रत
६. सुगंधदशमीव्रत
७. सोलहकारणव्रत
८. मेघमालाव्रत
९. श्रुतस्कन्धव्रत
१०. चन्दनषष्ठीव्रत
११. लब्धिविधानव्रत
१२. आकाशपंचमीव्रत
१३. सरस्वतीव्रत
१४. दशलक्षणव्रत
१५. श्रवणद्वादशीव्रत
१६. अनन्तचतुर्दशीव्रत
१७. रत्नत्रयव्रत
१८. मुक्तावलीव्रत
१९. कनकावलीव्रत
२०. रत्नावलीव्रत
२१. एकावलीव्रत
२२. द्विकावलीव्रत
२३. पल्यविधानव्रत
२४. त्रेपनक्रियाव्रत
२५. जिनगुणसम्पत्तिव्रत
२६. पंचमकल्याणव्रत
२७. त्रैलोक्यतिलकव्रत
२८. लब्धिविधानव्रत
२९. अक्षयनिधिव्रत
३०. ज्येष्ठजिनवरव्रत
३१. षट्रसीव्रत
३२. पाख्याव्रत
३३. ज्ञानपचीसीव्रत
३४. सुखकरणव्रत
३५. समवशरणव्रत
३६. अक्षयदशमीव्रत
३७. निर्दोषसप्तमीव्रत
३८. नवकारपैंतीसीव्रत
३९. शीलकल्याणव्रत
४०. शीलव्रत
४१. नक्षत्रमालाव्रत
४२. सर्वार्थसिद्धिव्रत
४३. तीनचौबीसीव्रत
४४. जिनमुखावलोकनव्रत
४५. लघुसुखसम्पत्तिव्रत
४६. बाराव्रत
४७. मुकुटसप्तमीव्रत
४८ नन्दीश्वरपंक्तिव्रत
४९. लघुमृदंगव्रत
५०. बृहद्मृदंगव्रत
५१. धर्मचक्रव्रत
५२. बड़ामुक्तावलीव्रत
५३. भावना पच्चीसीव्रत
५४. नवनिधिव्रत

५५. श्रुतज्ञानव्रत
५६. सिंहनिःक्रीडितव्रत
५७. लघु चौंतीसीव्रत
५८. बारासौ चौंतीसीव्रत
५९ पंचपरमेष्ठीगुणव्रत
६०. पुष्पांजलिव्रत
६१. शिवकुमारवेलाव्रत
६२. तीर्थंकरवेलाव्रत
६३. जिनपूजा पुरन्दरव्रत
६४. कोकिलापंचमीव्रत
६५. द्रुतविलम्बितव्रत
६६. कवलचन्द्रायणव्रत
६७. मेरुपंक्तिव्रत
६८. पल्यविधानव्रत
६९. रुक्मिणीव्रत
७०. विमानपंक्तिव्रत
७१. निर्जरपंचमीव्रत
७२. कर्मनिर्जरणीव्रत
७३. कर्मचूरव्रत
७४. अनस्तमितव्रत
७५. निर्वाणकल्याणकवेलाव्रत
७६. लघुकल्याणकव्रत

१२. कुन्दकुन्द-श्रावकाचार के* संशोधित पाठ

पृष्ठ	आदर्श प्रति–पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
१.	कलास्वते	कलावते	१	१
,,	सोह्यं	सोऽहं	,,	२
,,	जीवन्	जीवन्ती	,,	३
,,	अहं	अर्हं	,,	४
,,	यच्छन्ति	इच्छन्ति	,,	६
,,	–मास्यैतां	–माश्वैतां	,,	७
,,	कुर्वीय	कुर्वीयं	,,	८
२.	स्वजनस्य	सुजनस्य	,,	१२
,,	भोगे	भागे	,,	१३
,,	अनुभूतश्रुतौ	अनुभृतः श्रुतः	,,	१६
,,	दृष्टो	दृष्टः	,,	,,
,,	समुद्भूतं	समुद्भूतः	,,	,,
,,	पाढं	पादं	,,	२३
३.	षट्करै	षडेककर	,,	२७
४.	–वित्यपि	–दित्यपि	,,	३४
,,	रसस्वरूपश्च	रसश्च रूपश्च	,,	३५
,,	मरुद्व्यो ये	मरुद्-व्योम	,,	३७
,,	श्रृक्वम्यो:	सृक्विण्यो:	,,	३९
५.	नौ	नो	,,	४३
,,	पथः	पाथः	,,	४५

* जिन पाठों का प्रयत्न करने पर भी संशोधन नहीं किया जा सका, अथवा भाव समझ में नहीं आया, वहाँ पर (?) यह प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिया गया है। —सम्पादक

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
५.	आमीनोपदि	आसीनः सपदि	१	४६
६.	गात्रंस्तदाधिकार्यस्तु	गात्रस्य वृद्धिकार्यार्थं	,,	५८
,,	मोचितः	स्वोचितः	,,	,,
७.	विञ्चिञ्चि	चिञ्चायां	,,	६४
,,	कटकस्तथा	कण्टकैस्तथा	,,	६५
,,	सुखिरं	सुषिरं	,,	७२३
८.	रविर्वारे	रवेर्वारे	,,	७३
,,	वक्रभां	विदिशां	,,	७६
,,	नश्यो	नस्यो	,,	७९
,,	गर्जंति	गर्जन्ति	,,	,,
,,	–मांगेन	–माङ्गे च	,,	८२
,,	वीक्षितं	वीक्ष्यंत	,,	८३
,,	वृद्धानां	वृद्धेभ्यो	,,	८४
९.	मुनि–	मनु–	,,	८६
,,	पुष्प–	पुण्य	,,	८९
,,	मौननात्	मौनिना	,,	९२
१०.	वृष्टयै	वृष्टौ	,,	९४
,,	वामावस्थितः	वामे व्यवस्थितः	,,	९७
,,	सत्यजयं	ह्यजयं	,,	,,
,,	योद्धानां	योद्धृणां	,,	१०२
११.	आपत्यापादने	अपत्योत्पादने	,,	१०७
,,	अधर्माणाचिरौराद्य–	अधमर्णाचिरारात्य	,,	१०९
,,	शून्यागेऽप्यस्य	शून्यागस्यापि	,,	,,
,,	कार्या	कार्यो	,,	११०
,,	निमित्ताद्विषां	निमित्तद्विषां	,,	११३
,,	–वैद्यद्विषा–	–वेंदद्विषा–	,,	,,
,,	नातिद्विषा–	–नीतिद्विषा–	,,	,,
१२.	नाग्रोत्तारि	–नासोत्तारि	,,	१२४
१३.	केशान्तवलयश्चान्त	केशान्ताञ्चलान्ताच्च	,,	१२६
,,	–ननिकंवाया	नान्यचर्चायाः	,,	१२८
,,	चेत्याश्च	चैत्यैका–	,,	१३०
,,	जिनाभ्भयः	जिनाब्धयः	,,	१३१
१४.	–दन्ति	–भित्ति	,,	१३८
१५.	उत्तमायुःकृते	उत्तमायकृते	,,	१४५
,,	तद्-दशांशेने	स्वदशांशेन	,,	१४६

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
१६.	भूरि दिग्मूढा	भूरदिग्मूढा	,,	१५३
,,	भ्रूशल्य–	भूशल्य	,,	१५४
१७.	प्राच्यान्तर–	प्राच्यां नर–	,,	१५६
,,	वृत्तये	–मृत्यवे	,,	,,
,,	करिशल्यं	खरशल्यं	,,	१५७
,,	नरीगारा	नराणां वा	,,	१६१
१८	मा प्रेतदाह्यदः	मात्रादधस्तदा	१	१६४
,,	पातनभोगयोः	पातः स्वघोगतः	,,	१६६
,,	गदनिदुं	निगदः	,,	१७०
१९	प्रकाशः	प्रकाश्यः	,,	१७२
,,	वृराम	व्योम	,,	१७८
२०	चित्रैश्चामण्डलै-	चित्रैश्च मण्डलै-	,,	१७९
,,	स्वलुका	वालुका	,,	,,
,,	-च्छेद्यादतः फलम्	-च्छेदश्च तत्फलम्	,,	१८०
,,	दत्सादयः	दत्यादरात्	,,	१८३
२१	पुरो मता	परो मतः	,,	१८८
,,	नरते	तरणे	,,	१८९

द्वितीय उल्लास

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
२२	वर्वेनस्तु	पर्वे न च	२	४
२३	सौम्याज्य	सौम्येज्य	,,	१६
,,	विद्याते	विद्योते	,,	१९
,,	कल्पयैवेकशः	कल्पयेदेकशः	,,	२०
२४	वासिसि	वाससि	,,	२६
,,	अक्षाक्षन्	आकाङ्क्षेन्	,,	२८
,,	कुटितं	त्रुटितं	,,	३१
,,	मानुषो	मानुषे	,,	३२
२५	वालूक	वोलूक	,,	३४
,,	गृहमल्पीयः	ग्राह्यमल्पीयः	,,	४०
२६	लक्ष्मीकर्षण	पृथ्वीकर्षण	,,	४७
,,	वायुकालं	वायकालं	,,	४८
,,	सापांगानंतदन्नतः	स्वोपार्ज्यस्तदनन्तरम्	,,	५०
२७	स्यादत्तस्करं	स्यात्तस्कराद्धृतम्	,,	६४
३०	सा विधानेन	सावधानेन	,,	९७
,,	नत्प्रभुं	तत्प्रभुम्	,,	९९

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
३१	कृत्ये	कृत्यैं	,,	१०७
३२	द्यौ	द्वौ	,,	११४
,,	वस्तुममलं	वस्त्रममलं	,,	११५
,,	कुर्वन् सन्तः	कुर्वन्तः सन्तः	,,	११६
		तृतीय उल्लास		
३४.	दत्तैः	दलैः	३	१८
,,	आप्सुदीर्णे जलानां	जलपानं पिपासायां	,,	२२
३५.	वासर्विष्टित-	वासोवेष्टित	,,	३२
३६.	जने श्रति	जनैः स्वकैः	,,	३८
,,	किमन्यक्षश्च	किमन्यैश्च	,,	४०
३८.	विष्कुम्भं	विष्कम्भं	,,	६३
४०.	कृप्ला	कृष्णा	,,	७४
		चतुर्थ उल्लास		
४२.	विवृर्धास्त-	बिम्बार्धास्त-	४	५
		पंचम उल्लास		
४३.	वायुक्तटाद्य-	वायूत्कटाद्य	५	३
४४.	पृच्छं	पृष्ठं	,,	१३
,,	वचापि	त्वचापि	,,	१४
,,	दभं	स्कन्धं	,,	१६
,,	गते	देहे	,,	१८
,,	मानुसत्तमः	मानुषोत्तमः	,,	१९
४६.	वीनः	पीनः	,,	३७
,,	पुण	फण	,,	,,
,,	-श्लेष्टत्वं	-श्चेटित्वं	,,	४१
४७.	वायुदाना-	च यद्यूना	,,	४४
,,	भव्य-	द्रव्य-	,,	५०
४८.	नृसभि-	श्वाभि-	,,	५८
,,	षस्तृटिः	सूचिका	,,	६०
४९	भूमितर्जयी	भूमिपतिर्जयी	,,	७०
५०.	यतित्र-	यतित्व-	,,	८२
५३.	धारा	धरा	,,	१२०
५४.	रमेत्यकः	रमेत कः	,,	१३२

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
५६.	मिश्रंभोक्ति	विश्रम्भोक्ति	,,	१५४
५८.	–घटनं	–गमनं	,,	१७२
६१.	वरलं	तरलं	,,	२०४
६३.	ऋक्ष्मस्थान–	ऋक्षस्थान–	,,	२२१
,,	कुंभो	शुभो	,,	२२२
६३	तनुविष्टो	तनुपुष्टो	५	२२९
६५	धातुस्वाम्यं	धातुसाम्यं	,,	२४३
,,	संवदाः	सुसंवदाः	,,	२४६

अष्टम उल्लास

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
७०	शिवकाकाटिका	शिवा-काकादिका	८	८
,,	स्वयमर्जयेत्	पराजये	,,	९
७२	कौपामात्य	कोषामात्य	,,	२१
७३	मंडलज्ञे	मण्डलेऽग्ने	,,	३४
,,	अग्नि:	आग्नेये	,,	३५
,,	वाराष्वर्का	वारेष्वर्का	,,	३८
७४	सोमेऽर्के	समशेषे	,,	४७
७६	भवेदायु:	भवेदाय:	,,	६३
७७	आयान्पुनतरो	आयान्न्यूनतरो	,,	७३
,,	विपक्षे मा	विपद्-क्षेमा	,,	७६
,,	प्रत्यरा	प्रत्यरि	,,	,,
७९	माग्नेयां	माग्नेयायां	,,	८२
,,	समायाया	समाऽऽयाय	,,	८५
,,	त्रिकोणके गजक्षय:	त्रिकोणकेऽङ्गजक्षय:	,,	८६
८०	नरपट्ट	कूपतरु	,,	९१
८१	च अस्य	च नास्य	,,	९४
,,	यमनिका	यवनिका	,,	९५
,,	बादिन:	वाजिन:	,,	९८
,,	यथासिनाम्	यथासनम्	,,	९९
,,	प्रकृतां त्यजेत्	प्रकृतां सङ्गतिं त्यजेत्	,,	१०१
८२	भामेप्लक्ष	वामे प्लक्ष	,,	१०६
८४	अन्तरा	आन्तरा:	,,	१२७
,,	तर्के वित्कृत्व	तर्को विज्ञत्व	,,	१३०
८५	परत्राकर:	परस्त्राणकर:	,,	१४५
८६	चाच	चाप	,,	१५२

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
,,	शोफवा सूक्ष्मो	शोफवत्सूक्ष्मः	,,	१५६
८७	इघु	इषु	,,	१५८
८८	नासिकाम्	नासिका	,,	१६७
,,	गदकारिणा	गदहारिणा	,,	,,
८८	मस्तके गुदे	मस्तके (नाभिके) गुदे	८	१७३
,,	च स्तनद्वये	च (योनौ च) स्तनद्वये	,,	,,
८९	स्पन्द दर्शनके	स्पन्दोऽदर्शनं दर्शनके	,,	१७८
,,	वर्णमृष्ठतः	वर्णास्पष्टता	,,	१७९
९०	वैश्यः स्वस्तिक-	वैश्यः स च स्वस्तिक-	,,	१९६
९१	भौमे त्तराफा	भौमे यमश्च	,,	२०६
,,	चतुर्तुराधायां	चतुर्थ्यनुराधायां	,,	,,
,,	शुमशत्रुरात्रके	शुभं शत्रौ तु रात्रके	,,	२१०
९२	कालोत्यर्धे	कालोऽत्याद्ये	,,	२२१
,,	नेतापरान्तकः	नेता परोऽन्तकः	,,	२२२
९३	मात्राष्टे तेतोलिके	मातृ-दंष्ट्रे ततोऽलिके	,,	२२४
,,	साश्रुस्थानाद्	सीधुस्थानाद्	,,	२३३
९८	यथीता	यथैते	,,	२५१
१०५	कन्यापम्योन्नचा-	कन्याया पयोज्जान्नाव-	,,	३२९
,,	नियायुत्रुटि-	निजायुषस्त्रुटि-	,,	३३०
,,	शूद्रं	क्षुद्रं	,,	३३२
१०६	क्षणस्यैवं भेदा कति	कति भेदाः क्षणस्य च	,,	३३५
,,	निभूयो	भूतार्त्त	,,	३४१
,,	रेवलातस्य	वातार्त्तस्य	,,	३४५
१०८	चांत्वा	लात्वा	,,	३५७
,,	खराणां	खराणां [च न्यक्करणं कदाचन]	,,	३६१
१०९	करोस्वरे	खरस्वरे	,,	३६८
,,	दूरसंस्थरयामिकः	दूरसंस्थश्च यामिकः	,,	३७०
,,	रुग्षाक्षे	वृक्षाग्रे	,,	३७१
११०	स्वमातरोपणो	स्वमातुरुदरो	,,	३७८
१११	कुर्यान्नात्मानो	कुर्याच्च नात्मनो	,,	३९२
११२	शीता	कुर्या-	,,	३९९
११३	ऋणि न	ऋणी च	,,	४११
११४	पापे य मुचे ते सातिथिः दुगतैर्नरः	पापैर्यश्च स्वमोक्षेच्छुः सोऽतिथिर्दुर्गतैर्नरः	,,	४२६
,,	गत्वे	अज्ञो	,,	४३०

पृष्ठ	आदर्श प्रति-पाठ	संशोधित पाठ	उल्लास	श्लोक
११७	–मथादिः	–मथादौ	९	१६
,,	–पापातिदुष्टम्	–पातादिदुःखम्	,,	,,
,,	प्राप्य	–प्राप्ति–	,,	,,
११८	धर्माद्दैर्घ्यं	धर्माद्दैर्घ्यं [च जीवनम्]	१०	९
११८	नरस्यापि	नरकीर्त्ती	१०	११
१२०	यो न तं	योजितं	,,	३१
,,	–नित्यत्वाद् ध्यानं	–नित्यत्वाद्धेयं	,,	,,

■

कुन्दकुन्दश्रावकाचार का शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	गन्थो	ग्रन्थो
२	७	इष्टो	दृष्टो
३	५	१७	२७
४	९	ससिद्धि	संसिद्धिः
५	७	प्रथमेवाथ	प्रथममेवाथ
७	८	यत्नेः	यत्नैः
८	५	ऊर्ध्व	ऊर्ध्वं
९	११	९३	९२
११	२	आपद्व्यापादने	अपत्योत्पादने
,,	८	–र्नीति–	–र्नीति–
,,	१६	आपत्ति के दूर करने में	पुत्र पैदा करने में
,,	१७	धर्म कार्य में	धर्म कार्य, ये
,,	१८	हस्तक्षेप का विचार नहीं किया जाता है।	ये कार्य दूसरों के हाथ से नहीं कराये जाते हैं।
,,	३०	हर किसी से	नीतिशास्त्र से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	३	त्रिघा	त्रिधा
१३	४	अर्ध्वं	ऊर्ध्वं
१५	५	अयाय–	अन्याय
१६	१	मित्तित्तः	भित्तितः
२६	११	भाषावद्	भाषाविद्
३८	११	विप्कम्भं	विष्कम्भं
४१	११	नितान्तं आवि–	नितान्तमावि–
४८	७	गहिणी–	गृहिणी–
७२	२	–कोषामत्य–	–कोषामात्य–
७९	३	दिग्दशे	दिग्देशे
८२	८	मृगु–	भृगु–
,,	१३	–चेष्टश्च	–चेष्टाच्च
८५	१	जठरस्यानलं	जठरस्यानलः
९४	२९	सात	आठ
९८	८	रूपमव	रूपमेव
१०१	५	इत्यपि गुरुत्वं द्रव	गुरुत्वं द्रव-वेगकौ
,,	१२	बृद्धया–	बुद्धया–
११४	१	घत्ते	धत्ते
१२०	१	अज्ञानास्	अज्ञानात्
१२१	६	–कोमोग्र–	–कामोग्र–

—:०:०:—

श्रावकाचारकर्तॄणां मंगल-कामना

१

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

२

लोकोत्तमाः शरणमङ्गलमङ्गभाजामर्हद्विमुक्तमुनयो जिनधर्मकश्च ।
ये तान् नमामि च दधामि हृदम्बुजेऽहं संसार-वारिधिसमुत्तरणैकसेतून् ॥

३

स्याद्वादचिह्नं खलु जैनशासनं जन्म-व्यय-ध्रौव्यपदार्थशासनम् ।
जीयात्त्रिलोकीजनशर्मसाधनं चक्रे सतां वन्द्यमनिन्द्यबोधनम् ॥

४

सद्दर्शनं निरतिचारमवन्तु भव्याः श्राद्धा दिशन्तु हितपात्रजनाय दानम् ।
कुर्वन्तु पूजनमहो जिनपुङ्गवानां पान्तु व्रतानि सततं सह शीलकेन ॥

५

भूयासुश्चरणा जिनस्य शरणं तद्दर्शने मे रति-
र्भूयाज्जन्मनि जन्मनि प्रियतमासङ्गादिमुक्ते गुरौ ।
सद्भक्तिस्तपसश्च शक्तिरतुला द्वेधापि मुक्तिप्रदा
ग्रन्थस्यास्य फलेन किञ्चिदपरं याचे न योगैस्त्रिभिः ॥

६

शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा
शान्तिः सुप्रजसां तपोभरभृतां शान्तिर्मुनीनां मुदा ।
श्रोतॄणां कविताकृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः
शान्तिः शान्तिरघाग्निजीवनमुचः श्रीसज्जनस्यापि च ॥

७

जीयाच्छ्रीजिनशासनं सुमतयः स्युः क्ष्माभुजोऽर्हन्नताः
सर्वोऽप्यस्तु निरामयः सुखमयो लोकः सुभिक्ष्यादिभिः ।
सन्तः सन्तु चिरायुषोऽमलधियो विज्ञातकाव्यश्रमाः
शास्त्रं चेदममी पठन्तु सततं यावत्त्रिलोकीस्थितिः ॥

८

शब्दार्थोभयदुष्टं यद् व्यधाय्यत्र मया पदम् ।
सद्भिस्ततस्तदुत्सार्य निधेयं तत्र सुन्दरम् ॥

अनुवादकस्य क्षमा-याचना

९

अनुवादे च या काश्चित् त्रुटयः स्युः प्रमादतः ।
ममोपरि कृपां कृत्वा विद्वान्सः शोधयन्तु ताः ॥

—:०:—

प्रस्तावना—शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-पाठ	शुद्ध-पाठ
८	१८	पृष्ठका	पाठका
९	९	असर्थकी	अर्थकी
१२	१४	शताब्दी	शताब्दीका
१२	२९	एरादूरिय	एराहरिय
१२	२९	वट्टकेराट्टरिय	वट्टकेराइरिय
२०	३३	द्विनीयमें	द्विनीयने
२३	३४	कय-पूर्वक	क्रम-पूर्वक
२४	४	परिअटन्ती	परिअटंनि
२४	५	पावाएयव्वा	**वावाएयव्वा**
२४	७	दु:खिनोऽपि हन्तव्या	**दुखितोऽपि हन्तव्या:**
२४	९	बहुसा सामाइयं कुज्जा	**बहुसो सामाइयं कुज्जा**
२४	११	बहुश: सामायिकं कार्यम्	**बहुशः सामायिकं कार्यम्**
२६	१६	मुक्तिदानको	मुनिदानको
२८	२५	श्रावकाचर	श्रावकाचार
३०	४	वसुगन्दि	वसुनन्दि
३४	१८	से	थे
३५	३०	पत्रसे	पद्यसे
४५	३२	गृहस्थापना	गृहस्थपना
४६	१७	औपपादिक	औदयिक
४७	५	ग्रन्थोंकी	ग्रन्थोंकी गाथा-
५०	२४	मंत्रको	यंत्रको
५२	५	देशाटक	देशाटन
५४	६	अनुपप	अनुपम
५४	२१	ही विशेष	ही
५५	१८	बहिर	बाहर
५६	९	तीसरे और	या तीसरे
५७	१७	भवत्रिक	भवनत्रिक
६०	८	द्वादशांग	आगे द्वादशाङ्ग
६०	११	अध्याय,	अध्यायमें,
६०	२६	रत्ता है	रचा है
६७	५	अमितगगति	अमितगति
७०	३	रात्रि-भोजन	७क. रात्रि-भोजन
७१	८	वस्त्र-	७ख. वस्त्र
८१	२०	भिक्खायद०	भिक्खायर०
८१	२०	भोञ्जं	भोज्जं
८४	७	समस्याको	समस्याको हल
८४	१७	सामाजिक	सामायिक
८६	२४	होना ही	होना है
८९	३	प्रनिमाधारी	प्रतिमाधारीको
९०	९	दीद्याद्य	दीक्षाद्य
९५	१५	प्रथमोत्कृष्टसे	प्रथमोत्कृष्टको
९५	२७	नामवली	नामवाली
९६	१५	पालन	पालन नहीं
९७	४	है।	है[२]।
९७	८	पालना है[२]।	पालता है[३]।
९७	१०	त्यागी	त्यागी नहीं
९७	११	पालता है[३]।	पालता है[४]।
९७	५१	के ८ नम्बरवाली टिप्पणी पृष्ठ ९८ पर है।	
९८	१२	टिप्पणी १	टिप्पणी ४
९८	२२	टिप्पणी २	टिप्पणी १
९८	२९	टिप्पणी ३	टिप्पणी २
९९	१३	टिप्पणी १	टिप्पणी ३ पृष्ठ ९८की
९९	१९	टिप्पणी २	टिप्पणी १
९९	२५	टिप्पणी ३	टिप्पणी २
९९	३२	आसिविऊण	३आसेविऊण
१००	१५	प्रतिमको	प्रतिमाको
१०२	७	कुछ भी	कुछ
१०४	४	रत्नाकर	धर्मरत्नाकर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-पाठ	शुद्ध-पाठ
१०५	२०	अनुमोदन्त	अनुमोदनासे
१०५	३४	मनसे	वचनसे
१०५	३	और न	और
१०६	३४	वुढे है कि जब ापा	है कि जब बुढ़ापा
११०	१	ग्रोदश	त्रयोदश
११०	२७	ग्राममेकं	ग्रासमेकं
११३	१०	चालित	चलित
११३	१०	खील्न	लीलन
११४	१९	निमित्त	निमित्तक
११४	२१	निमित्तिक	निमित्तक
११६	२४	२० स्तपन	२०अ स्तपन
१३२	१७	श्लोकोंसे	श्लोकसे
१३६	६	लिए	लिए आज्ञा
१३७	६	यहां	यहां पूजा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-पाठ	शुद्ध-पाठ
१३८	११	पद्धतिके	पद्धतिका
१४३	१९	पिण्डस्य	पिण्डस्थ
१४४	२५	मोमदेवके	सोमदेवने
१४५	६	धम्वाणारा	घर-वावारा
१४५	७	झाणल्गियस्स	झाणट्ठिगस्स
१४५	२३	विचार करनेमें	विचार कर जाप करनेमें
१४६	१७	मत बोलो	क्रिया मत करो, मुझसे कुछ मत बोलो,
१४७	१	–रत्नोंपर	पत्रोंपर
१४८	९	शुद्धि करने	शुद्धि करके
१४९	१४	भुंङ्क्ते	भुङ्क्ते
१५४	२९	जकारके	लकारके
१५६	२	–पाठमें	पाठका
१५६	३	इस प्रकार	परिशिष्टमें
१५६	२२	जिनपर	जिनवर

■